

श्री आचाराङ्ग सूत्रम्

● श्री राजेन्द्र सुबोधनी

“आहोरी” हिन्दी टीका ●



४

“आहोरी” टीका लेखक

ज्योतिषाचार्य मालवरत्न

मुनिराज श्री जयप्रभ विजयजी “श्रमण”

सम्पादक :- पं. रमेशचन्द्र लीलाधर हरिया

व्याकरण ● काव्य ● न्याय ● साहित्यतीर्थ

ॐ



ॐ

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन पुष्प-४

...श्री आचाराङ्गसूत्रम्...

श्री शीलाङ्काचार्य विरचित वृत्ति की

श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका

श्रुतस्कंध-२ अध्ययन-१ से १६

चूलिका : १, २, ३, ४ संपूर्ण

भाग-४

आहोरी टीका लेखक

परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति जैनाचार्य
श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

के शिष्यरत्न

ज्योतिषाचार्य, मालवरत्न

शासनदीपक, ज्योतिषसम्प्रदायशिरोमणी

मुनिराज श्री जयप्रभविजयजी महाराज "श्रमण"

: सम्पादक :

पण्डितवर्य श्री लीलाधरात्मजः रमेशचन्द्रः हरिया

व्याकरण, काव्य, न्याय, साहित्याचार्य

अहमदाबाद.

-: ग्रंथ :-

श्री आचाराङ्गसूत्र
राजेन्द्र सुबोधनी 'आहोरी' हिन्दी टीका

-: आहोरी टीका लेखक :-

ज्योतिषाचार्य मालवरत्न
मुनिराज श्री जयप्रभविजयजी "श्रमण"

-: सम्पादक :-

पण्डितवर्य श्री रमेशचन्द्र लीलाधर हरिया

-: सहयोगी सम्पादक :-

मालवकेशरी
मुनिराज श्री हितेशचन्द्रविजयजी "श्रेयस"
मुनिराज श्री दिव्यचन्द्रविजयजी "सुमन"

-: प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान :-

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन

- (१) श्री भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति
मंत्री शान्तिलाल वक्तावरमलजी मुथा, देरासर सेरी,
पो. आहोर, जि. जालोर (राज.)
फोन : ०२९७८-२२२८६६
- (२) राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय
पो.ओ. मोहनखेडा तीर्थ, बाया राजगढ,
जि. धार, (मध्यप्रदेश) फोन : ०७२९६-२३२२२५
- (३) पं. रमेशचन्द्र लीलाधर हरिया
३/१९, वीतराग सोसायटी, पी. टी. कोलेज रोड,
पालडी, अमदावाद-३८०००७, फोन : ०९३७७९ ५३४४८

मूल्य : अमूल्य पंचाचार उपासना

-: मुद्रक :-

दीप ओफसेट

पाटण (उ.गु.)

फोन : ०२७६६ - २२४७६६



-: कम्प्युटर :-

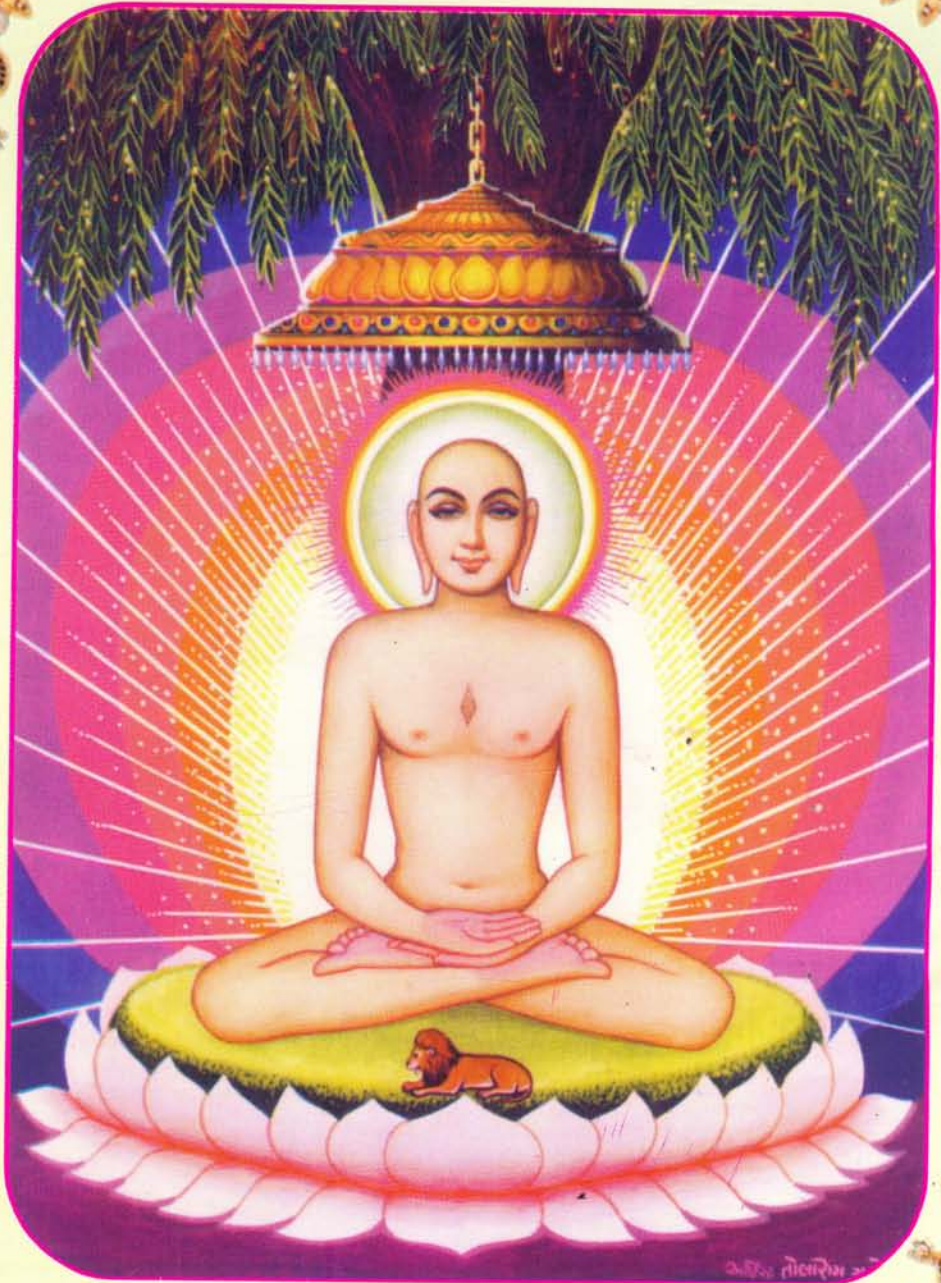
मून कम्प्युटर

पाटण (उ.गु.)

फोन : ९८२५९ २३००८



नमो अरिहंताणं
नमो सिद्धाणं
नमो आयरियाणं
नमो उवज्झायाणं
नमो लोए सव्वसाहूणं
'एसो पंचनमुक्कारो,
सव्वपावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं,
पढमं हवइ मंगलं'

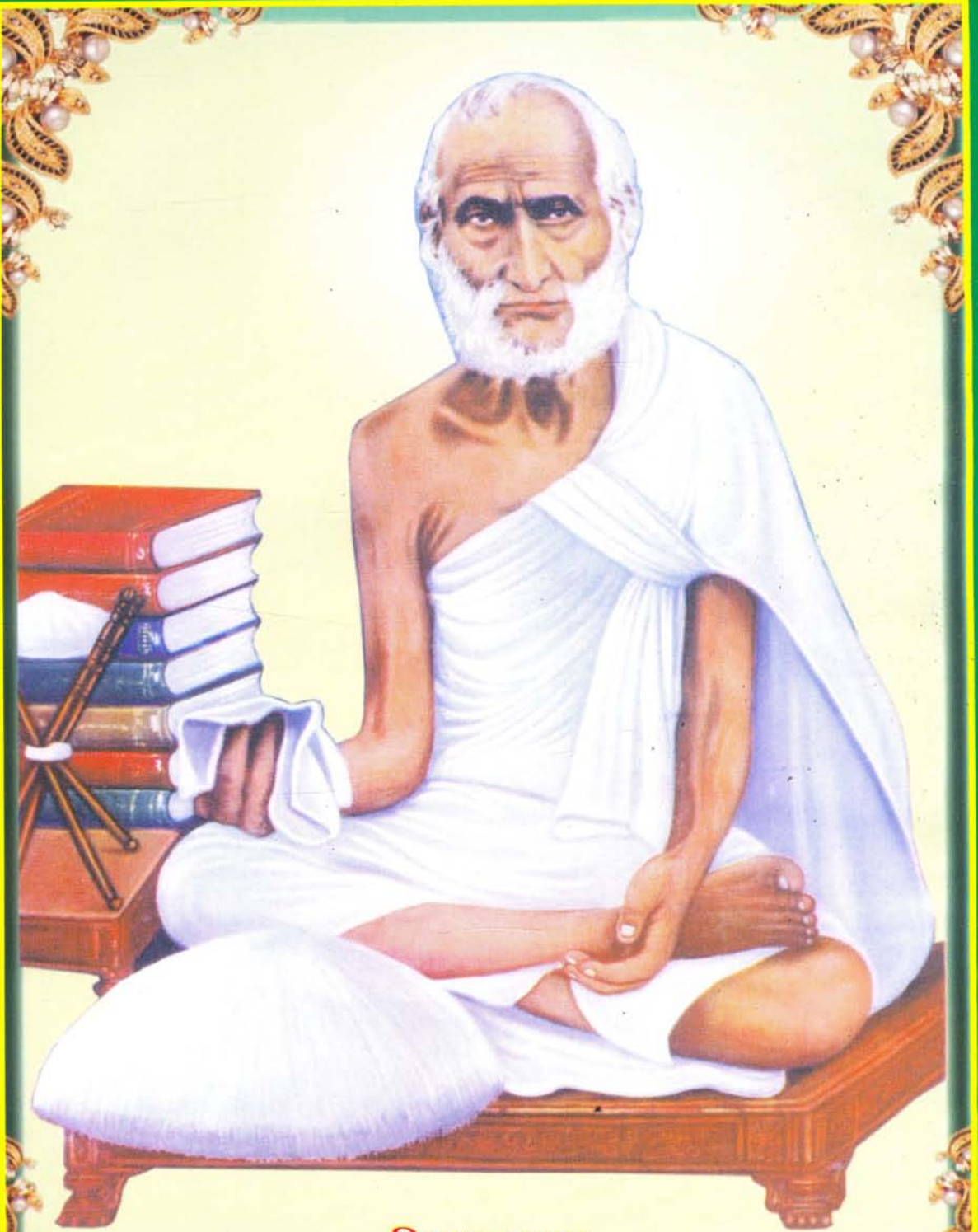


चरम तीर्थङ्कर श्री महावीर

श्री गोडी पार्श्वनाथ भगवान



“आहोर” बावन जिनालय मन्दिरजी के मूलनायकजी



विश्वपूज्य प्रभु
श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज

श्री गोडी पार्श्वनाथजी, आहोरे



श्री धननन्द सूरिश्चरजी



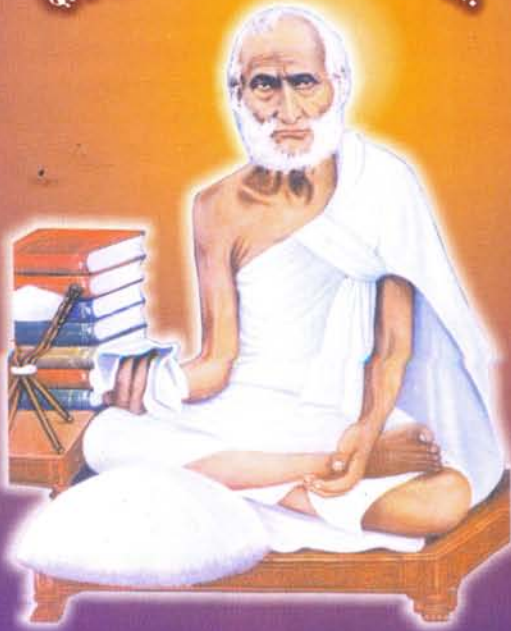
श्री भूपेन्द्र सूरिजी म.



उपा. श्री मोहनविजयजी म.



दादा गुरु श्री राजेन्द्र सूरिश्चरजी म. सा.



उपा. श्री गुलाबविजयजी म.



श्री यतीन्द्र सूरिजी म.



श्री विद्याबन्धु सूरिजी म.



श्री हर्ष विजयजी



श्री हेमचन्द्र सूरिजी म.



ज्योतिषाचार्य मालवरत्न
श्री मोहनखेडातीर्थ विकास के आधार स्तम्भ मुनिराजश्री जयप्रभ विजयजी म.सा.



ज्योतिषाचार्य मालव रत्न
मुनिराजश्री जयप्रभविजयजी श्रमण
के

ज्योतिषाचार्य मालव रत्न
मुनिराजश्री जयप्रभविजयजी श्रमण
के



शिष्य रत्न
मालव केशरी
मुनिश्री हितेशचन्द्रविजयजी “श्रेयस”

शिष्य रत्न
मुनिश्री दिव्यचन्द्रविजयजी “सुमन”

श्री सौधर्म बृहत्पत्रा गच्छीय श्रमणी मण्डल



क	क	क	क
क	क	क	क
क	क	क	क
क	क	क	क

क	क	क	क
क	क	क	क
क	क	क	क
क	क	क	क

श्री आचारांग-सूत्र की श्री राजेन्द्र सुबोधनी "आहोरी"
हिन्दी टीका के आलेखक व व्यवस्थापक



- जन्म : पौष वदि १० दि.सं. १९९३
जावरा (म.प्र.)
- दीक्षा : २०१० माघ शुक्ला ४
सियाणा राज.
- देवलोक : सं. २०५९ पौषवदि १४
मोहनखेडा तीर्थ
राजगढ(धार) (म.प्र.)
दि. १ जन. २००३

ज्योतिषाचार्य
मुनिराजश्री जयप्रभवियजयी म.सा.

आप का
आप को ही
अर्पण



स्व.श्री शांतिलालजी वक्तावरमलजी मुथा

- जन्म : १९९० कार्तिक वदि ८
दिनांक १२-१०-१९३३
- स्वर्गवास : २०६२ फागणवदि ३
दिनांक १६-२-२००६
आहोर (राज.)



प्रस्तावना

अनन्त उपकारी चरम तीर्थकर श्रमण भगवान महावीरस्वामीजीने जब घातीकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान की दिव्य ज्योती को प्राप्त की तब देवविरचित समवसरण में गणधरों के प्रश्नोत्तर में परमात्मा ने त्रिपदी का दान दिया... उत्पाद, व्यय एवं ध्रुव...

श्री हितेशचंद्रविजयजी म.

आचारांगसूत्र की रचना गणधरो ने की एवं शीलाकाचार्यजी ने संस्कृत टीका (व्याख्या) लिखी। किन्तु वर्तमानकालीन मुमुक्षु साधु-साध्वी भगवंतो को यह गहनग्रंथ दुर्गम होने से पठन पाठनादि में हुई अल्पता को देखते हुए पूज्य गुरुदेव श्री जयप्रभविजयजी म.सा. "श्रमण" के अंतःकरण में चिंतन चला कि- यदि जिनागमों को मातृभाषा में अनुवादित किया जाए तो मुमुक्षु आत्माओ को शास्त्राज्ञा समझने में एवं पंचाचार की परिपालना में सुगमता रहेगी।

अंतःकरण की भावना को साकार रूप में परिवर्तित करने के लिए वर्तमानाचार्य गच्छाधिपति श्रीमद् विजय हेमेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. से बात-विचारणा वार्तालाप के द्वारा अनुमति प्राप्त करके विक्रम संवत् २०५६ आसो सुदी-१० (विजयादशमी) के शुभ दिन शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थ की पावनकारी पूज्य भूमि में देवगुरु की असीम कृपा से राष्ट्रभाषा हिन्दी में सटीक आचारांगसूत्र के भावानुवाद का लेखनकार्य प्रारंभ किया।

भावानुवाद का लेखनकार्य निर्विघ्नता से चलता रहा। यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री का स्वास्थ्य प्रतिकूल रहता था तो भी भावानुवाद का लेखनकार्य अविरत क्रमशः चलता रहा। पूज्य दादा गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. कि पावन कृपासे सत्ताईश (२७) महिनो में सटीक आचारांगसूत्र का भावानुवाद स्वरूप लेखनकार्य परिपूर्ण हुआ।

पूज्य गुरुदेव श्री जयप्रभविजयजी म.सा. दृढ संकल्पी थे। जो समुचित कार्य एकबार सोच लेते वह कार्य परिपूर्ण करके ही विश्राम लेते थे। उस कार्य में चाहे कैसी भी कठिनाइयाँ आ जाए प्रत्येक कठिनाइयों का सहर्ष स्वागत करते थे एवं देवगुरु की कृपा से विघ्नों का उन्मूलन करके उस कार्य को पूर्ण करके ही रहते थे।

सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद का लेखनकार्य जब पूर्ण हुआ तब प्रकाशन के लिए विचार विमर्ष प्रारंभ हुआ। पूज्यश्री ने गंभीरता से विचारकर अपने निकटवर्ती परम गुरु उपासक आहोर (राज.) निवासी श्री शांतिलालजी वयतावरमलजी मुथा को पत्रव्यवहार द्वारा अपनी आंतरिक भावना अवगत कराई।

श्री शांतिलालजी ने भी इस आगमशास्त्र संबंधित श्रेष्ठ कार्य की अनुमोदना करते हुए

प्रकाशन हेतु आहोर नगर के श्रमणोंपासको से बातचीत कर ग्रंथ प्रकाशन के कार्य की अनुमति प्रदान करने की विनंती की। आहोर नगर के निवासीओं के आर्थिक सहयोग से यह कार्य परिपूर्ण हो सका है अतः सर्व संमति से इस भावानुवाद टीकाग्रंथ का "आहोरी" हिन्दी टीका नाम निर्धारित किया गया।

ग्रंथमुद्रण का कार्य तत्काल प्रारंभ हुआ। करिबन अठारहसौ (१८००) पृष्ठ के विशालकाय आहोरी टीकायुक्त आचारांग सूत्र को तीन भाग में विभक्त करके प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन स्वरूप प्रथम भाग का संपादन कार्य परिपूर्ण होने पर ग्रंथ का विमोचन आहोर नगर में वि.सं. २०५९ में पूज्य गुरुदेव श्री जयप्रभविजयजी म.सा. की निश्रा में कु. निर्मला के दिक्षा महोत्सव के पावन प्रसंग में किया गया।

प्रथम श्रुतस्कंध के शेष भाग को द्वितीय विभाग में संपादित करने की विचारणा चल रही थी किन्तु अचानक दिनांक ३१ दिसम्बर, २००२ के दिन पूज्य गुरुदेव श्री के शरीर में अस्वस्थताने भीषण रूप ले लिया। पूज्य गुरुदेव श्री अपने आयुष्य की अंतिम क्षण तक समाधि भावमें रहते हुए नश्वर देह का परित्याग करके स्वर्गलोक पधार गए।

इस विषम परिस्थिति में ग्रंथ प्रकाशन के कार्य में थोडा विलंब हुआ किन्तु शेष कार्य को पूर्ण करने के लिए परम पूज्य उपाध्याय श्री सौभाग्य विजयजी म.सा. की पावनकारी प्रेरणा ने हमारे उत्साह की अभिवृद्धि की। ग्रंथ प्रकाशन कार्य को गतिप्रदान करने के लिए श्री धांतिलालजी मुथा का सहयोग व मार्गदर्शन प्रशंसनीय है तथा श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन शैतांबर पेढी (ट्रस्ट) श्री मोहनखेडा तीर्थ का सहयोग भी अनुमोदनीय रहा एवं इस महाग्रंथ को मूर्त रूप प्रदान करने में विद्वद्वर्य आगमज्ञ पंडितवर्य श्री रमेशचंद्र लीलाधर हरिया का सहयोग अनुमोदनीय रहा। उन्ही के अथक् प्रयास से यह कार्य परिपूर्ण हो पाया है।

इस चतुर्थ विभाग में द्वितीय श्रुतस्कंध का संपूर्ण भाग भावानुवाद के साथ मुद्रित किया गया है..... अर्थात् आचारांग सूत्र सटीक ग्रंथकी आहोरी हिंदी टीका भाग: १-२-३-४ में संपूर्ण प्रकाशित होने जा रहा है..... कि- जो यह ग्रंथरत्न आपको पंचाचार समझने एवं आचरणमें लागे के प्रयोगमें अवश्य उपयोगी बनेगा ऐसा हमारा मानना है...

इस ग्रंथ संपादन कार्य में सावधानी रखी गई है तो भी यदि कोई क्षति रह गई हो तब सुझ वाचकवर्ग से हमारी विनम्र विज्ञप्ति है कि-सुधार ले एवं हमें निवेदित करें... सुझेष्टु किं बहना ?

भीनमाल (राजस्थान)

दिनांक : २०-७-२००७

निवेदक

मुनि हितेशचंद्रविजय



अपनी और से...

आगमों के प्राण तीर्थकर हैं। ओर शब्दों में वर्णन कर्ता गणधर भगवान होते हैं। श्रमण भगवान महावीर ने देशना में जो कुछ उद्घोषित किया उसे गणधर भगवन्तोंने स्मरण रखा। गणधर भगवन्तों से श्रवण कर के स्थविर भगवन्त उन आगमों की परिपाटी चलाने में योगदान देते हैं...

ज्योतिषाचार्य श्री
जयप्रभविजयजी म. "श्रमण"

गणधर कृत आगम अंग प्रविष्ट एवं स्थविर कृत आगम अंग प्रविष्ट अर्थात् अंग बाह्य... भगवान के मुख्य शिष्य गणधर होते हैं एवं चतुर्दश पूर्वी या दश पूर्वधर स्थविर होते हैं। किन्तु गणधर कृत भाषित और स्थविर घोषित आगमों का मूल आधार तो तीर्थकर परमात्मा ही है।

आगमों की वाचना पांच बार हुई है।

प्रथम वाचना :

श्रमण भगवान महावीर स्वामीजी के १६० वर्ष पश्चात् हुई।

द्वितीय वाचना :

श्रमण भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के ३०० वर्ष बाद उड़ीसा प्रान्त: याने अंगदेश में तत्कालीन देश के कुमारी पर्वत पर सम्राट खरवेल के समय हुई।

तृतीय वाचना :

श्री वीर निर्वाण के ८२७ वर्ष पश्चात् अर्थात् ईशा की तीसरी शताब्दी में मथुरा में हुई। इसका नेतृत्व आचार्य स्कन्दिल ने किया।

चतुर्थ वाचना :

तृतीय वाचना के समकालिन आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में हुई है।

पंचम वाचना :

श्री वीर निर्वाण के १८० वर्ष बाद याने आचार्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना और आचार्य नागार्जुन की वाचना के १५० वर्ष बाद में देवर्षिगणि क्षमा श्रमण की अध्यक्षता में पुनः वाचना हुई।

इस प्रकार आगम शास्त्र के इतिहास का अध्ययन करने पर पांच बार आगम

वाचनाओं का आधार मिलता है।

४५ आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार है।

आगम	
अंग	उपांग
१- आचार	१- औपपातिक
२- सूत्रकृत	२- राजप्रश्नीय
३- स्थान	३- जीवाभिगम
४- समवाय	४- प्रज्ञापना
५- भगवती	५- सूर्य प्रज्ञप्ति
६- ज्ञातधर्मकथा	६- चंद्र प्रज्ञप्ति
७- उपासक दशा	७- जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति
८- अन्तकृत दशा	८- कल्पिका
९- अनुत्तरोपपातिक दशा	९- कल्पावतंसिका
१०- प्रश्न व्याकरण	१०- पुष्पिका
११- विपाक	११- पुष्प चुलिका
१२- दृष्टिवाद : विलुप्त :	१२- दृष्णि दशा
मूल	छेद
१- दशवैकालिक	१- निशिथ
२- उत्तराध्ययन	२- महानिशिथ
३- आवश्यक	३- बृहत्कल्प
४- पिण्ड नियुक्त अथवा ओघ नियुक्त	४- व्यवहार
	५- दशाश्रुतस्कंध
	६- पंचकल्प
प्रकीर्णक	
१- चतुःशरण	६- चन्द्र वैध्य
२- आतुर प्रत्याख्यान	७- देवेन्द्र स्तव

३- भक्त परिज्ञा

८- गणि विद्या

४- संस्तारक

९- महा प्रत्याख्यान

५- तन्दुल वैचारिक

१०- वीर स्तव

धूलिका

१- नन्दीसूत्र

२- अनुयोगद्वार सूत्र

इस प्रकार जादरा में भगवती सूत्र का स्वाध्याय करते हुए मन में विचार आया कि:-
क्यों न इनका : ऐसे ज्ञान गर्भित सूत्रों का : राष्ट्र भाषा हिन्दी में अनुवाद किया जावे ।

विचारों को पूर्ण साकार रूप देने के पूर्व गंभीर चिन्तन किया । क्योंकि- आगमों का अध्ययन सुलभ नहीं है । और योग क्रिया पूर्व वाचने का अधिकार भी नहीं है । किन्तु चिन्तन इस निर्णय पर रहा है कि-

अभी तपागच्छीय मुनिराज द्वारा गुजराती में ४५ आगम निकाले गये हैं । स्थानक वासी के ३२ आगम हिन्दी अंग्रेजी और सचित्र छप गये हैं तैरापंथी समाज के भी ३२ आगम हिन्दी में छप गये हैं और अंग्रेजी में छप जाने से पाश्चात्य विद्वान भी उदाहरण दे रहे हैं तो क्यों न हिन्दी में भी अनुवाद हो ? कुछ आगम के ज्ञाता आचार्य वर्यो से विचार किया, विचारों का सार यही रहा कि- विवादित गुढ़ रहस्य ग्रन्थ को न छूकर अन्य उपयोगी ग्रन्थों का ही विचार करें ।

विचार भावना को कार्य रूप में परिणत करने के विचार से मुंबई में अध्यापन कार्यरत पंडितवर्य श्री रमेशभाइ हरिया से संपर्क किया, पंडितजी मेरे विचारों की अनुमोदना करते हुए सभी प्रकार से पूर्ण सहयोग देने का विश्वास दिलाया एवं संपादन कार्य करने की स्वीकृति प्रदान की ।

आगम की द्वादशांगी के प्रथम अंगसूत्र आचारांग सूत्र है एतदर्थ सर्व प्रथम आचारांग सूत्र की श्री शीलाकाचार्य विरचित वृत्ति का कार्य प्रारंभ किया जावे ।

इस आचारांग सूत्र का सर्व प्रथम महत्त्व यह है कि-दशवैकालिकसूत्र की रचना होने के पूर्वकाल में नवदीक्षित साधु एवं साध्वीजी म. को आचारांग सूत्र का प्रथम अध्ययन, सूत्र-अर्थ एवं तद्भय (आचरणा) से देकर हि उपस्थापना याने बडी दीक्षा दी जाती थी... किन्तु श्री शय्यंभवसूरिजी ने मनक मुनी का अल्पायु जानकर, अल्पकाल में आत्महित कैसे हो ? इस प्रश्न की विचारणा में दशवैकालिक सूत्रकी संकलना की अर्थात् रचना की, तब से नवदीक्षित मुनि एवं साध्वीजी म. को दशवै. सूत्र के चार अध्ययन सूत्र-अर्थ एवं तद्भय से देने के बाद बडी दीक्षा होती है...

लेखन कार्य श्रम पूर्ण होने पर प्रकाशन कार्य भी कम श्रम पूर्ण नहीं है। इसके लिये सर्व प्रथम गुणानुरागी श्रुतोपासक श्रेष्ठिवर्य श्री शांतिलालजी मुथाजी, कि- जो भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति के मंत्री है। उन्हीं से पत्राचार प्रारंभ हुआ पत्राचारों से विचार उद्भव हुए कि- हिन्दी टीका में आहोर का नाम जुड़ जावे तो यह प्रकाशन कार्य सुलभ हो जावे। अतः श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन और राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका नामकरण किया गया। आचारांग सूत्र चार भाग में प्रकाशित हो रहा है। चारों भागों का प्रकाशन व्यय आहोर के निवासी गुरु भक्त श्री शांतिलालजी मुथा के प्रयत्न से आहोर निवासी श्रुतोपासक श्रेष्ठिवर्य गुरु भक्त वहन कर रहे हैं। अतः आहोर के श्रुत दाता गुरुभक्त साधुवाद के पात्र है। भविष्य में इसी प्रकार ज्ञानोपासना के कार्य में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करके श्रुत भक्ति का परिचय देते रहे यही मंगल कामना।

बंबई निवासी डा. रमणभाई सी. शाह ने अपना अमूल्य समय निकालकर अनुवाद को आद्यंत पढकर श्रुत आराधना का लाभ लिया, एतदर्थ धन्यवाद एवं आशा करते हैं कि- भविष्य में भी इसी प्रकार सहयोग कर हमारी ज्ञान उपासना में अभिवृद्धि करते रहेंगे। यही मंगल कामना।

शिष्यद्वय मुनि श्री हितेशचन्द्रविजय एवं मुनि श्री दिव्यचन्द्रविजयजी ने भी श्रुत भक्ति का सहयोग पूर्ण परिचय दिया यह श्रुत भक्ति शिष्यद्वय के जीवन में सदा बनी रहे यही आशीर्वाद सह शुभकामना।

सौधर्मबृहत्पोगच्छीय दयोवृद्ध शुभ साध्याचार पालक गच्छ शिरोमणी शासन दीपिका प्रवर्तिनी मुक्तिश्रीजी की समय - समय पर श्रुतोपासना की प्रेरणा मिलती रहती है एवं प्रत्येक गच्छीय उन्नति के कार्यों में पूर्ण सहयोग रहता है यह मेरे लिये गौरव पूर्ण बात है इन्हीं प्रेरणाओं से प्रेरित होकर के श्रुतोपासना की भावना बनी रहती है एवं भविष्य में भी मेरे श्रेष्ठकार्यों में इनकी प्रेरणा प्राप्त होती रहे इसी विश्वास के साथ।

अंत में संपादन कार्य करते हुए पंडितवर्य श्री रमेशभाइ एल. हरिया ने प्रेस मेटर व प्रुफ संशोधन में पूर्णतः श्रम किया है एवं घाटण निवासी 'दीप' आफसेट के मालिक श्री हितेशभाई, व मुन कम्प्युटर के स्वामी श्री मनोजभाई का श्रम भी नहीं भुलाया जा सकता है।

इस प्रकार आचारांगसूत्र की 'आहोरी' हिंदी टीका स्वरूप इस ग्रंथ-प्रकाशन में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग कर्ता सभी धन्यवाद के पात्र है।

श्रीमोहनखेडातीर्थ

वि.सं. २०१८

माघ शुक्ल ४ शनिवार

दीक्षा के ४९ वें वर्ष प्रवेश स्मृति

ज्योतिषाचार्य

जयप्रभविजय 'श्रमण'

सम्पादनवेलायाम्...



पं. श्री लीलाधरात्मजः रमेशचन्द्रः हरिया

अयि ! शृण्वन्तु हंहो ! तत्रभवन्तः भवन्तः प्रेक्षावन्तः भोः भोः सज्जनाः ! अनादिनिधनस्थितिकेऽस्मिन् संसारसागरे नैके असुमन्तः प्राणिनः स्वस्वकृतकर्म-परवशीभूय निमज्जनोन्मज्जनं कुर्वन्तः विद्यमानाः सन्ति ।

सदैव सर्वेषां जीवानां एकैव आकाङ्क्षा अस्ति, यत्-सकल दुःखानां परिहारेण सर्वथा सुखीभवामः, किन्तु संसारस्थजीवानां यादृशी आकाङ्क्षा अस्ति, तदनु रूपः पुरुषार्थस्तु नास्ति...

यतः साध्यानु रूपो हि पुरुषार्थः साध्यसिद्धिं प्रति समर्थाभवति । जीवानां साध्यं अस्ति निराबाधं अक्षयं अनन्तं आत्मसुखम्, किन्तु तैः तदनु रूपः पुरुषार्थस्तु न अङ्गीकृतः...

निराबाधसुखस्य साधनं अस्ति सम्यक्चारित्रम्... तत् च सर्वसावधानिवृत्तिस्वरूपं पञ्चचारात्मकं चरणं, सावधं नाम पापाचरणम्... पापाचरणं नाम जगज्जन्तूनां त्रिविध-त्रिविधपीडोद्भावनम्... अतः पापाचरणस्य परिहारः हि निराबाधसुखस्य असाधारण-हेतुः अस्ति इति अवगन्तव्यम् ।

परहितकरणेनैव स्वहितं स्यात्, नाऽन्यथा । परपीडा-विधानेन तु आत्मपीडैव सम्भवेत् इति वार्ता निश्चितं विज्ञेया ।

यः कोऽपि परेभ्यः यत् यत् कामयते, तत् तत् परेभ्यः प्रथमं दातव्यं भवति... यथा आम्रबीजवपनेन एव आम्रफलं लभ्यते, नाऽन्यथा इति तु जानीते आबालगोपालः ।

वर्तमानसमये ये ये जीवाः दुःखिनः सन्ति, तैः पूर्वस्मिन् काले परेभ्यः दुःखं दत्तं स्यात्, अन्यथा ते कदापि दुःखिनः न स्युः इति मन्ये । ये केऽपि प्रेक्षावन्तः सज्जनाः चेद् गम्भीरीभूय ते चिन्तयेयुः तदा जगज्जीवानां दुःखनिदानं किं अस्ति, तत् सम्यग् जानीयुः ।

यद्यपि कोऽपि जीवः कस्मैचिदपि दुःखं दातुं नेच्छति, तथापि आहारसंज्ञादिहेतुतः मिथ्यामोहान्धचित्तत्वेन कर्मपरवशीभूय जीवः तथा तथा प्रवृत्तिं करोति यथा नैके पृथ्वीकायादि जीवाः दुस्सहं कष्टं प्राप्नुवन्ति, इति एवं प्रकारेण अविरतः जीवः संसारस्थैः अनन्तैः जीवैः सह वैरानुबन्धभावं वर्धयति । फलतः सः अविरतः जीवः अपारसंसारसागरे पुनः पुनः जन्ममरणात्मकं निमज्जनोन्मज्जनं कुर्वन् संसारे वर्तते, इतीयं वार्ता मिथ्या न, किन्तु सत्या एव । यदि केषाञ्चित् चेतसि अत्र सन्देहः स्यात् तर्हि पृच्छन्तु ते प्रेक्षावद्भ्यः सज्जनेभ्यः, श्रूयतां च तैः दत्तं

सम्यग् उत्तरम् ।

केवलज्ञानालोके विश्वविश्वं करामलकवद् अधिगच्छन्ति जिनेश्वराः । चातुर्गतिकजीवानां भवभ्रमणकारणं सनिदानं ज्ञातमस्ति परोपकारिभिः तैः सर्वज्ञैः जिनेश्वरैः तैः दृष्टं यत्-विषयकषायाभिभूताः हि कर्मबहुलाः चातुर्गतिकाः जीवाः उदयागतकर्मविपाकानुसारेणैव भवभ्रमणं कुर्वन्ति । यथा कण्डरीकादयः सागरश्रेष्ठ्यादयश्च, ते हि विषयकषायानुभावतः एव भवे भ्रान्ताः भ्रमन्ति भ्रमिष्यन्ति च ।

तथा च ये गजसुकुमालादयः पुण्डरीकादयश्च लघुकर्मणः जीवाः, ये विषयकषायेभ्यः विरम्य आत्मगुणाभिमुखाः सञ्जाताः, सावधारम्भ-परिग्रहतश्च विरताः सन्ति, ते एव निराबाधं आत्मसुखं सम्प्राप्ताः सन्ति, प्राप्नुवन्ति प्राप्स्यन्ति च, नाऽत्र सन्देहः ।

अतः एव अतीतकालीनाः वर्तमानकालीनाः अनागतकालीनाश्च विश्वविश्वोपकारिणः विगत राग-द्वेषमोहाः जितेन्द्रियाः पश्चाचारमयाः पञ्चसमितिभिः समिताः त्रिगुणितभिः गुप्ताः विनष्टकर्मकलेषाः केवलिनः सर्वज्ञाः जिनेश्वराः देवविरचित-समवसरणे द्वादशविधपर्षदि एवं भाषितवन्तः भाषन्ते भाषिष्यन्ते च, यत्-विश्वविश्वेऽस्मिन् संसारे ये केऽपि जीवाः सन्ति, ते कैश्चिदपि मुमुक्षुभिः न हन्तव्याः न पीडनीयाः न परितापनीयाः न उपद्रवितव्याः इति. एतद्-भावप्रकाशकं सूत्रं (सूत्राङ्क-१३९) सकलद्वादशाङ्ग्याः सारभूतेऽस्मिन् प्रथमे आचाराङ्गाभिधे ग्रन्थे प्रथमश्रुतस्कन्धस्य चतुर्थाध्ययने गणधरैः उल्लिखितं अस्ति...

चतुर्दशपूर्वगर्भितेयं द्वादशाङ्गी अर्धतः उपदिष्टाऽस्ति जिनेश्वरैः, सूत्रतश्च ग्रथिताऽस्ति गणधरैः । सर्वेऽपि जिनेश्वराः क्षायिकभावात्मक-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमयाः सन्ति, गणधराश्च निर्मल क्षायोपशमिकभावात्मकसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसम्पन्नाः सन्ति । तेषां समेषां दृष्टिः लक्ष्यबिन्दुः वा एकस्मिन्नेव शुद्धात्मनि अस्ति... आत्मविशुद्ध्यर्थमेव तेषां समेषां सर्वथा पुरुषार्थः अस्ति, तथा च आत्मना मनसा वचसा वपुषा वा ते सर्वेऽपि तथाविधं उद्यमं स्वयं कुर्वन्ति, अन्यैः कारयन्ति तथा च तथाविधं उद्यमं कुवाणान् अन्यान् प्रशंसन्ते च, यथा आत्मविशुद्धिः भवेत् ।

विश्वविश्वेऽस्मिन् ये केऽपि जन्तवः सन्ति, ते सर्वेऽपि जीवात्मानः असङ्ख्य-प्रदेशिनः सन्ति, तथा चाऽत्र प्रतिप्रदेशे अनन्तज्ञानादिगुणाः सहजाः एव... सर्वेऽपि जीवाः अक्षयाः अजराः अमराः निराबाधसुखमयाश्च सन्ति, किन्तु चातुर्गतिकेऽस्मिन् संसारे ये केऽपि जीवाः परिभ्रम्यमाणाः नैकविधसातासातादिजन्यसुखदुःखाभितप्ताश्च दरीदृश्यन्ते तत्र एकमेव पापाचरणं कारणमस्ति...

मिथ्यात्वादिबन्धहेतुभिः सेविताष्टादशपापस्थानकाः समेऽपि संसारिणः जीवाः यद्यपि जन्म नेच्छन्ति तथाऽपि ब्रह्माष्टविधकर्मविपाकोदयेन जन्म लभन्ते, पीडां नेच्छन्ति तथाऽपि पीडां प्राप्नुवन्ति, वार्द्धक्यं नेच्छन्ति तथाऽपि वृद्धभावमनुभवन्ति... मरणं नेच्छन्ति तथाऽपि म्रियन्ते च ।

अतः एव परमकरुणालुभिः जगज्जन्तुजननीकल्पैः जिनेश्वरैः परमवात्सल्यभावेन सकलजीवेश्वरैः निराबाधात्मसुखानुभवं प्रकटयितुं पञ्चाचारमयः मोक्षमागः प्रदर्शितः अस्ति... गणधरैश्च अयं पञ्चाचारः आचाराङ्गाभिधे आगमग्रन्थे उल्लिखितः अस्ति.

१. कालादिभेदभिन्नाष्टविधज्ञानाचारः
२. निःशाङ्कतादिभेदभिन्नाष्टविधदर्शनाचारः
३. ईर्यासमित्यादिभेदभिन्नाष्टविधचारित्राचारः
४. अनशनादिभेदभिन्नद्वादशविधतपआचारः
५. यथाविधित्रियोगपराक्रमभेदभिन्नवीर्याचारः

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपो-वीर्याचारात्मकः अयं पञ्चाचारः सर्वेषां जीवानां आत्मविशुद्ध्यर्थं असाधारणं हेतुः अस्ति... यतः तदेव साधनं साधनं स्यात्, यत् साध्यं अवश्यमेव साध्यति... अद्य-यावत् ये केऽपि जीवाः मोक्षं प्राप्ताः सन्ति, ते सर्वेऽपि पञ्चाचारेणैव, नाऽन्यथा... यैः यैः पञ्चाचारः आराधितः ते सर्वेऽपि मोक्षगतिं प्राप्ताः सन्ति, तथा यैः जीवैः अयं पञ्चाचारः न आकृतः, आकृतो वा न आराधितः, ते सर्वे जीवाः चातुर्गतिकेऽस्मिन् संसारे परिभ्रमन्ति...

यत्र यत्र साधनं तत्र तत्र साध्यम् इति अन्वयः ।

यत्र यत्र साध्याभावः तत्र तत्र साधनाभावः इति व्यतिरेकः ।

अर्थात् यत्र यत्र पञ्चाचारः तत्र तत्र मोक्षः । इति अन्वयः

तथा यत्र यत्र मोक्षाभावः तत्र तत्र पञ्चाचाराभावः । इति व्यतिरेकः

अतः एव सज्जनशिरोमणिभिः सुधर्मस्वाम्यादि-सूरिपुरन्दरैः पुनः पुनः निवेद्यते, यत् - हे भव्याः । सावधानीभूय सेव्यतामयं पञ्चाचारः, अनुभूयतां च निराबाधात्मसुखम् ।

आचाराङ्गाभिधमिदं आगमशास्त्रं गणधरैः अर्धमागधीप्राकृतभाषायां निबद्धमस्ति... चतुर्दशपूर्वधरश्रीभद्रबाहुस्वामिभिः प्राकृतभाषायां नियुक्तिः निबद्धा अस्ति... तथा वृत्तिकारश्रीमत् शीलाङ्काचार्यैः संस्कृतभाषायां वृत्ति-व्याख्या विहिता अस्ति... किन्तु वर्तमानकालीनमन्दमतिमुमुक्षुभिः इदं आचाराङ्गसूत्रम्, इयं नियुक्तिः, वृत्ति-व्याख्या च दुरधिगम्या, अतः एतावृशी परिस्थितिः सज्जाताः यत् प्रभूततराः साधवः साधव्यश्च विहितयोगविधयः अपि, आचाराङ्गसूत्रार्थस्य जिज्ञासवः अपि न श्रवणं लभन्ते, न च पठितुं शक्नुवन्ति, ततः यत् तत् किमपि पठनं श्रवणं च कुर्वन्तः सन्तः आर्त्तध्यानात्मात-चेतसध्य ते दुर्लभं नरजन्मक्षणं मुधा गमयन्ति,

अतः एवम्भूतानां मन्दमतीनां मुमुक्षुणां हितकाम्यया इयं राजेन्द्र सुबोधनी "आहोरी" हिन्दी टीका-व्याख्या विहिता, अभिधान-राजेन्द्र-कोषकार-श्रीमद्-विजय राजेन्द्रसूरीश्वराणामन्तेवासि शिष्यरत्न व्याख्यानवाचस्पति विद्वद्रेण्य श्रीमद् यतीन्द्रसूरीश्वराणां

विनेय शिष्यरत्नज्योतिषाचार्य-श्रीमद् जयप्रभविजयैः गुरुबन्धुश्री सौभाग्यविजयादीनां सत्प्रेरणाया
तथा च विनेय शिष्यरत्न हितेशचन्द्रविजयदिव्यचन्द्रविजयादीनां नम्रनिवेदनेन...

ग्रन्थसम्पादनकर्म तु प्रचुरश्रमसाध्यं अस्ति, अतः आचाराङ्गाभिधस्याऽस्य ग्रन्थस्य
सम्पादनकर्मणि मालवकेशरी व्याख्यानकार मुनिपुंगव श्री हितेशचन्द्रविजयजित् "श्रेयस" तथा
मुनिराज श्री दिव्यचन्द्रविजयजित् "सुमन" इत्यादिभिः एभिः मुनिवर्यैः आत्मीयभावेन प्रचुरमात्रायां
सहयोगः प्रदत्तः अस्ति, अतः तेषां श्रुतज्ञानभक्तिः अनुमोदनीया अस्ति...

राजेन्द्र सुबोधनी "आहोरी" हिन्दी टीकाऽन्वितस्य अस्य आचाराङ्गग्रन्थस्य
प्रभूततराणि पत्राणि सज्जातानि, अतः प्रथमश्रुतस्कन्धस्य प्रथमाध्ययनस्वरूपः प्रथम-भागः तथा
द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमाध्ययनात्मकः द्वितीय-भागः, तथैव षष्ठ-सप्तम-अष्टम-
नवमाध्ययनात्मकः तृतीयः भागः प्रकाशितः अस्ति... एवं प्रकारेण प्रथम-श्रुतस्कन्धस्य नव
अध्ययनानि प्रथम-द्वितीय-तृतीयभागे मुद्रापितानि सन्ति । तथा च द्वितीयश्रुतस्कन्धात्मकः
चतुर्थभागः तत्रभवतां भवतां पावनकरकमले प्रस्तुतोऽस्ति । एवं आहोरी-भाषा टीका समेतः
सम्पूर्णः आचाराङ्ग-ग्रन्थः अस्माभिः पुस्तकचतुष्टये सम्पादितोऽस्ति ।

ग्रन्थमुद्रणविधौ तु अणहिलपुर-पाटण-नगरस्थ दीप ओफ़सेट स्वामी श्री हितेशभाइ
परीख एवं मून कम्प्युटर स्वामी श्री मनोजभाइ ठक्कर इत्यादि सज्जनानां सहयोगः
अविस्मरणीयः अस्ति ।

ग्रन्थसम्पादनकर्मणि प्रेसमेटर एवं प्रुफ आदि संशोधनकर्मणि विदुषी साधनादेवी,
निमेष-ऋषभ-अभयम् इत्यादि सर्वेषां असाधारणसहयोगः प्रशंसनीयः अस्ति । अन्येऽपि ये केऽपि
सज्जनाः अस्मिन् ग्रन्थसम्पादनकर्मणि उपकृतवन्तः, तेभ्यः समेभ्यः समुपलब्धं सहकारं
कृतज्ञभावेन स्मरामि इति...

--: निवेदयति :-

सीताधरात्मजः रमेशचन्द्रः हरिया...

संस्कृत-प्राकृत व्याकरण काव्य न्याय साहित्याचार्य.

मो. ०९९७७१ ७५०७४, ०९४२७३ ८२४३८

--: अध्यापक :-

गुरु राजेन्द्र विद्या शोध संस्थान

मोहनखेडा तीर्थ (राजगढ़)

जि. धार, मध्यप्रदेश

फोन : ०७२९६-२३२२२५

वि.सं.२०६४ आषाढ-शुक्ला (६) षष्ठी

दिनांक : २०-७-२००७

मोहनखेडा तीर्थ (म.प्र.)

प्रासंगिकम्

पं. श्री लीलाधरात्मजः रमेशचन्द्रः हरिया

सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद लेखनकला के शिल्पी है अभिधान राजेन्द्र कोश महाग्रंथ के निर्माता भट्टारक परम पूज्य आचार्य देव श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यानवाचस्पति पू. आ. देव श्रीमद् विजयतीन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. के शिष्यरत्न आगममर्मज्ञ मालवरत्न ज्योतिषाचार्य श्रीमद् जयप्रभविजयजी म. सा. "श्रमण" ।

इस महान ग्रंथ के निर्माण एवं संपादन कार्य में सहयोग प्राप्त हुआ है वयः संयमस्थविर श्री सौभाग्यविजयजी म. सा. प्रवचनकार श्री हितेशचंद्र विजयजी म. सा. श्री दिव्यचंद्र विजयजी म. सा. तथा प्रवर्तिनी पू. गुरुणीजी श्री मुक्तिश्रीजी म. सा. पू. साध्वीजी जयंतश्रीजी म. पू. साध्वीश्री संघवणश्रीजी म. पू. साध्वीश्री मणिप्रभाश्रीजी म. पू. साध्वीश्री तत्त्वलोचनाश्रीजी म. तथा हमारे बेन मा'राज साध्वीश्री सूर्योदयाश्रीजी म. सा. के शिष्या पू. साध्वीश्री रत्नज्योतिश्रीजी म. श्री मोक्षज्योतिश्रीजी म. श्री अक्षयज्योतिश्री म. श्री धर्मज्योतिश्रीजी म. आदि...

इस ग्रंथ में (१) अर्ध मागधी-प्राकृत भाषामें मूलसूत्र... (२) मूलसूत्र की संस्कृत छाया... (३) मूलसूत्र के भावार्थ... (४) श्री शीलाकाचार्यजीकी टीका का भावानुवाद... तथा (५) सूत्रसार का संकलन किया गया है...

इस ग्रंथ के प्रत्येक पेइज के उपर की ओर १-१-१-१ ऐसा जो क्रमांक लिखा गया है, उसका तात्पर्य -

- १ याने प्रथम श्रुतस्कंध...
- १ याने प्रथम अध्ययन...
- १ याने प्रथम उद्देशक...
- १ याने पहला सूत्र...

इस ग्रंथ के भावानुवाद के लिये मुख्य आधार ग्रंथ मुनिराज श्री दीपरत्नसागरजी म. सा. के द्वारा प्रकाशित सटीक ४५ आगम ग्रंथ का प्रथम भाग श्री आचारांग सूत्र... सटीक... इस प्रकाशनमें दीये गये सूत्र क्रमांक १ से ५५२ पर्यंत संपूर्ण... यह हि क्रमांक इस प्रस्तुत प्रकाशन में लिये गये है... अतः प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययनके द्वितीय उद्देशक आदिके सूत्र क्रमांक में हमने उद्देशकके सूत्र क्रमांक के साथ साथ सलग सूत्र क्रमांक भी दीये है... जैसे कि- जहां १-१-२-३ (१६) लिखा गया है

वहां प्रथम का १ अंक प्रथम श्रुतस्कंध का सूचक है...
द्वितीय स्थानमें १ अंक प्रथम अध्ययन का सूचक है...

तृतीय स्थानमें २ अंक द्वितीय उद्देशकका सूचक है, एवं
चतुर्थ स्थानमें ३ अंक द्वितीय उद्देशक के तृतीय सूत्र का सूचक है....
तथा (१६) अंक सूत्र का अविभक्त सलग क्रमांक है...

इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन में सात उद्देशक है... सातवे उद्देशक का अंतिम सूत्र क्रमांक ६२ है... किंतु सातवे उद्देशकमें वह सातवां सूत्र है अतः हमने १-१-७-७ (६२) लिखा है...

प्रत्येक पेइज के उपर लिखे गये १-१-२-३ (१६) इत्यादि क्रमांक को देखने से यह ज्ञात होगा कि- यह टीकानुवाद या सूत्रसार कौन से श्रुतस्कंध के कौन से अध्ययन के किस उद्देशक का कौन सा सूत्र प्रस्तुत है... यह पद्धति आहोरी हिन्दी टीका ग्रंथके भाग :-१-२-३-४ सर्वत्र रखी गई है।

इस आहोरी हिन्दी टीका ग्रंथ का सही सही उपयोग इस प्रकार देखा गया है, कि- जो साधु या साध्वीजी म. सटीक आचारांग ग्रंथ पढना चाहते हैं... और उन्हें अध्ययन में कठीनाइयां आती है इस परिस्थिति में यह अनुवाद ग्रंथ उन्हें उपयुक्त सहायक बनेगा ऐसा हमारा मानना है... अतः हमारा नम्र निवेदन है कि- आप इस ग्रंथ का सहयोग लेकर सटीक आचारांग ग्रंथ का हि अध्ययन करें...

गणधर विरचित मूलसूत्र में एवं शीलाकाचार्य विरचित संस्कृत टीका में जो भाव-रहस्य है वह भावरहस्य अनुवाद में कहां ? जैसे कि- गोरस दुध में जो रस है वह छस में कहां ? तो भी असदत मनुष्य को मंद पाचन शक्ति की परिस्थिति में दूध की जगह छस हि उपकारक होती है क्योंकि- दोनों गोरस तो है हि... ठीक इसी प्रकार मंद मेधावाले मुमुक्षु साधु-साध्वीजीओं को यह भावानुवाद-ग्रंथ अवश्य उपकारक होगा हि...

गणधर विरचित श्री आचारांग सूत्र का अध्ययन आत्म विशुद्धि के लिये हि होना चाहिये... आत्म प्रदेशों में क्षीरनीरवत् मीले हुए कर्मदल का पृथक्करण करके आत्म प्रदेशों को सुविशुद्ध करना, यह हि इस महान् ग्रंथ के अध्ययन का सारभूत रहस्य है, अतः इस महान् ग्रंथ के प्रत्येक पद-पदार्थ को आत्मसात् करना अनिवार्य है... कथाग्रंथ की तरह एक साथ पांच दश पेइज पढने के बजाय प्रत्येक पेइज के प्रत्येक पेरोग्राफ (फकरे) को चबाते चबाते चर्चण पद्धति से पढना चाहिये... अर्थात् चिन्तन-मनन अनुप्रेक्षा के द्वारा आत्मप्रदेशों से संबंध बनाना चाहिये...

आत्म प्रदेशों में निहित ज्ञानादि गुण-धन का भंडार अखुट अनंत अमेय एवं अविनाशी है... कि- जो गुणधन कभी भी क्षीण नहि होता... और न कोइ चोर लुट सकता... और न कभी शोक-संताप का हेतु बनता, किंतु सदैव सर्वथा आत्महितकर हि होता है... अतः ज्ञान-

धन हि आत्मा का सच्चा धन-ऐश्वर्य है...

श्री आचारांग सूत्र के अध्ययन से उपलब्ध हुआ पंचाचार स्वरूप गुण-धन निश्चित हि प्रज्वलित दीपक की तरह अनेक बुझे हुए दीपकों को प्रज्वलित करता है... अर्थात् अनेक भव्य जीवों में पंचाचार-गुण-धन के प्रदान के द्वारा अनंतानंत जीवों को अव्याबाध अविचल आत्मिक सुख का हेतु बनता है...

इस ग्रंथ के निर्माण एवं संपादन में अतीव सावधानी रखी गई है, तो भी जहां कहीं अपूर्णता प्रतीत हो वहां क्षमाशील सज्जन साधु-संत परिपूर्णता करे यह हि हमारी नम्र प्रार्थना है.. क्योंकि- सज्जन लोग सदा गुणग्राही होते हैं एवं शुभ पुरुषार्थ के प्रशंसक होते हैं...

इस ग्रंथ का मुद्रण कार्य उत्तर गुजरात के पाटण नगरमें दीप ओफसेट के मालिक परीख हितेशभाइ ने पूर्ण सावधानी से किया है... एवं कम्प्यूटर लिपि मूल कम्प्यूटर के मालिक मनोजभाइ ठक्कर ने बहोत हि परिश्रम के साथ प्रस्तुत की है... अतः हम उन दोनों महानुभावों के श्रम को नहि भूल पाएंगे...

इस ग्रंथ के निर्माण एवं संपादन कार्य में पाटण खेतरवसी श्री भुवनचंद्रसूरि ज्ञानमंदिर के व्यवस्थापक ट्रस्टी श्री विनोदभाइ इवेरी एवं पं. श्री रमणीकभाइ ने उपयुक्त पुस्तक प्रत इत्यादि सहर्ष प्रदान कर अपूर्व सहयोग दिया है...

इस महान् ग्रंथ के संपादन-प्रकाशन कार्य में आहोर निवासी शांतिलालजी मूथा एवं उनके सुपुत्र धरणेन्द्रभाई मूथा इत्यादि अनेक सज्जनों का सहयोग प्राप्त हुआ है, तथा प्रेस मेटर एवं प्रुफ संशोधनादि कार्यों में विदुषी साधनादेवी आर. हरिया तथा चि. पुत्र निमेष, ऋषभ एवं अभयम् का सहयोग सराहनीय है...

अंत मे श्री श्रमण संघ से करबन्ध नम्र निवेदन है कि- इस महान ग्रंथरत्न का आत्म विशुद्धि के लिये उपयोग करें एवं संपूर्ण विश्व के सकल जीव पंचाचार की सुवास को प्राप्त करें ऐसा मंगलमय आशीर्वाद प्रदान करें.... यही शुभकामना के साथ...

-: निवेदक :-

लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया...

संस्कृत-प्राकृत व्याकरण काव्य न्याय साहित्याचार्य.

3/११, वीतराग सोसायटी, पी. टी. कोलेज रोड,

पालडी, अमदावाद-3८०००७

मो. : ०९३७६१ ५४६८४

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन

(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

श्री जिन वाणी आगम हिन्दी टीका प्रकाशन में

सर्वोच्च प्रव्य सहयोगी महानुभावो की स्वर्णिम नामावली

-: महास्तम्भ :-

- १ ठाकुर श्री महिपालसिंहजी पृथ्वीसिंहजी चौपावत
ह : श्रीमती प्रफूलाकुंवर धर्मपत्नी पृथ्वीसिंहजी, आहोर
सरपंच महोदया ग्राम पंचायत, आहोर
- २ स्व. श्रीमती ओटीबाई फूलचन्दजी हणवन्त गौत्रीय, आहोर
ह : सुपुत्री प्यारीबाई लालचन्दजी वागरेचा, आहोर

: स्तम्भ :

- १ मुथा अमीचन्दजी की स्मृति में पुस्वराज जावन्तराज भंवरलाल किरणराज नैनचन्द फूटरमल रमेशकुमार गौतमचन्द बाबुलाल जयन्तीलाल कैलाशकुमार महावीरचन्द्र बेटा पोता जुहारमल भूराजी बागरेचा परिवार, आहोर...
- २ मुथा भीमराजजी बाबुलाल प्रकाशचन्द्र महेन्द्रकुमार राजेशकुमार अंकीतकुमार आशान्तकुमार बेटा पोता केसरीमलजी बागरेचा, ह: श्रीमती पानीबाई बागरेचा, आहोर...
- ३ स्व. श्रीमति भागवतीबाई की स्मृति में शाह पारसमल भंवरलाल जयन्तीलाल विनोदकुमार राजेन्द्रकुमार उत्तमकुमार प्रवीणकुमार महावीरकुमार बेटा पोता सिखबचन्दजी नथमलजी, आहोर...
- ४ श्रीमति सुमटीबाई धर्मपत्नी घेवरचन्दजी बाफना पुत्र विमलकुमार कीर्तिकुमार रोहितकुमार बेटा पोता मुथा घेवरचन्दजी जेठमलजी, आहोर...
- ५ बाफना मुथा रमेशकुमार दीपककुमार हरेशकुमार अमनकुमार कृष्णंगकुमार बेटा पोता सुमेरमलजी सुस्वराजजी, ह: श्रीमती भागवन्ती बाई, आहोर...
- ६ बाफना मुथा हस्तिमल मदनराज रमेशकुमार राजेन्द्रकुमार जितेन्द्रकुमार भरतकुमार अभिषेककुमार ऋषभकुमार सुशीलकुमार बेटा पोता भबुतमल कुसलराजजी, ह: श्रीमती मोहनबाई, आहोर...
- ७ बाफना मुथा जयन्तीलाल गौतमकुमार हरिशकुमार राजेन्द्रकुमार आकाशकुमार अक्षयकुमार अमरकुमार जीकिंकुमार बेटा पोता पुष्पराजजी वनराजजी, श्रीमती फेन्सी बाई स्मृति में, आहोर...

- ८ शाह रिखबचन्दजी ताराचन्दजी वाणिगोता, श्रीमती शान्तिदेवी वाणीगोता, आहोर...
- ९ बाफना मुथा डा. चम्पालाल मदनलाल संजयकुमार आनन्दकुमार सुशीलकुमार विजयकुमार विशालकुमार गौतमकुमार बेटा पोता मिश्रीमलजी सूरजमलजी, हः श्रीमती लीलादेवी शान्तिदेवी, आहोर...
- १० फोलामुथा हिराचन्द नथमल प्रकाशचन्द नरेशकुमार बेटा पोता भगवानजी गुलाबचन्दजी, हः मोहनीदेवी, आहोर...
- ११ वजावत स्व. मुकनचन्दजी एवं घेवरचन्दजी के स्मृति में पारसमल कानराज रमेशकुमार अशोककुमार मनोजकुमार राजेन्द्रकुमार रविकुमार विजयकुमार धर्मेन्द्रकुमार यतीन्द्रकुमार, हः श्रीमती गदुबाई वजावत, आहोर...
- १२ कटारिया संघवी जयन्तीलाल किशोरकुमार प्रवीणकुमार बेटा पोता भगवानजी धानमलजी, हः मोहनीबाई, आहोर...
- १३ नागोरी मूलचन्दजी की स्मृति में शान्तिलाल बाबुलाल मोहनलाल अशोककुमार संजयकुमार विजयकुमार अजयकुमार मितेशकुमार मनीशकुमार जयकुमार कीर्तिकुमार अंकितकुमार अक्षयकुमार बेटा पोता सुमेरमलजी चुनिलालजी, हः हंजाबाई, आहोर...
- १४ नागोरी भेरुलाल मयंककुमार भुवनकुमार बेटा पोता भंवरलालजी मिश्रीलालजी, हः पानीबाई, आहोर...
- १५ दांतेवाडीया मुथा कानराज सूरजमल जयन्तीलाल भंवरलाल शान्तिलाल नेमिचन्द नरपतराज विनोदकुमार विक्रमकुमार मनोजकुमार चेतनकुमार सन्दीपकुमार श्रीपालकुमार भावेशकुमार निलेशकुमार जवेरचन्द विरलकुमार विजयकुमार राजेन्द्रकुमार बेटा पोता तेजराजजी हिराचन्दजी, हः श्रीमती बदामीबाई, आहोर...
- १६ मातुश्री बदामबाई की स्मृति में पुत्र नेणावत भंवरलाल कीर्तिकुमार किशोरकुमार विनोदकुमार बेटा पोता प्रतापचन्दजी गुलाबचन्दजी, आहोर...
- १७ कंकु चोपडा मुन्निलाल चम्पालाल जुगराज बाबुलाल भीकमचन्द जयन्तीलाल कान्तिलाल अमृतकुमार विनोदकुमार महेन्द्रकुमार नेमिचन्द रमणकुमार अशोककुमार फूटरमल बेटा पोता पुखराजजी केसरीमलजी चौपडा, आहोर...
- १८ शाह शान्तिलाल मांगीलाल अशोककुमार ललितकुमार राजेन्द्रकुमार दिनेशकुमार विक्रमकुमार निखिलकुमार अंकितकुमार राहुलकुमार आशीषकुमार अक्षयकुमार यक्षकुमार आयुषकुमार बेटा पोता लक्ष्मणराजजी श्रीश्रीमाल विजलगोता, आहोर...
- १९ स्व. नेणमलजी की स्मृति में सुमेरमल शेषमल रमेशकुमार किशोरकुमार मनीशकुमार संजयकुमार राजकुमार अमनकुमार बेटा पोता फूलचन्दजी कपुरचन्दजी नेणावत पोरवाल, हः सोहनीबाई, आहोर...
- २० कोठारी वस्तिमलजी की स्मृति में गुलाबचन्द शान्तिलाल अशोककुमार रमेशकुमार

मुथा शान्तिलालजी वक्तावरमलजी
आहोर (राजस्थान)



: जन्म :
सं. १९९० कार्तिक वदि ८ दिनांक १२-१०-१९३३

: फर्म :
सेठ शान्तिलाल एण्ड कम्पनी
तनकू (आन्ध्र प्रदेश)

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

मुथा नसरुपनी जितमलजी के वंशज ऐसे आप अपने जीवन में ज्ञानभक्ति साधार्मिक भक्ति एवं मुनि मण्डल व साध्वी मण्डल के सभी प्रकार की सेवा भक्ति में अग्रगण्य रहते हुए लाभ प्राप्त करते थे श्री मोहनखेडा तीर्थ जीर्णोद्धार की संपूर्ण देखरेख करते हुए जिन मन्दिर के स्वात मुहूर्त का लाभ प्राप्त किया एवं जालोर जिह्वा जैन संमेलन १९५६ में हुआ था उसमें व कलिकुंड तीर्थ से छरिपालक संघ में एवं परमपूज्य आचार्य श्रीमद् विजय हेमन्द्रसूरीश्वरजी म. के आचार्यपद प्रदान महोत्सव समारोह में नवकारशी का लाभ लेकर गुरुभक्ति का परिचय दिया ।

आपके द्वारा किये गये शासन प्रभावना के कार्य सदा-सदा के लिये याद बनकर रहेंगे ।

बारह व्रतधारी तपस्वी रत्ना



श्रीमती सुखीबाई शांतिलाल मुथा
आहोर (राजस्थान)

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र युबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

आपने अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य देव गुरु धर्मकी उपासना आराधना अर्चना का रखते हुवे जीवन को व्रत-नियम में रखने के निर्णय से बारह व्रत धारण करके उत्कृष्ट तपस्या में लगाने के उद्देश्य से 92 वर्षीय, मासक्षमण, श्रेणीतप, सिद्धि तप तीनों उपधान महातप, 900 आयम्बिल, अद्वाई, अष्टम, छठ उपवास आदि विविध तपो से आत्मभाव निर्मल करती हुई जीवन चर्या धर्मराधना में ही व्यतीत करना लक्ष्य रहा है आपके तीनों पुत्र महावीर, धरणेन्द्र व यतीन्द्र पुत्री अ. सौ. विद्यादेवी व पुत्र वद्युए मधुबाला, मैना, सुशीला, एवं पौत्र श्रेयांस, अजित, श्रेणिक, पक्षाल, अनंत, एवं पौत्री हेमलता, हीना, अनीला, प्रीती आदि धर्मराधना में सहभागी बनी रहती हैं ।

आपका जीवन दीर्घजीवी होकर देव गुरु की सेवा भवित सह तपस्या निर्विघ्नता से होती रहे यही शुभाकांक्षा ।

: महास्तम्भ :



श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन (श्री राजेन्द्र युबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

आपके पूर्वज श्री यशवन्तसिंहजी हुए जिन्होंने सं. १९२३ वैशाख सुदि ५ के रोज परम पूज्य कलिकाल सर्वज्ञ कल्प भट्टारक श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी का श्रीपूज्य पदवीका महोत्सव करके छडी चामर भेट कर आहोर ठिकाने से श्रीपूज्यपद का महत्त्व दिया, जिन्हो के आत्मज श्री लालसिंहजी हुए इनके आत्मज श्री भवानीसिंहजी हुए जिनके शासनकालमें वि. सं. १९५५ फागण वद ५ गुरुवार को राजस्थान में सर्व प्रथम भव्य अंजनशलाका महोत्सव के आयोजक बाफना गोपीच नसरुपजी जितमलजी मुथा की और से ९५१ जिनबिंबोकी अंजनशलाका हुई, एवं श्री गोडी पार्श्वनाथ के परिसरमें बावन (५२) जिनालयमें जिनबिंबो की प्रतिष्ठा सानंद संपन्न हुई, आपके सुपुत्र श्री ठकुर रावतसिंहजी हुए, जिन्होंने परम पूज्य व्याख्याण आगमज्ञाता आचार्यदेव श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. को सं. १९९५ वैशाख सुदि १० को आचार्यपद प्रदान किया गया उस मे सभी प्रकार से पूर्ण सहयोग श्री संघ आहोर को दिया । इन्हो के पुत्र श्री नरपतसिंहजी व श्री मानसिंहजी हुवे श्री नरपतसिंहजी के दत्तकपुत्र श्री पृथ्वीसिंहजी हुवे जिन का अल्प आयु में स्वर्गवास हो गया, इनके सुपुत्र श्री महिपालसिंहजी एवं श्री मानसिंहजी ने परम पूज्य आचार्य श्रीमद् विजय हेमन्द्रसूरीश्वरजी म. के सं. २०४० माघ सु. ९ को आचार्यपद प्रदान महोत्सव में आपके पूर्वजों के अंशु रूप सम्पूर्ण सहयोग श्रीसंघ को दिया, श्रीपृथ्वीसिंहजी की धर्मपत्नी श्री प्रफुल्लकुंवरी साहिब जो वर्तमान में आहोरनगर में ग्राम पंचायत की “सरपच” हैं । जिन्होको धर्म तत्त्व जानने की बहुत ही जिज्ञासा रहती है । आपके पुत्र श्री महिपालसिंहजी दीर्घ आयु होकर समाज व नगर की सेवा करते हुवे आत्मोन्नति कर यशस्वी बने यही मंगल कामना ।

प्रस्तुति

शान्तिबाल वत्सावस्मलजी मुथा
श्री भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति
आहोर (राजस्थान)

श्री ठकुर पृथ्वीसिंहजी नरपतसिंहजी चौपावत
आहोर (राजस्थान)

जन्म : इ.सं. १९४९
स्वर्गवास : इ.सं. ५-५-१९८१

महारतम्भ
श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

परम पूज्य कलिकाल सर्वज्ञ सौधर्म
 बृहत्पागच्छ नायक अभिधान राजेन्द्रकोष
 लेखक भट्टारक प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी
 महाराज की परमोपासिका



श्रीमती ओटीबाई फुलचंदजी
आहोर

निकालकर स्वर्णगिरि तीर्थ : (जालोर) : पर परम पूज्य आगम ज्ञाता प्रसिद्ध वक्ता मुनिराज श्री देवेन्द्रविजयजी महाराज से संघ माला विधि सह धारण की । समय - समय पर संघ भक्ति करने का भी लाभ लिया । श्री मोहनस्वेडा तीर्थाधिराज का द्वितीय जिर्णोद्धार परम पूज्य शासन प्रभावक कविरत्न श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने सं० २०३५ माघ सुदि १३ को भव्य प्रतिष्ठोत्सव किया था । उस समय श्रीसंघ की स्वामिभक्ति रूप नौकारसी की थी एवं सं० २०५० में परम पूज्य राष्ट्र संत - शिरोमणिगच्छाधिपतिश्री हेमैन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने परम पूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के समाधि मन्दिर व २५० जिनैन्द्र भगवान की प्राण प्रतिष्ठोत्सव पर संघ भक्ति में नौकारसी का लाभ लिया । तपस्या विश्रस्थानक तप की ओलीजी की आराधना श्री सिद्धितप, वर्षितप, श्रेणितप, वर्द्धमानतप की ओली, अडाई, विविध तपस्या करके इनके उद्यापन भी करवाये । बाग्राण - श्री सममैतशिवरजी, पालीतणा, गिरनार, आबू, जिरावला पार्श्वनाथ, शंखेश्वर पार्श्वनाथ, नागेश्वर, नाकोडा लक्ष्मणी तालनपुर माण्डवगढ, मोहनस्वेडा, गोड़वाड़ पंचतीर्थी, करेड़ा पार्श्वनाथ, केसरियाजी आदि तीर्थों की तीर्थयात्रा कर कर्म निर्जरा की । इस प्रकार अनेक धर्मकार्यों में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया । मुहूर्तराज ज्योतिष की पुस्तक के द्वितीय संस्करण में अपनी लक्ष्मी का दानकर पुण्योपाजन किया । आपकी धर्म पुत्री अ. सौ. प्यारीबाई भी उन्हीं के मार्ग पर चलकर तपस्या एवं दान वृत्ति अच्छी तरह से करती रहती है ।

आप आहोर: राज. निवासी श्री फुलचन्दजी की धर्मपत्नी है । आपके ऊपर वैधव्य योग आने पर आपने धर्मराधना में अधिक समय व द्रव्य स्वर्च करने में बिताया, आपने अपने गुरुणीजी श्री मानश्रीजी की शिष्या सरल स्वभावी त्यागी तपस्वी श्री हेतश्रीजी महाराज व परम विदुषी गुरुणीजी प्रवर्तिनीजी श्री मुक्तिश्रीजी आदि की प्रेरणा से संघ यात्राएं एवं धर्मराधना में समय - समय पर लक्ष्मी का सदुपयोग करती रहती है । आपने अपने पति के नाम से श्री फुलचन्द्र मेमोरियल ट्रस्ट बनाकर आहोर में एक विशाल भूखण्ड पर श्री विद्या विहार के नाम से श्री (सहस्रफणा) पार्श्वनाथ भगवान का भव्य जिन मन्दिर एवं जैनाचार्य सौधर्मबृहत्पागच्छ नायक कलिकाल सर्वज्ञ अभिधान राजेन्द्र कोष के लेखक स्वर्णगिरि, कोरटा, तालनपुर, तीर्थोद्धारक एवं श्री मोहनस्वेडातीर्थ संस्थापक भट्टारक प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की मूर्ति विराजित की । अपने धर्मराधना की प्रेरणा दात्री गुरुणीजी श्री हेतश्रीजी महाराज की दर्शनीय मूर्ति विराजित की । आहोर से जैसलमेर संघ बसो द्वारा यात्रा करवाई, आहोर से स्वर्णगिरि संघ



आहोर (राज.) निवासी
शा. घेवरचन्दजी नगराजजी वजावत
धर्मपत्नि गटुबाई
सुपुत्र पारसमल, कानराज, रमेशकुमार,
अशोककुमार वजावत परिवार

विशेष: आपके परिवारने
आ. हेमेन्द्र सूरीश्वरजी मा. सा. के
पाटमहोत्सव में बडी नवकारसी का लाभ
लिया था ।

श्री घेवरचन्दजी नगराजजी वजावत
आहोर



आहोर (राज.) निवासी
शा. पुखराजजी केशरीमलजी कंकुचोपडा
परिवार

विशेष: आपके परिवार द्वारा
श्री गोडीपार्श्वनाथ बावनजीनालय
शताब्दी महोत्सव में बडी नवकारसी
पालीताणा में नवाणुयात्रा का आयोजन
आ. हेमेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. के
पाटमहोत्सवमें दो नवकारसी का लाभ
लिया था ।

श्री पुखराजजी केशरीमलजी कंकुचोपडा
आहोर



मुथा सुमेरमल सुखराजजी

बाफना

आहोर निवासी
मुथा सुमेरमल सुखराजजी बाफना
धर्मपत्नी भाग्यवंतीबेन सुपुत्र रमेश,
दीपक, हरिश सुपुत्री निर्मलादेवी

विशेष : आपने आहोर में यात्रीभवनमें हाल
गोडीजीमें दो जिनप्रतिमाके गोखलेका
लाभ लिया



शा हीराचन्दजी भगवानजी

आहोर

आहोर निवासी शा हीराचन्दजी भगवानजी

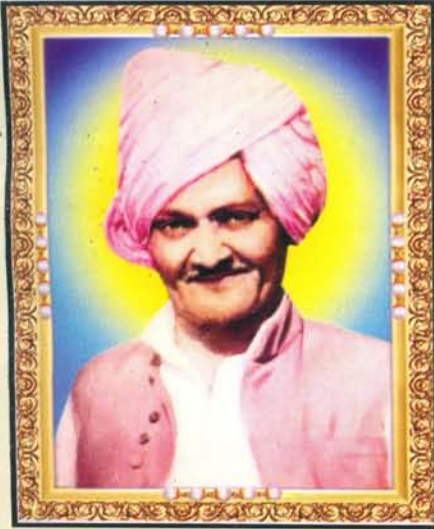
विशेष : आहोर गोडीजी के बगीचेमें
प्रमोदसूरि सभागृह व शान्तिनाथजी के
पास में धर्मशाला का निर्माण करवाया ।



आहोर (राज.) निवासी
मुथा भीमराजजी केशरीमलजी वागरेचा
(देबावासवाले)

विशेष : आपके परिवार की और से आहोर
पाट महोत्सव में नवकारसी व जीवीत
महोत्सव आदि के श्रेष्ठ कार्य का लाभ
लिया ।

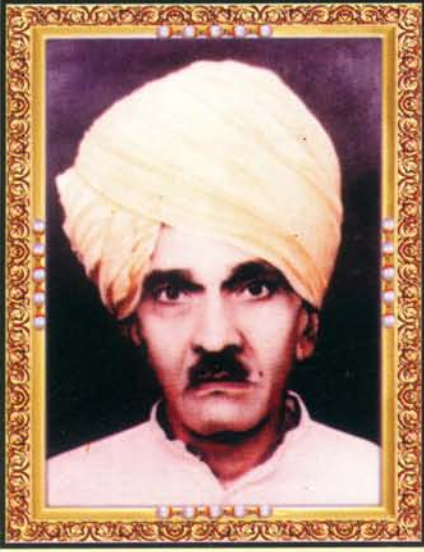
मुथा भीमराजजी केशरीमलजी वागरेचा
(देबावासवाले)



आहोर (राज.) निवासी
शा. छगनराजजी ताराचन्दजी छाजेड
पुत्र निहालचन्द, शीवराज, घेवरचन्द,
सुमरलाल, मोतीलाल

फर्म : मे. सि. टी. ट्रेडिंग कं.
शनिवार पेठ कराड - महाराष्ट्र

शा. छगनराजजी ताराचन्दजी
छाजेड



स्व. फतेचन्दजी छोगालालजी
आहोर

आहोर (राज.) निवासी
स्व. फतेचन्दजी छोगालालजी धर्मपत्नी
हीरीबाई पुत्र पौत्र भरुलाल, नरपतराज,
राकेशकुमार, मनीषकुमार,
जितेन्द्रकुमार, शुभम्, बेटा पौता
श्री श्रीमाल परिवार

फर्म : अम्बिका पेपर एजेन्सीज विजयवाडा

विशेष : आपकी और से शान्तिनाथजी
प्रतिष्ठा महोत्सव में फुलेचुन्दडी का लाभ
लिया था ।



श्री भंवरलालजी नागोरी
आहोर

आहोर निवासी
स्व. नागोरी भंवरलालजी मिश्रीमलजी
धर्मपत्नी पानीदेवी पुत्र पौत्र भरुलाल,
मयंक, भुवन नागोरी परिवार

फर्म : शा मिश्रीमलजी भवुतमलजी बेंगलोर

विशेष : आपके परिवार की और से
पाटोत्सवमें जय जिनेन्द्रका लाभ लिया था ।

- महावीरकुमार विनोदकुमार राजेन्द्रकुमार बेटा पोता छगनराजजी हः मोहनीदेवी, आहोर...
- २१ बागरेचा कुन्दनमल सुरेशकुमार जगदीशकुमार बेटा पोता मिश्रीमलजी जुहारमलजी, हः फेन्सीदेवी बागरेचा, आहोर...
- २२ शाह भेरुलाल नरपतराज राकेशकुमार मनीशकुमार जीतेन्द्रकुमार सुमयकुमार बेटा पोता फतेहचन्दजी छोगाजी श्रीश्रीमाल, हः हिराबाई, आहोर...
- २३ मातुश्री जडावीबाई के विविध तपाराधना के उपलक्षमें उद्यापन की स्मृति में पुत्र डा. रणजीतमल कान्तिलाल किरणराज अशोककुमार किशोरकुमार महावीरकुमार बेटा पोता छगनराजजी नगराजजी वजावत, आहोर...
- २४ शाह निहालचन्द शीवलाल घेवरचन्द झुमरलाल मोतीचन्द बेटा पोता छगनराजजी ताराचन्दजी छाजेड परिवार, आहोर...
- २५ स्व. गौतमचन्द बागरेचा की स्मृति में पिता पुस्कराज मातुश्री शान्तिदेवी, बहिन शोभा, सुमित्रा, पत्नि त्रिशला, सुपुत्र चेन्की, सुमित, पुत्री स्वेता, बडे भाता फुटरमलजी, भाभी वसन्तीदेवी, भतिज मनीष, मितेष... भतिजी रंजना, प्रियंका, लघुभाता महावीरचन्द, धर्मपत्नी विद्यादेवी, पुत्र राहुल, पुत्री रिंजल, आहोर...

: संरक्षक महोदय :

- १ श्री त्रिस्तुतिक ज्ञान खाते से ह : महिला मण्डल, आहोर...
- २ स्व. भबुतमलजी जावन्तराजजी की धर्मपत्नी जडावीबाई व पुत्र पौत्र सुमेरमल महेन्द्रकुमार जितेन्द्रकुमार सम्यककुमार एवं अशोककुमार जीतपाल, रौनककुमार पुत्र पौत्र हिराचन्दजी पोरवाल, आहोर...
- ३ मातुश्री श्रीमती धापुबाई की स्मृति में, शाह कुशलराज सन्दीपकुमार शीवलाल बेटा पोता मिद्याचन्दजी कातरगोता-बोहरा, आहोर...
- ४ वजावत फतेचंद, रूपराज भंवरलाल विमलचंद शान्तिलाल कान्तिलाल जयंतिलाल कमलचंद्र कीर्तिकुमार, आहोर. गुरु द्रव्यसे

-: सुकृत सहयोगी :-

- १ नागोरी प्रभुलाल भरतकुमार नरेशकुमार सुभाषकुमार बेटा पोता जेठमलजी, आहोर...
- २ मुथा शेषमल अशोककुमार कुशलराज राठौड बेटा पोता मगनाजी, आहोर...
- ३ शाह पारसमल विनोदकुमार कमलेशकुमार भरतकुमार वाणिगोता बेटा पोता अचलराजजी, आहोर...
- ४ मुथा पारसमल सरदारमल रमणलाल बेटा पोता मुथा चन्दनमलजी वनराजजी, आहोर...
- ५ श्रीमति गुलाबीदेवी धर्मपत्नी शाह चम्पालालजी वाणिगोता, आहोर...
- ६ स्व. रेखा बहिन सांकलचन्दजी डेट्टा, आहोर...

अनुक्रमणिका

सूत्र क्रमांक	पत्रांक
आचाराङ्गसूत्रे द्वितीय-श्रुतस्कन्धः	
प्रथम चूलिका प्रारंभ	पिण्डैषणा
श्रुत.-चूलिका-अध्य.-उद्दे. - सूत्र - सूत्रांक	०९
२ - १ - १ - १ - (१-१) - ३३५-३४३	०८
२ - १ - १ - २ - (१-४) - ३४४-३४७	३२
२ - १ - १ - ३ - (१-८) - ३४८-३५५	४५
२ - १ - १ - ४ - (१-३) - ३५६-३५८	६९
२ - १ - १ - ५ - (१-६) - ३५९-३६४	७९
२ - १ - १ - ६ - (१-६) - ३६५-३७०	८६
२ - १ - १ - ७ - (१-६) - ३७१-३७६	९९
२ - १ - १ - ८ - (१-६) - ३७७-३८२	११२
२ - १ - १ - ९ - (१-७) - ३८३-३८९	१२६
२ - १ - १ - १० - (१-४) - ३९०-३९३	१४१
२ - १ - १ - ११ - (१-४) - ३९४-३९७	१५३
<hr/>	
प्रथम-चूलिकायां अध्ययन-२ प्रारंभ	शय्यैषणा
श्रुत.-चूलिका-अध्य.-उद्दे. - सूत्र - सूत्रांक	१६७
२ - १ - २ - १ - (१-८) - ३९८-४०५	१६७
२ - १ - २ - २ - (१-१५) - ४०६-४२०	१८८
२ - १ - २ - ३ - (१-२४) - ४२१-४४४	२१२
<hr/>	
प्रथम-चूलिकायां अध्ययन-३ प्रारंभ	इर्या
श्रुत.-चूलिका-अध्य.-उद्दे. - सूत्र - सूत्रांक	२४८
२ - १ - ३ - १ - (१-९) - ४४५-४५३	२४८
२ - १ - ३ - २ - (१-७) - ४५४-४६०	२७२
२ - १ - ३ - ३ - (१-५) - ४६१-४६५	२८९
<hr/>	
प्रथम-चूलिकायां अध्ययन-४ प्रारंभ	भाषा-जातम्
श्रुत.-चूलिका-अध्य.-उद्दे. - सूत्र - सूत्रांक	३०४
२ - १ - ४ - १ - (१-४) - ४६६-४६९	३०४
२ - १ - ४ - २ - (१-५) - ४७०-४७४	३२२
<hr/>	
प्रथम-चूलिकायां अध्ययन-५ प्रारंभ	वस्त्रैषणा
श्रुत.-चूलिका-अध्य.-उद्दे. - सूत्र - सूत्रांक	३३७
२ - १ - ५ - १ - (१-८) - ४७५-४८२	३३७
२ - १ - ५ - २ - (१-३) - ४८३-४८५	३५९

प्रथम-चूलिकायां अध्ययन-६ प्रारंभ	पात्रैषणा	३६८
श्रुत.-चूलिका-अध्य.-उद्दे. - सूत्र - सूत्रांक		
२ - १ - ६ - १ - (१) - ४८६		३६८
२ - १ - ६ - २ - (१-२)-४८७-४८८		३७६
प्रथम-चूलिकायां अध्ययन-७ प्रारंभ	अवग्रह-प्रतिमा	३८२
श्रुत.-चूलिका-अध्य.-उद्दे. - सूत्र - सूत्रांक		
२ - १ - ७ - १ - (१-४)-४८९-४९२		३८२
२ - १ - ७ - २ - (१-४)-४९३-४९६		३९४
द्वितीय-चूलिका प्रारंभ	सप्त सप्तैकका	---
श्रुत.-चूलिका-अध्य.-सूत्र - सूत्रांक		
२ - २ - १ - (१) - ४९७	स्थानम्	४०७
२ - २ - २ - (१) - ४९८	निषीधिका	४१३
२ - २ - ३ - (१-३)- ४९९-५०१	उच्चारप्रसवण	४१८
२ - २ - ४ - (१-३)- ५०२-५०४	शब्द	४३२
२ - २ - ५ - (१) - ५०५	रूप	४४३
२ - २ - ६ - (१-२)- ५०६-५०७	परिक्रिया	४४७
२ - २ - ७ - (१) - ५०८	अन्योऽन्यक्रिया	४५८
तृतीय-चूलिका प्रारंभ	भावना	---
श्रुत.-चूलिका--सूत्र - सूत्रांक		
२ - ३ - (१-३२)- ५०९-५४०	भावना	४६१
चतुर्थ-चूलिका प्रारंभ	विमुचित	---
श्रुत.-चूलिका--सूत्र - सूत्रांक		
२ - ४ - (१-१२) - ५४१-५५२	विमुचित	५३६
उपसंहार		५५३
प्रशस्ति		५५५
निर्युक्ति		५५८
४५ आगम के सूत्र एवं टीका ग्रंथों के श्लोक प्रमाण		५६६

ॐ नमोऽस्तु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

ॐ नमः श्री जिनप्रवचनाय

ॐ नमः सरस्वत्यै नमः स्वाहा

संक्षिप्त विषयानुक्रम

आचारांगसूत्रे द्वितीयः श्रुतस्कन्धः

चूलिका-१	विषयः	पत्रांकः
प्रथम अध्ययन उद्देशक-१-११	पिण्डैषणा	१-१६६
द्वितीय अध्ययन उद्देशक-१-३	शय्यैषणा	१६७-२४७
तृतीय अध्ययन उद्देशक-१-३	ईर्या	२४८-३०३
चतुर्थ अध्ययन उद्देशक-१-२	भाषाजातम्	३०४-३३६
पंचम अध्ययन उद्देशक-१-२	वस्त्रैषणा	३३७-३६७
षष्ठ अध्ययन उद्देशक-१-२	पात्रैषणा	३६८-३८१
सप्तम अध्ययन उद्देशक-१-२	अवग्रह-प्रतिमा	३८२-४०६
चूलिका-२	विषय	पत्रांक
प्रथम अध्ययन	स्थानम्	४०७-४१२
द्वितीय अध्ययन	निषीधिका	४१३-४१७
तृतीय अध्ययन	उच्चार-प्रसवण	४१८-४३१
चतुर्थ अध्ययन	शब्द	४३२-४४२
पंचम अध्ययन	रूप	४४३-४४६
षष्ठ अध्ययन	परक्रिया	४४७-४५७
सप्तम अध्ययन	अन्योऽन्यक्रिया	४५८-४६०
चूलिका-३	भावना	४६१-५३५
चूलिका-४	विमुक्ति	४३६-५५२
उपसंहार-प्रशस्ति		५५३-५५७
निर्युक्ति		५५८-५६५
४५ आगम सूत्र-टीका-निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णि ग्रंथान्		५६६-५६८

॥ भारत-वर्ष के हृदयस्थल स्वरूप मालवभूमि - मध्यप्रदेश में
 शत्रुञ्जयावतार मोहनखेडा तीर्थाधिपति श्री आदिनाथस्वामिने नमो नमः ॥
 ॥ परमपूज्य, विश्ववन्द्य, अभिधानराजेन्द्रकोष-निर्माता, भट्टारक, सरस्वतीपुत्र,
 कलिकालसर्वज्ञकल्प, स्वर्णगिरी-कोरटा-तालनपुरादितीर्थोद्धारक, क्रियोद्धारक,
 प्रभुश्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर पट्टप्रभावक आचार्यश्रीमद् विजयधनचन्द्रसूरीश्वर
 पट्टभूषण आचार्य श्रीमद् विजयभूपेन्द्रसूरीश्वर पट्टदिवाकर आचार्य श्रीमद्
विजययतीन्द्रसूरीश्वर पट्टालङ्कार आचार्य श्रीमद् विजयविद्याचन्द्रसूरीश्वरादि
सद्गुरु चरणेभ्यो नमो नमः ॥

ॐ नमः श्री जिन प्रवचनाय ॐ

ॐ ॐ ॐ

ॐ

श्री आचाराङ्ग-सूत्रम्

ॐ

द्वितीय श्रुतस्कन्धात्मकः चतुर्थ विभागः

तत्र

विभागः श्री शीलाङ्काचार्यविरचितवृत्ति की चतुर्थः

राष्ट्रभाषा “हिन्दी” में

राजेन्द्र सुबोधनी “आहोरी” हिन्दी टीका...

“मूल-सूत्र ॐ संस्कृत-छाया ॐ सूत्रार्थ ॐ टीका-अनुवाद ॐ सूत्रसार...”

तत्र द्वितीय-श्रुतस्कन्धे प्रथम चूलिका

“उपोद्घात”

मङ्गलाचरणम्

श्रीमद् ऋषभदेवादि - वर्धमानान्तिमान् जिवान् ।

नमस्कृत्य नमस्फुर्वे सुधर्मादि - गणधरात् ॥ १ ॥

श्रीमद् विजय राजेन्द्र-सूरीश्वरान् नमाम्यहम्	
ये अभिधानराजेन्द्र - कोषः व्यरचि हर्षतः	॥ २ ॥
भवाब्धितारकान् वन्दे श्रीयतीन्द्रसूरीश्वरान्	
तथा च कविगुणाढ्यान् विद्याचन्द्रसूरीश्वरान्	॥ ३ ॥
गच्छाधिनायकान् नौमि श्रीहेमेन्द्रसूरीश्वरान्	
येषां शुभाशिषा कार्यं सुगमं सुन्दरं भवेत्	॥ ४ ॥
गुरुबन्धु श्री सौभाग्य-विजयादि-सुयोगतः	
हितेश-दिव्यचन्द्राणां शिष्याणां सहयोगतः	॥ ५ ॥
जयप्रभाऽभिधः सोऽहं श्रीराजेन्द्रसुबोधिनीम्	
आहोरीत्यभिधां कुर्वे टीकां बालावबोधिनीम्	॥ ६ ॥ युग्मम्

टीका-मंगलाचरणम्

ॐ

जयत्यनादिपर्यन्तमनेकगुणरत्नभृत्
न्ययकृताशेषतीर्थेश तीर्थ तीर्थधिपैर्बुतम् ॥१॥

अनादि-अनंत स्थितिवाला, अनेक गुण-रत्नों से भरा हुआ, सकल कुमतवादीओं का निराकरण करनेवाला एवं तीर्थकरों ने भी जिस को प्रणाम कीया है ऐसा यह तीर्थ याने जिनमत चिरकाल जयवंत रहो !!!

नमः श्री वर्धमानाय सदाचारविधायिने ।
प्रणताशेषगीर्वाण चूडारत्नार्चितांहये ॥ २ ॥

नमस्कार कर रहे सकल देव-देवैर्द्रों के चूडामणि से पूजित चरणवाले एवं सदाचार का आचरण करनेवाले श्री वर्धमान स्वामीजी को मेरा नमस्कार हो ।

आचारमेरोर्गदितस्य लेशतः, प्रवचि तच्छेषिकचूलिकागतम् ।
आरिप्सितेऽर्थे गुणवान् कृती सदा, जायेत निःशेषमशेषितक्रियः ॥ ३ ॥

चौदपूर्वधर नियुचितकार श्री भद्रबाहुस्वामीजी कहते हैं कि- श्री महावीर स्वामीजी ने मेरू समान पंचाचार-सम्यक् चारित्र का उपदेश दिया है किंतु मैं तो अभी अपनी अल्पसन्मति के द्वारा उस मेरू की चूलिका के समान प्रमाण से अतिशय अल्प ही आचार को कहता हूँ... क्योंकि- थोडा भी गुणवाला मुमुक्षु साधु क्रमशः संपूर्ण गुणवान् होता है कृतकृत्य होता है, क्योंकि- यह संयमानुष्ठान का अल्प आचरण भी द्वितीया के चंद्रवत् क्रमशः पूर्णता को प्राप्त करता है...

टीका-अनुवाद :

नव अध्ययन स्वरूप ब्रह्मचर्य नाम का पहला श्रुतस्कंध कहा, अब दूसरे श्रुतस्कंध का प्रारंभ करते हैं... इसका परस्पर संबंध इस प्रकार है कि- प्रथम श्रुतस्कंध में आचार का परिमाण कहते समय कहा था कि- अठारह हजार पद परिमाण नव ब्रह्मचर्य अध्ययन स्वरूप यह आचारांग सूत्र है... तथा इस आचारांग सूत्र की पांच चूलिका भी है, जो पद संख्या-परिमाण की दृष्टि से बहु बहुतर है...

पहले श्रुतस्कंध में नव ब्रह्मचर्याध्ययन कहे है, किंतु उनमें कहने योग्य समस्त अर्थ हम नहीं कह पायें हैं, और जो कहा है वह भी संक्षेप से कहा है, अतः जो अर्थ नहीं कहा है उसको कहने के लिये, एवं जो संक्षेप से कहा है, उसको विस्तार से कहने के लिये प्रथम श्रुतस्कंध से आगे जो चार चूलिकाएं हैं वे उक्त और अनुक्त अर्थ को कहने के लिये यहां अब चूलिकाएं कहतें हैं... चार चूलिका स्वरूप ही यह द्वितीय श्रुतस्कंध है... इस प्रकार के संबंध से आये हुए इस दुसरे श्रुतस्कंध की व्याख्या का प्रारंभ मैं (शीलाकाचार्यजी) करता हूं...

यहां अन्न-पद के नाम एवं स्थापना निक्षेप सुगम होने से अन्नपद का द्रव्य निक्षेप कहतें हैं... द्रव्य अन्न के दो प्रकार हैं आगम से एवं नोआगम से

तद्व्यतिरिक्त के तीन प्रकार हैं १. सचित्त, २. अचित्त एवं ३. मिश्रद्रव्य का वृक्ष-कुंत (भाला) आदि का जो अन्न भाग है वह द्रव्य निक्षेप है... तथा अवगाहना-अन्न-जिस द्रव्य का नीचे की ओर जो अवगाहन वह अवगाहनान्न... जैसे कि- मनुष्य क्षेत्र (अठी द्वीप) में मेरु पर्वत के सिवा जो अन्य पर्वत हैं वे सभी अपनी ऊंचाई के चौथा भाग भूमि में अवगाहन करके रहे हुए है... जब कि- मंदर=मेरु पर्वत तो एक हजार योजन अवगाहन करके रहा हुआ है... तथा आदेश-अन्न-आदेश याने व्यापार-कार्य में जोडना... यहां अन्न शब्द परिमाण वाचक है... इसलिये जहां परिमाण का आदेश दिया जाय वह आदेशान्न... जैसे कि तीन पुरुषों के द्वारा कर्म=कार्य करवानेवाला, अथवा तीन पुरुषों को भोजन करवानेवाला... तथा काल-अन्न- अधिक मास... अथवा अन्न-शब्द परिमाण-वाचक है... वहां

अतीतकाल... अनादि काल

अनागतकाल... अनन्त अन्ना-काल...

अथवा सभी अन्ना-काल...

क्रम-अन्न... क्रम से = परिपाटी से जो आगे है वह क्रमान्न...

यह क्रमान्न द्रव्यादि चार प्रकार से है, उनमें द्रव्यान्न- एक परमाणु से द्वयणुक... द्वयणुक से त्रिपरमाणु इत्यादि... गणनान्न- संख्या-धर्मस्थान से अन्य संख्या धर्मस्थान दश

गुण है... वह इस प्रकार- एक, दश, शत (सौ) हजार (सहस्र) इत्यादि... संचयाग्र-संचित (एकत्रित) द्रव्य के उपर जो है वह संचयाग्र... जैसे कि- संचित ताम्रोपस्कर से उपर शंख...

भावाग्र... तीन प्रकार से हैं... १. प्रधानाग्र २. प्रभूताग्र... ३. उपकाराग्र... इन तीनों में जो प्रधानाग्र है वह सचित्तादि भेद से तीन प्रकार से है... सचित प्रधानाग्र भी द्विपदादि भेद से तीन प्रकार के हैं, उनमें

द्विपद-तीर्थकर

चतुष्पद-सिंह

अपद-कल्पवृक्ष

अचित प्रधानाग्र-वैडूर्य रत्न आदि. मिश्र प्रधानाग्र- अलंकृत तीर्थकर

प्रभूताग्र- अपेक्षा से संभवित है... जैसे कि-

जीव सभी से थोड़े

पुद्गल जीव से अनंतगुण अधिक-

समय पुद्गल से अनंत गुण

द्रव्य विशेषाधिक

प्रदेश अनंतगुण

पर्याय अनंतगुण

यहां उत्तरोत्तर अग्र है किंतु पर्यायाग्र सभी से अग्र है...

उपकाराग्र - पूर्व जो संक्षेपसे कहा था उसको विस्तार से कहना और जो नहीं कहा गया था उसको कहना वह उपकाराग्र... जैसे कि- दशवैकालिकसूत्र की चूलिका-द्रव्य... अथवा तो आचारांगसूत्र का यह दुसरा श्रुतस्कंध उपकाराग्र है...

यहां उपकाराग्र का अधिकार है... यह बात नियुक्तिकार स्वयं ही कहते हैं कि- उपकाराग्र यहां प्रस्तुत है, क्योंकि- यह अग्र नाम का द्वितीय श्रुतस्कंध आचारांगसूत्र के उपर ही विराजमान है... और आचारांगसूत्र में कहे गये आचार को ही विशेष प्रकार से कहने स्वरूप, यह अग्र-श्रुतस्कंध आचारांग सूत्र से ही संबन्ध है... जैसे कि-वृक्ष एवं पर्वत का अग्र भाग...

उपकाराग्र के सिवा शेष अग्र का स्वरूप तो यहां "शिष्य की मति विकसित हो" इस दृष्टि से और उपकाराग्र को सुगमता से समझने के लिये कहे गये हैं... कहा भी है कि- कथनीय पदार्थ के समान जो कुछ होता है वह विधि से यदि कहा जाय तब ही अधिकृत पदार्थ का ज्ञान सुगम होता है...

अब यहां जो कथनीय है वह उपकाराय स्वरूप अग्र नाम के द्वितीय श्रुतस्कंध के रचनाकार कौन है ? रचना क्यों की ? और इस रचना का मूल-आधार क्या है ?

नि. २१०

स्थविर याने श्रुतवृद्ध चौदह पूर्वधरों ने रचना की है, तथा शिष्य के हित के लिये उपकार दृष्टि से रचना की गई है, और अस्पष्ट (अप्रगट) अर्थ को स्पष्ट करने के लिये इस अग्र नामक श्रुतस्कंध की रचना की गई है, और आचारांग सूत्र से ही समस्त अर्थ लेकर आचारांग के अग्र-श्रुतस्कंध में विस्तार से कहा है...

अब जो अर्थ जिससे कहा है वह बात विस्तार से निर्युक्ति की गाथाओं से ही निर्युक्तिकार स्वयं कहते हैं।

नि. २११, २१२, २१३, २१४

प्रथम ब्रह्मचर्य श्रुतस्कंध के लोकविजय नामके दुसरे अध्ययन के पांचवे उद्देशक से एवं आठवे विमोक्षाध्ययन के दुसरे उद्देशक से ग्यारह (११) पिंडेषणा^(१) कही है,

तथा इसी दुसरे अध्ययन के पांचवे उद्देशक से वस्त्रैषणा^(२), पात्रेषणा^(३), अवग्रहप्रतिमा^(४) शय्या^(५) तथा पांचवे अध्ययन के चौथे उद्देशकसे ईर्ष्या^(६), तथा छठे अध्ययन के पांचवे उद्देशक से भाषा^(७), तथा महापरिज्ञा नाम के नवें अध्ययन के सात उद्देशकों में से एक एक ऐसी सात सप्तैकक की रचना की गई है,

तथा शस्त्रपरिज्ञा नाम के पहले अध्ययन से भावना नाम की चूलिका और धूत नाम के छठे अध्ययन के दुसरे एवं चौथे उद्देशक में से विमुक्ति नाम के अध्ययन की रचना की गई है, तथा आचार-प्रकल्प स्वरूप "निशीथ" अध्ययन की रचना प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु के "आचार" नाम के बीसवे प्राभृत से की गई है... इस प्रकार ब्रह्मचर्य नाम के प्रथम श्रुतस्कंध में से ही अग्र नाम के द्वितीय श्रुतस्कंध की रचना हुई है, और निर्यूहन अधिकार से ही उन अध्ययनों का भी शस्त्रपरिज्ञा नाम के प्रथम अध्ययन से ही निर्यूह हुआ है, यह बात अब कहते हैं...

नि. २१५

शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन में "प्राणियों को पीडा देना" स्वरूप दंड का निक्षेप याने त्याग अर्थात् संयम की बात अस्पष्ट ही कही थी, अतः उस संयम की बात विभाग करके शेष आठ अध्ययन में कही है, अर्थात् संक्षेप से कही गई संयम की बात अब विस्तार से कहते हैं।

नि. २१६, २१७

अविरति से विरमण स्वरूप संयम एक प्रकार से ही है, और वह संयम आध्यात्मिक

एवं बाह्य भेद से दो प्रकार का है, तथा मन, वचन एवं काया के योग के भेद से वह संयम तीन प्रकार से है, तथा चार याम (महाव्रत) के भेद से वह संयम चार प्रकार से है, तथा पांच महाव्रत के भेद से संयम पांच प्रकार से कहा है, एवं रात्रिभोजन विरमण के साथ पूर्वोक्त पांच महाव्रत स्वरूप वह संयम छह (६) प्रकार से है, इत्यादि प्रक्रिया के द्वारा भेद-प्रभेद करते-करते अट्ठारह हजार शीलांग स्वरूप वह संयम अट्ठारह हजार भेद से कहा गया है।

तो फिर आगम ग्रंथों में जहाँ कहीं पांच महाव्रत स्वरूप ही संयम क्यों कहा गया है ? इस प्रश्न का उत्तर नियुक्तिकार नियुक्तिकी गाथा से कहते हैं...

नि. २९८

पांच महाव्रत स्वरूप कहा गया संयम का स्वरूप कथन करने में, विभाग करने में एवं समझने में सुगम होता है अतः पांच महाव्रत स्वरूप संयम शास्त्र में दिखाया गया है।

यह पांच महाव्रत स्वरूप संयम अखंडित होने पर ही सफल होता है अतः पांच महाव्रत स्वरूप संयम की रक्षा करने के लिये नियुक्तिकार नियुक्तिकी-गाथा कहते हैं।

नि. २९९

पांच महाव्रतों की रक्षा के लिये एक एक महाव्रत की पांच पांच भावनाएं होती हैं, और वे पच्चीस भावनाएं इस अग्र नाम के दूसरे श्रुतस्कंध में कही जाएगी, इसलिये यह द्वितीय श्रुतस्कंध शस्त्रपरिज्ञा नाम के पहले अध्ययन के अंतर्गत ही जानना चाहिए।

अब चूडा याने चूलिकाओं का अपना अपना परिमाण कहते हैं

नि. ३००

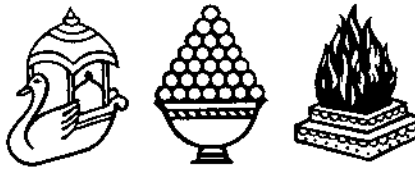
पिडैषणा अध्ययन से लेकर अवग्रहप्रतिमा पर्यंत के सात अध्ययनों की यह पहली चूलिका है, तथा सात समैक का नाम की दूसरी चूलिका है तथा भावना नाम की तीसरी चूलिका है और विमुक्ति नाम की चौथी चूलिका है, तथा आचारप्रकल्प स्वरूप निशीथ अध्ययन पांचवी चूलिका है।

अब "चूडा" के नामादि छह (६) निक्षेप कहते हैं उन में वाम एवं स्थापना निक्षेप सुगम हैं... द्रव्य चूडा तद्रव्यतिरिक्ता के तीन प्रकार हैं-

१. सचित द्रव्य चूडा - कुकडे (मुर्गे) को होती है...
 २. अचित द्रव्य चूडा - मुकुट के चूडामणि है,
 ३. मिश्र द्रव्य चूडा - मोर को होती है...
- क्षेत्र चूडा - लोक के निष्कृत स्वरूप है

- काल चूडा - अधिक मास...
 भाव चूडा - क्षायोपशमिक भाव स्वरूप यह चूलिका ही भावचूडा है...

इस सात अध्ययन स्वरूप प्रथम चूलिका के प्रथम अध्ययन में पिंडैषणा कही जाएगी, उसके चार अनुयोग द्वार होते हैं वह पूर्ववत् किंतु नाम-निष्पन्न निक्षेप में पिंडैषणा अध्ययन नाम है, उसके निक्षेप-द्वार से संपूर्ण पिंडनियुक्ति का यहां कथन किया जाएगा...



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - १ उद्देशक - १

卐 पिण्डैषणा 卐

अब सूत्रानुगम में अस्खलितादि गुणो से युक्त सूत्र का उच्चार करना चाहिये... अतः प्रथम चूलिका के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक का यह प्रथम सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३३५ ॥

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा गाहावडकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्जा- असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पाणेहिं वा पणगेहिं वा बीएहिं वा हरिएहिं वा संसत्तं उन्मिस्सं सीओदएण वा गोसित्तं रयसा वा परिघासियं वा तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुअं अणेसणिज्जं ति मन्नमाणे लाभेऽवि संते नो पडिगाहिज्जा ।

से य आहच्च पडिग्गहे सिया से तं आयाय एगंतमवक्कमिज्जा, एगंतमवक्कमिता अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे अप्पमाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पुदाए अप्पुत्तिग-पणग-दग-मट्ठिय-मयकडा-संताणए विमिंचिय विमिंचिय उम्मीसं विसोहिय विसोहिय तओ संजयामेव भुंजिज्जा वा पीइज्ज वा जं घ नो संचाज्जा भुत्तए वा पायए वा से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा अहे झामथंडिलंसि वा अट्ठिरासिसि वा कट्ठरासिसि वा तुसरसिसि वा गोमयरसिसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तओ संजयामेव परिट्ठविज्जा ॥ ३३५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा भिक्षुणी वा गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टः सन् सः यत् पुनः जानीयात् अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा प्राणिभिः वा पनकैः वा, बीजैः वा हरितैः वा संसक्तं उन्मिश्रं शीतोदकेन वा अवसिक्तं रजसा वा परिगुण्डितं वा तथाप्रकारं अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा परहस्ते वा परपात्रे वा अप्रासुकं अनेषणीयं इति मन्यमानः लाभे अपि सति न प्रतिगृह्णीयात् ।

तत् च सहसा प्रतिगृह्णीयात्, सः तत् आदाय एकान्तं अपक्रामेत्, एकान्तमपक्रम्य अथ आरामे वा अथ उपाश्रये वा अल्पाण्डे अल्पप्राणे अल्पबीजे अल्पहरिते अल्पावश्याये अल्पोदके अल्पोत्तिङ्ग-पनक-दक-मृत्तिका-मर्कटसन्तानके विविच्य विविच्य उन्मिश्रं विशोच्य विशोच्य ततः संयतः एव भुञ्जीत वा पीबेद् वा, यत् च न शयनुयात् भोयतुं वा

पातुं वा सः तमादाय एकान्तमपक्रम्य दग्धस्थण्डिले वा अस्थिराशौ वा काष्ठराशौ वा तुषराशौ वा गोमयराशौ वा, अन्यतरे वा तथा प्रकारे स्थण्डिले प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य प्रमृज्य ततः संयतः एव परिहापयेत् ॥ ३३५ ॥

III सूत्रार्थ :

आहार के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी इन पदार्थों का अवलोकन करके यह जाने कि- यह अन्न, पानी, खादिम और स्वादिम पदार्थ, द्वीन्द्रियादि प्राणियों से, शाली चावल आदि के बीजों से और अंकुरादि हरी सब्जी से संयुक्त है या मिश्रित है या सचित जल से गीला है तथा सचित मिट्टी से अवगुंठित है या नहीं ? यदि इस प्रकार का आहार-पानी, खादिम, स्वादिम आदि पदार्थ गृहस्थ के घर में या गृहस्थ के पात्र में हों तो साधु उसे अप्रासुक-सचित तथा अनेषणीय-सदोष मानकर ग्रहण न करे, यदि भूल से उस आहार को ग्रहण कर लिया है तो वह भिक्षु उस आहार को लेकर एकान्त स्थान में चला जाए और एकान्त स्थान में या आराम-उद्यान या उपाश्रय में जहां पर द्वीन्द्रिय आदि जीव नहीं हैं, गोधूमादि बीज नहीं हैं और अंकुरादि हरियाली नहीं है, एवं ओस और जल नहीं है अर्थात् तृणों के अवभाग पर जल नहीं है ओस बिन्दु नहीं हैं, द्वीन्द्रियादि जीव जन्तु एवं उनके अण्डे आदि नहीं हैं, तथा मकड़ी के जाले एवं कीमकों (जंतु-विशेष) के घर आदि नहीं हैं, ऐसे स्थान पर पहुंच कर, सदा यतना करने वाला साधु उस आहार में से सचित पदार्थों को अलग करके उस आहार एवं पानी का उपभोग कर ले, यदि वह उसे खाने या पीने में असमर्थ है तो साधु उस आहार को लेकर एकान्त स्थान पर चला जाए और वहां जाकर दग्धस्थण्डिल भूमि पर, अस्थियों के ढेर पर, लोह के कूड़े पर, तुष के ढेर पर और गोबर के ढेर पर या इसी प्रकार के अन्य प्रासुक एवं निर्दोष स्थान पर जाकर उस स्थान को आंखों से अवलोकन करके और रजोहरण से प्रमार्जित करके उस आहार को उस स्थान पर परठ त्याग दे।

IV टीका-अनुवाद :

मूल एवं उत्तर गुणवाले तथा विविध प्रकार के अभिग्रहों को धारण करनेवाले भिक्षा के द्वारा देह का निर्वाह करनेवाले भिक्षु याने साधु या साध्वी क्षुधा वेदनादि छह कारणों से आहार ग्रहण करते हैं।

१. वेदना (पीडा-भूख का दुःख) के कारण से.
२. वैयावृत्य = ग्लान-बाल-वृद्धादि की सेवा के लिये.
३. ईर्यासमिति = ईर्यासमिति के पालन के लिये.
४. संयम = संयमाचरण के परिपालन के लिये.

५. प्राणवृत्ति = दश द्रव्य प्राणों की सुरक्षा के लिये
 ६. धर्मचिन्ता = धर्मध्यान-शुक्ल ध्यान के लिये

इन छह में से कोई भी कारण से आहार की इच्छावाला साधु गृहस्थों के घर में भिक्षा के लिये प्रवेश करता है, तब वहां आहार, पानी, खादिम और स्वादिम यदि रसज-जंतुओं से युक्त हो, पनक याने लील-फुल्ल से युक्त हो, बीज (गेहूं-जवार) आदि से युक्त हो तथा हरित याने दुर्वा अंकुर आदि से युक्त (मिश्रित) हो अथवा शीत जल से आर्द्र हो, अथवा सचित रजःकरण से युक्त हो, तब ऐसे अशुद्ध अशन आदि दाता के हाथ में हो या उनके पात्र याने बरतन में हो, उनको अप्रासुक याने सचित और आधाकमादि दोष के कारण से अनेषणीय माननेवाला वह साधु या साध्वीजी आहारादि की प्राप्ति होने पर भी उन आहारादि को ग्रहण न करें, यह बात उत्सर्ग-विधि से कही, अब अपवाद-विधि से कहते हैं कि- द्रव्य-क्षेत्र, काल, एवं भावादि को जानकर उन आहारादि को ग्रहण भी करें, वहां द्रव्य याने-वह आहारादि वस्तु दुर्लभ हो... क्षेत्र याने- साधारण द्रव्य की प्राप्ति भी न हो, एवं काल-भावादि को जानकर उन आहारादि को ग्रहण भी करें... वहां द्रव्य याने-वह आहारादि वस्तु दुर्लभ हो, क्षेत्र याने-साधारण द्रव्य की प्राप्ति भी न हो, ऐसा अथवा रजःकरण आदि युक्त क्षेत्र हो, काल-दुष्काल याने दुर्भिक्ष का समय हो और भाव याने ग्लानि-रोग-पीडा आदि हो, अथवा बाल, शैक्ष, वृद्ध, असहिष्णुतादि हो, इत्यादि कारणों के होने पर गीतार्थ साधु अल्प-बहुत्व याने लाभ-हानि का विचार करके उन आहारादि को ग्रहण भी करें...

अब कभी अनुपयोग से या एका एक जल्दी में त्रस-बीज आदि से ससक्त आहारादि प्राप्त हो तब उन आहारादि के परठ ने की विधि कहते हैं, यहां अनुपयोग की चतुर्भंगी होती है...

- | | | |
|----|---------------|---------------|
| १. | अनुपयोगी दाता | अनुपयोगी साधु |
| २. | अनुपयोगी दाता | उपयोगी साधु |
| ३. | उपयोगी दाता | अनुपयोगी साधु |
| ४. | उपयोगी दाता | उपयोगी साधु |

अब उन अशुद्ध आहारादि को ग्रहण करके साधु एकान्त-निर्जन भूमि में जाता है, उस निर्जन याने स्थंडिल भूमि के अनापात-असंलोक की चतुर्भंगी होती है...

- | | | |
|----|--------|--------|
| १. | अनापात | असंलोक |
| २. | अनापात | संलोक |

- | | | |
|----|------|--------|
| ३. | आपात | असंलोक |
| ४. | आपात | संलोक |

अब इन चतुर्भंगी में से अनापात-असंलोक एकांत-निर्जन भूमि जैसे कि- उद्यान में या उपाश्रय में अथवा शून्य गृहादि में कि- जहां चींटी आदि के अंडे न हो, गेहूं आदि बीज न हो, दुर्वा आदि हरित-वनस्पति न हो, ओस याने सूक्ष्म जलबिंदु न हो, तथा जहां जल न हो, चींटियों के घर न हो, लीलफूल, पानी, मिट्टी, मकड़ी के जाले न हो ऐसे बगीचे आदि स्थंडिल भूमि में जाकर ग्रहण किये हुए अशुद्ध आहार को अलग करके एवं सक्तु आदि में त्रस जंतु को दूर करके शेष शुद्ध आहार-पानी का रागादि दोष रहित वह साधु भोजन एवं पान करें, कहा भी है कि- हे जीव ! बयालीस (४२) प्रकार की एषणा स्वरूप गहन संकट से तू बच गया है, किंतु अब इन आहारादि का भोजन करने में राग-द्वेष के चुंगल (छल) में मत फंसना, अर्थात् सावध न रहना... क्योंकि- आहार के प्रति राग हो तो अंगार-दोष... और आहारादि के प्रति द्वेष हो तो धूम-दोष लगता है अतः एक मात्र निर्जरा की कामनावाला साधु राग-द्वेष से रहित होकर आहारादि वापरें,

तथा जो आहारादि अतिशय अशुद्ध होने के कारण से भोजन-पान नहीं करते किंतु उन आहारादि को एकांत-निर्जन भूमि में जाकर परठ (त्यागकर) दें... किंतु कहते हैं कि- वह स्थंडिलभूमि या तो अग्नि से दग्ध या जली हुई हो, या लोहादि के मलवाली हो, या तुष (फोतरे) वाली हो, या गोमयवाली हो... या अन्य भी कोई ऐसी प्रासुकभूमि हो... वहां जाकर चक्षु से बराबर देखें और रजोहरण से प्रमार्जन करके उन अशुद्ध आहारादि का त्याग करें...

यहां प्रत्युपेक्षण और प्रमार्जन के सात भंग = विकल्प होते हैं...

- | | | |
|----|-----------------|-------------|
| १. | अप्रत्युपेक्षित | अप्रमार्जित |
| २. | अप्रत्युपेक्षित | प्रमार्जित |
| ३. | प्रत्युपेक्षित | अप्रमार्जित |

यहां देखे बिना प्रमार्जन करने से त्रस जीवों का एकस्थान से स्थानांतर संक्रमण होने से त्रसजीवों की विराधना होती है... तथा देखने के बाद प्रमार्जन न करने से पृथ्वीकायादि जीवों की विराधना होती है... तथा चौथे प्रत्युपेक्षित-प्रमार्जित भंग में यह और चार विकल्प-भंग होते हैं...

- | | | |
|----|--------------------|----------------|
| ४. | दुष्प्रत्युपेक्षित | दुष्प्रमार्जित |
| ५. | दुष्प्रत्युपेक्षित | सुष्प्रमार्जित |

६. सुप्रत्युपेक्षित दुष्प्रमार्जित
७. सुप्रत्युपेक्षित सुप्रमार्जित...

इस प्रकार सातवे भंगवाली स्थंडिलभूमि में साधु सावधानी से शुद्ध एवं अशुद्ध आहार आदि के भाग की विचारणा करके अशुद्ध आहारादि को परठ दें...

अब औषधि-(अनाज-दाने) बाबत की विधि सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहेंगे...

V सूत्रसार :

साधु हिंसा का सर्वथा त्यागी है और आहार के बनाने में हिंसा का होना अनिवार्य है। इसलिए साधु के लिए भोजन बनाने का निषेध किया गया है। परन्तु, संयम निर्वाह के लिए उसे आहार करना पड़ता है। अतः उसके लिए बताया गया है कि- वह गृहस्थ के धर में जाकर निर्दोष एवं एषणीय आहार ग्रहण करे। यदि कोई गृहस्थ सचित एवं आधाकर्मी आदि दोषों से युक्त आहार दे या सचित पानी से हाथ धोकर आहार दे या आहार यदि सचित रज से युक्त है, तो साधु उसे स्वीकार न करे। वह स्पष्ट शब्दों में कहे कि- ऐसा दोष युक्त आहार मुझे नहीं कल्पता। यदि कभी सचित पदार्थों से युक्त आहार आ गया हो-जैसे गुठली सहित खजूर या ऐसे ही बीज युक्त अन्य आहारादि का ग्रहण हो गया हो तब साधु उन्हें अलग करके उस अचित्त आहार को ग्रहण कर ले। यदि कोई पदार्थ ऐसा है कि- उसमें से उन सचित पदार्थों को अलग नहीं किया जा सकता है, तो मुनि उस आहार को खाए नहीं, परन्तु एकान्त स्थान में बीज-अंकुर एवं जीवजन्तु से रहित अचित्त भूमि पर यतना-पूर्वक परठ-त्याग दे। इसी तरह आधाकर्मी आहार भी भूल से आ गया हो तो उसे भी एकान्त स्थान में परठ दे। इससे स्पष्ट है कि साधु सचित एवं आधाकर्म दोष आदि युक्त आहार का सेवन न करे। भगवान महावीर ने सोमिल ब्राह्मण को स्पष्ट शब्दों में बताया कि- साधु के लिए सचित आहार अभक्ष्य है। ये ही शब्द भगवान एवं धावच्या पुत्र ने शुकदेव संन्यासी को कहे हैं। श्रावक के व्रतों का उल्लेख करते समय इस बात को स्पष्ट किया गया है कि- श्रावक साधु को प्रासुक एवं निर्दोष आहार देंगे।

यह उत्सर्ग मार्ग है और साधु को यथाशक्ति इसी भाग पर चलना चाहिए। परन्तु, जीवन सदा एकसा एक जैसा नहीं रहता। कभी-कभी सामने कठिनाइयां भी आती हैं, उस समय संयम की रक्षा के लिए साधु क्या करे ? इसके लिए वृत्तिकार ने बताया है कि- 'उत्सर्ग मार्ग में साधु आधाकर्मी आदि दोषों से युक्त आहार को स्वीकार न करे।' परन्तु अपवाद मार्ग में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का ज्ञाता गीतार्थ मुनि दोषों की न्यूनता या अधिकता का विचार करके उसे ग्रहण कर सकता है। द्रव्य का अर्थ है- द्रव्य (पदार्थ) का मिलना दुर्लभ हो। क्षेत्र-

ऐसा जिसमें शुद्ध पदार्थ नहीं मिलते हों या सचित रज की बहुलता हो। इन कारणों के उपस्थित होने पर साधु आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार भी ले सकता है। यह वृत्तिकार का अभिमत है।

सूत्रकृताङ्ग सूत्र में भी कहा है कि- आधाकर्म आहार करनेवाला साधु एकान्त रूप से सात या आठ कर्म का बन्ध करता है। ऐसा नहीं कहना चाहिए कि वह सात-आठ कर्म का बन्ध नहीं करता है। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए-तथारूप के श्रमण-माहण को अप्रासुक एवं अनेषणीय आहार देनेसे दाता को क्या होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर फरमाते हैं कि- उसे अल्प पाप एवं बहुत निर्जरा होती है।

प्रस्तुत आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध में वृत्तिकार ने स्वयं आधाकर्म आहार ग्रहण करने का प्रबल शब्दों में निषेध किया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि- ध्रुव मार्ग निर्दोष आहार को स्वीकार करने को कहता है जब कि-अपवाद मार्ग साधक की स्थिति पर आधारित है। उसकी स्थापना नहीं की जा सकती। कौन साधक किस परिस्थिति में, किस भावना से, कौन-सा कार्य कर रहा है ? यह छत्रस्थ व्यक्तियों के लिए जानना कठिन है। सर्वज्ञ पुरुष ही इसका निर्णय दे सकते हैं। इसलिए साधक को किसी विषय में पूरा निर्णय किए बिना एकान्त रूप से उसे पाप बन्ध का कारण नहीं कहना चाहिए और संभव है कि- यही कारण वृत्तिकार के सामने रहा हो जिससे उसने अपवाद स्थिति में सदोष आहार को स्वीकार करने योग्य बताया। वृत्तिकार का यह अभिमत विचारणीय है।

आहार ग्रहण करने की विधि का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि अब औषध ग्रहण करने के सम्बन्ध में कुछ बातें आगे के सूत्र में कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ३३६ ॥

से भियखू वा भियखूणी वा गाहावड जाव पविट्टे समाणे से जाओ पुण ओसहीओ जाणिजा कसिणाओ सासियाओ अविदलकडाओ अतिरिच्छच्छिन्नाओ अदुच्छिन्नाओ तरुणियं वा छिवाडिं अणभियकंतभजियं पेहाए अफासुयं अणेसणिज्जांति मण्णमाणे लाभे संते नो पडिग्गाहिजा । से भियखू वा जाव पविट्टे समाणे से जाओ पुण ओसहीओ जाणिजा अकसिणाओ असासियाओ विदलकडाओ तिरिच्छच्छिन्नाओ दुच्छिन्नाओ तरुणियं वा छिवाडिं अभियकंतं भजियं पेहाए फासुयं एसणिज्जांति मन्वमाणे लाभे संते पडिग्गाहिजा ॥ ३३६ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा भिक्षुणी वा गाथापति (गृहपति) यावत् प्रविष्टः सन् सः याः पुनः शालिबीजादिकाः औषधीः जानीयात् - कृत्स्नाः स्वाश्रयाः अद्विदलकृताः

अतिरथीनच्छिन्नाः अव्यवच्छिन्नाः तरुणीं वा मुद्गादेः फलिं अन्नभिक्रान्त-भग्नां प्रेक्ष्य अप्रासुकां अनेषणीयां इति मन्यमानः लाभे सति न प्रतिगृहीयात् । सः भिक्षुः वा यावत् प्रविष्टः सन् सः याः पुनः औषधीः जानीयात् - अकृत्स्नाः अस्वाश्रयाः द्विदलकृताः तिरथीनच्छिन्नाः व्यवच्छिन्नाः तरुणीं वा मुद्गादेः फलिं अभिक्रान्तां भग्नां प्रेक्ष्य प्रासुकां एषणीयां इति मन्यमानः लाभे सति प्रतिगृहीयात् ॥ ३३६ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के घर में गया हुआ साधु व साध्वी औषधि के विषय में यह जाने कि इन औषधियों में जो सचित है, अविनष्ट योनि हैं, जिनके दो या दो से अधिक भाग नहीं हुए हैं, जो जीव रहित नहीं हुआ हैं ऐसी अपक्व फली आदि देखकर उसे अप्रासुक एवं अनेषणीय मानता हुआ साधु उसके मिलने पर भी उसे ग्रहण न करे।

परंतु औषधि निमित्त गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी औषधि के संबंध में यह जाने कि- यह सर्वथा अचित्त है, विनष्ट योनि वाली है। द्विदल अर्थात् इसके दो भाग हो गये हैं, इसके सूक्ष्म खंड किये गए हैं, यह जीवजन्तु से रहित है, तथा मर्दित एवं अग्नि द्वारा परिपक्व की गई है, इस प्रकार की प्रासुक-अचित्त एवं एषणीय निर्दोष औषध गृहस्थ के घर से प्राप्त होने पर साधु उसे ग्रहण करले।

IV टीका-अनुवाद :

वह भाव-साधु गृहस्थों के घर में प्रवेश करके शालिबीज आदि औषधियां को जाने... जैसे कि- वह अखंड हैं...

इत्यादि यहां द्रव्य-भाव से चतुर्भंगी होती है...

१.	द्रव्य से कृत्स्ना	भाव से कृत्स्ना
	अशश्रोपहत	सचित....

यहां कृत्स्ना इस पद के चतुर्भंगी में पहला तीन भंग ग्रहण करें क्योंकि- चौथे भंग में तो द्रव्य से शश्रोपहत है और भाव से अचित्त है... तथा स्वाश्रय याने अविनष्ट योनिवाले... आगम सूत्र में भी कितनेक औषधिओं का अविनष्ट योनिकाल दिखाया है... तथा दो भाग नहीं किये हुए, तथा तिरछा नहिं छेदा हुआ... यहां भी द्रव्य एवं भाव से चतुर्भंगी होती है... तथा अव्यवच्छिन्न याने सजीव... तथा मुग आदि की अपक्व फलि, कि- जो सचित है, अमर्दित है... ऐसे इन औषधिओं को देखकर के इस प्रकार के आहारादि को सचित एवं अनेषणीय माननेवाला साधु उन आहारादिकी प्राप्ति होने पर भी ग्रहण न करें...

अब इस सूत्र को अन्य (विपरीत) प्रकार से कहते हैं- वह भाव-साधु या साध्वीजी म. जो यह औषधियां शालिबीज आदि द्रव्य एवं भाव से अकृत्स्न याने अचित्त हो तथा विनष्ट योनिवाले हो, तथा द्विदल किये हुए हो, तथा तिरछा छेदा हुआ हो, तथा अपक्व मूंग आदि की फलि अचित्त हो या मर्दित हो... इस प्रकार के आहारादि को प्रासुक एवं एषणीय मानता हुआ साधु ऐसे आहारादि की प्राप्ति होने पर तथा क्षुधा वेदनादि कारण होने पर उन्हें ग्रहण करें।

अब आहार के विषय में ग्राह्य एवं अग्राह्य का अधिकार सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में औषध के सम्बन्ध में विधि-निषेध का वर्णन किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि- विधि एवं निषेध दोनों सापेक्ष हैं। विधि से निषेध एवं निषेध से विधि का परिचय मिलता है, जैसे साधु को सचित्त एवं अनेषणीय पदार्थ नहीं लेना, यह निषेध सूत्र है, परन्तु इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि- साधु अचित्त एवं निर्दोष आहार ग्रहण कर सकता है। इस तरह विधि एवं निषेध एक दूसरे के परिचायक हैं।

यह हम देख चुके हैं कि- साधु पूर्ण अहिंसक है। अतः वह ऐसा पदार्थ ग्रहण नहीं करता कि- जिससे किसी प्राणी की हिंसा होती हो। इसलिए यह बताया गया है कि- गृहस्थ के घर में औषधि आदि के लिए प्रविष्ट हुए साधु को यह जान लेना चाहिए कि- वह औषध सचित्त-सजीव तो नहीं है ? जैसे कोई फल या बहेड़ा आदि है, जब तक उस पर शस्त्र का प्रयोग न हुआ हो तब तक वह सचित्त रहता है। उसके दो टुकड़े होने पर वह सचित्त नहीं रहता। परन्तु कुछ ऐसे पदार्थ भी हैं जो दो दल होने के बाद भी सचित्त रह सकते हैं। कुछ पदार्थ अग्नि पर पकने या उसमें दूसरे पदार्थ का स्पर्श होने पर अचित्त होते हैं। इस तरह साधु साध्वी को सब से पहले सचित्त एवं अचित्त पदार्थों का परिज्ञान होना चाहिए, और यदि उन्हें दी जाने वाली औषध सचित्त प्रतीत होती हो तो वे उसे ग्रहण न करें और वह सजीव न हो या पूर्णतया निर्दोष हो तो साधु साध्वी उसे ग्रहण कर सकते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में 'कृत्स्न' आदि जो पांच पद दिये गये हैं, उनसे वनस्पति की सजीवता सिद्ध की है। उन (योनियों) में भी जीव रहते हैं एवं उनके प्रदेशों में भी जीव रहते हैं, जैसे चना आदि जो अन्न है उनके जब तक बराबर दो विभाग न हों तब तक उसमें जीवोंके प्रदेश रहने की संभावना है। प्रश्न हो सकता है कि- जब प्रथम सूत्र में सचित्त पदार्थ ग्रहण करने का निषेध कर दिया तो फिर प्रस्तुत सूत्र में सचित्त औषध एवं फलों के निषेध का क्यों वर्णन किया ? इसका कारण यह कि- जैनेतर साधु वनस्पति में जीव नहीं मानते और वे सचित्त

औषध एवं फलों का प्रयोग करते रहे हैं और आज भी करते हैं। इसलिये पूर्ण अहिंसक साधु के लिये यह स्पष्ट कर दिया गया है कि- वह सचित्त औषध एवं फलों को ग्रहण नहीं करे।

अब सूत्रकार आहार की ग्राह्यता एवं अग्राह्यता का उल्लेख आगे के सूत्र में करेंगे...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ३३७ ॥

से भिक्खु वा, जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा पिहयं बहुरयं वा भुजियं वा मंधुं वा चाउलं वा चाउलपलंबं वा सइं संभज्जियं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा । से भिक्खु वा, जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा पिहयं वा जाव चाउलपलंबं वा असइं भज्जियं दुक्खुत्तो वा तिवक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्जं जाव पडिगाहिज्जा ॥ ३३७ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, यावत् प्रविष्टः सन् सः यत् पुनः जानीयात् पृथुकं वा बहुरजः वा अर्धपक्वं वा चूर्णं वा तन्दुलं वा तन्दुलप्रलम्बं वा सकृत् आमर्दितं अप्रासुकं यावत् न प्रतिग्रहीयात् । सः भिक्षुः वा, यावत् प्रविष्टः सन् सः यत् पुनः जानीयात् पृथुकं वा यावत् तन्दुलप्रलम्बं वा असकृत् पक्वं वा द्विः त्रिः वा पक्वं प्रासुकं एषणीयं यावत् प्रतिग्रहीयात् ॥ ३३७ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु अथवा साध्वी भिक्षा के लिये गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने पर शाली आदि धान्यों, तुषबहुल धान्यों और अग्नि द्वारा अर्धपक्व धान्यों, तथा मंधु चूर्ण एवं कण सहित एकबार भुने हुए अप्रासुक यावत् अनेषणीय पदार्थों को ग्रहण न करे, तथा वह साधु या साध्वी गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ उपस्थित होने पर शाली आदि धान्य या उसका चूर्ण, जो कि- दो तीन बार या अनेक बार अग्नि से पका लिया गया है, ऐसा और एषणीय निर्दोष पदार्थ उपलब्ध होने पर साधु उसे स्वीकार कर ले।

IV टीका-अनुवाद :

वह भाव-भिक्षु= साधु गृहस्थों के घर में आहारादि के लिये प्रवेश करने पर यह जाने कि- पृथुक याने नये शालि-ब्रीहि आदि को अग्नि के द्वारा जो लाज (धावी) बनाया हो, तुषादिवाला हो, तथा अग्नि से आधे पकाये हुए गेहूं-तिल आदि हो, तथा गेहूं आदि का चूर्ण हो तथा शालि ब्रीहि आदि की कणिक हो या उनके पृथक्कादि आहार हो, यदि वे एक बार अग्नि से थोड़े पकाने से अप्रासुक और अनेषणीय हो तब ऐसे आहारादि प्राप्त होने पर भी साधु उन्हें ग्रहण न करें... किंतु इस से विपरीत हो तो उन्हें ग्रहण करें... जैसे कि- अनेक बार अग्नि

से पकाया हो, दुष्पक्वादि दोष से रहित हो ऐसे प्रासुक एवं एषणीय आहारादि की प्राप्ति होने पर साधु उन आहारादि को ग्रहण करें...

अब गृहस्थों के घर में प्रवेश की विधि सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में भी यह बताया गया है कि- साधु-साध्वी चावल (शाली-धान) आदि अनाज एवं उनका चूर्ण जो अपक्व या अर्धपक्व हो, नहीं लेना चाहिए। क्योंकि- शाली-धान (चावल), गेहूँ, बाजरा आदि सजीव होते हैं, अतः उन्हें अपक्व एवं अर्धपक्व अवस्था में साधु को नहीं लेना चाहिए। जैसे कि-लोग मकई के भुट्टे एवं चने के होले आग में भूनकर खाते हैं, उनमें कुछ पक जाता है और कुछ भाग नहीं पकता। इस तरह जो दाने अच्छी तरह से पके हुए नहीं हो वे पूर्णतया अचित्त नहीं हो पाते। उनमें सचितता की संभावना रहती है, इसलिए साधु को ऐसी अपक्व एवं अर्धपक्व वस्तुएँ नहीं लेनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि- साधु को सचित एवं अनेषणीय पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए, और जो पदार्थ अच्छी तरह पक गए हैं, अचित्त हो गए हैं, उन्हें साधु ग्रहण कर सकता है। शाली-चावल की तरह अन्य सभी तरह के अन्न एवं अन्य फलों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए कि- साधु उन सब वस्तुओं को ग्रहण नहीं कर सकता है कि- जो सचित एवं अनेषणीय हैं किंतु अचित्त एवं एषणीय पदार्थ को यथावश्यक ग्रहण कर सकता है।

यह तो स्पष्ट है कि- साधु को आहार आदि ग्रहण करने के लिए गृहस्थ के घर में जाना पड़ता है। क्योंकि- जिस स्थान पर साधु ठहरा हुआ है, उस स्थान पर यदि कोई व्यक्ति आहार आदि लाकर दे तो साधु उसे ग्रहण नहीं करता। क्योंकि- वहाँ पर वह पदार्थ के निर्दोषता की जांच नहीं कर सकता। इस लिए साधु स्वयं गृहस्थ के घर जाकर एषणीय एवं प्रासुक आहार आदि पदार्थ ग्रहण करता है।

अतः यह प्रश्न होना जरूरी है कि- साधु को गृहस्थ के घर में किस तरह प्रवेश करना चाहिए। इसका समाधान सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से करते हैं-

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ३३८ ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावडकुलं जाय पविसिउकामे नो अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अप्परिहरिएण सद्धिं गाहावडकुलं पिंडवायपडियाए पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा। से भिक्खू वा, बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खम्ममाणे वा पविसमाणे वा नो अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा, अप्परिहारिएण सद्धिं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा।

से भिक्खू वा, गामाणुगामं दुइज्जमाणे नो अण्णउत्थिएण वा जाव गामाणुगामं दुइज्जिजा ॥ ३३८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा भिक्षुणी वा गृहपतिकुलं यावत् प्रवेष्टुकामः न अन्यतीर्थिकेण वा अगारस्थितेन (गृहस्थेन) वा परिहारिकः अपरिहारिकेण सार्द्धं गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविशेत् वा निष्क्रमेत् वा । सः भिक्षुः वा, बहिः विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा निष्क्रामन् वा प्रविशन् वा न अन्यतीर्थिकेन वा गृहस्थेन वा परिहारिके वा अपरिहारिकेण सार्द्धं बहिः विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा निष्क्रामेत् वा प्रविशेत् वा । सः भिक्षुः वा, ग्रामानुग्रामं गच्छन् न अन्यतीर्थिकेन वा यावत् ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥ ३३८ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थी के घर में भिक्षा के निमित्त प्रवेश करने की इच्छा रखने वाला साधु या साध्वी अन्यतीर्थी या गृहस्थ के साथ भिक्षा के लिये प्रवेश न करे, तथा दोष को दूर करने वाला उत्तम साधु पार्श्वस्थादि साधु के साथ भी प्रवेश न करे, और यदि कोई पहले प्रवेश किया हुआ हो तो उसके साथ न निकले ।

वह साधु या साध्वी बाहर स्थंडिल भूमि (मलोत्सर्ग के स्थान) में या स्वाध्याय भूमि में जाता हुआ या प्रवेश करता हुआ किसी अन्यतीर्थी या गृहस्थी अथवा पार्श्वस्थादि साधु के साथ न जावे, न प्रवेश करे ।

वह साधु या साध्वी एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाते हुए अन्यतीर्थी यावत् गृहस्थ और पार्श्वस्थादि के साथ न जावे, गमन न करे ।

IV टीका-अनुवाद :

वह भिक्षु याने साधु जब गृहस्थों के घरों में आहारादि के लिये जाना चाहे तब अन्य मतवाले सरजस्कादि एवं पिंडोपजीवी ऐसे गृहस्थ ब्राह्मणों के साथ न तो प्रवेश करे, और न - बाहार निकले... क्योंकि- यदि वे लोग साधु के आगे आगे जाए तब उनके पीछे-पीछे गमन करने में ईर्ष्या-विषयक कर्मबंध और प्रवचन की लघुता हो, और उनको अपनी जाति का उत्कर्ष = गौरव हो... तथा यदि उनके पीछे पीछे साधु चले तब उनको द्वेष हो और यदि दाता भद्रक हो तब आहारादि का विभाग करके दे, अतः आहार अल्प हो या दुर्भिक्षादि में प्राणवृत्ति न हो... इत्यादि दोष लगते हैं, तथा पिंडदोष को त्याग करने से उद्युक्तविहारी साधु पासत्था, अवसन्न,

कुशील, संसक्त एवं यथाच्छंद रूप अपरिहारिक के साथ प्रवेश न करे, क्योंकि- यदि अनेषणीय आहार ग्रहण करे तब उन पासत्थादि की प्रवृत्ति की अनुमोदना हो, और यदि उन सद्दोष आहार को ग्रहण न करे तब उन पासत्था आदि के साथ कलह हो, अतः इन दोषों को जानकर साधु गृहस्थों के घरों में आहारादि के लिये उनके साथ प्रवेश न करे और निकले भी नहीं...

अब कहते हैं कि- उन अन्यतीर्थिकादि के साथ दोष लगने के कारण से वडीनीति के लिये स्थंडिल भूमि में भी प्रवेश न करे, क्योंकि- स्थंडिल भूमि के लिये जो अचित्त जल है वह स्वच्छ भी हो और मलीन भी हो, बहोत हो या थोडा भी हो अतः उन से उपघात की संभावना है, तथा विहार भूमि में आगमसूत्र के आलावे (आलापक) की वे निंदा करे तब नवदीक्षित साधु असहिष्णु हो तो कलह हो अतः अन्य तीर्थिकादि के साथ न तो प्रवेश करे और न निकले।

तथा वह साधु एक गांव से ग्रामांतर एवं एक नगर से अन्य नगर में जाए तब भी दोष लगने के कारण अन्य तीर्थिकादि के साथ न जाएं... क्योंकि- वे साथ में होने से कायिकी (वडीनीति-लघुनीति) का निरोध करने से आत्म विराधना होती है, तथा यदि मल विसर्जन करे तब भी प्रासुक जल लेने से उपघात और अप्रासुक जल लेने से संयम-विराधना हो, इसी प्रकार भोजन में भी दोष लगते हैं और नवदीक्षित आदि की विप्रतारणादि याने ठगाइ-लालच आदि दोषों की संभावना है।

अब उन कुतीर्थिकादि को दान देने के निषेध के लिये सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधु के लिए बताया गया है कि- वह गृहस्थ, अन्य मत के साधु संन्यासियों एवं पार्श्वस्थ साधुओं के साथ गृहस्थ के घर में या स्वाध्याय भूमि में प्रवेश न करे और इनके साथ शौच के लिए भी न जाए और न इनके साथ विहार करे। क्योंकि- ऐसा करने से साधु के संयम में अनेक दोष लग सकते हैं।

साधु के लिए धनवान एवं सामान्य स्थिति के सभी घर बराबर हैं। वह बिना किसी भेद के अमीर गरीब सबके घरों में भिक्षा के लिए जाता है और एषणीय एवं शुद्ध आहार ग्रहण करता है, ऐसी स्थिति में कभी वह सामान्य घर में गृहस्थ के साथ प्रवेश करे और उस गृहपति की साधु को आहार देने की स्थिति न हो या इच्छा न हो, परन्तु संग्रह आये हुए गृहस्थ की लज्जा या दबाव के कारण वह साधु को आहार देवे तो इससे साधु के संयम में दोष लगता है अतः साधु को गृहस्थ के साथ किसी के घर में प्रवेश नहीं करना चाहिए।

इसी तरह अन्य मत के या पार्श्वस्थ साधुओं के साथ किसी के घर में भिक्षा को जाने से भी संयम में अनेक दोष लग सकते हैं, क्योंकि- लोग अन्य भिक्षु एषणीय-अनेषणीय की गवेषणा किए बिना ही जैसा मिल जाए वैसा ही आहार ग्रहण कर लेते हैं, और जैन साधु सचित एवं अनेषणीय आहार ग्रहण नहीं करते... ऐसी स्थिति में जैन साधुकी निन्धा कर सकते हैं, यह कह सकते हैं कि- यह तो दोगी एवं पाखण्डी हैं, हमारे साथ होने के कारण अपनी उत्कृष्टता बताता है, जहां अकेला होता है वहां सब कुछ ले लेता है और कभी इस समस्या को लेकर गृहस्थ के घर में भी वाद-विवाद हो सकता है। इससे गृहस्थ के मन में कुछ सन्देह पैदा हो सकता है। इस तरह वह अप्रासुक एवं अनेषणीय आहार नहीं करता है तो उचित स्थिति पैदा हो सकती है और उसे ग्रहण करता है तो उसके संयम में दोष लगता है। इसके अतिरिक्त सबको एक साथ भिक्षा के लिए आया हुआ देख कर गृहस्थ पर भी बोझ पड़ सकता है और कभी किसी को न देने की इच्छा रखते हुए भी लजावश उसे देना पड़ता है, परन्तु अन्दर में बोझ सा अनुभव कर सकता है। इन सब दोषों से बचने के लिए मुनि को गृहस्थ, पार्श्वस्थ साधु एवं अन्य मत के संन्यासियों के साथ किसी भी गृहस्थ के घर में प्रवेश नहीं करना चाहिए।

शौच के लिए जाते समय उपरोक्त व्यक्तियों का साथ करने में भी संयम में अनेक दोष लगते हैं। प्रथम तो उनके पास अप्रासुक (सचित) पानी होगा। अतः उनसे बात-चीत करने में उन पानी के जीवों की विराधना होगी। दूसरा साधु को रास्ते चलते हुए बोलना नहीं चाहिए। यदि वह बातें करता चलता है तो वह मार्ग को भली-भांति नहीं देख सकता, और यदि उन से बातें नहीं करता है तो वे नाराज भी हो सकते हैं और अनुचित शब्द भी बोल सकते हैं। तीसरा यदि उनके आगे-आगे चले तो उन्हें अपना अपमान महसूस हो सकता है और उनके पीछे चलने से जैन धर्म की लघुता होती है और बराबर चलने पर सचित पानी का स्पर्श होने की संभावना है। चौथा वह शौच के लिए निर्दोष भूमि नहीं देख सकता। उनके सामने भी नहीं बैठ सकता। इसलिए कभी उसे बहुत दूर जाने पर भी योग्य स्थान न मिलने पर जैसे-तैसे स्थान पर शौच बैठना पड़ता है। अतः गृहस्थ आदि के साथ शौच जाने से अनेक दोष लगते हैं। इस कारण साधु को उनके साथ शौच नहीं जाना चाहिए।

स्वाध्याय भूमि में भी उनके साथ प्रवेश करने में सचित जल के अतिरिक्त अन्य सभी दोष लगते हैं। इसके अतिरिक्त उनसे बातें करते रहने के कारण स्वाध्याय में विघ्न पड़ता है। इसलिए साधु को स्वाध्याय के लिए भी गृहस्थ आदि के साथ नहीं जाना चाहिए।

विहार के समय उनके साथ जाने से वह बातों में उलझा रहने के कारण अच्छी तरह से मार्ग नहीं देख सकेगा। तथा बातों में समय बहुत लग जाने के कारण समय पर पहुंच नहीं सकेगा। तथा यथासमय आवश्यक क्रियाएं भी नहीं कर सकेगा। कभी पेशाब आदि की बाधा होने पर वह संकोच वश लघुनीति कर नहीं सकेगा और उसे रोकने से अनेक बीमारियों

का घर हो जाएगा। और पेशाब करना चाहे तो उनके सामने तो कर नहीं सकता, इसलिए उसे एकान्त एवं निर्दोष स्थान ढूँढने के लिए बहुत दूर जाना पड़ेगा या फिर सदोष स्थान में ही मल त्याग करना होगा।

इस तरह आहार, शौच, स्वाध्याय एवं विहार में गृहस्थ आदि के साथ जाने से संयम में अनेक दोष लगते हैं और अन्य मत के भिक्षुओं के अधिक परिचय से साधु की श्रद्धा एवं संयम में शिथिलता एवं विपरीतता भी आ सकती है तथा उनके घनिष्ठ परिचय के कारण श्रावकों के मन में संन्देह भी पैदा हो सकता है। इन्हीं सब कारणों से साधु को उनके साथ घनिष्ठ परिचय करने एवं भिक्षा आदि के लिए उनके साथ जाने का निषेध किया गया है, न कि किसी द्वेष भाव से। अतः साधु को अपने संयम का निर्दोष पालन करने के लिए स्वतन्त्र रूप से गृहस्थ आदि के घर में प्रवेश करना चाहिए।

इनके साथ आहार आदि का लेन-देन करने से भी संयम में अनेक दोष लग सकते हैं, अतः उनके साथ आहार-पानी के लेन-देन का निषेध करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ३३९ ॥

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे नो अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा परिहारिओ वा अपरिहारियस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दिज्जा वा अणुपइज्जा वा ॥ ३३९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा भिक्षुणी वा यावत् प्रविष्टः सन् अन्यतीर्थिकस्य वा गृहस्थस्य वा परिहारिकः वा अपरिहारिकस्य अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा दद्यात् वा अनुप्रदापये वा ॥ ३३९ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी, अन्यतीर्थी परंपिंडोपजीवी गृहस्थ-याचक और पार्श्वस्थ-शिथिलाचारी साधु को, निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने वाला श्रेष्ठ साधु अन्न, जल, खादिम और स्वादिम रूप पदार्थों को न तो स्वयं देवे और न किसी से दिलावे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आहारादि के लिये गृहस्थों के घरों में प्रवेश करने पर और

उपलक्षण से उपाश्रय में होने पर, उन अन्य तीर्थिकादि कों दोष लगने के कारण से आहारादि स्वयं न दें, और अन्य गृहस्थादि से न दिलवाये... क्योंकि- यदि साधु उन अन्य तीर्थिकादि को आहारादि दे तब उनको देखकर लोग ऐसा जाने कि- ये भी दाब-दक्षिणा के योग्य है, ऐसी स्थिति में असंयम के प्रवर्तनादि के दोष लगते हैं...

अब पिंडाधिकार में ही अनेषणीय का विशेष प्रकार से प्रतिषेध की बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को पार्श्वस्थ-शिथिलाचारी एवं अन्य मत के साधुओं को आहार-पानी नहीं देना चाहिए। इससे संयम में अनेक दोष लगने की संभावना है। उनके घनिष्ठ सम्बन्ध रहने के कारण श्रद्धा में शिथिलता एवं विपरीतता आ सकती है। लोगों के मन में यह भी बात घर कर सकती है कि- ये अन्य मत के साधु अधिक प्रतिष्ठित एवं श्रेष्ठ हैं, तभी तो ये मुनि भी इनका आहार पानी से सम्मान करते हैं। इससे वे श्रावक (गृहस्थ) उनका सम्मान करने लगेंगे और फलस्वरूप मिथ्यात्व की अभिवृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त अन्य मत के साधुओं को आहार देने से सबसे बड़ा दोष गृहस्थ की चोरी का लगेगा। क्योंकि- गृहस्थ के घर से वह साधु अपने एवं अपने साधियों (सहधर्मि एवं संभोगी मुनियों) के लिए आहार लाया है। ऐसी स्थिति में वह अन्य मत के भिक्षुओं को आहार देता है, तो उसे गृहस्थ की चोरी लगती है। गृहस्थ को मालूम होने पर साधु पर अविश्वास भी हो सकता है कि- यह तो हमारे यहां से भिक्षा ले जाकर बांटता फिरता है। इस तरह के और भी अनेक दोष लगने की संभावना है। इस लिए मुनि को अपने संभोगी साधु के अतिरिक्त अन्यमत के साधुओं को आहार आदि नहीं देना चाहिए। यह प्रतिबन्ध संयम सुरक्षा की दृष्टि से है, न कि- दया एवं स्नेहभाव को रोकने के लिए।

साधु को सदा एषणीय आहार ग्रहण करना चाहिए। अनेषणीय आहार की अग्राह्यता के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं-

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ३४० ॥

से भिक्खु वा जाव समाणे असणं वा, अस्संपडियाए एणं साहम्मियं समुदिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारम्भ समुदिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसइं अभिहंडं आहट्ट चेएइ, तं तहप्पगारं असणं वा, पुरिसंतरकडं वा बहिया नीहंडं वा अनीहंडं वा अत्तट्टियं वा अणत्तट्टियं वा परिभुत्तं वा अपरिभुत्तं वा आसेवियं वा अणासेवियं वा अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा, एवं बहवे साहम्मिया एणं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ

समुद्दिस्स चत्तारि आलावगा भाणियव्वा ॥ ३४० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा. यावत् प्रविष्टः सन् अशनं वा, अस्वप्रतिज्ञया एकं साधर्मिकं उद्दिश्य प्राणानि (प्राणिनः) भूतानि जीवानि सत्त्वानि समारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं उच्छिन्नकं अच्छेद्यं अनिसृष्टं अभ्याहृतं आहृत्य ददाति, तं तथाप्रकारं अशनं वा, पुरुषान्तरकृतं वा अपुरुषान्तरकृतं वा बहिः निर्गतं वा अनिर्गतं वा आत्मस्थितं वा अनात्मस्थितं वा परिभुयतं वा अपरिभुयतं वा आसेवितं वा अनासेवितं वा अप्राप्तुकं यावत् न प्रतिगृहीयात्, एवं बहवः साधर्मिकाः एकां साधर्मिकीं, बहूः साधर्मिकीः उद्दिश्य चत्वारः आलापकाः भणितव्याः ॥ ३४० ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट साधु-साध्वी इस बात की गवेषणा करे कि- किसी भद्र गृहस्थ ने एक साधु का उद्देश्य रखकर प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का आरम्भ करके आहार बनाया हो, तथा साधुके निमित्त मोल लिया हो, उधार लिया हो, किसी निर्बल से छीनकर लिया हो, एवं साधारण वस्तु दूसरे की आज्ञा के बिना दे रहा हो, और साधु के स्थान पर घर से लाकर दे रहा हो, इस प्रकार का आहार लाकर देता है तो इस प्रकार का अन्न जल, खादिम और स्वादिम आदि पदार्थ, पुरुषान्तर-दाता से भिन्न पुरुषकृत, अथवा दाता कृत हो, घर से बाहर निकाला गया हो या न निकाला गया हो, दूसरे ने स्वीकार किया हो अथवा स्वीकार न किया हो, आत्मार्थ किया गया हो, या दूसरे के निमित्त किया गया हो, उसमें से खाया गया हो अथवा न खाया गया हो, थोड़ा सा आस्वादन किया हो या न किया हो, इस प्रकार का अप्राप्तुक अनेषणीय आहार मिलने पर भी साधु ग्रहण न करें। इसी प्रकार बहुत से साधुओं के लिए बनाया गया हो, या एक साध्वी के निमित्त बनाया गया हो अथवा बहुत सी साध्वियों के निमित्त बनाया गया हो वह भी ग्राह्य अर्थात् स्वीकार करने योग्य नहीं है। इसी भांति चारों आलापक जानने चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

वह भिक्षु-साधु यावत् आहारादि के लिये गृहस्थों के घर में प्रवेश करने पर देखे कि- यह आहारादि निर्गत-साधु के लिये बनाया गया है... जैसे कि- कोई प्रकृति भद्रक गृहस्थ यह निर्गत है ऐसा मानकर एक साधर्मिक-साधु के लिये प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का अर्थात् सभी एकैद्रियादि जीवों का संरंभ, समारंभ एवं आरंभ करके आधाकर्म दोषवाला आहारादि बनावे... आधाकर्म कहने से सभी अदिशोधि कोटि के दोष जानने चाहिए। यहां प्रारंगिक आरंभ

का स्वरूप कहते हैं... संरंभ याने मानसिक संकल्प समारंभ याने वाचिक परितापकर समारंभ (पूर्वतयारी) और आरंभ याने काया से पापाचरण प्रवृत्ति... तथा क्रीत याने मूल्य से खरीदना, पामिच्च याने बदले में लेना, आच्छेद्य याने दुसरो से बलपूर्वक से लेना, अनिसृष्ट याने उन आहारादि के स्वामीने अनुमति नहीं दीये हुए आहारादि... अभ्याहृत याने गृहस्थ ने सामने लाया हुआ, इस प्रकार क्रीत आदि से आहारादि लाकर गृहस्थ देता है... इस क्रीत आदि से सभी विशुद्ध कोटि को जानीयेगा... अतः यह आधाकर्मादि दोषवाला आहारादि जो दाता (गृहस्थ) देता है वह उसने स्वयं ने ही किया हो या अन्य पुरुषों से करवाया हो... तथा घर से निकला हो या नहीं निकला हो, उस दाता ने स्वीकृत किया हो या स्वीकृत न किया हो, तथा उस दाता ने भोजन किया हो या न किया हो, थोडा खाया हो या न खाया हो, इस प्रकार अप्रासुक एवं अनेषणीय आहारादि प्राप्त होने पर साधु ग्रहण न करें... यह आहारादि प्रथम एवं अंतिम तीर्थंकर के शासन में अकल्पनीय है... तथा मध्यम बार्डिस (२२) तीर्थंकरों के शासन में अन्य साधु के लिये बनाया गया आहारादि अन्य साधु को कल्पता है... इस प्रकार अनेक साधमिकों के लिये बनाया हुआ आहारादि के बाबत में भी जानीयेगा... तथा साध्वीजीओं के लिये भी एक या अनेक बाबत भी इसी प्रकार जानीयेगा...

अब फिर से अन्य प्रकार से अविशुद्ध कोटि के विषय में सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में सदोष आहार के भी दो विभाग किए गए हैं- विशुद्ध कोटि और अविशुद्ध कोटि। साधु के निमित्त जीवों की हिंसा करके बनाया गया आहार आदि अविशुद्ध कोटि कहलाता है और प्रत्यक्ष में किसी जीव की हिंसा न करके साधु के लिए खरीद कर लाया हुआ आहार आदि विशुद्ध कोटि कहलाता है। किसी व्यक्ति से उधार लेकर, छीनकर या जिस व्यक्ति की वस्तु है उनकी बिना आज्ञा से या किसी के घर से लाकर दिया गया हो वह भी विशुद्ध कोटि कहलाता है। इसे विशुद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि- इस आहार आदि को तैयार करने में साधुके निमित्त हिंसा नहीं करनी पड़ती। क्योंकि- यह बेचने एवं अपने खाने के लिए ही बनाया गया था। फिर भी दोनों तरह का आहार साधु के लिए अब्याहृत है।

पहले प्रकार के आहार की अब्याहृतता स्पष्ट है कि- उसमें साधु को उद्देश्य करके हिंसा की जाती है। दूसरे प्रकार के आहार में प्रत्यक्ष हिंसा तो नहीं होती है, परन्तु साधु के लिए पैसे का खर्च होता है और पैसा आरम्भ से पैदा होता है, और जो पदार्थ उधार लिए जाते हैं उन्हें पुनः लौटाना होता है और पुनः लौटाने के लिये आरम्भ करके ही उन्हें बनाया जाता है। किसी कमजोर व्यक्ति से छीनकर देने से उस व्यक्ति पर साधु के लिये बल प्रयोग किया

जाता है और इससे उसका मन अवश्य ही दुःखित होता है और किसी व्यक्ति को कष्ट देना भी हिंसा का ही एक रूप है। किसी व्यक्ति के अधिकार की वस्तु को उसे बिना पूछे देने से उसे मालूम पड़ने पर दोनों में संघर्ष हो सकता है। इन सब दृष्टियों से इस तरह दिए जाने वाले पदार्थों में प्रत्यक्ष हिंसा परिलक्षित नहीं होने पर भी वे हिंसा के कारण बन सकते हैं, इसलिए साधु को दोनों तरह का आहार सदोष समझकर त्याग देना चाहिए।

विशुद्ध एवं अविशुद्ध कोटि में इतना अन्तर अवश्य है कि- विशुद्ध कोटि पदार्थ पुरुषान्तर कृत होने पर साधु के लिए ब्राह्म माने गए हैं, जैसे साधु के उद्देश्य से खरीद कर लाया गया वस्त्र किसी व्यक्ति ने अपने उपयोग में ले लिया है और इसी प्रकार साधु के विमित खरीदा गया मकान गृहस्थों के अपने काम में ले लिया गया है तो फिर वह साधु के लिए अब्राह्म नहीं रहता। परन्तु, अविशुद्ध कोटि-आधाकर्मी, औद्देशिक आदि दोष युक्त पदार्थ पुरुषान्तरकृत हो या अपुरुषान्तरकृत हो किसी भी तरह से साधु के लिए ब्राह्म नहीं है। एक या बहुत से साधु-साधिवियों के लिए बनाया गया आहार आदि एक या बहुत से साधु-साधिवियों के लिए ब्राह्म नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में 'पुरिसन्तरकडं वा अपुरिसन्तरकडं' पाठ आया है। इसका तात्पर्य है कि- दाता के अतिरिक्त व्यक्ति द्वारा उपभोग किया हुआ पदार्थ पुरुषान्तरकृत कहलाता है और दाता द्वारा उपभोग में लिया गया पदार्थ अपुरुषान्तरकृत कहा जाता है।

सदोष आहार के निषेध का वर्णन पहले अहिंसा महाव्रत की सुरक्षा की दृष्टि से किया गया है, और इससे यह भी स्पष्ट होता है कि- शुद्ध आहार जीवन को शुद्ध, सात्त्विक एवं उज्ज्वल बनाता है। इसके पहले के सूत्रों में हम देख चुके हैं कि- साधक की साधना चिन्तन-मनन के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्षीकरण करके उसे निष्कर्म बनाने के लिए है। इसके लिए स्वाध्याय एवं ध्यान आवश्यक है और इनकी साधना के लिए मन का एकाग्र होना जरूरी है और वह शुद्ध आहार के द्वारा ही हो सकता है। क्योंकि- मन पर आहार का असर होता है। यह लोक कहावत भी प्रसिद्ध है कि 'जैसा खावें अन्न वै रहे मन।' इससे स्पष्ट होता है कि- आहार का मन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हुआ है। अशुद्ध, तामसिक एवं सदोष आहार मन को विकृत बनाए बिना नहीं रहता। इसलिए आगमों में साधु के लिए स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि- वह सदोष एवं अनेषणीय आहार को ग्रहण न करे। उपनिषद् में भी बताया गया है कि- आहार की शुद्धि से सात्त्विकता शुद्ध रहता है और उसकी शुद्धि से स्मृति स्थिर रहती है अर्थात् मन एकाग्र बना रहता है।

अशुद्ध आहार स्वीकार न करने के विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ३४१ ॥

से भिक्खू वा. जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा असणं वा, बहवे समणा माहणा अतिहि किविण वणीमए पगणिय पगणिय समुदिस्स पाणाइं वा, समारम्भ जाव नो पडिग्गाहिज्जा ॥ ३४१ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः यावत् प्रविष्टः सन् सः यत् पुनः जानीयात् अशनं वा, बहून् श्रमणान् ब्राह्मणान् अतिथि-कृपण-वनीपकान् प्रगणय्य प्रगणय्य समुदिश्य प्राणिनः वा, समारम्भ यावत् न प्रतिगृहीयात् ॥ ३४१ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी इस बात का अन्वेषण करे कि- जो आहारादि बहुत से शाक्यादि भिक्षु, ब्राह्मण, भिखारी आदि को गिन-गिन कर या उनके उद्देश्य से जीवों का आरम्भ-समारम्भ करके बनाया हो, उसे साधु ग्रहण न करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह भाव-साधु या साध्वी आहारादि के लिये गृहस्थों के घर में प्रवेश करे तब यह देखे कि- यह आहारादि श्रमण याने निर्गथ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीविक आदि के लिये या ब्राह्मणों के लिये या अतिथि, दरिद्र (कृपण), वनीपक (बंदीजन) आदि के लिये बनाया गया है या नहीं... जैसे कि- २-३ श्रमण, ५-६ ब्राह्मण, इत्यादि प्रकार की संख्या की गिनती से त्रस एवं स्थावर जीवों का समारम्भ करके जो आहारादि बनाया गया है वह बार-बार हो या एक बार हो फिर भी अनेषणीय आधाकर्म है ऐसा मानता हुआ वह साधु आहारादि प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- किसी गृहस्थ ने शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, भिखारी आदि की गणना करके उनके लिए आहार तैयार किया है। जबकि- यह आहार साधु के उद्देश्य से नहीं बनाया गया फिर भी साधु के लिए अगाह्य है। क्योंकि- बौद्ध भिक्षु एवं जैन साधु दोनों के लिए 'श्रमण' शब्द का प्रयोग होता है, अतः संभव है कि- गृहस्थ ने उस आहार के बनाने में उन्हें भी साथ गिन लिया हो। इसके अतिरिक्त ऐसा आहार ग्रहण करने से लोगों के मन में यह शंका भी उत्पन्न हो सकती है कि अन्य भिक्षुओं की तरह जैन साधु भी अपने लिए बनाए गए आहार को लेते हैं और उक्त आहार में से ग्रहण करने से-जिन व्यक्तियों के

लिए वह आहार बनाया गया है, उनको होनेवाले अंतस्य का दोष लगता है तथा उनके लिए बनाए गए आहार को लेने के लिए जैन साधु को जाते हुए देखकर उनके मन में द्वेष भी जग सकता है। इसलिए जैन साधु को ऐसा आहार भी स्वीकार नहीं करना चाहिए।

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ ३४२ ॥

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्जा असणं वा, बहवे समणा माहणा अतिहिं किदिण-वणीमए समुदिस्स जाव चेएइ, तं तहप्पगारं असणं वा अपुरिसंतरकडं वा अबहिया-नीहडं अणत्तद्धियं अपरिभुत्तं अणासेवियं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव नो पडिग्गाहिज्जा । अह पुण एवं जाणिज्जा पुरिसंतरकडं बहिया नीहडं अत्तद्धियं परिभुत्तं आसेवियं फासुयं एसणिज्जं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥ ३४२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा भिक्षुणी वा यावत् प्रविष्टः सन् सः यत् पुनः जानीयात् अशनं वा, बहून् श्रमणान् ब्राह्मणान् अतिथि कृपण-वणीपकान् समुदिश्य यावत् ददाति, तं तथा प्रकारं अशनं वा, अपुरुषान्तरकृतं वा अबहिःनिर्गतं वा अनात्मस्थितं वा अपरिभुयतं वा अनासेवितं वा अप्रासुकं अनेषणीयं यावत् न प्रतिगृह्णीयात् । अथ पुनः एवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतं बहिः निर्गतं आत्मस्थितं परिभुयतं आसेवितं प्रासुकं एषणीयं यावत् प्रतिगृह्णीयात् ॥ ३४२ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ कुल में प्रवेश करने पर साधु-साध्वी इस प्रकार जाने कि- अशनादिक चतुर्विध आहार जो कि शाक्यादिभिक्षु, ब्राह्मण अतिथि दीन और भिखारियों के निमित्त तैयार किया गया हो और दाता उसे देवे तो इस प्रकार के अशनादि आहार को जो कि- अन्य पुरुष कृत न हो, घर से बाहर न निकाला गया हो, अपना अधिकृत न हो, उस में से खाया या आसेवन न किया गया हो तथा अप्रासुक और अनेषणीय हो, तो साधु ऐसा आहार भी ग्रहण न करे।

यदि साधु इस प्रकार जाने कि- यह आहार आदि पदार्थ अन्य कृत है, घर से बाहर ले जाया गया है, अपना अधिकृत है तथा खाया और भोगा हुआ है एवं प्रासुक और एषणीय है तो ऐसे आहार को साधु ग्रहण करले।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आहारादिके लिये गृहस्थोंके घरमें प्रवेश करके यह देखे कि- यह आहारादि, बहुत सारे श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण या वनीपकों के लिये त्रस एवं

स्थावर जीवों का आरंभ-समारंभ करके यह गृहस्थ देता है... यदि ऐसा हो तो तथा प्रकार के वे अशनादि स्वयंने बनाया हो, बाहर नहीं निकाला हो, अपने खुद का न हो, भोजन नहीं किया हो, आसेवित नहीं किया हो, ऐसे अप्रासुक एवं अनेषणीय आहारादि प्राप्त हो तो भी ग्रहण न करें... तथा वह साधु ऐसा जाने कि- यह आहारादि अन्य पुरुषों के लिये बनाया है। बाहर निकाला हो, स्वयं का किया हो, भोजन कर लिया हो, आसेवित किया हो तब उन्हें प्रासुक एवं एषणीय जानकर प्राप्त होने पर ग्रहण करें... यहां सारांश यह है कि- अविशोधिकोटी दोषवाले आहारादि जैसा-कैसा भी हो तो भी नहीं कल्पता किंतु विशोधिकोटी दोषवाले आहारादि अन्य पुरुष के लिये बनाया हो, अपने आपका किया हो इत्यादि प्रकार का कल्पता है...

अब विशोधिकोटी विषयक सूत्र सूत्रकार महर्षि कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- किसी गृहस्थ ने शाक्यादि भिक्षुओं के लिए आहार बनाया है और वह आहार अन्यपुरुषकृत नहीं हुआ है, बाहर नहीं ले जाया गया है, किसी व्यक्ति ने उसे खाया नहीं है और वह अप्रासुक एवं अनेषणीय है, साधु के लिए अब्राह्य है। यदि वह आहार पुरुषान्तर हो गया है, लोग घर से बाहर ले जा चुके हैं दूसरे व्यक्तियों द्वारा खा लिया गया है और वह प्रासुक एवं एषणीय है, तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है।

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३४३ ॥

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा गाहावडकुलं पिंडवायपडियाए पविसिउकामे से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा इमेसु खलु कुलेसु निइए पिंडे दिज्जइ अग्गपिंडे दिज्जइ नियए भाए दिज्जइ नियए अवड्ढभाए दिज्जइ तहप्पगाराइं कुलाइं निइयाइं निइउमाणाइं नो भत्ताए वा पाणाए वा पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा । एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा समग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिए सया जए तिबेमि ॥ ३४३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा भिक्षुणी वा गृहपति कुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेष्टुकामः सः यानि पुनः कुलानि जानीयात् इमेषु (एषु) खलु कुलेषु नित्यं पिण्डः दीयते, अग्रापिण्डः दीयते नित्यं भागः दीयते, नित्यं अपार्थभागः दीयते, तथा प्रकाराणि कुलानि नित्यानि नित्यप्रवेशानि तत्र न भक्ताय वा न पानाय वा प्रविशेद् वा निष्क्रामेद् वा । एवं खलु तस्य भिक्षोः वा भिक्षुण्याः वा सामग्रयं यत् सर्वर्थैः समितः सदा यतेत ॥ ३४३ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के कुल में आहार प्राप्ति के निमित्त प्रवेश करने की इच्छा रखने वाले साधु या साध्वी इन वक्ष्यमाण कुलों को जाने, जिन कुलों में नित्य आहार दिया जाता है, अन्नपिंड आहार में से निकाला हुआ पिंड दिया जाता है, नित्य अर्द्ध भाग आहार दिया जाता है, नित्य चतुर्थ भाग आहार दिया जाता है, इस प्रकार के कुलों में जो कि- नित्यदान देने वाले हैं तथा जिन कुलों में भिक्षुओं का भिक्षार्थ निरन्तर प्रवेश हो रहा है ऐसे कुलों में अन्न पानादि के निमित्त साधु और साध्वी की समग्रता अर्थात् निर्दोष वृत्ति है वह सर्व शब्दादि अर्थों में यत्नवाला, संयत अथवा ज्ञान दर्शन और चारित्र्य से युक्त है। अतः वह इस वृत्ति का परिपालन करने में सदा यत्नशील हो। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

वह भिक्षु याने साधु या साध्वीजी म. आहारादि के लिये गृहस्थों के घरों में प्रवेश करे तब यह देखे कि- इन कुलों में नित्य याने प्रतिदिन पिंड, अन्न याने शालिओदन आदि को पहले ही निकालकर भिक्षा में देने के लिये अलग रखें वह अन्नपिंड... तथा नित्य अर्ध पोष दे, तथा प्रतिदिन चतुर्थांश पोष दे, ऐसे प्रकार के कुल (घर) नित्य याने प्रतिदिन दानवाले होते हैं... वे गृहस्थ लोग स्वपक्ष याने संयत-साधु और परपक्ष याने अन्य भिक्षाचर लोग भिक्षा के लिये जब घर आये तब सभी को आहारादि देने के लिये बहुत सारी रसोई बनावे, ऐसा होने में छह जीविकाय की विराधना हो, तथा यदि रसोई अल्प (थोड़ी) हो तब अंतराय होता है, अतः उन घरों में साधु आहारादि के लिये प्रवेश न करे और न निकलें...

अब इस उद्देशक का उपसंहार करते हैं... इस उद्देशक में आरंभ से लेकर जो कहा वह उस भिक्षु-साधु की समग्रता है, जैसे कि- साधु उद्गम, उत्पादन, ग्रहणैषणा, संयोजन, प्रमाण, इंगाल, धूम और कारणों से सुविशुद्ध पिंड का ग्रहण करें और वह ज्ञानाचार-समग्रता है इसी प्रकार दर्शनाचार, चारित्र्याचार, तपाचार, और वीर्याचार की भी समग्रता है... अथवा यह सामग्री सूत्र से ही कहलें हैं- सर्वार्थ याने सरस एवं विरस आहारादि से अथवा रूप, रस, गंध एवं स्पर्श से समित याने (संयत) साधु, अथवा पांच समितियां से समित अर्थात् संयत। अथवा शुभ एवं अशुभ पदार्थों में राग-द्वेष से रहित तथा हितवाला अथवा ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र्य से सहित ऐसा साधु सदा संयमवाला है... ऐसा हे जंबू। मैं सुधर्मस्वामी श्री वर्धमान स्वामीजी के मुख से सुनकर तुम्हें कहता हूँ...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में इस बात का आदेश दिया गया है कि- साधु को निम्न कुलों में भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। जिन कुलों में नित्य-प्रति दान दिया जाता है, जिन कुलों में अग्रपिंड-जो आहार पक रहा हो उसमें से कुछ भाग पहले निकाल कर रखा हुआ आहार दिया जाता है, जिन कुलों में आहार का आधा या चतुर्थ हिस्सा दान में दिया जाता है और जिन कुलों में शाक्यादि भिक्षु निरन्तर आहार के लिए जाते हों, ऐसे कुलों में जैन साधु-साध्वी को प्रवेश नहीं करना चाहिए। क्योंकि- ऐसे घरों में भिक्षा को जाने से या तो उन भिक्षुओं की, जो वहां से सदा-सर्वदा भिक्षा पाते हैं, अंतराय लगेगी या उन भिक्षुओं के लिए फिर से आरम्भ करके आहार बनाना पड़ेगा। इसलिए साधु को ऐसे घरों से आहार नहीं लेना चाहिए।

जैन साधु सर्वथा निर्दोष आहार ही ग्रहण करता है। इस बात को सूत्रकार ने 'सत्त्वदोर्हि समिप.....' इत्यादि पदों से अभिव्यक्त किया है। इनका स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि- मुनि को सरस एवं नीरस जैसा भी निर्दोष आहार उपलब्ध होता है, उसे समभाव से ग्रहण करता है। वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों में अनासक्त रहता है। वह पांच समिति से युक्त है, राग-द्वेष से दूर रहने का प्रयत्न करता है वह रत्नत्रय-ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य से युक्त होने से संयत है। और वह निर्दोष मुनिवृत्ति का परिपालन करता है, यही उसकी समग्रता है।

'तिबेमि' पद से सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि- ये विचार मेरी कल्पनामात्र नहीं है। आर्य सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बू से कहते हैं कि हे जम्बू ! मैंने जैसा भगवान महावीर के मुख से सुना है वैसा ही तुम्हें कह रहा हूँ।

॥ प्रथम चूलिकायां प्रथमे पिण्डैषणाध्ययने प्रथमः उद्देशकः समाप्तः ॥

ॐ ॐ ॐ

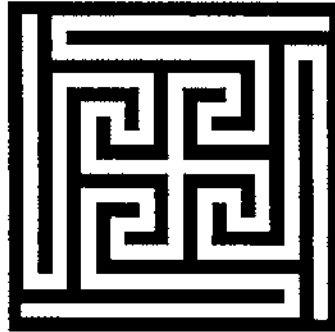
: प्रशस्ति : .

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधानं राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य

व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. ९६. 卐 विक्रम सं. २०५८.

ॐ



ॐ

आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - १ उद्देशक - २

卐 “पिण्डैषणा” 卐

पहला उद्देशक कहा, अब दूसरे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं, यहां पहले उद्देशक में पिंड का स्वरूप कहा, अब इस दूसरे उद्देशक में भी पिंड विषयक हि विशोधिकोटी कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३४४ ॥

से भिक्षु वा भिक्षुणी वा गाहावडकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्टे समाणे से जं पुण जाणिजा असणं वा, अट्टमी-पोसहिएसु वा अद्धमासिएसु वा मासिएसु वा दोमासिएसु वा तिमासिएसु वा चाउम्मासिएसु वा पंचमासिएसु वा छम्मासिएसु वा उऊसु वा उ.उ.संधीसु वा उउपरियट्टेसु वा बहवे समणमाहण अतिहिकिविणवणीमणे एणाओ उक्खाओ परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए, तिहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए कुंभीमुहाओ वा कलोवाइओ वा संनिहिसंनियचयाओ वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा, अपुरिसंतरकडं जाव अणासेवियं अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिजा । अह पुण एवं जाणिजा पुरिसंतरकडं जाव आसेवियं फासुयं पडिग्गाहिजा ॥ ३४४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा भिक्षुणी वा गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टः सन् सः यत् पुनः जानीयात् अशनं वा, अष्टमीपौषधिकेषु वा अर्धमासिकेषु वा मासिकेषु वा द्विमासिकेषु वा, त्रिमासिकेषु वा, चातुर्मासिकेषु वा पञ्चमासिकेषु वा षण्मासिकेषु वा ऋतुषु वा ऋतुसन्धिषु वा ऋतुपविर्तेषु वा बहून् श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण-वानीपकान् एकस्मात् पिठरकात् भोज्यमानान् प्रेक्ष्य द्वाभ्यां पिठराभ्यां भोज्यमानान् प्रेक्ष्य त्रिभिः पिठरकेभ्यः भोज्यमानान् प्रेक्ष्य कुम्भीमुखात् वा पिच्छी-पिटकं वा पात्र-विशेषात् वा संनिधि-संनिचयात् वा भोज्यमानान् प्रेक्ष्य तथाप्रकारं अशनं वा, अपुरुषान्तरकृतं यावत् अनासेवितं अप्रासुकं यावत् न प्रतिगृहीयात् । अथ पुनः एवं जानीयात् पुरुषान्तरकृतं यावत् आसेवितं प्रासुकं प्रतिगृहीयात् ॥ ३४४ ॥

III सूत्रार्थ :

वह साधु व साध्वी गृहस्थों के घर में आहार प्राप्ति के निमित्त प्रविष्ट होने पर अशनादि

चतुर्विध आहार आदि के विषय में इस प्रकार जाने कि- यह अशनादि आहार अष्टमी पौषध-व्रत विशेष के महोत्सव में एवं अर्द्धमासिक, मासिक, द्विमासिक, त्रिमासिक, चतुर्मासिक, पंचमासिक और षाण्मासिक महोत्सव में, तथा ऋतु, ऋतुसन्धि और ऋतु परिवर्तन महोत्सव में बहुत से श्रमण शाक्यादिभिक्षु, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारियों को एक बर्तन से दो बर्तनों से एवं तीन और चार बर्तनों से परोसते हुए देखकर तथा छोटे मुख की कुम्भी और बांस की टोकरी से परोसते हुए देखकर एवं संचित किये हुए घी आदि पदार्थों को परोसते हुए देखकर इस प्रकार के ये अशनादि चतुर्विध आहार जो पुरुषान्तर कृत नहीं हैं यावत् अनासेवित एवं अप्रासुक हैं ऐसे आहार को मिलने पर भी साधु ग्रहण न करें। और यदि इस प्रकार जाने कि- यह आहार पुरुषान्तर कृत यावत् आसेवित प्रासुक और एषणीय हैं तो मिलने पर ग्रहण करें।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आहारादि के लिये गृहस्थों के घर में प्रवेश करने पर ऐसा देखे कि- अष्टमी पर्व के उपवासादिक पौषध-उत्सव है, तथा अर्द्धमासिक, मासिक आदि तथा ऋतु, ऋतु का अंतभाग और ऋतु का बदलना इत्यादि पर्व दिनों में बहुत सारे श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण एवं वनीपकों को एक पिठरक याने छोटे मुखवाला बर्तन (बटलोइ-तासला) में से कूर-चावल आदि लेकर दिये जा रहे आहारादि को भोजन करते हुए देखकर के... इसी प्रकार दो बर्तन, तीन बर्तन में से दिये जा रहे आहारादि को भोजन करते हुए देखकर तथा कुम्भीमुख से या कलोवइ नाम के बर्तन से अथवा गोरस दूध आदि के संनिधि-संनिचय से दिये जा रहे आहारादि को भोजन करते हुए देखकर तथा प्रकार के आहारादि साधुओं के लिये बनाया गया अप्रासुक और अनेषणीय है ऐसा जानता हुआ साधु ऐसे आहारादि प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करें... अब जब ऐसा जाने कि- अन्य पुरुष के लिये बनाया हुआ है यावत् आसेवित हो प्रासुक एवं एषणीय हो तब उन आहारादि को ग्रहण करें।

अब कौन से घरों (कुल) में आहारादि के लिये प्रवेश करें... वह बात सूत्रकार महर्षि आने के सूत्र से कहेंते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को उस समय गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रवेश नहीं करना चाहिए या प्रविष्ट हो गया है तो उसे आहार नहीं ग्रहण करना चाहिए क्योंकि जिसके यहां अष्टमी के पौषधोपवास का महोत्सव हो या इसी तरह अर्द्धमास, एकमास, दो, तीन, चार, पांच या छः मास के पौषधोपवास (तपश्चर्या) का उत्सव हो या ऋतु, ऋतु सन्धि (दो ऋतुओं का सन्धि काल) और ऋतु परिवर्तन (ऋतु का परिवर्तन-एक ऋतु के अनन्तर

दूसरी ऋतु का आरम्भ होना) का महोत्सव हो और उसमें शाक्यादि भिक्षु, श्रमण-ब्राह्मण, अतिथि, रंक, भिखारी आदि को भोजन कराया जा रहा हो। यद्यपि यह भोजन आधाकर्मदोष से युक्त नहीं है, फिर भी सूत्रकार ने इसके लिए जो 'अफासुयं' शब्द का प्रयोग किया है, इसका तात्पर्य यह है कि- ऐसा आहार तब तक साधु के लिए अकल्पनीय है कि- जब तक वह आहारादि पुरुषान्तर कृत नहीं हो जाता है। यदि यह आहार एकान्त रूप से शाक्यादि भिक्षुओं को देने के लिए ही बनाया गया है और उसमें से परिवार के सदस्य एवं परिजन आदि अपने उपभोग में नहीं लेते हैं, तब तो साधु को वह आहार नहीं लेना चाहिए। क्योंकि- इससे इन भिक्षुओं को अन्तराय लगती है। यदि परिवार के सदस्य एवं स्नेही-सम्बन्धी उसका उपभोग करते हैं, तो उनके उपभोग करने के बाद (पुरुषान्तर होने पर) साधु उसे ग्रहण कर सकते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि- किसी भी उत्सव के प्रसंग पर अन्य मत के भिक्षु भोजन कर रहे हों तो उस समय वहां साधु का जाना उचित नहीं है। उस समय वहां नहीं जाने से मुनि संतोष एवं त्याग वृत्ति प्रकट होती है, उन भिक्षुओं के मन में किसी तरह की विपरीत भावना जागृत नहीं होती। अतः साधु को ऐसे समय विवेकपूर्वक कार्य करना चाहिए।

साधु को किस कुल में आहार के लिए जाना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ३४५ ॥

से भियस्व वा २ जाव समाणे से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा तं जहा-
उग्गकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइण्णकुलाणि वा खत्तियकुलाणि वा इक्खागकुलाणि
वा हरिवंशकुलाणि वा एसियकुलाणि वा वेसियकुलाणि वा गंडागकुलाणि वा
कोट्टागकुलाणि वा गामरक्खगकुलाणि वा बुयकासकुलाणि वा अण्णयरेसु वा
तहप्पगारेसु कुलेसु अदुगुणिएसु अगरहिएसु असणं वा ४ फासुयं जाव
पडिग्गाहिज्जा ॥ ३४५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा २ यावत् प्रवेष्टुकामः सन् यन्नि पुनः कुलानि जानीयात्, तं जहा-
उग्र-कुलानि वा भोगकुलानि वा राजन्यकुलानि वा क्षत्रियकुलानि वा इक्ष्वाकुकुलानि वा
हरिवंशकुलानि वा गोष्ठकुलानि वा वणिग्-कुलानि वा नापितकुलानि वा
काष्ठतक्षककुलानि वा ग्रामरक्षककुलानि वा तन्तुवायकुलानि वा अन्यतरेषु वा तथा
प्रकारेषु कुलेषु अजुगुप्सितेषु अगर्हेषु अशनं वा ४ प्रासुकं यावत् प्रतिगृहणीयात् ॥ ३४५ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु अथवा साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करते हुए इन कुलों को जाने, यथा उग्रकुल, भोगकुल, राजन्य कुल, क्षत्रियकुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवंशकुल, गोपालादिकुल, वैश्यकुल, नापितकुल, वर्धकी (बढई) कुल, ग्रामरक्षक कुल और तन्तुवाय कुल तथा इसी प्रकार के और भी अनिन्दित, अगर्हित कुलों में से प्रासुक अन्नादि चतुर्विध आहार यदि प्राप्त हो तो साधु उसे स्वीकार कर ले।

IV टीका-अनुवाद :

सः भिक्षु वा २ भिक्षा याने आहारादि के लिये गृहस्थों के घर में प्रवेश करने की इच्छा हो तब उच्च कुलों के घर को देखकर प्रवेश करे... वे इस प्रकार- उग्रकुल याने आरक्षकादि, भोगकुल याने राजा को आदरणीय, राजन्यकुल याने राजा के मित्र स्वरूप, क्षत्रियकुल राष्ट्रकूटादि, इक्ष्वाकुकुल ऋषभदेव के वंशवाले, हरिवंशकुल नेमिनाथ भगवान् के वंशवाले, गोष्ठ, वणिग्, गंडक याने गांव में उद्घोषणा करनेवाले नापित, कोट्टाग याने काष्ठतक्षक वार्द्धकी (सुथार) तथा बुयकस याने तंतुवाय (वणकर) ऐसे अन्य भी कुल हैं जो कि- निन्दनीय न हो और गर्हणीय न हो, विभिन्न देश के विनेय याने श्रमणों को सुगमता से समझ में आये अतः पर्याय शब्द से कहते हैं कि- अगर्हणीय कुलों में से आहारादि प्रासुक एवं एषणीय होने पर ग्रहण करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को भिक्षा के लिए कौनसे कुलों में जाना चाहिए। वर्तमान काल चक्र में भगवान् ऋषभदेव के राज्यकाल पहले भरत क्षेत्र में भोगभूमि (अकर्मभूमि) थी। वर्तमान काल चक्र के तीसरे आरे के तृतीय भाग में भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ था और उसके बाद भोग भूमिका स्थान कर्म भूमि ने ले लिया। भगवान् ऋषभदेव ही प्रथम राजा, प्रथम मुनि एवं प्रथम तीर्थंकर थे, इनके युग से वर्ण व्यवस्था एवं कुल आदि परम्परा का प्रचलन हुआ। उसी के आधार पर बने हुए कुलों का सूत्रकार ने उल्लेख किया है। जैसे- १-उग्रकुल-रक्षककुल, जो जनता की रक्षा के लिए सदा सन्नद्ध तैयार रहता है, २-भोगकुल-राजाओं के लिए सम्माननीय है। ३-राजन्यकुल-मित्र के समान व्यवहार करनेवाला कुल, ४-क्षत्रिय कुल-जो प्रजा की रक्षा के लिए शस्त्रों को धारण करता था। ५-इक्ष्वाकु कुल-भगवान् ऋषभदेव का कुल, ६-हरिवंश कुल-भगवान् अरिष्ट नेमिनाथ का कुल, ७-एष्य कुल-गोपाल आदि का कुल, वैश्यकुल-वणिकलोग... ८-ग्रामरक्षक कुल-कोतवाल आदि का कुल, ९-गण्डक कुल-नाई आदि का कुल, १०-कुट्टाक, ११-वर्द्ध की और १२-बुयकस-तंतुवाय आदि के कुल एवं इसी तरह के अन्य कुलों से भी साधु आहार ग्रहण कर सकता है, जो निन्दित एवं घृणित कर्म करनेवाले न हो।

प्रस्तुत प्रकरण में क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन तीनों कुलों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, परन्तु ब्राह्मण कुल का कहीं नाम नहीं आया। इसके दो कारण हो सकते हैं- १-ब्राह्मण वर्ण की स्थापना भगवान् ऋषभदेव ने नहीं की थी, बल्कि उनके दीक्षित होने के बाद भरत ने की थी। उनका वर्ण पीछे से आरम्भ हुआ इस कारण उसका उल्लेख नहीं किया है। २-प्रस्तुत सूत्र में भोग कुल का उल्लेख किया गया है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ राजाओं का पूजनीय कुल कहा है। ब्राह्मण प्रायः पठन-पाठन के कार्य में ही संलग्न रहते थे एवं निस्पृह भी होते थे। इस कारण राजा लोग उनका सम्मान करते थे। अतः हो सकता है कि- भोग कुल से ब्राह्मण कुल का उल्लेख किया गया हो।

एष्य कुल से गौरक्षा एवं पशु पालन करनेवाले कुलों तथा वैश्य कुल से कृषि कर्म एवं व्यापार के द्वारा अल्पारम्भ ही जीवन बितानेवाले कुलों का निर्देश किया गया है। ३-गण्डाक-नाई आदि के कुल से केशालंकार एवं गांव में किसी तरह की उदघोषणा आदि कराने की प्रवृत्ति का तथा कुट्टाक, बर्दकी आदि कुलों से भवन निर्माण एवं काष्ठ कला की और तन्तुवाय कुल से वस्त्र कला की परम्परा का संकेत मिलता है। इस तरह उक्त कुलों के निर्देश से उस युग की राष्ट्रीय एवं सामाजिक व्यवस्था का पूरा परिचय मिलता है। अन्य अनिन्दनीय कुलों से शिल्प एवं विज्ञान आदि के कुशल कलाकारों का निर्देश किया गया है। अतः प्रस्तुत सूत्र ऐतिहासिक विद्वानों, एवं रिसर्च (खोज) करनेवाले विद्यार्थियों के लिए बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ३४६ ॥

से भियख् वा २ जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा असणं वा ४ समवाएसु वा पिंडनियरेसु वा इंदमहेसु वा खंदमहेसु वा एवं रुद्धमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूयमहेसु वा जक्खमहेसु वा नागमहेसु वा धूममहेसु वा चेइयमहेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा अगडमहेसु वा तलागमहेसु वा दहमहेसु वा दइमहेसु वा सरमहेसु वा सागरमहेसु वा आगरमहेसु वा अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु वट्टमाणेसु बहवे समणमाहण अतिहि किविण वप्पीमणे एगाओ उक्खाओ परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं जाव संनिहिसंनिचयाओ वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं जाव नो पडिग्गाहिज्जा ।

अह पुण एवं जाणिज्जा दिण्णं जं तेसिं दायत्वं, अह तत्थ भुंजमाणे पेहाए गाहावइभारियं वा गाहावइभगिणिं वा गाहावइपुत्तं वा धुयं वा सुण्हं वा धाईं वा दासं वा दासिं वा कम्मकरं वा कम्मकरिं वा से पुव्यामेव आलोइज्जा आउसिति वा भगिणिति वा दाहिसि मे इत्तो अण्णयरं भोयणजायं, से सेवं वयंतस्स परो असणं वा आहइ

दलइज्जा तहप्पंगारं असणं वा ४ सयं वा पुण जाइज्जा, परो वा से दिज्जा, फासुयं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥ ३४६ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा २ यावत् प्रविष्टः सन् सः यत् पुनः जानीयात् अशनं वा ४ समवायेषु वा पिण्डनिकरेषु वा इन्द्रमहेषु वा स्कन्दमहेषु वा एवं रुद्रमहेषु वा मुकुन्दमहेषु वा भूतमहेषु वा यक्षमहेषु वा नागमहेषु वा स्तूपमहेषु वा चैत्यमहेषु वा वृक्षमहेषु वा गिरिमहेषु वा दरिमहेषु वा अवटमहेषु वा तडागमहेषु वा द्रहमहेषु वा नदीमहेषु वा सरोवरमहेषु वा सागरमहेषु वा आकरमहेषु वा अन्यतरेषु वा तथा प्रकारेषु विरूपरूपेभ्यु महामहेषु वर्तमानेषु बहून् श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण-वनीपकान् एकस्मात् पिठरकात् (सङ्कटमुखपात्र विशेषात्) दीयमानाहारेण भोज्यमानान् प्रेक्ष्य द्वाभ्यां वा यावत् संनिधि-संनिचयात् वा भोज्यमानान् प्रेक्ष्य तथाप्रकारं अशनं वा ४ अपुरुषान्तरकृतं यावत् न प्रतिगृहणीयात् ।

अथ पुनः एवं जानीयात् दत्तं यत् तेषां दातव्यम्, अथ तत्र भुज्यमानान् प्रेक्ष्य गृहपतिभार्या वा गृहपतिभगिनी वा गृहपतिपुत्रं वा दुहितारं वा स्नुषां=पुत्रवधुं वा धार्त्रीं वा दासं वा दासीं वा कर्मकरं वा कर्मकरिणीं वा सः पूर्वमेव आलोचयेत् हे आयुष्यमति ! इति वा हे भगिनि ! इति वा दास्यसि मह्यं इतः अन्यतरं भोजनजातं, तस्य (तस्मै) सा (सः) एवं वदतः (वदते) परः अशनं वा ४ आहत्य दद्यात् तथा प्रकारं अशनं वा ४ स्वयं वा पुनः याचेत्, परः वा तस्मै दद्यात्, प्रासुकं यावत् प्रतिगृहणीयात् ॥ ३४६ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु व साध्वी गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने पर यदि यह जाने कि- यहां पर महोत्सव के लिए जन एकत्रित हो रहे हैं, तथा पितृपिण्ड याने मृतक के निमित्त भोजन हो रहा है या इन्द्रमहोत्सव, स्कन्दमहोत्सव, रुद्रमहोत्सव, मुकुन्दबलदेव महोत्सव, भूत महोत्सव, यक्ष महोत्सव, इसी प्रकार नाग, स्तूप, चैत्य, वृक्ष, गिरि, गुफा, कूप, तालाब, हृद (झील) उदधि, सरोवर सागर और आकर संबंधित महोत्सव हो रहा हो तथा इसी प्रकार के अन्य महोत्सवों पर बहुत से श्रमण-ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी लोगों को एक बर्तन से पुरोसता हुआ देख कर दो थालियों से यावत् संचित किये हुए घृतादि स्निग्ध पदार्थों को पुरोसते हुए देखकर तथाविध आहार-पानी जब तक अपुरुषान्तरकृत है यावत् मिलने पर भी साधु ग्रहण न करे। और यदि इस प्रकार जाने कि- जिनको देना था उन्हें दिया जा चुका है तथा वहां पर यदि उन गृहस्थों को भोजन करते हुए देखे तो उस गृहपति की भार्या से, गृहपति की भगिनी से, गृहपति के पुत्र से, गृहपति की पुत्री से, पुत्रवधु से, धाव माता से, दास-दासी

नौकर-नौकरानी से पूछे कि- हे आयुष्मति ! भगिनि ! मुझे इन खाद्य पदार्थों में से अन्यतर भोजन दोगी ? इस प्रकार बोलते हुए साधु के प्रति यदि गृहस्थ चार प्रकार का आहार लाकर दे अथवा अशनादि चतुर्विध आहार की साधु स्वयमेव याचना करे या गृहस्थ स्वयं दे और वह आहार पानी प्रासुक और एषणीय हो तो साधु उसे ग्रहण कर ले।

IV टीका-अनुवाद :

सः भिक्षुः = वह साधु आहारादि को ऐसा जाने कि- यह आहारादि अपुरुषांतरकृत आदि विशेषणवाला अप्रासुक एवं अनेषणीय है, तब उस आहारादि को ग्रहण न करे... जैसे कि- समवाय याने शंख छेद श्रेणी आदि का मेला... पिंडनिकर याने पितृपिंड... इंद्र-उत्सव... स्वामी कार्तिकिय की पूजा-महिमा... रुद्र (शंकर-महादेव) मुकुंद याने बलदेव... इत्यादि विभिन्न प्रकार के महोत्सवों में यदि जो कोई श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण, वनीपकादि आये हो तब उन्हें यह आहारादि दिया जाता है ऐसा जानने पर साधु उन आहारादि को ग्रहण न करें... यद्यपि सभी को न भी दें तो भी लोगों की भीडवाले उस महोत्सव में बनाये हुए आहारादि को "संखडी" दोष के कारण से ग्रहण न करें...

किंतु जब ऐसा जाने कि- यह आहारादि उन श्रमण आदि को देने योग्य दे दीया है, और बाद में वे गृहस्थ स्वयं ही उस आहारादि का भोजन करते हैं, ऐसा देखकर आहारादि के लिये साधु वहां जाय... और उन गृहस्थों को मान देकर कहे... जैसे कि- गृहस्थ की भार्यादि को भोजन करते हुए देखे और स्वामी को या स्वामी के आदेशकर को कहे कि- हे आयुष्मति ! हे भगिनि (बहन !) आप मुझे यह आहारादि दोगे क्या ? इस प्रकार बोलने वाले साधु को वह गृहस्थ आहारादि लाकर दे... वहां लोगों की भीड होने से या अन्य कोई कारण होने पर साधु स्वयं ही याचना करे अथवा बिना याचना किये ही गृहस्थ, वह आहारादि साधु को दे; तब प्रासुक एवं एषणीय देखकर साधु उस आहारादि को ग्रहण करे...

अब दुसरे गांव विषयक बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि गृह-प्रवेश, नामकरण आदि उत्सव तथा मृतक कर्म या इंद्र, स्कन्द एवं रुद्र आदि से सम्बन्धित उत्सवों के अवसर पर शाक्यादि भिक्षु, श्रमण-ब्राह्मण, गरीब-भिखारी आदि गृहस्थ के घर पर भोजन कर रहे हो और वह भोजन पुरुषान्तर कृत नहीं हुआ हो तो साधु उसे अनेषणीय समझकर ग्रहण न करे। यदि अन्य भिक्षु आदि भोजन करके चले गए हैं, अब केवल उसके परिवार के सदस्य, परिजन एवं दास-दासी ही भोजन कर रहे हों, तो उस समय साधु प्रासुक एवं एषणीय आहार की याचना कर सकता है या उस घर का कोई सदस्य साधु को आहार ग्रहण करने के लिये प्रार्थना करे

तो वह उसे ग्रहण कर सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'पिण्ड नियरेसु' का अर्थ है-मृतक के निमित्त तैयार किया गया भोजन। प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि- उस समय इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, बलदेव, भूत, यक्ष, नाग आदि के उत्सव मनाए जाते थे, और इन अवसरों पर गृहस्थ लोग अपने ज्ञातिजनों के साथ प्रीति भोज करते थे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'स्तूप एवं चैत्य' शब्द एकार्थक नहीं, किन्तु, भिन्नार्थक हैं। मृतक की चिता पर उसकी स्मृति में बनाया गया स्मारक 'स्तूप' कहलाता है और यक्ष आदि का आयतन 'चैत्य' कहलाता है। यहां प्रयुक्त महोत्सव भौतिक कामनाओं के लिए किए जाते रहे हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि- चैत्य शब्द का प्रयोग जिनेश्वर तीर्थकर भगवान् की प्रतिमा या मन्दिर के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। उक्त शब्द यक्षायतन या व्यन्तरायतन का परिबोधक है।

अब सूत्रकार ग्रामान्तरीय आचार का वर्णन करते हुए आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ३४७ ॥

से भिक्खु वा २ परं अद्धजोयणमेराए संखडिं नच्चा संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । से भिक्खु वा २ पाईणं संखडिं नच्चा पडीणं गच्छे अणाढायमाणे, पडीणं संखडिं नच्चा पाईणं गच्छे अणाढायमाणे, दाहिणं संखडिं नच्चा उदीणं गच्छे अणाढायमाणे, उदीणं संखडिं नच्चा दाहिणं गच्छे अणाढायमाणे, जत्थेव सा संखडी सिया, तं जहा-गामंसि वा नगरंसि वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा नेगमंसि वा आसमंसि वा संनिवेसंसि वा जाव रायहाणिसि वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए केवली बूया - आयाणमेयं संखडिं संखडिपडियाए अभिधारेमाणे आहाकम्मियं वा उदेसियं वा मीसजायं वा कीयगडं वा पामिच्चं वा अचिछज्जं वा अणिसिद्धं वा अभिहडं वा आहट्ट दिज्जमाणं भुंजिज्जा ।

असंजए भिक्खुपडियाए खुडियदुवारियाओ महल्लियदुवारियाओ कुज्जा, महल्लियदुवारियाओ खुडियदुवारियाओ कुज्जा, समाओ सिज्जाओ विसमाओ कुज्जा, विसमाओ सिज्जाओ समाओ कुज्जा, पवायाओ सिज्जाओ निवायाओ कुज्जा, निवायाओ सिज्जाओ पवायाओ कुज्जा, अंतो वा बहिं वा उवस्सयस्स हरियाणि छिंदिय छिंदिय दालिय दालिय संधारणं संधारिज्जा, एस विलुंगयामो सिज्जाए, तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं पुरे संखडिं वा पच्छा संखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स जाव सया जए ॥ ३४७ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा २ परं अर्धयोजनमर्यादायां सङ्खडिं ज्ञात्वा सङ्खडिप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय । सः भिक्षुः वा प्राचीनां सङ्खडिं ज्ञात्वा प्रतीचीनां गच्छेत् अनाद्रियमाणः, प्रतीचीनां सङ्खडिं ज्ञात्वा प्राचीनां गच्छेत् अनाद्रियमाणः, दक्षिणां सङ्खडिं ज्ञात्वा उदीचीनां गच्छेत् अनाद्रियमाणः, उदीचीनां सङ्खडिं ज्ञात्वा दक्षिणां गच्छेत् अनाद्रियमाणः, यत्रैव सा सङ्खडिः स्यात् तद्-यथा-ग्रामे वा नगरे वा खेटके वा कर्बटके वा मडम्बे वा पत्तने वा आकरे वा द्रोणमुखे वा नैगमे वा आश्रमे वा सन्निवेशे वा यावत् राजधान्यां वा सङ्खडिं सङ्खडिप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय, केवली ब्रूयात्-आदानमेतत् सङ्खडिं सङ्खडिप्रतिज्ञया अभिधारयन् आधाकर्मिकं वा औद्देशिकं वा मिश्रजातं वा क्रीतकृतं वा प्रामित्यं वा आच्छेद्यं वा अनिसृष्टं वा अभिहतं वा आहत्य दीयमानं भुञ्जीत ।

असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया क्षुद्रद्वाराः महाद्वाराः कुर्यात्, महाद्वाराः क्षुद्रद्वाराः कुर्यात् समाः शय्याः विषमाः कुर्यात्, विषमाः शय्याः समाः कुर्यात्, प्रवाताः शय्याः निवाताः कुर्यात्, निवाताः शय्याः प्रवाताः कुर्यात्, अन्तः वा बहिः वा उपाश्रयस्य हरितानि छित्त्वा छित्त्वा विदार्य विदार्य संस्तारकं संस्तारयेत्, एषः निर्ग्रन्थः शय्यायाः । तस्मात् सः संयतः निर्ग्रन्थः तथाप्रकारां पुरःसङ्खडिं वा पश्चात्सङ्खडिं वा सङ्खडिं सङ्खडिप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय, एवं खलु तस्य भिक्षोः यावत् सदा यतः ॥ ३४७ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु व साध्वी अर्द्ध योजन प्रमाण संखडि-जीमनवार को जानकर आहार लाभ के निमित्त जाने का संकल्प न करे । यदि पूर्व दिशामें प्रीतिभोज हो रहा है तो साधु उसका अनादर करता हुआ पश्चिम दिशा में जावे और पश्चिम दिशा में हो रहा है तो उसका अनादर करता हुआ पूर्व दिशा को जाए । इसी प्रकार दक्षिण दिशा में हो रहा है तो उसका निरादर करता हुआ उत्तर दिशा को, और उत्तर दिशा में हो रहा है तो उसका आदर न करता हुआ दक्षिण दिशा को जाए । तथा जहां पर संखडी हो, जैसे कि- ग्राम में, नगर में, खेट में, कर्बट में एवं मडंब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, नैगम, आश्रम और सन्निवेश, यावत् राजधानी में होनेवाली संखडी में स्वादिष्ट भोजन लाने की प्रतिज्ञा से जाने के लिये मन में इच्छा न करे । केवली भगवान कहते हैं- कि यह कर्म बन्ध का मार्ग है । संखडी में संखडी की प्रतिज्ञा से जाता हुआ साधु यदि वहां जाकर दिए हुए को खाता है तो वह आधाकर्मिक, औद्देशिक, मिश्रजात, क्रीतकृत, उधार लिया हुआ, छीना हुआ, दूसरे की बिना आज्ञा लिया हुआ और सन्मुख लाया हुआ खाता है । तात्पर्य यह है कि- यदि साधु वहां जाएगा तो संभव है कि- उसे सद्बोध आहार खाना पड़ेगा ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु उत्कृष्ट से अर्ध योजन प्रमाण क्षेत्र में जहां, अनेक त्रस एवं स्थावर जीवों की विराधना होती हो ऐसी संखडि को जानकर संखडि में जाने की इच्छा से वहां जाने का चिंतन न करे, अर्थात् वहां न जायें... किंतु जब ग्रामानुग्राम विहार की परिपाटि से वहां जाने का पहले से ही प्रयाण हो गया हो, और वहां संखडि है ऐसी जानकारी प्राप्त हो तब यदि पूर्व दिशा में संखडि हो तो संखडि का अनादर करता हुआ पश्चिम दिशा में जाएं और पश्चिम दिशा में संखडि हो तो पूर्व दिशा में जाएं... इसी प्रकार यदि दक्षिण दिशा में संखडि हो तो उत्तर दिशा में जायें और उत्तर दिशा में संखडि हो तो दक्षिण दिशा में जाएं... यहां सारांश यह है कि- जहां संखडि हो वहां न जाएं...

यह संखडि गांव में हो या (नगर) शहर में हो जहां ग्राम्य धर्मों की बहुलता हो वह ग्राम एवं जहां कर न हो वह नकर याने नगर... तथा धूलि के प्राकार याने कोटवाले खेट, कर्बट याने तुच्छ नगर... तथा जहां चारों ओर आधा योजन दूर गांव हो वह मडंब, तथा जहां जल मार्ग और स्थलमार्ग में से कोइ भी एक मार्ग प्रवेश एवं निर्गमन के लिये हो वह पत्तन, तथा ताम्बदि धातुओं की उत्पत्तिस्थान को आकर कहतें हैं, तथा जहां जलमार्ग एवं स्थलमार्ग दोनों हो वह द्रोणमुख तथा वणिग् लोगों का जो स्थान वह नैगम... तथा जो तीर्थस्थान हो वह आश्रम... तथा जहां राजा का निवास हो वह राजधानी, तथा जहां बहुत ही करियाणे का प्रवेश हो वह संनिवेश... अतः ऐसे स्थानों में संखडि को जानकर संखडि की प्रतिज्ञा से वहां न जाएं... जाने का विचार भी न करें... क्योंकि- केवलज्ञानी कहतें हैं कि- यह आदान याने कर्मबंध का कारण है, अथवा संखडि में जाना यह दोषों का घर है... क्योंकि- जहां जहां संखडि हो वहां वहां जाने की इच्छा से जो साधु जाता है, उस साधु को कोई भी एक दोष लगता है... वे दोष यह हैं... १. आधाकर्म, २. औद्देशिक ३. मिश्रजात ४. खरीदा हुआ (क्रीत), उद्यतक याने उच्छीना लिया हुआ, आच्छेद्य याने बलात्कार से ले लिया गया हो, तथा अनिसृष्ट याने आहारादि के स्वामी ने दान देने की अनुमति न दी हो, तथा अभ्याहत इत्यादि दोषों में से कोइ भी दोषवाले आहारादि को साधु न वापरें... अर्थात् उन आहारादि का भोजन न करें... क्योंकि- वह संखडि को करनेवाला गृहस्थ "साधु को दान देना चाहिए" ऐसा सोचकर आधाकर्मदि दोष उत्पन्न करे, अथवा जो साधु आहारादि की लोलुपता से संखडि में जाने की इच्छा से वहां जाता है तब वह साधु आधाकर्मदि दोषवाले आहारादि का भोजन करे... तथा संखडि को देखकर वहां आनेवाले साधुओं को देखकर असंयत गृहस्थ या प्रकृतिभद्रक मनुष्य साधुओं को आते हुए देखकर छोटे द्वार को बड़ा द्वार करे, अथवा कार्य की अपेक्षा से व्यत्यय याने इससे विपरीत भी करें... तथा सम वसति को श्रावकों के आने के भय से विषम करें... अथवा साधुओं को समाधि हो ऐसा सोचकर इससे विपरीत भी करें... तथा पवन आनेवाली वसति

(शय्या) को ढंडी के भय से निवात करें, अथवा ग्रीष्मकाल में इस से विपरीत याने पवन नहि आनेवाली वसति को प्रवात याने "पवन आदे" ऐसा करें... तथा उपाश्रय के अंदर या बाहर वनस्पति-घास का छेद करके अथवा भेदन करके उपाश्रय का संस्कार करें... अथवा संधारे का संस्तारण करें...

गृहस्थ यह सोचकर संस्कार करें कि- यह साधु शय्या (वसति) को संस्कार करने में सोचे कि- हम तो निर्बन्ध, अकिंचन हैं अतः वह गृहस्थ स्वयं ही वसति (उपाश्रय) का संस्कार करे... तथा विशेष कारण होने पर साधु भी वसति का संस्कार करें...

इस प्रकार अनेक दोषवाली संखडि को जानकर साधु वहां जाने का विचार भी न करें... पुरः संखडि याने जन्म, नामकरण, और विवाह आदि तथा मरण आदि के कारण से होने वाली संखडि को पश्चात् संखडि कहते हैं... अथवा पुरः याने आगे के थोड़े हि दिनों में संखडि होगी ऐसा जानकर उन दिनों के आने के पहले हि साधु वहां से विहार करें... अथवा वसति को गृहस्थ हि संस्कृत = संस्कारवाली करें क्योंकि- संखडि पूर्ण हो चुकी है अतः उसकी शेष ग्रहण करने के लिये साधु आयेंगे... अतः सूत्रकार महर्षि कहते हैं कि- सर्व प्रकार से सभी संखडि में जाने की इच्छा से साधु वहां गमन न करें... ऐसा होने से हि उस भिक्षु याने साधु को संपूर्ण भिक्षुभाव याने सच्ची साधुता प्राप्त होती है... अर्थात् भावसाधु सर्व प्रकार से संखडि में जाने का त्याग करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को सरस एवं स्वादिष्ट पदार्थ प्राप्त करने की अभिलाषा से संखडी-बडे जीमनवार या प्रीतिभोज में भिक्षा को नहीं जाना चाहिए। उस स्थान में ही नहीं अपितु जहां पर प्रीतिभोज आदि हो रहा हो उस दिशा में भी आहार को नहीं जाना चाहिए। इससे साधु की आहार वृत्ति की कठोरता एवं स्वाद पर विजय की बात सहज ही समझ में आ जाती है। ऐसे आहार को भगवान ने आधाकर्म आदि दोषों से युक्त बताया है। इससे स्पष्ट है कि- साधु यदि ऐसे प्रसंग पर वहां आहार के लिए जाएं तो अप्रासुक एवं अनेषणीय आहार लेना होगा। क्योंकि- अत्यधिक आरम्भ-समारम्भ होने से वह सचित आदि पदार्थों के स्पर्श का ध्यान नहीं रख सकता, देने में भी अविधि हो सकती है और साधु को उस दिशा में आता हुआ देखकर कुछ विशिष्ट पदार्थ भी तैयार किए जा सकते हैं या उन्हें साधु के लिए इधर-उधर रखा जा सकता है। अतः साधु को ऐसे प्रसंग पर आहार को नहीं जाना चाहिए।

'संखडि' शब्द का अर्थ होता है- 'संखण्डयन्ते-विराध्यन्ते प्राणिनो यत्र सा संखडिः' अर्थात् जहां पर अनेक जीवों के प्राणों का नाश करके भोजन तैयार किया जाता है, उसे 'संखडि' कहते हैं। वर्तमान में इसे भोजनशाला कहते हैं। इसका गूढ अर्थ महोत्सव एवं विवाह आदि के समय किया जानेवाला सामूहिक जिमनवार से लिया जाता है। ऐसे स्थानों पर शुद्ध, निर्दोष, एषणीय एवं सात्त्विक आहार उपलब्ध होना कठिन है, इसलिए साधु के लिए वहां आहार को जाने का निषेध किया गया है।

उस समय गांव एवं नगरों में तो संखडी होती ही थी। इसके अतिरिक्त खेट-धूल के कोटवाले स्थान, फुत्सित नगर, मडंब-जिस गांव के बाद ५ मील पर गांव बसे हुए हों, पतन-जहां पर सब दिशाओं से आकर माल बेचा जाता हो (व्यापारिक मण्डी) आकर-जहां ताम्बे, लोहे आदि की खान हों, द्रोणमुख-जहां जल और स्थल प्रदेश का मेल होता हो, नैगम-व्यापारिक बस्ती, आश्रम, सन्निवेश-सराय (धर्मशाला) छावनी आदि। ये स्थान ऐतिहासिक गवेषण की दृष्टि से बड़ा महत्त्व रखते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'आयाणमेयं' का अर्थ है-कर्म बन्ध का हेतु। कुछ प्रतियों में 'आयाणमेयं' के स्थान पर 'आययणमेयं' ऐसा पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ है-यह कार्य दोषों का स्थान है, जहां इतना स्मरण रखना चाहिए कि- यह वर्णन उत्कृष्ट उत्सर्ग पक्ष को लेकर किया गया है, जघन्य-सामान्य अपवाद पक्ष को लेकर नहीं।

संखडी में जाने से कौन से दोष लग सकते हैं, इसका उल्लेख सूत्रकार महर्षि तृतीय उद्देशक में कहेंगे...

॥ प्रथम चूलिकायां प्रथमे पिण्डैषणाध्ययने द्वितीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

ॐ ॐ ॐ

: प्रथमः :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिन्धुचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरीजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरीजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के

शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपद की पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५५ राजेन्द्र सं. १६. ५५ विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - १ उद्देशक - ३

卐 पिण्डैषणा 卐

द्वितीय उद्देशक कहा, अब तृतीय उद्देशक का प्रारंभ करते हैं, यहां परस्पर यह संबंध है कि- दुसरे उद्देशक में दोष के कारण से संखडि में जाने का निषेध किया... अब यहां अन्य प्रकार से संखडि के दोष कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३४८ ॥

से एगइओ अण्णयरं संखडिं आसित्ता पिबित्ता छडिज्ज वा वमिज्ज वा भुत्ते वा से नो सम्मं परिणमिज्जा, अण्णयरे वा से दुयस्से रोगायंके समुप्पज्जिज्जा, केवली ब्रूया आयाणमेयं ॥ ३४८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः एकदा अन्यतरां सङ्खडिं आस्वाद्य पीत्वा छर्दि विदध्यात् वा, वमेत् वा, भुक्ते सति वा तस्य न सम्यक् परिणमेत्, अन्यतरः वा तस्य दुःखः, रोगातङ्कः समुत्पद्येत, केवली ब्रूयात्- आदानं एतत् ॥ ३४८ ॥

III सूत्रार्थ :

संखडी में गए हुए साधु को वहां अधिक सरस आहार करने एवं अधिक दूधादि पीने के कारण उसे वमन हो सकता है या उस आहार का सम्यक्तया पाचन नहीं होने से विसूचि का, ज्वर या शूलादि रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिए भगवान ने संखडी में जाने के कार्य को कर्म आने का कारण कहा है।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु कभी कोई समय एकाकी हो, और कोई भी पुरःसंखडि या पश्चात् संखडि (संखडि याने संखडि में बनाये गये आहारादि) का अतिशय लोलुपता एवं रसगृन्धि के कारण से भोजन, पान करके छर्दि याने वमन करें, अथवा पाचन ठीक न होने से पेट में चूक आवे, विशूचिका हो अथवा अन्य कुष्ठादि रोग हो, अथवा तत्काल जीवित विनाशक आतंक-पीडा शूल आदि उत्पन्न हो, अतः सर्वज्ञ केवलज्ञानी महाराज कहते हैं कि- यह संखडि का भोजन आदान याने कर्मबंध का कारण है...

अब यह संखडि का भोजन जिस प्रकार आदान होता है वह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

यह हम देख चुके हैं कि- साधु को संखडी में आहार के लिए जाने का निषेध किया गया है। पूर्व उद्देशक में बताया गया है कि- वहां जाने से साधु को अनेक दोष लगने की सम्भावना है। प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- संखडि में आहार के लिये जाने से साधु को शारीरिक एवं मानसिक दोष होता है क्योंकि- संखडि में सरस एवं प्रकाम भोजन बनता है और दूध आदि पेय पदार्थ भी होते हैं अतः सरस एवं स्वादिष्ट पदार्थों के कारण वे अधिक खाए जा सकते हैं। इससे साधु को वमन हो सकती है, या पाचन क्रिया ठीक न होने से विसूचिका, शूल आदि भयंकर रोग हो सकते हैं और उसके कारण उसकी तुरन्त मृत्यु भी हो सकती है। इस तरह आर्त एवं रौद्र ध्यान में प्राण त्याग करके वह दुर्गति में जा सकता है। इसलिए साधु को ऐसे स्थानों में आहार आदि को नहीं जाना चाहिए।

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ३४९ ॥

इह खलु भिक्खू गाहावईहिं वा गाहावईणीहिं वा, परिवायएहिं वा परिवाईयाहिं वा एगज्जं सद्धिं सुंडं पाउं जो वइमिस्सं हरत्था वा उवस्सयं पडिलेहेमाणो नो लभिज्जा तमेव उवस्सयं संमिस्सीभावमावज्जिज्जा, अण्णमणे वा से मत्ते विप्परियासियभूए इत्थिविग्गहे वा किलिबे वा तं भियखुं उवसंकमित्तु ब्रूया-आउसंतो समणा ! अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा राओ वा वियाले वा ग्रामधम्मनियंतियं कट्टु रहस्सियं मेहुणधम्मपरियारणाए आउद्दामो, तं चेवेगइओ सातिज्जिज्जा अकरणिज्जं चेयं संखाए एए आयाणा आयातणाणि संति संविज्जमाणा पच्चवाया भवंति, तमहां से संजए नियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ ३४९ ॥

II संस्कृत-छाया :

इह खलु भिक्षुः गृहपतिभिः वा गृहपतिभार्याभिः वा, परिव्राजकैः वा परिव्राजिकाभिः वा, एकद्यं सार्द्धं सीधुं पातुं यः व्यतिमिश्रं बहिः वा उपाश्रयं प्रत्युपेक्षमाणः न लभेत, तमेवोपाश्रयं संमिश्रीभावमापद्येत, अव्यमनाः वा सः मत्तः विपर्यासीभूतः स्त्रीविग्रहः वा विलसः वा तं भिक्षुं उपसङ्क्रम्य ब्रूयात् हे आयुष्यमन्तः श्रमणाः ! .

आरामे वा उपाश्रये वा रात्रौ वा विकाले वा ग्रामधर्मनियन्त्रितं कृत्वा रहसि मैथुनधर्मासेवनया प्रवर्तमहे, तां वैव एकाकी अभ्युपगच्छेत्, अकरणीयं वैतत् सङ्ख्याय

एते आदानाः, (आयतनानि) सन्ति, सञ्चिद्यमानानि प्रत्यपायाः भवन्ति, तस्मात् सः संयतः निर्बन्धः तथाप्रकारां पुरःसङ्खडिं वा पश्चात्सङ्खडिं वा सङ्खडिं सङ्खडिप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय ॥ ३४९ ॥

III सूत्रार्थ :

इसके अतिरिक्त संखडि में गया हुआ साधु गृहपति एवं उस की पत्नी, परिव्राजक-परिव्राजिकाओं के सहवास से मदिरा पान करके निश्चय ही अपनी आत्मा का भान भूल जाएगा, और उस स्थान से बाहर आकर उपाश्रय की याचना करेगा, परन्तु अनुकूल स्थान नहीं मिलने पर वह गृहस्थ या परिव्राजकों के साथ ही ठहर जाएगा, और मदिरा के प्रभाव से वह अपने स्वरूप को भूल कर अपने आप को गृहस्थी समझने लगेगा। उस समय स्त्री या नपुंसक पर आसक्त होने लगेगा उसे मदोन्मत्त देखकर रात्री में या विकाल में स्त्री या नपुंसक उसके पास आकर कहेंगे कि- हे आयुष्मान् ! श्रमण ! बगीचे या उपाश्रय के एकान्त स्थान में चलकर ग्रामधर्म-मैथुन का आसेवन करें। इस प्रार्थना को सुनकर कोई अनभिज्ञ साधु उसे स्वीकार भी कर सकता है। अतः इस तरह आत्म पतन होने की सम्भावना होने के कारण भगवान् ने संखडि में जाने का निषेध किया है और इसे कर्मबन्ध का स्थान कहा है। इसमें प्रति क्षण कर्म आते रहते हैं। इसलिए साधु को पूर्व संखडि या पश्चात् संखडि में जाने का मन में भी संकल्प नहीं करना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

संखडि में जाने से इस जन्म में अपाय (उपद्रव) होते हैं और जन्मांतर में दुर्गति होती है... जैसे कि- भिक्षा के द्वारा देह का निर्वाह करनेवाला भिक्षु याने साधु गृहस्थों के साथ या गृहस्थों की भार्या के साथ, परिव्राजिकाओं के साथ वचनबद्ध होकर सौंड याने सीधु या अन्य प्रसन्नादि (मदिरा) का पान करके बाहर जाकर उपाश्रय की याचना करे, किंतु जब देखने पर भी मन चाहा उपाश्रय न मिले तब जहां संखडि है वहां या अन्य जगह गृहस्थ एवं परिव्राजिकाओं के साथ मिश्र भाव को प्राप्त करता है, वहां पर वह साधु अन्यमनवाला उन्मत्त गृहस्थादि के साथ विपर्यास को पाया हुआ अपने आपके साधु जीवन को भूल-चूक जाता है तथा वे गृहस्थादि भी अपने आपको भूल जाते हैं... इस भांति स्थिति में वह ऐसा चिंतन करे कि- मैं गृहस्थ हि हूं, अथवा स्त्री के शरीर में विपर्यासभाव को पाया हुआ अथवा नपुंसक के उपर, और वह स्त्री या नपुंसक भी उस भिक्षु याने साधु को पास में आकर कहे कि- हे आयुष्मान् श्रमण ! मैं आपके साथ एकान्त की प्रार्थना करता हूं... जैसे कि- बगीचे में या कोई मकान (उपाश्रय) में रात्री में या विकालवेला में... इस प्रकार उस साधु को इंद्रियो के विषयोपभोग के कार्य में बांधकर कहे कि- आप मेरा विप्रिय न करें... मैं प्रतिदिन आपके

पास आउंगी इत्यादि बातों से उस साधु को बांधकर कहे कि- गांव के पास कोई एकांत (गुप्त) जगह पर मैथुन-क्रीडा करेंगे... यहां सारांश यह है कि- कोई स्त्री एकांत में साधु के पास मैथुनक्रीडा की प्रार्थना करे तब वह एकाकी (अकेला) साधु उस स्त्री को अनुसरे... किंतु यह अकरणीय है ऐसा जानकर साधु संखडि में न जाए, क्योंकि- यह कर्मबंध के स्थान हैं प्रतिक्षण कर्मों का अधिक-अधिक संचय होता है... अतः इस प्रकार के होनेवाले प्रत्यपाय याने उपद्रवों को देखकर के श्रमण निर्ग्रन्थ साधु तथाप्रकार के पुरःसंखडि या पश्चात् संखडि स्वरूप संखडि में, संखडि में जाने के विचार भी न करें, और गमन भी न करें...

V सूत्रसार :

दूसरा दोष यह है कि संखडि में जाने पर वहां आए हुए अन्य मत के भिक्षुओं से उसका घनिष्ठ परिचय होगा और उससे उसकी श्रद्धा में विपरीतता आ सकती है, और उनके संसर्ग से वह मद्य आदि पदार्थों का सेवन कर सकता है और उनके कारण अपने आत्म भान को भूलकर संयम के विपरीत आचरण का सेवन भी कर सकता है। शराब के नशे में उन्मत्त होकर वह नृत्य भी कर सकता है और किसी उन्मत्त स्त्री के द्वारा भोग का निमन्त्रण पाकर उस में फिसल भी सकता है। इस तरह संखडि में जाकर वह अपने संयम का सर्वथा नाश करके जन्म-मरण के अनन्त प्रवाह में प्रवहमान हो सकता है।

इस तरह संखडि शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक चिन्तन एवं आध्यात्मिक साधना आदि सबका नाश करने वाली है। इस लिए साधु को संखडि के स्थान की ओर कभी भी नहीं जाना चाहिए। इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं।

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ३५० ॥

से भिक्खू वा, अण्णयरिं संखडिं सुत्था निसम्म संपहावडि उस्सुयभूएण अप्पाणेण धुवा संखडी नो संचाएडि, तत्थ इयरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिग्गाहिता आहारं आहारित्ते, माइड्डाणं संपासे, नो एवं करिज्जा । से तत्थ कालेण अणुपविसित्ता तत्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिग्गाहिता आहारं आहारिज्जा ॥ ३५० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, अन्यतरां सङ्खडिं श्रुत्वा निशम्य सम्प्रधावति उत्सुकभूतेन आत्मना धुवा सङ्खडिः न शयनोति, तत्र इतरेतरैः कुलैः सामुदानिकं एषणीयं वैषिकं पिण्डपातं परिगृह्य आहारं आहारयेत्, मातृस्थानं संस्पृशेत्, न एवं कुर्यात् । सः- तत्र कालेन अनुप्रविश्य तत्र इतरेतरैः कुलैः सामुदानिकं एषणीयं वैषिकं पिण्डपातं प्रतिगृह्य आहारं

आहारयेत् ॥ ३५० ॥

III सूत्रार्थ :

जो साधु व साध्वी किसी अन्य स्थान पर संखडि को सुन कर तथा मन में निश्चय कर उत्सुक आत्मा से वहां जाता है, तब संखडि का निश्चय कर संखडि वाले ग्राम में या संखडि से भिन्न, जिन घरों में संखडि नहीं है वहाँ आधाकर्मादि दोषों से रहित भिक्षा प्राप्त होती है। किंतु वहां भी इस भावना से आहार को जाता है कि- मुझे वहां भिक्षा करते देख कर संखडि वाला व्यक्ति मुझे आहार की विनती करेगा ऐसा करने से मातृस्थान-कपट का स्पर्श होता है। अतः साधु इस प्रकार का कार्य न करे। वह भिक्षु संखडियुक्त ग्राम में प्रवेश करके भी संखडि वाले घर में आहार को न जाए, परन्तु अन्य घरों में साधुदानिक भिक्षा जो कि- आधाकर्मादि दोषों से रहित हो, उसे ग्रहण करके अपने संयम का परिपालन करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. पुरःसंखडी या पश्चात्संखडी कोई भी संखडी की बात अन्य से सुनकर या स्वयं हि निश्चय करके कोई भी कारण से उत्सुक होकर वहां जाते हैं जैसे कि- यहां मुझे अतिशय अद्भुत भोजन प्राप्त होगा, क्योंकि- वहां निश्चित हि संखडी है ऐसा देखकर वह साधु उस संखडिवाले गांव में संखडि रहित अन्य अन्य घरों में आधाकर्मादि रहित एषणीय आहारादि की भिक्षा तथा रजोहरणादि वेषमात्र से प्राप्य उत्पादनादि दोष रहित आहारादि ग्रहण करके भोजन कर (वापर) नहि सकर्ते... क्योंकि- उस साधु को संखडी के आहार की चाहना होने से माया-कपट का दोष लगता है... तथा जो कि- अन्य अन्य घरों में से आहारादि के लिये जावे, किंतु वह उन आहारादि को माया-कपट से ग्रहण नहि करता और बाद में वह संखडि में हि जावे... इस प्रकार माया का आसेवन होता है... अतः ऐसा न करें क्योंकि- ऐसा करने से तो इस भव में और भवांतर में अपाय (दुःखों) का भय रहा हुआ है, इसलिये संखडिवाले गांव में साधु न जावे... किंतु ऐसी परिस्थिति प्राप्त हो तो वह साधु संखडिवाले गांव में भिक्षा के समय प्रवेश करके वहां अन्य अन्य उग्रकुलादि के घरों में से प्रासुक एवं एषणीय तथा वेषमात्र से प्राप्त होनेवाले धात्रीपिंडादि दोष रहित आहारादि ग्रहण करके आहार वापरे...

और भी संखडि विषयक विशेष बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि- साधु को संखडि में जाने के लिए छल-कपट का सहारा भी नहीं लेना चाहिए। जैसे-किसी मुनि को यह मालूम हुआ कि- अमुक स्थान पर

संखडि है, उस समय वह भिक्षु संखडि में जाने की अभिलाषा से उस ओर आहार लेने जाता है। वह अपने मन में सोचता है कि- जब मैं उस ओर के घरों में गोचरी करूंगा तो संखडि वाले मुझे देखकर आहार की विनती करेंगे और इस तरह मुझे सरस आहार प्राप्त होगा। इस भावना से भी साधु को संखडि में नहीं जाना चाहिए। इस तरह छल-कपट करने से उसका दूसरा एवं तीसरा महाव्रत भंग हो जाता है और मन में सरस आहार की अभिलाषा बनी रहने के कारण वह अन्य घरों से निर्दोष एवं एषणीय आहार भी ग्रहण नहीं कर सकेगा। अतः भिक्षु को आहार के बहाने संखडि की ओर नहीं जाना चाहिए। परन्तु, संखडि को छोड़कर अन्य घरों से निर्दोष एवं एषणीय आहार ग्रहण करते हुए संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में 'सामुदाणियं, एसियं, वेसियं' इन तीन पदों का प्रयोग किया है। सामुदानिक गोचरी का अर्थ है- छोटे-बड़े या गरीब-अमीर के भेद को छोड़कर अनिन्दनीय कुलों से निर्दोष आहार को ग्रहण करना। एषणीय का अर्थ है- आधाकर्म आदि १६ दोषों से रहित आहार ग्रहण करना और वैषक का अर्थ-धात्री आदि १६ दोषों से रहित स्वीकार करे। वैषिक शब्द 'वेसियं', ब्येषित और वेष का भी बोधक है।

संखडि के विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं।

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ३५१ ॥

से भिवखू वा से जं पुण जाणिज्जा ग्रामं वा जाव रायहाणि वा इमंसि खलु ग्रामंसि वा जाव रायहाणिसि वा संखडि सिया, तंपि य ग्रामं वा जाव रायहाणि वा संखडि संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए। केवली बूया आयाणमेयं आइण्णाऽवमा णं संखडिं अणुपविस्समाणस्स पाएण वा पाए अक्कंतपुत्वे भवइ, हत्थेण वा हत्थे संचालियपुत्वे भवेइ, पाएण वा पाए आवडियपुत्वे भवइ, सीसेण वा सीसे संघट्टिपुत्वे भवइ, काएण वा काए संखोभियपुत्वे भवइ।

दंडेण वा अट्टीण वा मुट्टीण वा लेलुणा वा कवालेण वा अभिहयपुत्वेण वा भवइ, सीओदएण वा उस्सित्तपुत्वे भवइ, रयसा वा परिघासियपुत्वे भवेइ, अणेसणिज्जे वा परिभुत्तपुत्वे भवइ, अणोसि वा दिज्जमाणे पडिग्गाहियपुत्वे भवइ, तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं आइण्णावमा णं संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ ३५१ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः जानीयात् ग्रामं वा यावत् राजधानीं वा, अस्मिन् खलु ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा सङ्खडिः स्यात् तमपि च ग्रामं वा यावत् राजधानीं वा सङ्खडिं सङ्खडिप्रतिज्ञया न अभिसन्धारये गमनाय। केवली बूयात् आदानमेतत्

आकीर्णाऽवमा सङ्खडिं अनुप्रविश्यमानस्य (अनुप्रविशतः) पादेन वा पाद, आक्रान्तपूर्वः भवेत्, हस्तेन वा हस्तः सञ्चालितपूर्व भवेत्, पात्रेण वा पात्रं आपतितपूर्व भवेत्, शिरसा वा शिरः सङ्घट्टितपूर्व भवेत्, कायेन वा कायं संक्षोभितपूर्व भवेत् । दण्डेन वा अस्थना वा मुष्टिना वा लोहेन वा कपालेन वा अभिहतपूर्वो वा भवेत् । तथा शीतोदकेन वा सिकतपूर्वो भवेत्, रजसा वा परिघर्षितपूर्वो भवेत्, अनेषणीयः वा परिभुयतपूर्वः भवेत्, अन्येभ्यः वा दीयमानं प्रतिग्राहितपूर्वः भवति, तरमात् सः संयतः निर्ग्रन्थः तथा प्रकारां "आकीर्णाऽवमा-" सङ्खडिं सङ्खडिप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय ॥ ३५१ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु और साध्वी ऐसा जाने कि- यह ग्राम यावत् राजधानी में जिमण (संखडी) होगा तो उस ग्राम यावत् नगर में जिमण के विचार से भी जाने की इच्छा न करे । केवली भगवान ने ऐसा फरमाया है कि- ऐसा करने से कर्मबंधन होता है । यदि उस जिमण में बहुत भीड़ होगी अथवा कम लोगों के लिये बनाये गए उस भोजन पर बहुत लोग जायेंगे तो साधु के पैर से दूसरोंका पैर या दूसरों के पैर से साधु का पैर कुचला जायेगा । अथवा हाथ से हाथ की ठोकर लगेगी, पात्रकी ठोकर से पात्र गीर जायेंगे । शिर से शिर टकरायेंगे, काया से काया को विक्षोभ उत्पन्न होगा । और दूसरें लोग कुपित होकर उस साधु को दंडसे, हड्डी से, मुट्टी से, देले से, ठीकरे से प्रहार भी करे अथवा सचित्त जल भी उसपर डाले, धूल से उनको भर दे और उनको अनेषणीय आहार लेना पड़े । अतः वह संयमी निर्गन्थ उस प्रकार के आकीर्ण और अवम ऐसे संखडी जिमण में जाने का विचार ही न करे । ॥ ३५१ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु जब गांव आदि को देखने पर जाने कि- गांव में नगर में या राजधानी में संखडि होगी... और वहां चरक आदि अन्य भिक्षाचर भी होंगे... अतः गांव आदि में संखडी की इच्छा से साधु वहां गमन करने का विचार भी न करें... क्योंकि- केवलज्ञानी भगवान् कहते हैं कि- यह संखडि कर्मबंध का कारण है, अब कहते हैं कि- वह संखडि-जिमण चरक आदि साधुओं से व्याप्त (आकीर्ण) है अथवा अवम याने हीन (अल्प) जैसे कि- एक सौ (१००) मनुष्यों के लिये भोजन बनाया हो और पांच सौ (५००) आदमी इकट्ठे हुए हो... उस आकीर्ण और अवम संखडि में प्रवेश करने पर यह दोष होतें हैं... जैसे कि- पांव से पांव आक्रान्त (दबाया गया) हो, हाथ से हाथ संचालित हुआ हो, पात्रसे पात्र आपतित हो, मस्तक से मस्तक संघट्टित हो, तथा शरीर से अन्य चरकादि के शरीर संक्षोभित हो, इस स्थिति में वे क्रोधित हुए चरकादि साधु कलह (झगडा) करे, और कोपायमान हुए वे दंडसे, हड्डी से, मुट्टी से, लोष्ठ से कपाल से साधु को मारे, तथा शीतजल से सिंचे, अथवा धूली में घसीटे... इत्यादि संकीर्णता से होनेवाले

दोष हैं... और अवम (अल्पताके कारण) से होने वाले दोष यह है कि- अनेषणीय का उपभोग हो, तथा रसोइ थोड़ी बनाई हो और भिक्षुक लोग बहुत हो तब यह भोजन समारोह करनेवाले गृहस्थ को यह विचार आवे कि- हमारे इस समारोह में यह साधु लोग आये हुए हैं अतः इन्हें भोजन देना चाहिये इत्यादि सोचकर आधाकमादि आहार बनावे... इस स्थिति में अनेषणीय का परिभोग हो... अथवा दाता अन्य को देना चाहता हो तब बीच में ही यदि साधु वह आहारादि ले तब भी कलह होने की संभावना है... अतः इन दोषों का विचार करके संयत निर्ग्रथ साधु तथाप्रकार की आकीर्ण या अवम संखडि को जानकर के संखडि की चाहना से यहां गमन (जाने) के लिये विचार भी न करें...

अब सामान्य से पिंड विषयक शंका आदि दोषों की बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

संखडि के प्रकरण को समाप्त करते हुए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- संखडि में जाने से पारस्परिक संघर्ष भी हो सकता है। क्योंकि- संखडि में विभिन्न मत एवं पन्थों के भिक्षु एकत्रित होते हैं। अतः अधिक भीड़ में जाने से परस्पर एक-दूसरे के पैर से पैर कुचला जाएगा इसी तरह परस्पर हाथों, शरीर एवं मस्तक का स्पर्श भी होगा और एक-दूसरे से पहले भिक्षा प्राप्त करने के लिए धक्का-मुक्की भी हो सकती है। और भिक्षु या मांगने वाले अधिक हो जाएं और आहार कम हो जाए तो उसे पाने के लिए परस्पर वाक् युद्ध एवं मुट्टि तथा ढण्ड आदि का प्रहार भी हो सकता है। इस तरह संखडि संयम सा घातक है। क्योंकि- वहां आहार शुद्ध नहीं मिलता, श्रद्धा में विपरीतता आने की संभावना है, सरस आहार अधिक खाने से संक्रामक रोग भी हो सकता है और संघर्ष एवं कलह उत्पन्न होने की संभावना है। इसलिए साधु को यह ज्ञात हो जाए कि अमुक गांव या नगर आदि में संखडि है तो उसे उस ओर आहार आदि के लिये नहीं जाना चाहिए।

संखडि दो तरह की होती है- १-आकीर्ण और २-अवम। परिव्राजक, चरक आदि भिक्षुओं से व्याप्त संखडि को आकीर्ण और जिसमें भोजन थोड़ा बना हो और भिक्षु अधिक आ गए हों तो अवम संखडि कहलाती है।

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ३५२ ॥

से भिक्खु वा, जाव समाणे से जं पुण जाणिजा असणं वा, एसणिजे सिया अणेसणिजे सिया, वितिगिंसमावण्णेण अप्पाणेण असमाहडाए लेसाए तहप्पगारं असणं वा, लाभे संते नो पडिगाहिजा ॥ ३५२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षु, वा, यावत् प्रविष्टः सन् सः यत् पुनः जानीयात् अशनं वा, एषणीयः स्यात् अनेषणीयः स्यात् विचिकित्सा-समापन्नेन आत्मना अशुद्धया लेश्यया तथाप्रकारं अशनं वा, लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात् ॥ ३५२ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रवेश करने के बाद साधु अथवा साध्वी को शंका होवे कि- यह अशनादिक निर्दोष है कि सदोष ? इस शंका से चित्त अस्थिर हो जाता है और समाधान न हो तो उस प्रकार के शंकित अशनादि मिलने पर भी ग्रहण नहीं करे ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु गृहस्थों के घर में प्रवेश करके चिंतन करे कि- एषणीय अहारादि में भी ऐसी शंका करे कि- यह आहारादि अनेषणीय तो नहीं है न ? इत्यादि शंकावाला साधु यह विचारे कि- यह आहारादि उद्गमादि दोषों से दूषित है इत्यादि चित्त की कलुषता से अशुद्ध लेश्यावाला मन होता है... इस स्थिति में तथा प्रकार के अनेषणीय दोष की शंकावाले आहारादि प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करें...

अब गच्छ से निकले हुए जिनकल्पी साधुओं की बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि- साधु गृहस्थ के घर में आहार आदि के लिए प्रवेश करते ही यह देखे कि- मुझे दिया जाने वाला आहार एषणीय है या नहीं ? यदि उसे उस आहार की निर्दोषता में सन्देह हो तो उसे वह आहार नहीं लेना चाहिए । क्योंकि- उस आहार के प्रति मन में सदोषता का संशय उत्पन्न होने पर उस संशय के दूर हुए बिना वह उस आहार को ग्रहण कर लेता है तो वह संकल्प-विकल्प में उलझ जाता है । और उसके उस मानसिक चिन्तन का प्रभाव संयम साधना पर पड़ता है । इस तरह उसकी आध्यात्मिक साधना का प्रवाह कुछ देर के लिए रुक जाता है या दूषित सा हो जाता है । अतः साधु को आहार के सदोष होने की शंका हो जाने पर उसे उस आहार को ग्रहण ही नहीं करना चाहिए ।

अब गच्छ से बाहर रहे हुए जिनकल्पी आदि मुनियों को आहार आदि के लिए कैसे जाना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं-

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ३५३ ॥

से भिक्खू गाहावडकुलं पविसिउकामे सव्वं भंडगमायाए गाहावडकुलं पिंडवायपडियाए पविसिज्जा वा निक्खमिज्जा वा । से भिक्खू वा, बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खम्ममाणे वा पविसमाणे वा सव्वं भंडगमायाए बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खमिज्जा वा पविसिज्जा वा । से भिक्खू वा, गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ ३५३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः सर्वं भण्डकं आदाय गृहपतिकुलं पिण्डपात प्रतिज्ञया प्रविशेत् वा निष्क्रामेत् वा । सः भिक्षुः वा, बहिः विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा निष्क्रामन् वा प्रविशन् वा सर्वं भण्डकं आदाय बहिः विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा निष्क्रामेत् वा प्रविशेत् वा । सः भिक्षु वा, ग्रामानुग्रामं गच्छन् सर्वं भण्डकं आदाय ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥ ३५३ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु और साध्वी जब गृहस्थ के घर में प्रवेश करने की इच्छा करे तो अपने समस्त धर्मोपकरणों को साथ में लेकर गृहस्थ के घर में आहार-पांती की अभिलाषा से प्रवेश करे और बाहर निकले । साधु या साध्वी जब बाहर स्वाध्याय भूमि या स्थंडिल-भूमि में गमनागमन करे तो उस समय अपने धर्मोपकरणों को साथ में लेकर स्थंडिल भूमि में, स्वाध्याय भूमि से निष्क्रमण और प्रवेश करे । साधु अथवा साध्वी एक गांव से दूसरे गांव जाय तो अपने सभी धर्मोपकरणों को साथ में लेकर एक गांव से दूसरे गांव जावे ! ॥ ३५३ ॥

IV टीका-अनुवाद :

कल्प के नियमानुसार गच्छ से निकले हुए वे जिनकल्पिकादि साधु गृहस्थों के घर में प्रवेश करने की इच्छावाले हो तब सभी धर्मोपकरण लेकर के हि गृहस्थोंके घरों में आहारादि पिंड की प्रतिज्ञा = चाहना से प्रवेश करे और वहां से निकले... जिनकल्पिकों के धर्मोपकरण का विधान अनेक प्रकार से हैं... जैसे कि- कम से कम दो उपकरण, और अधिक के अधिक तीन, चार, पांच नव, दश, ग्यारह, बारह, इत्यादि...

उन जिनकल्पिकों के दो विभाग हैं... १. छिद्रपाणि २. अच्छिद्रपाणि... उनमें अच्छिद्रपाणिवालों को शक्ति अनुसार अभिग्रह विशेष से दो प्रकार के उपकरण होते हैं... १. रजोहरण २. मुखवस्त्रिका... तथा किसी और को शरीर (त्वक्-चमडी) की रक्षा के लिये

क्षौमपट याने सूती वस्त्र का परिग्रहण करने से तीन उपकरण होते हैं तथा अन्य को जलबिंदु एवं परिताप आदि से रक्षण के लिये और्णिक याने ऊनी वस्त्र (कंबल) के परिग्रहण से चार उपकरण... तथा असहिष्णु जिनकल्पिक साधु को एक और दूसरा क्षौमपट सूती-वस्त्रका परिग्रहण करने से पांच उपकरण... तथा छिद्रपाणिवाले जिन-कल्पिकों को सात प्रकार के पात्र के उपकरणों के साथ रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका (मुहपती) का परिग्रहण करने से नव (९) उपकरण होते हैं... तथा १ + १ सूती कपडा = १०... तथा १० + १ ऊनी कपडा (कंबल) = ११ उपकरण तथा ११ + १ = १२ उपकरण एक और सूतीवस्त्र के परिग्रहण करने से बारह उपकरण होते हैं...

पात्र के सात उपकरण निम्न प्रकार से हैं... १. पात्र, २. पात्रबंधन, ३. पात्रस्थापन, ४. पायकेशरिया (चरवली), ५. पल्ला, ६. रजस्त्राण, ७. गुच्छक (गुच्छा)...

अन्य जगह भी जाते हुए जिनकल्पिक साधु सभी उपकरणों को साथ लेकर हि जाएं...

जैसे कि- वह भिक्षु (साधु) गांव आदि के बाहर विहारभूमि याने स्वाध्यायभूमि तथा विचारभूमि याने मल (विष्टा) विसर्जन भूमि में भी सभी उपकरणों को लेकर हि प्रवेश करे या बाहार निकले... यह दूसरा सूत्र है, इसी प्रकार ग्रामांतरे इत्यादि तीसरा सूत्र है...

अब गमन के अभाव के निमित्त सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- जिनकल्पी या प्रतिमाधारी साधु को आहार के लिए या शौच एवं स्वाध्याय आदि के लिए अपने ठहरे हुए स्थान से बाहर जाते समय अपने सभी उपकरण साथ ले जाने चाहिए। जब कि- सूत्र में जिनकल्पी या स्थविरकल्पी का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु, उपकरण ले जाने के कारणों से यह ज्ञात होता है कि- यह प्रसंग जिनकल्पी आदि के लिए ही हो सकता है। जिनकल्पी एवं विशिष्ट प्रतिमाधारी मुनि गच्छ से अलग अकेला रहता है। अतः उसके बाहर जाने के बाद यदि वर्षा हो जाए तो उसके उपकरण भीग सकते हैं या कभी कोई चोर उन्हें उठाकर ले जा सकता है। स्थविरकल्पी साधु कम से कम दो साधु रहते हैं, अतः एक-दूसरे को सावधान करके अपने स्थान से बाहर जा सकता है, अतः उसके लिए ऐसा प्रसंग आ नहीं सकता।

दूसरे में जिनकल्पी मुनि के पास अधिक उपकरण नहीं होते। सामान्य रूप से रजोहरण और मुखवस्त्रिका ही होती है और यदि वह लज्जा पर विजय पाने में समर्थ नहीं है तो एक छोटा-सा चोलपट्टक (धोती के स्थान में लपेटने का वस्त्र) रख सकता है, जिसका उपयोग गांव या शहर में आहार आदि को जाते समय करता है और ये उपकरण तो सदा

साथ रहते ही हैं। परन्तु, इसके अतिरिक्त कुछ जिनकल्पी मुनि शीत सहन करने में असमर्थ हैं तो वे एक ऊन का और अधिक आवश्यकता पड़ने पर एक सूत का वस्त्र भी रख सकते हैं। इस तरह ५ उपकरण हो गए और यदि किसी जिनकल्पी मुनि के हाथों की अंजली (जिन कल्पी मुनि हाथ की अंजली बनाकर उसी में आहार करते हैं) में छिद्र पड़ते हैं तो वे छिद्रपाणी, जिन कल्पिक साधु पात्र के सात उपकरण भी रखते हैं...

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि- जिनकल्पी मुनि होते हैं, पर उन में साध्वी नहीं होती और प्रस्तुत सूत्र में साधु-साध्वी दोनों शब्दों का उल्लेख है। इसका समाधान यह है कि- यह उल्लेख समुच्चय रूप से हुआ है। पिछले सूत्रों में साधु-साध्वी का उल्लेख होने के कारण इस सूत्र में भी उसे दोहरा दिया गया है। परन्तु, यहां प्रसंगानुसार साधु का ही ग्रहण करना चाहिए। वृत्तिकार ने भी इस पाठ को जिनकल्पी मुनि से संबन्धित बताया है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि- प्रस्तुत सूत्र में जिनकल्पी साधु का प्रसंग ही युक्ति संगत प्रतीत होता है।

कुछ कारणों से साधु को अपने भंडोपकरण लेकर आहार आदि को नहीं जाना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं-

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ३५४ ॥

से भियखू वा अह पुण एवं जाणिज्जा तिव्वदेसियं वासं वासेमाणं पेहाए तिव्वदेसियं महियं संनिचयमाणं पेहाए, महावाएण वा रयं समुद्धयं पेहाए तिरिच्छसंपाइमा वा तसा पाणा संधडा संनिचयमाणा पेहाए से एवं नच्चा नो सत्वं भंऽगमायाए गाहावड्कुलं पिंडयायपडियाए पविसिज्ज वा नियखमिज्जा वा बहिया विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा नियखमिज्ज वा पविसिज्ज वा गामाणुगामं दुइज्जिज्जा ॥ ३५४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा अथ पुनः एवं जानीयात्-तीव्रदेशिकं क्षेत्रं वर्षन्तं प्रदेश्य, तीव्रदेशिकां महिकां संनिचयमानां प्रदेश्य महावातेन वा रजः समुद्धृतं प्रदेश्य तिर्यक्सम्पातिनो वा त्रसाः प्राणिनः संस्तृतान् संनिचयमानान् प्रदेश्य, सः एवं ज्ञात्वा न सर्वं भाण्डं (भण्डक) आदाय गृहपतिकूलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविशेत् वा निष्क्रामेत् वा बहिः विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा निष्क्रामेत् वा प्रविशेत् वा ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥ ३५४ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु और साध्वी को ऐसा जानने में आवे कि- बहुत भारी और बहुत दूर तक बारिश हो रही है। बहुत दूर तक धिर रहा है। अथवा बड़े तुफान से रज-धूली चारों ओर छा रही

है अथवा त्रस जीव उडते हैं और गिरते हैं। ऐसा देखकर या ऐसा जानकर अपने सभी पात्रादि उपकरणों को ग्रहण करके माधुकरी के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे और न निकले, इसी तरह न स्वाध्याय भूमि या शौच भूमि में जाय ! एक गांव से दूसरे गांव भी न जावे ।

॥ ३५४ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु ऐसा देखे कि- मोटी धार से एवं बहुत क्षेत्र में बरसात बरसता हो, तथा अंधकार वाली महिका याने धूमस गिर रही हो, तथा महावायु के साथ धूली उड रही हो, तथा तिर्यक् संपातिम त्रस प्राणी-जंतु बहुत सारे चारों ओर उड रहे हो, इस स्थिति में सर्व पात्र आदि उपकरणों को लेकर गृहस्थों के घरों में आहारादि पिंड की इच्छा से न प्रवेश करे या न निकले... तथा बाहर स्वाध्याय भूमि या स्थंडिलभूमि में भी न जायें या न निकले... यावत् ग्रामानुग्राम गमन भी न करें... यहां सारांश यह है कि- साधुओं की सामाचारी हि ऐसी है कि- गच्छ-निर्गत जिनकल्पिकादि तथा गच्छ में रहे हुए स्थविर कल्पिक साधु उपाश्रय से बाहर निकलते वरुत्त उपयोग देकर देखते हैं, और यदि बरसात या धूमस हो तो जिनकल्पिक साधु उपाश्रय से बाहर न निकले... क्योंकि- उनके शरीर का सामर्थ्य हि ऐसा है कि- वे छह माह तक मल त्याग को रोक सकते हैं... तथा स्थविर कल्पवाले साधु कारण प्राप्त होने पर बाहर जायें किंतु सभी उपकरण लेकर न जायें...

यहां तक जुगुप्सित (निन्दनीय) कुलों में संभवित दोषके दर्शन होने से प्रवेश का निषेध कहा है...

अब अनिन्दनीय कुलों में भी कहीं कहीं दोष दिखने से सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से प्रवेश का निषेध करेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि देश व्यापी वर्षा बरस रही हो, धुंध पड़ रही हो, आंधी के कारण धूल उड़ रही हो, पतंगे आदि त्रस जीव पर्याप्त संख्या में उड़ एवं गिर रहे हों, ऐसी अवस्था में सभी भण्डोपकरण लेकर साधु को आहार के लिए या शौच एवं स्वाध्याय के लिए अपने स्थान से बाहर नहीं जाना चाहिए। और ऐसे प्रसंग पर एक गांव से दूसरे गांव को विहार भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि- ऐसे प्रसंग पर यदि साधु गमनागमन करेगा तो अप्कायिक जीवों की एवं अन्य प्राणियों की हिंसा होगी। अतः उनकी रक्षा के लिए साधु को वर्षा आदि के समय पर अपने स्थान पर ही अवस्थित रहना चाहिए।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि- यदि सूत्रकार को मल-मूत्र के त्याग का निषेध करना इष्ट नहीं था, तो उसने आहार एवं स्वाध्याय भूमि के साथ उसे क्यों जोड़ा ? इसका समाधान यह है कि- यह संलग्न सूत्र है, जैसा विधि रूप में इसका उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार सामान्य रूप से निषेध के समय भी उल्लेख कर दिया गया है। ऐसा और भी कई स्थलों पर होता है। भगवती सूत्र में एक जगह जीव को गुरु-लघु कहा है और दूसरी जगह अगुरु लघु कहा है। फिर भी दोनों पाठों में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि- औदारिक आदि शरीर की अपेक्षा से जीव को गुरु-लघु कहा है, क्योंकि- जीव उन औदारिक आदि शारीरिक पर्यायों के साथ संलग्न है और अगुरूलघु आत्म स्वरूप की अपेक्षा से कहा गया है। अतः यहां पर भी मल-मूत्र का पाठ आहार एवं स्वाध्याय भूमि के साथ संलग्न होने के कारण उसके साथ उसका भी उल्लेख किया गया है। परन्तु इससे विभिन्न जिनकल्पी मुनि के लिए वर्षा आदि के समय मल-मूत्र त्याग का निषेध किया गया है।

कुछ ऐसे कुल भी हैं, जिनमें साधु को भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। उन कुलों का निर्देश करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं-

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ ३५५ ॥

से भियख् वा, से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा तं जहा- खत्तियाण वा राईण वा कुराईण वा रायपेसियाण वा रायवंसड्डियाण वा अंतो वा बाहिं गच्छताण वा संनिविट्ठाण वा निमंतेमाणाण वा अनिमंतेमाणाण वा असणं वा, लाभे संते नो पडिगगाहिज्जा ॥ ३५५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यानि पुनः कुलानि जानीयात् तद्यथा-क्षत्रियाणां वा राज्ञां वा कुराज्ञां वा राजप्रेक्ष्याणां वा राजवंशस्थितानां वा अन्तः वा बहिः वा गच्छतां वा संनिविष्टानां वा निमन्त्रयतां वा अनिमन्त्रयतां वा अशनं वा, लाभे सति न प्रतिगृहीयात् ॥ ३५५ ॥

III सूत्रार्थ :

चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि क्षत्रिय, सामान्य राजा ठाकोर, सामंत आदि, दंडपाशिक तथा राजवंशीय, उपाश्रय के अंदर या बाहर रहे हो और भिक्षा के लिए आमन्त्रित करे या न करे तो भी उनके घर से साधु अथवा साध्वी अशनादि मिलने पर भी न लेवे ऐसा मैं कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु यदि ऐसे प्रकार के कुल देखे कि- चक्रवर्ती वासुदेव, बलदेव आदि क्षत्रियों के कुल, तथा क्षत्रियों के अलावा अन्य राजाओं के कुल, तथा तुच्छ राजाओं के कुल, तथा दंडपाशिकादि राजप्रेष्यों के कुल, तथा राजा के मामा, जीजाजी आदि राजवंश में रहे हुए लोगों के कुल, इत्यादि ऐसे लोगों के कुल = घरों में पतन = उपद्रव के कारण से प्रवेश न करें... वे लोग घर में रहे हुए हो या बाह्य मार्ग में जाते हुए हो या कहीं आवास किये हुए हो तब निमंत्रण करे या निमंत्रण न करे तो भी उनके घरों में आहारादि प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- मुनि को चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि क्षत्रिय कुलों का तथा उनसे भिन्न राजाओं के कुल का, एक देश के राजाओं के कुल का, राजप्रेष्य-दण्ड-पाशिक आदि के कुल का और राजवंशस्थ कुलों का आहार नहीं लेना चाहिए। उक्त कुलों का आहार उनके द्वारा निमन्त्रण करने पर या बिना निमन्त्रण किये उनके घर से बाहर या घर में किसी भी तरह एवं कहीं भी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

यहां इस निषेध का कारण यह है कि- राजभवन एवं राजमहल आदि में लोगों का आवागमन अधिक होने से साधु भली-भांति ईर्यासमिति का पालन नहीं कर सकता। इस कारण से संयम की विराधना होती है। इसलिए साधु को उक्त कुलों में आहार आदि के लिए प्रवेश नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में जिन १२ कुलों का निर्देश किया है उनमें उग्र कुल, भोग कुल, राजन्य कुल, इक्ष्वाकु, हरिवंश आदि कुलों से आहार लेने का स्पष्ट वर्णन है। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम अतिमुक्त कुमार के अंगुली पकड़ने पर उसके साथ उसके घर पर भिक्षार्थ गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि- यदि इन कुलों में जाने पर संयम में किसी तरह का दोष न लगता हो तो इन घरों से निर्दोष आहार लेने में कोई दोष नहीं है। यहां पर निषेध केवल इसलिए किया गया है कि- यदि राजघरों में अधिक चहल-पहल आदि हो तब ऐसे समय ईर्यासमिति का भली-भांति पालन नहीं किया जा सकेगा, इस संबन्ध में वृत्तिकार का भी यही अभिमत है।

‘तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम चूलिकायां प्रथम पिण्डैषणाध्ययने तृतीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयायतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जितेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपावृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययन से विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपद की पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. १६.卐 विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - १ उद्देशक - ४

卐 पिण्डैषणा 卐

तीसरा उद्देशक कहा, अब चौथे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं, इसका यहां यह संबंध है कि- तीसरे उद्देशक में संखडि का विधि कहा है, और यहां भी संखडि का शेष विधि कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३५६ ॥

से भिक्खु वा, जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पहेणं वा हिंगोलं वा संमेलं वा हिरमाणं पेहाए अंतरा से मग्गा बहुपाणा बहुबीया बहुहरिया बहुओसा बहुउदया बहुउत्तिगपणगदगमडीय मकडासंताणया बहवे तत्थ समणमाहणअतिहिकिदिणवणीमगा उवागया उवागमिस्संति तत्थाइण्णा वित्ती नो पण्णस्स निक्खमण-पवेसाए णो पण्णस्स वायणपुच्छणपरियट्ठणाणुप्पेहधम्माणुओगचिंताए, से एवं नच्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए । से भिक्खु वार से जं पुण जाणेज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा जाव हीरमाणं वा पेहाए अंतरा से मग्गा अप्पा पाणा जाव संताणगा, नो जत्थ बहवे समण जाव उवागमिस्संति, अप्पाइण्णा वित्ती पण्णस्स निक्खमणपवेसाए, पण्णस्स वायणपुच्छणपरियट्ठणाणुप्पेहधम्मा णुओगचिंताए, सेवं नच्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ ३५६ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, यावत् प्रविष्टः सन् सः यत् पुनः जानीयात् - मांसादिकां वा मत्स्यादिकां वा मांसखलं वा मत्स्यखलं वा आहेण वा प्रहेण वा हिंगोलं वा संमेलं वा हिरमाणं प्रेक्ष्य अन्तरा तस्य मार्गाः बहुपाणिनः बहुबीजाः बहुहरिताः बहुश्यायाः बहुदकाः बहु-उत्तिङ्ग-पनकदक-मृत्तिका-मर्कटसन्तानकाः बहवे तत्र श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण-वनीपकाः उपागताः उपागमिष्यन्ति, तत्र आकीर्णा वृत्तिः न प्राज्ञस्य निष्कमणप्रवेशाय न प्राज्ञस्य वाचनाप्रच्छना-परिवर्तनाऽनुप्रेक्षा-धर्मानुयोगचिन्तायै, सः एवं ज्ञात्वा तथाप्रकारां पुरः सङ्खडिं वा पश्चात्सङ्खडिं वा सङ्खडिं सङ्खडिप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय ।

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः जानीयात् - मांसादिकां वा मत्स्यादिकां वा यावत् हियमाणं वा प्रेक्ष्य अन्तरा तस्य मार्गः अल्पप्राणिनः यावत् सन्तानकाः, न यत्र बहवः श्रमण यावत् उपागमिष्यन्ति, अल्पाकीर्णा वृत्तिः प्राज्ञस्य निष्कमणप्रवेशाय प्राज्ञस्य वाचना-पृच्छना-परिवर्तनाऽनुप्रेक्षा-धर्मानुयोगचिन्तायै, सः एवं ज्ञात्वा तथाप्रकारां पुरःसंखडिं वा अभिसन्धारयेत् गमनाय ॥ ३५६ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु अथवा साध्वी गोचरी के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करके ऐसा जाने कि-यहां मांसप्रधान, मत्स्यप्रधान भोजन है, मांस अथवा मत्स्य के ढग रखे हुए हैं, विवाह संबंधी भोजन, कन्या के बिदाय के समय का भोजन, मृतभोज या यक्ष आदि की यात्रा का भोजन या स्वजन संबंधी भोजन (प्रतिभोज) है और उनके निमित्त से कोई पदार्थ ले जा रहे हैं, और मार्ग में बहुत से बीज, हरी वनस्पति, ओस, बहुत जल, चींटियों के दर, कीचड़, मकड़ी के जाले इत्यादि हैं और वहां बहुत से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, दीन और भिक्षुक आदि आए हुए हैं, आनेवाले हैं, आ रहे हैं और भीड़ इतनी जमा हो गई है कि- आने-जाने का मार्ग कठिनता से मिले ऐसा है। वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मानुयोग विचारने का अवकाश न हो तो ऐसी पूर्व जिमणवारी या पश्चात् जिमणवारी में जाने का साधुओं को विचार भी नहीं करना चाहिये। साधु अथवा साध्वी जो जाने कि- यहां मांसप्रधान अथवा मत्स्यप्रधान भोजन है यावत् उसके लिए कोई पदार्थ ले जा रहे हैं किंतु मार्ग में प्राणी, बीज, हरीतकाय आदि नहीं है तथा वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मानुयोग की चिन्ता के लिए अवकाश भी है। ऐसा जानकर अपवाद रूप में पूर्व संखडि (जिमणवार) अथवा पश्चात्संखडि में जाने का सोचें । ॥ ३५६ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. कहीं गांव आदि में भिक्षा के लिये प्रवेश करे तब यदि निम्नोक्त प्रकार की संखडि देखे तब उस संखडि में जाने का विचार भी न करे अर्थात् वहां संखडि में न जायें... क्योंकि- उस संखडि में मांस की मुख्यतावाली रसोई बनाते हो या रसोई बन चुकी हो... अर्थात् मांस की बहुलतावाली संखडी की गई हो... वहां कोई स्वजनादि ऐसी वस्तु ले जाय... अतः ऐसे ले जाते हुए उन्हें देखकर साधु वहां न जाय... तथा इसी प्रकार मत्स्य की मुख्यतावाली रसोई... तथा मांस का खल याने जहां संखडि के लिये मांस के टुकड़े टुकड़े करके सुखाते हो या सुखे हुए मांस के टुकड़े का पुंज याने ढेर किया हो... इसी प्रकार मत्स्य के खल के भी सुखकर ढेर किये हो... तथा आहेण याने विवाह के बाद वधु के प्रवेश वर के घर में भोजन किया गया हो... तथा प्रहेण याने ली जा रही वधु के पिता के

घर में भोजन बनाया गया हो... तथा हिंगोल याने मृतकभोजन या यक्ष आदि की यात्रा का भोजन... संमेल याने परिजन (ज्ञाति) के सम्मान का भोजन समारोह... अथवा गोष्ठी भोजन समारोह... इस प्रकार की संखडि को देखकर वहां साधु भिक्षा के लिये न जायें... क्योंकि- वहां जाते हुए साधु को जो दोष लगते हैं वह अब कहते हैं... संखडि में जाते हुए उस साधु के मार्ग में बहुत त्रस (कीडी-मंकोडे-पतंगीया आदि) जीव, बहुत गेहूँ आदि बीज, बहुत दुर्वा आदि वनस्पति, बहुत (अवश्याय) झांकल-हिम, बहुत जल, चींटियों के दर, पनक (निगोद) जल-मिट्टी-एवं करोडीये (मक्कडी) के जाले हो... तथा वहां संखडि में पहुंचने पर वहां बहुत सारे श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण, एवं वनीपक आये हुए हो या आतें हो या अनेवाले हो, वहां चरक आदि भिक्षुकों से व्याप्त उस संखडि में प्राज्ञ साधु को निकलना या प्रवेश करना उचित नहीं है... तथा प्राज्ञ साधु को वहां वाचना-पृच्छना-परावर्तना अनुप्रेक्षा एवं धर्मअनुयोगचिंता भी नहीं हो सकती... क्योंकि- अनेक लोगों के आवागमन से व्याप्त उस संखडि में साधु को स्वाध्यायादि क्रिया नहीं हो सकती... इस प्रकार गच्छवाले संविज्ञ साधुओं को बहुत दोषवाली एवं मांसादि मुख्यतावाली संखडि में जाना नहीं चाहिये...

अब यहां अपवाद कहते हैं कि- मार्ग में विहार के श्रम से थका हुआ, या रोगावस्था से उठा हुआ या तपश्चर्या से दुर्बल या पर्याप्त आहारादि के अभाव में दुर्लभ आहारादि की इच्छावाला साधु यदि ऐसा देखे कि- यहां पूर्वोक्त स्वरूपवाली संखडि है और मार्ग में त्रस जीव नहीं है, बीज, वनस्पति, आदि भी नहीं है या अल्प है तब ऐसी अल्प दोषवाली संखडि को जानकर मांसादि दोषों के त्याग में समर्थ होने के साथ-साथ कारण प्राप्त होने पर वहां संखडि में जाने का विचार करें...

अब पिंडाधिकार में भिक्षा विषयक विशेष अधिकार सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में संखडियों के अन्य भेदों का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि- सामिष एवं निरामिष दोनों तरह की संखडि होती थी, कोई व्यक्ति मांस प्रधान या मत्स्य प्रधान संखडि बनाता था, उसे मांस और मत्स्य संखडि कहते थे। कोई पुत्र वधु के घर आने पर संखडि बनाता था, कोई पुत्री के विवाह पर संखडि बनाता था और कोई किसी की मृत्यु के पश्चात् संखडि बनाता था। इस तरह उस युग में होने वाली विभिन्न संखडियों का प्रस्तुत सूत्र में वर्णन किया है और बताया गया है कि- उक्त संखडियों के विषय में ज्ञात होने पर मुनि को उसमें भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए।

इसका कारण पूर्व सूत्रों में स्पष्ट कर दिया गया है प्रथम तो आहार में दोष लगने की संभावना है, दूसरे में अन्य भिक्षुओं का अधिक आवागमन होने से उनके मन में द्वेष भाव उत्पन्न होने की तथा अन्य जीवों की विराधना होने की संभावना है और तीसरे में वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय के पांचों अङ्गों में अन्तराय पड़ने की संभावना है। क्योंकि- वहां गीत आदि होने से स्वाध्याय नहीं हो सकेगा। इस तरह संखडि में जाने के कारण अनेक दोषों का सेवन होता है, ऐसा जानकर उसका निषेध किया गया है।

इसके अतिरिक्त आग्रह सूत्रों में भी संखडि में जाने का निषेध किया है, प्रस्तुत अध्ययन के द्वितीय उद्देशक में भी संखडि में जाने का निषेध किया है। परन्तु, प्रस्तुत सूत्र में निषेध के साथ अपवाद मार्ग में विधान भी किया गया है जैसे कि- यदि संखडि में जाने का मार्ग जीव-जन्तुओं एवं हरितकाय या बीजों से व्याप्त नहीं है, अन्य मत के भिक्षु भी वहां नहीं है और आहार भी निर्दोष, भक्ष्य एवं एषणीय है तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। परन्तु, वृत्तिकार का कथन है कि- प्रस्तुत सूत्र अवस्था विशेष के लिए है। उसमें बताया गया है कि- यदि साधु थका हुआ है अर्थात् लम्बा विहार करके आया है, बीमारी से तुरन्त या तपश्चर्या से जिसका शरीर कृश हो गया है, वह भिक्षु इस बात को जान ले कि- संखडि में जाने से किसी दोष के लगने की संभावना नहीं है, तो वह वहां से भिक्षा ले सकता है।

इससे स्पष्ट होता है कि- उत्सर्ग मार्ग में सामिष एवं निरामिष किसी भी तरह की संखडि में जाने का विधान नहीं है। अपवाद मार्ग में भी उस संखडि में जाने एवं आहार ग्रहण करने का आदेश दिया गया है कि- जहां जाने का मार्ग निर्दोष हो और निर्दोष एवं एषणीय निरामिष भक्ष्य आहार मिल सकता हो, परन्तु अन्य संखडि में, जहां जाने का मार्ग जीवजन्तु से युक्त हो, जहां सामिष भोजन बना हो एवं निरामिष भोजन भी सद्दोष हो या अन्यमत के भिक्षु भिक्षार्थ आए हों तो वहां अपवाद मार्ग में भी जाने का आदेश नहीं है।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि- जब साधु अपवाद मार्ग में संखडि में जा सकता है, तो सामिष संखडि में बना हुआ क्यों नहीं ग्रहण कर सकता ?

इसका समाधान यह है कि- यहां अपवाद कारण विशेष से है अथवा साधु की शारीरिक स्थिति के कारण है, परन्तु वहां बने हुए सभी तरह के आहार को लेने के लिए नहीं है। यदि संखडि में जाने का मार्ग ठीक नहीं है और आहार भी सामिष है या निरामिष आहार भी सद्दोष है तो शारीरिक दुर्बलता के समय भी साधु को वहां जाने का आदेश नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में वह भी बताया है कि- संखडि में जाने से स्वाध्याय के पांचों अङ्गों में व्यवधान पड़ता है। स्वाध्याय चलते हुए करने का निषेध है, स्वाध्याय तो एक स्थान पर बैठकर ही किया जा सकता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि- संखडि में जाने पर कुछ देर के

लिए वहां बैठना भी पड़ता था। अतः अपवाद मार्ग में जाने वाला साधु वहां कुछ काल के लिए ठहर भी सकता है और यह अपवाद बीमार एवं तपस्वी आदि विशेष कारण होने पर ही रखा गया है।

साधु को घरों में किस तरह के आहार की गवेषणा करनी चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ३५७ ॥

से भिक्खु वा. जाव पविसिउकामे से जं पुण जाणिज्जा स्त्रीरिणियाओ गावीओ स्त्रीरिज्जमाणीओ पेहाए असणं वा, उवसंखडिज्जमाणं पेहाए पुरा अप्पजूहिए सेवं नच्चा नो गाहावडकुलं पिंडवायपडियाए नियस्वमिज्ज वा पविसिज्ज वा।

से तमादाय एगंतमवकमिज्जा अणावायमसंलोए चिड्ढिज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा- स्त्रीरिणियाओ गावीओ स्त्रीरियाओ पेहाए असणं वा, उवस्वडियं पेहाए पुराए जूहिए सेवं नच्चा तओ संजयामेव गाहा, नियस्वमिज्जा वा। ॥ ३५७ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, यावत् प्रवेष्टुकामः, सः यत् पुनः जानीयात् क्षीरिण्यो गावो, दुग्धमाणाः प्रेक्ष्य अशनं वा, उपसंस्क्रियमाणं प्रेक्ष्य, पुरा अदत्ते, सः एवं ज्ञात्वा न गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया निष्क्रामेत् वा प्रविशेत् वा।

सः तमादाय एकान्तमपक्रम्य अनापातमसंलोके तिष्ठेत्, अथ पुनः एवं जानीयात्-क्षीरिण्यः गावः, दुग्धाः प्रेक्ष्य अशनं वा, उपस्कृतं प्रेक्ष्य पुरा दत्ते, सः एवं ज्ञात्वा ततः संयतः एव गृहं निष्क्रामेत् वा ॥ ३५७ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु अथवा साध्वी आहार-पानी के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने की इच्छा करे किन्तु दुधवाली गाय द्रोही जा रही है अशनादि रांधने की क्रिया शुरू है या पहले से आये हुए को दिया नहीं गया है, ऐसा देखकर गृहस्थ के घर में आहार-पानी के लिये प्रवेश न करे। गृहस्थ के घर में साधु कदाचित् पहुंच गये हो तो उपरोक्त कथित कारणों में से कोई भी कारण मौजूद हो तो एकांत में चले जाये कि- जहां किसी का आवागमन न हो या कोई भी देख न पाये ऐसे स्थान में खड़े रहे। और जब ऐसा जाने (ज्ञात हो) कि- गायों ने दूध दे दिया है, रसोई बन गई हैं तब गृहस्थों के घर में यतनापूर्वक आहार-पानी के लिये प्रवेश करे। ॥ ३५७ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. गृहस्थों के घरों में प्रवेश करने की इच्छावाले हो तब देखे कि- वहां दूधवाली गाय को दोह रहे हो, तथा आहारादि रसोई बना रहे हो, तथा तैयार हुए चावल आदि पहले अन्य को नहीं दिये हुए होते तो भी प्रकृति भद्रक कोई श्रद्धालु गृहस्थ, साधुको देखकर सोचे कि- "मैं इन साधुओं को बहुत दूध दूँ" ऐसा सोचकर बछड़े को बहुत दुःख-कष्ट दे अथवा दोही जा रही गाय को त्रास पहुंचाए... तब साधु को संयम विराधना एवं आत्मविराधना हो... अथवा अर्ध पके हुए चावल आदि को शीघ्र से पकाने के लिये अधिक प्रयत्न करे, तब संयम विराधना हो... इत्यादि ऐसा देख करके साधु गृहस्थों के घर में आहारादि के लिये प्रवेश न करें और निकले भी नहीं....

ऐसी स्थिति में साधु को क्या करना चाहिये... वह अब कहते हैं... वह साधु उस गाय को दोहना आदि देखकर एकांत (निर्जन) में जाकर खड़े रहें... अर्थात् गृहस्थों का जहां आगमन न हो, या उनकी नजर न पहुंचे... वहां खड़े रहें... और वहां खड़े-खड़े जब ऐसा जाने कि- दूधवाली गाय दोह ली... इत्यादि... यावत् ऐसे उन घरों में प्रवेश करें एवं निकले...

अब पिंडाधिकार में ही यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि किसी गृहस्थ के घर पर गायों का दूध निकाला जा रहा है और अशन आदि चारों प्रकार का आहार पक रहा है और उस आहार में से अभी तक किसी को दिया नहीं है, तो साधु को उस घर में आहार के लिए नहीं जाना चाहिए। यदि गायों का दूध निकाल लिया गया है, आहार पक चुका है और उसमें से किसी को दिया जा चुका है, तो साधु उस घर में आहार के लिए प्रवेश कर सकता है।

इसका कारण यह है कि- गायों साधु के वेश को देखकर डर जाएं और साधु को मारने दौड़े तो उससे साधु को या दोहने के लिए बैठे हुए व्यक्ति को चोट लग सकती है। और दूध निकालते समय साधु को आया हुआ देखकर गृहस्थ यह सोचे कि- साधु को भी दूध देना होगा, अतः वह गाय के बछड़े के लिए छोड़े जाने वाले दूध को भी गाय के स्तनों में से निकाल लेगा। इससे मुनि के निमित्त बछड़े को अन्तराय हो।

आहार पक रहा हो और उस समय साधु पहुंच जाए तो गृहस्थ उसे जल्दी पकाने का यत्न करेगा उससे अग्नि के जीवों की विराधना (हिंसा) होगी। इस तरह कई दोष लगने की सम्भावना होने के कारण साधु को ऐसे समय में गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रवेश नहीं करना चाहिए।

आगम में लिखा है कि- आहार आग पर पक रहा हो और गृहस्थ उसे आग पर से उतार कर दे तो साधु को स्पष्ट कह देना चाहिए कि- यह आहार मेरे लिए कल्पनीय नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि- प्रस्तुत सूत्र में किया गया निषेध घर में प्रवेश करने की वृष्टि से नहीं, किन्तु आग पर स्थित आहार को न लेने के लिए है। गाय को बोहन का प्रथम विकल्प घर में प्रवेश करने सम्बन्धी निषेध को लेकर है और दूसरा विकल्प उस आहार को लेने के निषेध से सम्बन्धित है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि- गृहस्थ के घर में स्थित पशु भयभीत नहीं हों और आहार आदि भी पक चुका हो तो साधु उस घर में प्रवेश करके आहार ले सकता है। साधु को यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि- उसके निमित्त किसी तरह की हिंसा एवं अयतना न हो।

इसी विषय को और स्पष्ट करने के लिये हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहेंगे।

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ३५८ ॥

भिक्षवागा नामगे एवमाहंसु-समाणा वा वसमाणा वा गामाणुगामं दुइज्जमाणे सुइडाए खलु अयं ग्रामे संनिरुद्धए नो महालए से हंता भयंतारो बाहिरगाणि गामा भिक्षवारियाए वयह, संति तत्थेगइयस्स भिक्षुस्स पुरे संथुआ वा पच्छा संथुया वा परिवसंति, तं जहा गाहावई वा गाहावइणीओ वा गाहावइपुत्ता वा गाहावइधूयाओ वा गाहावइसुण्हाओ वा धाइओ वा दासा वा दासीओ वा कम्मकरा वा कम्मकरीओ वा तहप्पगाराइं कुलाइं पुरे संथुयाणि वा पच्छा संथुयाणि वा पुत्वामेव भिक्षवारियाए अणुपविसिस्सामि ।

अविय इत्थ लभिससामि पिंडं वा लोयं वा खीरं वा दहिं वा नवणीयं वा घयं वा मूलं वा तिलं वा महं वा मज्जं वा सक्कुलिं वा फाणियं वा पूयं वा सिहरिणिं च संलिहिय संमज्जिय तओ पच्छा भिक्षूहिं सद्धिं गाहा, पविसिस्सामि वा निक्खमिस्सामि वा माइड्ढाणं संपासे, तं नो एवं करिज्जा । से तत्थ भिक्षूहिं सद्धिं कालेण अणुपविसिता त्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिग्गाहिता आहारं आहारिज्जा । एयं खलु तस्स भिक्षुस्स वा भिक्षुणीए वा सामग्गियं । ॥ ३५८ ॥

II संस्कृत-छाया :

भिक्षुकाः नाम एके एवं आहः - समानाः वा वसमाना वा ग्रामानुग्रामं दूयमानाः, कुलकः खलु अयं ग्रामः संनिरुद्धः न महान्, ततः हन्त ! भवन्तः बहिः ग्रामेषु

भिक्षाचर्यार्थं व्रजत, सन्ति तत्र एकस्य भिक्षोः पुरः संस्तुताः वा पश्चात्संस्तुताः वा परिवसन्ति । तद्-यथा-गृहपत्यः वा गृहपतिभार्याः वा गृहपतिपुत्राः वा गृहपतिदुहितारः वा गृहपतिस्नुषाः वा धात्र्यः वा दासाः वा दास्यः वा कर्मकराः वा कर्मकर्यः वा तथाप्रकाराणि कुलानि पुरः- संस्तुतानि वा पश्चात्संस्तुतानि वा पूर्वमेव भिक्षाचर्यार्थं अनुप्रवेक्ष्यामि ।

अपि च अत्र लप्स्ये पिण्डं वा लोयं वा क्षीरं वा दधि वा नवनीतं वा घृतं वा गुडं वा तैलं वा मधु वा मद्यं वा शष्कुलिं वा फाणितं वा पूतं वा शिखरिणीं वा, तं पूर्वमेव भुयत्वा पित्वा प्रतिग्रहं च संलिख्य संमृज्य ततः पश्चात् भिक्षुभिः सार्द्धं गृहं प्रवेक्ष्यामि वा निष्क्रमिष्यामि वा मातृस्थानं संस्पृशेत्, तत् न एवं कुर्यात् । सः तत्र भिक्षुभिः सार्द्धं कालेन अनुप्रविश्य तत्र इतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः सामुदानिकं एषणीयं वैषिकं पिण्डपातं प्रतिगृह्य आहारं आहारयेत्, एतत् खलु तस्य भिक्षोः वा भिक्षुण्यः वा सामग्र्यम् ॥ ३५८ ॥

III सूत्रार्थ :

स्थिस्थरवास करनेवाले अथवा मासकल्पी कोई मुनि आगंतुक मुनिओं को ऐसा कहे कि- यह गांव बहुत ही छोटा है और उसमें भी कितने घर प्रसूति आदि कारणों से रुके हुए हैं । यह गांव बड़ा नहीं है इसलिए- 'हे पूज्य मुनिवरों ! आप गांव से बाहर किसी अन्य गांव में गोचरी के लिए पधारें !' यह सुनकर नवागंतुक मुनिओं को अन्य गांव में गोचरी के लिए जाना चाहिए । उस गांव में कोई साधु के माता-पिता आदि पूर्व सम्बन्धी अथवा धसुरादि पश्चात् संबंधी निवास करते हो जैसे कि- गृहस्थ, गृहस्थपत्नी, पुत्र, पुत्री, गृहस्थ की पुत्रवधु, धायमाता, दास-दासी, कर्मचारी, कर्मचारिणी आदि, इसलिए कोई साधु ऐसा विचार करे कि- पहले मैं उनके घर में भिक्षा के लिए प्रवेश करूंगा जिससे मुझे अन्न, रसमय पदार्थ दूध, दही, मक्खन, घी, गुड, तेल, मधु (शहद) मद्य, पुरी, गुड़राब, पोएँ, श्रीखंड इत्यादि उत्तम भोजन मिलेगा । उस उत्तम भोजन को लाकर प्रथम में आहार-पानी करूंगा बादमें पात्रें साफ कर लूंगा । पश्चात् अन्य साधुओं के साथ गोचरी के लिए गृहस्थ के घरमें प्रवेश करूंगा । अथवा प्रवेश के लिए निकलूंगा । ऐसा विचार करनेवाला साधु मातृस्थान को स्पर्श करता है । संयम में दोष लगाता है । ऐसा केवली भगवंत फरमाते हैं कि- इसलिए ऐसा विचार भी नहीं करना चाहिए । किन्तु अन्य साधुओं के साथ भिक्षा के समय गृहस्थ के घर में प्रवेश कर अनेक घरों में से शुद्धिपूर्वक निर्दोष भिक्षा ग्रहण कर आहार लाना चाहिए । साधु और साध्वी को ऐसा आहार ग्रहण करने का आचार है ॥ ३५८ ॥

IV टीका-अनुवाद :

भिक्षा के द्वारा देह का निर्वाह करनेवाले कितने साधु...

जैसे कि- समाना याने जंघाबल की क्षीणता से एक क्षेत्र में रहने वाले तथा वसमाना याने मासकल्प विहारवाले साधुजन, ग्रामानुग्राम विहार के क्रम से वहां आये हुए प्राधूर्णक (महेमान) साधुओं को ऐसा कहे कि- यह गांव छोटा है अथवा अल्प घरवाला है, एवं अल्प आहारादि भिक्षा देनेवाला है... तथा सूतक आदि से संनिरुद्ध यह गांव बड़ा नहीं है... किंतु अतिशय छोटा गांव है... अतः आप पूज्य बाहर के गांवों में भिक्षाचर्या के लिये जाएं... इत्यादि अथवा वहां के निवासी कोई एक साधु के भाई भतीजे आदि या श्वसुरकुल के लोगों का नाम लेकर कहें... और इन घरों में भिक्षाकाल से पहले ही में प्रवेश करूं, और स्वजनों से इच्छित लाभ की प्राप्ति करूं... जैसे कि- पिंड याने शालि-ओदनादि तथा लोयं याने इंद्रियों को अनुकूल रसादि युक्त भोजन... तथा दूध, दही इत्यादि श्रीखंड पर्यंत के आहारादि... किंतु यहां मद्य की बात छेदसूत्र के अभिप्राय को समझें अथवा कोई साधु अतिशय प्रमाद के कारण अत्यंत रसासक्त होने से मधु-मद्य भी ग्रहण करे किंतु यह संयमाचरण के अनुकूल नहीं है... तथा फणित याने जल से धोला हुआ गुड तथा शिखरिणी याने दही एवं शक्कर से बना श्रीखंड... इत्यादि भी आहारादि को प्राप्त करके एवं उनको वापर करके पात्र को साफ करके पुनः भिक्षाकाल में अतिकृतमुखवाला वह साधु प्राधूर्णक याने आगंतुक (महेमान) साधुओं के साथ गृहस्थों के घर में आहारादि के लिये जाउंगा इत्यादि विचार से माया-जाल (कपट) करे... किंतु संयमी साधुको ऐसी माया नहीं करनी चाहिये...

वह साधु वहां गांव में प्राधूर्णक साधुओं के साथ भिक्षा का समय होने पर गृहस्थों के घरों से आहारादि प्राप्त करें कि- जो उद्वगमादि दोष रहित एवं एषणीय हो तथा धात्रीदोष आदि उत्पादनादि दोष रहित वैषिक हो... ऐसी भिक्षा को ग्रहण करके प्राधूर्णकादि साधुओं के साथ ग्रासैषणादि दोष रहित आहारादि वापरे... यह ही साधु जीवन का संपूर्ण साधुभाव है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में स्थिरवास रहने वाले मुनियों के पास आए अतिथि मुनियों के साथ उन्हें कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका निर्देश किया गया है। कोई साधु हृदय की संकीर्णता के कारण आए हुए अतिथि मुनियों को देखकर सोचे कि- यदि ये भी इसी गांव से भिक्षा लाएंगे तो मेरे को प्राप्त होने वाले सरस आहार में कमी पड़ जाएगी। अतः इस भावना से वह आगन्तुक मुनियों से यह कहे कि- इस गांव में थोड़े घर हैं, उनमें भी कई घर बन्द पड़े हैं, इसलिए इतने साधुओं का आहार इस गांव में मिलना कठिन है। अतः आप दूसरे गांव से आहार ले आए, या वह उन्हें दूसरे गांव जाने को तो नहीं कहे, परन्तु उनके गोचरी (आहार लाने)

को जाने से पूर्व ही अपने माता-पिता या श्वसुर आदि कुलों से या परिचित कुलों से सरस-स्वादिष्ट एवं इच्छानुकूल पदार्थ लाकर वापर ले और उसके बाद उनके साथ अन्य साधारण घरों से भिक्षा लाकर वापरे, यह माया एवं छल-कपट का सेवन है। अतः साधु को आगन्तुक मुनियों के साथ ऐसा नहीं करना चाहिए। ऐसा व्यवहार साधुता के अनुकूल तो क्या, मानवता के अनुकूल भी नहीं है, इसलिए सूत्रकार ने इस तरह माया-जाल (कपट) का व्यवहार करने का निषेध किया है। साधु का कर्तव्य है कि- वह नवागन्तुक मुनियों के साथ अभेद वृत्ति रखे, उनके साथ आहार को जाए और जैसा भी आहार उपलब्ध हो उसे संयमभाव से उनके साथ बैठकर वापरें।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समाणा-वसमाणा' का अर्थ है- जो साधु चलने-फिरने में या विहार करने में असमर्थ होने के कारण किसी एक क्षेत्र में स्थिरवास रहते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि- साधु को अतिथि रूप से आए हुए साधु के साथ छल-कपट एवं भेद-भाव का वर्ताव नहीं रखना चाहिए।

'तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझे।

॥ प्रथमचूतिकायां प्रथमपिण्डैषणाध्ययने चतुर्थः उदेशकः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रथमस्तितः :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनस्त्रेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासनवायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाठ-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययन से विश्व के सभी जीव पंचाचार की दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपद की पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. ९६.卐 विक्रम सं. २०५८.

आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - १ उद्देशक - ५

卐 पिण्डैषणा 卐

चौथा उद्देशक कहा, अब पांचवे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं, इसका यहां यह परस्पर संबंध है कि- तीसरे उद्देशक में आहारादि पिंड की ग्रहण विधि कही, अब यहां चौथे उद्देशक में भी वही बात विशेष प्रकार से कहेंगे...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३५९ ॥

से भिक्खू वा जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिजा-अग्गपिंडं उविस्वप्पमाणं पेहाए अग्गपिंडं निविस्वप्पमाणं पेहाए अग्गपिंडं हीरमाणं पेहाए अग्गपिंडं परिभाइज्जमाणं पेहाए अग्गपिंडं परिभुंजमाणं पेहाए अग्गपिंडं परिड्ढविज्जमाणं पेहाए पुरा असिणाइ वा अवहाराइ वा पुरा जत्थ अण्णे समण-वणीमगा खद्धं खद्धं उवसंकमंति, से हंता अहमवि खद्धं खद्धं उवसंकमामि, माइड्ढाणं संफासे, नो एवं करेजा ॥ ३५९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा यावत् प्रविष्टः सन् सः यत् पुनः जानीयात्- अग्रपिण्डं उत्तिक्षप्यमाणं प्रेक्ष्य, अग्रपिण्डं हियमाणं प्रेक्ष्य, अग्रपिण्डं परिभज्यमाणं प्रेक्ष्य, अग्रपिण्डं परित्यज्यमाणं प्रेक्ष्य पुरा अशितवन्तः वा अपहृतवन्तः वा, पुरा यत्र अन्ये श्रमण-वनीपका त्वरितं त्वरितं उपसङ्क्रामन्ति, सः हन्त ! अहमपि त्वरितं त्वरितं उपसङ्क्रामामि, मातृस्थानं संस्पृशेत्, न एवं कुर्यात् ॥ ३५९ ॥

III सूत्रार्थ :

कोई साधु अथवा साध्वी आहार के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर अग्रपिंड को निकालते हुए देखकर, अग्रपिंड को फेंकते हुए देखकर अथवा अन्य लोगों ने पहले भोजन कर लिया है अथवा अन्य श्रमण-ब्राह्मणादि, अतिथि, दरिद्र, याचक पहले उसे लेने के लिये जा रहे हैं, अतः मैं भी उन आहारादि को ऐसा विचार करने वाला साधु मातृस्थान का स्पर्श करता है। इसलिए ऐसा नहीं करना चाहिए। ॥ ३५९ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु गृहस्थों के घर में प्रवेश करने पर ऐसा जाने कि- अग्रपिंड याने बनी हुई रसोई शालि-ओदनादि आहार का देवतादि के लिये थोड़ा थोड़ा निकालते हुए देखकर, तथा अन्य जगह फेंकते हुए देखकर तथा देवता के मंदिर आदि में ले जाते हुए देखकर तथा थोड़ा थोड़ा अन्य लोगों को देते हुए देखकर, तथा भोजन करते हुए देखकर, तथा देवता के मंदिर से चारों दिशाओं में फेंकते हुए देखकर तथा पहले भी अन्य साधु-श्रमणादि इस अग्रपिंड को वापरतें थें, तथा पहले ऐसे अग्रपिंड को व्यवस्था से या अव्यवस्था से लेते थे, इस अभिप्राय से पुनः पूर्व की तरह हम भी यहां प्राप्त करें ऐसा सोचकर जहां अग्रपिंडादि हो वहां श्रमणा आदि जल्दी जल्दी से जाते हैं ऐसा देखकर वह साधु ऐसा सोचे कि- मैं भी जल्दी से वहां जाऊं... ऐसा करने पर वह साधु माया (कपट) करता है... किंतु साधुओं को ऐसा नहीं करना चाहिये...

अब भिक्षाटन की विधि सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि कोई गृहस्थ अग्रपिंड को देव स्थानक में ले जा रहा हो, या अन्य मत के भिक्षु उस पिण्ड को खा रहे हों, खा चुके हों या खाने जा रहे हों तो जैन मुनि को उस स्थान पर उसे ग्रहण करने के लिए जाने का संकल्प नहीं करना चाहिए। क्योंकि- वह अग्रपिण्ड अन्य देव या भिक्षु आदि के निमित्त से निकाला गया है, इसलिए मुनि को ऐसा आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। परन्तु गृहस्थ ने अपने एवं परिवार के लिए बनाये हुए निर्दोष आहार में से समस्त दोषों को टालते हुए साधु थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करें। जैसे- भ्रमर एक ही फूल से रस न लेकर अनेक पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस लेकर अपने आप को तृप्त करता है और फूल के सौंदर्य को भी नहीं बिगाड़ता, उसी तरह मुनि भी प्रत्येक घर से उतना ही आहार ग्रहण करे जिससे उस परिवार को न तो भूखे रहना पड़े और न फिर से भोजन तैयार करना पड़े।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि- उस युग में भोजन बनाने के बाद उसमें से देव आदि के निमित्त अग्रपिण्ड निकालने की परम्परा थी और वह अग्रपिण्ड भी पर्याप्त मात्रा में होता था, जिसे वे लोग देव स्थान पर ले जाकर प्रसाद के रूप में बांटते थे। जैसे आजकल अन्य धर्मों में देव मन्दिर में चढ़ाए गए भोग (अन्न आदि) को बांटने का रिवाज है। उस अग्रपिण्ड में से शाक्यादि भिक्षु भी प्रसाद या आहार रूप में लेते थे। इसलिए साधु के लिए ऐसा आहार ग्रहण करने का निषेध किया है। क्योंकि- इसमें एषणीय एवं निर्दोषता की कम संभावना रहती है।

भिक्षा के लिए साधु को कैसे रास्ते से जाना चाहिए, इसका उल्लेख सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे के सूत्र में करेंगे...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ३६० ॥

से भिक्खु वा, जाव समाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपात्तगाणि वा सति परक्कमे संजयामेव परियकमिज्जा, नो उज्जुयं गच्छिज्जा, केवली बूया आयाणमेयं, से तत्थ परक्कममाणे पयलिज्ज वा पयस्खलेज्ज वा पवडिज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पयस्खलेज्जमाणे वा पवडमाणे वा, तत्थ से काए उच्चारणेण वा पासवणेण वा ख्लेणेण वा सिंघाणेण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूणेण वा सुक्केण वा शोणिणेण वा उवलित्ते सिया ।

तहप्पगारं कायं नो अणंतरहियाए पुढवीए नो ससिणिद्धाए पुढवीए नो ससरक्खाए पुढवीए नो चित्तमंताए सिलाए, नो चित्तमंताए लेलूए कोलावासंसि वा दारूए जीवपइट्टिए सअंडे सपाणे जाव ससंताणए नो आमज्जिज्ज वा पमज्जिज्ज वा संलिहिज्ज वा निलिहिज्ज वा उव्वलेज्ज वा उव्वट्टिज्ज वा आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा से पुव्वामेव अप्पससरक्खं तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा जाइज्जा, जाइत्ता से तमायाय एमंतमवयकमिज्जा, अहे झामथंडिलंसि वा जाव अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तओ संजयामेव आमज्जिज्ज वा जाव पयाविज्ज वा ॥ ३६० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, यावत् प्रविष्टः सन् अन्तराले तस्य वप्राः वा परिघाः वा प्राकाराः वा तोरणानि वा अर्गलानि वा अर्गलपाशकाः वा सति पराक्रमे संयतः एव पराक्रमेत, न ऋजुना गच्छेत्, केवली बूयात् आदानमेतत्, सः तत्र पराक्रममाणः, प्रचलेत् वा प्रस्खलेद् वा प्रपतेत् वा । सः तत्र प्रचलन् वा प्रस्खलन् वा प्रपतन् वा, तत्र तस्य कायः उच्चारणेण वा प्रखवणेन वा श्लेष्मणा वा सिङ्घानकेन वा वान्तेन वा पित्तेन वा पूतेन वा सुक्केण वा शोणितेन वा उपलिप्तः स्यात् ।

तथा प्रकारं कायं न अनन्तरहितया पृथिव्या सस्निग्धया पृथिव्या, न सरजस्कया पृथिव्या, न चित्तवत्या शिलया, न चित्तवता लेलुना कोलावासभूते वा दारूणि जीवप्रतिष्ठितं साण्डे सप्राणिनि यावत् ससन्तानके, न आमृज्यात् वा न प्रमृज्यात् वा, न संलिखेत् वा न विलिखेत् वा न उद्वलेत् वा न उद्वर्त्तयेत् वा न आतापयेत् वा, न प्रतापयेत् वा, सः पूर्वमेव अल्प-सरजस्कं तृणं वा पत्रं वा काष्ठं वा सर्करं वा याचेत्,

याचित्वा सः तमादाय एकान्तमपक्रामेत्, अपक्रम्य दग्धस्थण्डिले वा यावत् अन्यतरे वा तथा प्रकारे प्रतिलिख्य प्रतिलिख्य प्रमृज्य प्रमृज्य ततः संयतः एव आमृज्यात् वा यावत् प्रतापयेत् वा ॥ ३६० ॥

III सूत्रार्थ :

साधु अथवा साध्वी अशनादि के लिए महल्ला में, गली में अथवा ग्रामादि में जावे, हुए तब बीच में (रास्ते में) टीले (ऊंचा भूभाग) रवाई के कोट हो, तोरणद्वार हो अथवा आगे दीवार या बाड़ हो तो स्वयं का सामर्थ्य होने पर भी उस मार्ग पर न जाय। दूसरा मार्ग हो तो उस मार्ग पर होकर जाय। ऐसा केवली भगवन्त कहते हैं। वैसे मार्ग पर जा ने से कर्म-बंध होता है। पूर्वोक्त सीधे मार्ग पर चलने से साधु का पांव फिसल जाएंगा अथवा साधु गिर जायेगा पांव फिसलने से, गिरने से स्वयं को पीड़ा होती है और दूसरों जीवों को पीड़ा पहुंचती है। उसका शरीर मल, मूत्र, कफ, लीट, वमन, पित्त, मवाद, शुक्र (वीर्य) अथवा रक्त से लिपट सकता है। यतना करने पर भी कदाचित् ऐसा हो जाए तो साधु उपलिप्त स्वयं के शरीर को सचित पृथ्वी से, गिली मिट्टी से, सूक्ष्म रज कणवाली मिट्टी से, सचित पत्थर से, सचित मिट्टी के ढेले से अथवा धुन के बीलों से अथवा धुन वाले काष्ठ से जीव युक्त काष्ठ से घिसकर साफ न करे। एवं अण्डे युक्त, प्राण युक्त, जालों युक्त वनस्पति से भी वह शरीर पोंछे नहीं, साफ करे नहीं, कुचाले नहीं, कुदरे नहीं, मले नहीं, धूप से तपाएं नहीं। किन्तु सचित रज रहित घास, पत्ते, काष्ठ, कंकर आदि की याचना करे, याचना करके एकान्त में जाये। एकान्त में जाकर दग्ध भूमि अथवा ऐसी कोई अचित भूमि हो जिसका बारम्बार प्रतिलेखन करके और प्रमार्जन करके यतना पूर्वक शरीर को स्वच्छ करे। ॥ ३६० ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. भिक्षा के लिये गृहस्थों के घर, पाटक (पाडो, महोल्ला) शेरी, गांव आदि में प्रवेश करने पर देखे कि- वहां मार्ग में यदि उंचे किल्ले हो, या अर्गला आदि हो, तो संयत ऐसा साधु राजमार्ग से ही जाये, किन्तु अन्य सीधे मार्ग से न जाये... क्योंकि- केवलज्ञानी प्रभु कहते हैं कि- राजमार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग में जाने से संयम विराधना एवं आत्मविराधना होती है। जैसे कि- वप्रादि वाले मार्ग में जाने से वह मार्ग विषम होने से चलने में कंपन हो, स्खलन हो, या पतन हो... यदि वह साधु उस विषम मार्ग से जाते हुए स्खलना पाये या गिर जाये तब पृथ्वीकायादि छह में से कोई भी काय की विराधना हो, और वहां उस साधु का शरीर मल, मूत्र, श्लेष्म (कफ), सिंधानक याने नाक का मल, वमन, पित्त, पूय याने रसी-परु, शुक्र (वीर्य) शोणित याने खून इत्यादि से मलीन हो, इसलिये ऐसे विषम मार्ग से नहि जाना चाहिये... किन्तु जब अन्य कोई मार्ग न होने से ऐसे विषम मार्ग से हि जाते हुए

स्खलित हो और कीचड (कादव) से शरीर मलीन हो तब वह साधु उस अशुचि-कीचड आदि से मलीन हुए शरीर को सचित (मिट्टी) पृथ्वी से, आर्द्र (मिट्टी) पृथ्वीसे सचित शिला से, सचित तेलु याने ढेफा (लोठ) से अथवा पृथ्वी (पत्थर) के टुकड़े से, इसी प्रकार कीडे (धूण) वाली लकड़ी, जीववाले अंडे एवं त्रस जंतुवाली पृथ्वी पे उस कीचड को साफ न करें और वहां रहा हुआ तपावे (सुखावे) भी नहीं... किंतु ऐसी स्थिति में अल्परजः कणवाले अचित तृण, पत्ते, काष्ठ, छोटे पत्थर के टुकड़ों की याचना करके एकांत जीव निर्जन भूमि में जाकर शरीर को साफ करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को विषम-मार्ग से भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। यदि रास्ते में खंडे, खाई आदि हैं, सीधा एवं सम मार्ग नहीं है, तो अन्य मार्ग के होते हुए साधु को उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए। क्योंकि- उस मार्ग से जाने पर कभी शरीर में कम्पन होने या पैर आदि के फिसलने पर वह साधु गिर सकता है और उसका शरीर मल-मूत्र या नाक के मैल या गोबर आदि से लिप्त हो सकता है और उसे साफ करने के लिए सचित मिट्टी, सचित लकड़ी या सचित पत्थर या जीव-जन्तु से युक्त काष्ठ का प्रयोग करना पड़े। इससे अनेक जीवों की विराधना होने की संभावना है। अतः साधु को ऐसे विषम मार्ग का त्याग करके अच्छे रास्ते से जाना चाहिए। यदि अन्य मार्ग न हो और उधर जाना आवश्यक है तो उसे विवेक पूर्वक उस रास्ते को पार करना चाहिए और विवेक रखते हुए भी यदि उसका पैर फिसल जाए और वह गिर पड़े तो अपने अशुचि से लिपटे हुए अंगोपाङ्गों को सचित मिट्टी आदि से साफ न करे, परंतु अचित काष्ठ-कंकर की याचना करके एकांत स्थान में चले जाना चाहिए और वहां अचित भूमि को देखकर वहां जीव-जन्तु से रहित अचित काष्ठ आदि के टुकड़े एवं अचित मिट्टी से अशुचि को साफ करके, फिर से अपने शरीर को धूप में सूखाकर शुद्ध करना चाहिए।

आगम में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि- अशुचि को दूर करने के लिए साधु अचित पानी का उपयोग कर सकता है। आगम में यह भी बताया गया है कि- गुरु एवं शिष्य शौच के लिए एक ही पात्र में पानी ले गए हों तो शिष्य को गुरु से पहले शुद्धि नहीं करनी चाहिए। और प्रतिमाधारी मुनि के लिए सब तरह से जल स्पर्श का निषेध होने पर भी शौच के लिए जल का उपयोग करने का आदेश दिया गया है। आगम में पांच प्रकार की शुद्धि का वर्णन आता है, वहां जल से शुद्धि करने का भी उल्लेख है। और अशुचि की अस्वाध्याय भी मानी है। इससे स्पष्ट होता है कि- जल से अशुचि दूर करने का निषेध नहीं किया गया है। साधक को यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि- पहले अचित एवं जन्तु रहित काष्ठ आदि से साफ

करके फिर अचित्त पानी से साफ करे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहेंगे।

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ३६१ ॥

से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा गोणं वियालं पडिपहे पेहाए, महिसं वियालं पडिपहं पेहाए, एवं मणुस्सं आसं हत्थिं सीहं वग्धं विगं दीवियं अच्चं तरच्चं परिसरं सियालं बिरालं सुणयं कोलसुणयं कोकतियं चित्ताचिल्लडयं वियालं पडिपहे पेहाए से सइ प रयकमे संजयामेव परयकमेज्जा, नो उज्जुयं गच्छेज्जा। से भिक्खू वा समाणे अंतरा से उवाओ वा खाणुए वा कंटए वा घसी वा भिलुगा वा विसमे वा विज्जले वा परियावज्जिज्जा, सइ परयकमे संजयामेव, नो उज्जुयं गच्छिज्जा। ॥ ३६१ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः जानीयात्-गां व्यालं प्रतिपथे प्रेक्ष्य, महिषं व्यालं प्रतिपथे प्रेक्ष्य एवं मनुष्यं अथ हस्तिनं सिंहं व्याघ्रं वृकं द्वीपिनं ऋक्षं तरक्षं सरभं शृगालं बिडालं शूनकं कोलशूनकं (महाशूकर) लोमच्छं चित्ताचिल्लडयं (जंगली पशु) व्यालं प्रतिपथे प्रेक्ष्य सति पराक्रमे संयतः एव पराक्रमेत, न ऋजुना गच्छेत्। सः भिक्षुः वा, प्रविष्टः सन् अन्तराले सः अवपातः वा स्थाणु वा कण्टकः वा घसी वा, भिलुगा वा विषमं वा विज्जलं वा पर्यापद्येत, सति पराक्रमे संयत एव, न ऋजुना गच्छेत् ॥ ३६१ ॥

III सूत्रार्थ :

वह साधु और साध्वी भिक्षा लेने के लिए जा रहे हो तब वे जावे कि- मार्ग में दुष्ट मदनमत सांड, भेंसा, मनुष्य, अथ, हाथी, सिंह, बाघ, भेडिया, चित्ता, तरश, व्याघ्र, सरभ (अष्टापद) सियार, बिल्ला, कुत्ता, वराह, सूअर, लोमड़ी या के चित्तचिल्लडय-एक प्रकार का जंगली प्राणी रास्ते में हो और दूसरा रास्ता भी हो तो उस भयवाले सीधे रास्ते पर न जाए किंतु दूसरे रास्ते से जाए। साधु अथवा साध्वी मार्ग में जा रहे हो तब मार्ग में खड़े, ठूठ, कांटे उतराई की भूमि हो, फटी हुई जमीन, विषमता अथवा कीचड़ आदि हो तो उस मार्ग से न जाए, यदि दूसरा मार्ग हो तो उस मार्ग से जाए। ॥ ३६१ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु भिक्षा के लिये गांव की ओर निकला हुआ मार्ग में उपयोग दे, और यदि ऐसा ज्ञात हो कि- यहां कोई उन्मत्त बैल आदि मार्ग को रोके है... तब अन्य मार्ग हो तो उस मार्ग से न जायें... क्योंकि- यहां संयम विराधना एवं आत्मविराधना होने की संभावना है...

दुष्ट बैल, दुष्ट महिष (पाडा) दुष्ट मनुष्य, घोडा, हाथी, सिंह, बाघ, वरू, चित्ता, रीछ, तरक्ष, सरभ, कुत्ते, सूअर, लोमडी, सियार, बिलाडे, इत्यादि भयानक जंगली पशु मार्ग में चिल्लाते हो, तब ऐसे मार्ग से न जायें... तथा वह साधु भिक्षा के लिये निकले तब मार्ग में ध्यान दें कि- बीच में खड़ा, ठूठ, विषय यात्रे ऊंची-नीची भूमि और काढ़व कीचड हो तो संयम एवं आत्म विराधना होने की संभावना से, अन्य मार्ग होने पर उस सीधे मार्ग से न जायें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- भिक्षा के लिए जाते समय साधु को विवेक से चलना चाहिए। यदि रास्ते में मदोन्मत्त बैल या हाथी खड़ा हो, या सिंह, व्याघ्र, भेड़िया आदि जङ्गली जानवर खडें हो तब अन्य मार्ग के होते हुए साधु को उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए और इसी तरह जिस मार्ग में गड़ढे आदि हैं उस पथ से भी नहीं जाना चाहिए। क्योंकि- उन्मत्त बैल एवं हिंसक जन्तुओं से आत्म विराधना हो सकती है और गड़ढे आदि से युक्त पथ से जाने पर संयम की विराधना हो सकती है। अतः मुनि को उस पथ से न जाकर अन्य पथ से जाना चाहिए, यदि अन्य मार्ग कुछ लम्बा भी पड़ता हो तो संयम रक्षा के लिए लम्बे रास्ते से जाना चाहिए।

उस युग में कई बार मुनि को भिक्षा के लिए एक गांव से दूसरे गांव भी जाना पड़ता था और कहीं-कहीं दोनों गांवों के बीच में पड़ने वाले जंगल में सिंह, व्याघ्र आदि जङ्गली जानवर भी रास्ते में मिल जाते थे। इसी अपेक्षा से इनका उल्लेख किया गया है : परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि- कुत्तों की तरह शेर भी गांवों की गलियों में घूमते रहते थे। अतः आहार के लिए जाने वाले मुनि को ग्रामान्तर में जाते हुए शेर आदि का मिल जाना भी संभव है, इस वृष्टि से सूत्रकार ने मुनि को यतना एवं विवेक पूर्वक चलने का आदेश दिया है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं।

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ३६२ ॥

से भियस्व वा, गाहावडकुलस्स दुवारबाहं कंटगबुंदियाए परिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय अपडिलेहिय अपमज्जिय नो अवंगुणेज्ज वा पविसिज्ज वा बियस्वमिज्ज वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तओ संजयामेव अवंगुणिज्ज वा पविसिज्ज वा नियस्वमिज्ज वा । ॥ ३६२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा गृहपतिकुलस्य द्वारभागं कण्डकशाखया परिपिहितं प्रेक्ष्य तेषां पूर्वमेव अवग्रहं अननुज्ञाप्य अप्रत्युपेक्ष्य अप्रमृज्य न उद्घाटयेत् वा प्रविशेत् वा निष्क्रामेत् वा, तेषां पूर्वमेव अवग्रहं अनुज्ञाप्य प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य प्रमृज्य ततः संयतः एव उद्घाटयेत् वा प्रविशेत् वा निष्क्रामेत् वा ॥ ३६२ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु और साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करते हुए मुख्य द्वार को कांटो से ढंका हुआ देखकर पहले गृहस्वामी की अनुज्ञा लिये बिना, अच्छी प्रकार से देखे बिना और प्रमार्जना किये बिना उस द्वार को न खोले, न प्रवेश करे। गृहस्वामी की आज्ञा लेकर, पश्चात् प्रतिलेखन (बार-बार) करके, बारम्बार प्रमार्जन करके, यतना पूर्वक खोलकर प्रवेश करे और उसमें से निकले। ॥ ३६२ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु आहारादि के लिये निकले तब देखे कि- गृहस्थ के घर का द्वार कांटो से ढंका हुआ है, इस स्थिति में साधु उन गृहस्थ के अवग्रह की आज्ञा लिये बिना एवं आंखों से देखे बिना तथा रजोहरणादि से प्रमार्जन किये बिना द्वार न खोले, न प्रवेश करे एवं न निकले... क्योंकि- आज्ञा लिये बिना ऐसा करने से गृहस्थ को गुस्सा आवे, या कोई वस्तु न मिलने पर साधु पर शंका हो... और द्वार खुला रहने पर अन्य पशु आदि का प्रवेश हो... इत्यादि कारणों से संयम एवं आत्मविराधना की संभावना है... किंतु यदि कोई विशेष कारण हो तब साधु उन गृहस्थों की अनुज्ञा लेकर तथा प्रमार्जनादि करके द्वार खोले... एवं प्रवेश करे... यहां सारांश यह है कि- स्वयं द्वार खोलकर प्रवेश न करें... यदि ग्लान याने रोगावस्था या आचार्यादि के योग्य कुछ आहारादि प्राप्त न हो तथा दुर्भिक्ष के कारण से आहारादि पर्याप्त प्राप्त न हो... इत्यादि कारण होने पर यदि दरवाजा बंद हो तब आवाज दें या स्वयं हि यथाविधि द्वार खोलकर प्रवेश करें।

अब वहां प्रवेश करने पर क्या करना चाहिये वह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करते समय साधु यह देखे कि- घर का द्वार (कण्टक शाखा से) बन्द है, तब उस घर के व्यदित से

आज्ञा लिए बिना तथा रजोहरण आदि से प्रमार्जित किए बिना उसे खोले नहीं, और न उस घर में प्रवेश करे तथा न वहां से वापिस बाहर निकले। इससे स्पष्ट होता है कि- यदि गृहस्थ के घर का दरवाजा बन्द है और साधु को कार्यवश उसके घर में जाना है तो उस घर के व्यक्ति की आज्ञा से यतना पूर्वक द्वार को देखकर खोल सकता है और उसके घर में जा-आ सकता है।

गृहस्थ के बन्द द्वार को उसकी आज्ञा के बिना खोलकर जाने से कई दोष लगने की सम्भावना है-१-यदि कोई महिला स्नान करी रही हो तब साधुको देखकर क्रोधित हो सकती है, २-घर का मालिक आवेश वश साधु को अपशब्द भी कह सकता है, ३-यदि उसके घर से कोई वस्तु चली जाए तो साधु पर उसका दोषारोपण भी हो सकता है और ४-द्वार खुलने से पशु अन्दर जाकर कुछ पदार्थ खा जाए या बिगाड़ दे या तोड़-फोड़ कर दें तो उसका आरोप भी साधु पर लग सकता है। इस तरह बिना आज्ञा दरवाजा खोलकर जाने से कई दोष लगने की सम्भावना है, अतः साधु को घर के व्यक्ति की आज्ञा लिए बिना उसके घर के दरवाजे को खोलकर अन्दर नहीं जाना चाहिए।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने के बाद साधु को किस विधि से आहार लेना चाहिए, इसका उल्लेख सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ३६३ ॥

से भिक्खू वा, से जं पुण जाणिज्जा समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए नो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठिज्जा, से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा, अणावायमसंलोए चिट्ठमाणस्स असणं वा, आहट्ट दलइज्जा, से य एवं वइज्जा आउसंतो समणा ! इमे मे असणे वा, सव्वजणाए निसिट्ठे, तं भुंजह वा णं, तं परिभाएह वा णं, तं वेगइओ पडिग्गाहिता तुसिणीओ उवेहिज्जा, अवियाइं एयं मममेव सिया, माइट्ठानं संफासे, नो एवं करिज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा, से पुव्वमेव आलोइज्जा ॥

आउसंतो समणा ! इमे मे असणे वा, सव्वजणाए निसिट्ठे, तं भुंजह वा णं जाव परिभाएह वा णं, सेणमेणं परो वइज्जा-आउसंतो समणा ! तुमं चेव णं परिभाएहि, से तत्थ परिभाएमाणे नो अप्पणो खद्धं, डायं, ऊसदं, रसियं, मणुण्णं, निद्धं, लुक्खं, से तत्थ अमुच्छिए अगिद्धे अ(ना)गदिए अणज्झोववण्णे परो वइज्जा-आउसंतो समणा ! मा णं तुमं परिभाएहि, सव्वे वेगइआ ढिआउ भुक्खामो वा पाहामो वा, से तत्थ भुंजमाणे नो अप्पणा खद्धं, जाव लुक्खं, से तत्थ अमुच्छिए, बहुसममेव भुंजिज्ज वा पाइज्जा वा ॥ ३६३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः जानीयात् - श्रमणं वा ब्राह्मणं वा ग्रामपिण्डावलगणं वा अतिथिं वा पूर्वप्रविष्टं प्रेक्ष्य न तेषां संलोके सप्रतिद्वारे तिष्ठेत्, सः तन्नादाय एकान्तमपक्रामेत् अपक्रम्य अनापातमसंलोके तिष्ठेत् सः तस्य परः अनापातमसंलोके तिष्ठतः अशनं वा, आहात्य दद्यात्, सः च एवं ब्रूयात् हे आयुष्मन्तः श्रमणाः ! अयं मया अशनं वा, सर्वजनार्थं निसृष्टम्, तत् भुङ्ग्व्यं वा परिभज्व्यं वा, तं च एकाकी प्रतिगृह्य तुष्णीकः उत्प्रेक्षेत-अविदितं एतत् मम एव स्यात्, मातृस्थानं संस्पृशेत्, न एवं कुर्यात्, सः तन्नादाय तत्र गच्छेत्, गत्वा सः पूर्वमेव आलोकयेत् - हे आयुष्मन्तः श्रमणाः ! अयं मह्यं अशनादिकः, सर्वजनार्थं निसृष्टः, तत् भुङ्ग्व्यं वा यावत् परिभज्व्यं वा, सः एवं एवं परः ब्रूयात् - हे आयुष्मन्तः श्रमण ! त्वमेव परिभाजय, सः तत्र परिभाजयन् न आत्मनः प्रचुरं शाकं उच्छ्रितं रसितं, मनोज्ञं सिनधुं रुक्षं, सः तत्र अमूर्च्छितः अगृह्यः अनादृतः अनध्युपपन्नः बहुसमं एव परिभाजयेत्, तं परिभाजयन्तं परः ब्रूयात् - हे आयुष्मन्तः श्रमण ! मा त्वं रिभाजय, सर्वे एव एकात्रिताः स्थिताः तु भोक्ष्यामहे वा पास्यामः वा, सः तत्र भुञ्जानः न आत्मना प्रचुरं यावत् रुक्षं, सः तत्र अमूर्च्छितः, बहुसमं एव भुञ्जीत वा पिबेत् वा ॥ ३६३ ॥

III सूत्रार्थ :

वह भिक्षु और भिक्षुणी गृहस्थ के घर में प्रथम प्रवेश किये हुए कोई श्रमण, ब्राह्मण अथवा भिक्षुक आदि को देखकर ऐसी जगह पर खड़ा न रहे कि- वे उन्हें देख पाये, अथवा उनके जाने के मार्ग में खड़ा न रहे। केवलज्ञानी का फरमान है कि- वह कर्मबंधन का स्थान है। साधु को ऐसे स्थान पर खड़ा रहा हुआ देखकर गृहस्थ साधु के लिये आहार बनायेगा। इसलिए वक्त कथन अनुसार ऐसी प्रतिज्ञा, ऐसा हेतु और ऐसा उपदेश आवश्यक है कि- ऐसे स्थान पर खड़ा न रहे कि- जिससे वह देख सके। किन्तु मुनि प्रथम किसी को आए हुए जानकर एकान्त स्थान में चले जाए। और एकान्त में जाकर ऐसी जगह पर खड़े रहे कि- जहां अन्य किसीका आवागमन न हो और कोई देख भी न सके। कदाचित् एकान्त में स्थिर साधु को गृहस्थ अशन आदि लाकर देवे और कहे कि- हे आयुष्मन्तः श्रमण ! आप सभी के लिये यह आहार मैंने दिया है। इसलिए आप सब इसका उपयोग करे (उपभोग करे) और परस्पर विभाजन कर ले। गृहस्थ का यह वचन सुनकर साधु चुपचाप ग्रहण करके मनमें विचार करें कि- यह आहार मात्र मेरे लिए ही योग्य है। अतः ऐसा विचारने वाला साधु मातृस्थान का स्पर्श करता है इसलिये साधु ऐसा न करे। किन्तु संमिलित आहार लेकर जहां श्रमणादि स्थित है वहां जाए और कहे कि- आयुष्मन्तः श्रमणो ! यह अशनादि सभी के लिये मिला है।

उसका उपयोग करे। दूसरें श्रमणादि ऐसा कहने वाले साधु को कहे कि- हे आयुष्मन् श्रमण ! आप ही इसे हम सबको बांट दो ! तब वह साधु भोजन का विभाग करता हुआ अपने लिये स्वादिष्ट पकवान, उत्तम सब्जी, सरस भोजन, मनोज्ञ स्निग्ध पदार्थ, अथवा रुखा-सुखा भोजन ग्रहण न करे वह साधु अधुरा मूर्च्छाभाव न रखता हुआ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. ऐसा जाने कि- श्रमण, ब्राह्मण, ग्रामपिंडावलगक, या अतिथि, पहले से ही प्रवेश किये हुए हैं, तब उनके नजर में आवे ऐसा दरवाजे पर खडे न रहें... क्योंकि- दाता एवं प्रतिग्राहक को असमाधि एवं अंतराय होने की संभावना है... अतः वह साधु उन श्रमणादि को भिक्षा के लिये आये हुए देखकर एकांत (निर्जन) में जाकर खडे रहें कि- जहां कोई आवे नहीं और देखे नहीं... अब वहां खडे हुए उस साधु को वह गृहस्थ आहारादि लाकर दे और कहे कि- आप बहुत सारे लोग भिक्षा के लिये आये हुए हो और मैं अन्य कार्यों में व्यस्त हूं अतः मैं आपको बांटकर नहि दे सकता... अतः हे श्रमणजन ! यह चारों प्रकार का आहार मैंने आप सब को दीया है, तो अब आप अपनी अपनी इच्छारूचि के अनुसार एक जगह भोजन करो या विभाग करके लें जाओ... इस प्रकार के आहारादि को उत्सर्ग विधि से साधु न लें... किंतु दुर्भिक्ष हो या मार्ग के श्रम से थक गये हो तो अपवाद विधि के कारण होने पर ग्रहण करें... और आहारादि को ग्रहण करके चुपचाप वह साधु जाता हुआ विचारे कि- मुझे अकेले को हि यह आहारादि दीया है, और अल्प भी है अतः मेरे अकेले को हि हो... ऐसी माया (कपट) न करे... किंतु वह साधु उस आहारादि को लेकर वहां श्रमण आदि के पास जावे और उन्हे पहले सब आहारादि दिखावे और कहे कि- हे श्रमणादि लोगों ! यह आहारादि आप सभी के लिये गृहस्थ ने दिया है अतः आप एक जगह भोजन करो या बांट लो... अब ऐसा कहते हुए उस साधु को कोई श्रमणादि ऐसा कहे कि- हे श्रमण ! आप ही हमें बांट कर दो, अब वह साधु ऐसा विभाग स्वयं तो न करे किंतु कारण होने पर यदि विभाग करना हो तो वह साधु अच्छे वर्णादिवाले सब्जी आदि स्वयं न ले... किंतु आहारादि में मूर्च्छरहित, अनासक्त, आदि गुणवाला वह सभी आहारादि को समान विभागसे बांटे... अब इस प्रकार विभाग करते हुए उस साधु को कोईक श्रमणादि कहे कि- हे श्रमण ! आप विभाग मत करो... हम एक ही जगह रहकर भोजन करेंगे... किंतु वहां अन्य मतवालों के साथ साधु भोजन न करें... परंतु अपने समुदाय के साधुओं के साथ तथा सांभोगिक पासत्थादि के साथ सामान्य से आलोचना देकर भोजन करने की विधि से भोजन करें अर्थात् आहारादि वापरें...

यहां पूर्व के सूत्र में बाहर के आलोकस्थान का त्याग करने को कहा, अब गृहस्थ के घर में प्रवेश करने की विधि कहने के लिये सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- भिक्षा के लिए गया हुआ साधु यह देखे कि- गृहस्थ के द्वार पर शाक्यादि अन्य मत के भिक्षुओं की भीड़ खड़ी है, तो वह गृहस्थ के घर में प्रवेश न करके एकान्त स्थान में खड़ा हो जाए। यदि गृहस्थ उसे वहां खड़ा हुआ देख ले और उसे अशन आदि चारों प्रकार का आहार लाकर दे और साथ में यह भी कहे कि- मैं गृह कार्य में व्यस्त रहने के कारण सब साधुओं को अलग-अलग भिक्षा नहीं दे सकता। अतः आप यह आहार ले जाएं और आप सबकी इच्छा हो तो साथ बैठकर खा लें या आपस में बांट ले। इस प्रकार के आहार को ग्रहण करके वह भिक्षु (मुनि) अपने मन में यह नहीं सोचे कि- यह आहार मुझे दिया गया है, अतः यह मेरे लिए है और वस्तुतः मेरा ही होना चाहिए, यदि वह साधु ऐसा सोचता है तो उसे दोष लगता है। अतः वह मुनि उस आहार को लेकर वहां जाए जहां अन्य भिक्षु खड़े हैं और वह आहार दिखाकर उनसे यह कहे कि- गृहस्थ ने यह आहार हम सब के लिए दिया है। यदि आपकी इच्छा हो तो सम्मिलित खा लें और आपकी इच्छा हो तो सभी परस्पर बांट लें। यदि वे कहें कि- मुनि तुम ही सब को विभाग कर के दे दो, तो मुनि संरस आहार की लोलुपता में फंसकर अच्छा-अच्छा आहार अपनी ओर न रखे, किंतु समभाव पूर्वक वह सभी का समान हिस्सा कर दे। यदि वे कहें कि- विभाग करने की क्या आवश्यकता है। सब साथ बैठकर ही खा लें, तो वह मुनि उनके साथ बैठकर अनासक्त भाव से आहार करे।

प्रस्तुत पाठ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि- क्या जैन मुनि शाक्यादि अन्य मत के भिक्षुओं के साथ बैठकर आहार कर सकता है ? अपने द्वारा ग्रहण किया गया आहार उन्हें दे सकता है ?

इस पर वृत्तिकार का यह अभिमत है कि- उत्सर्ग मार्ग में तो साधु ऐसे आहार को स्वीकार नहीं करता किंतु दुर्भिक्ष आदि के प्रसंग पर अपवाद में वह इस तरह का आहार ग्रहण कर सकता है। परन्तु, इतना होने पर भी उसे अन्य मत के भिक्षुओं के साथ बैठकर नहीं खाना चाहिए। किन्तु जो पार्श्वस्थ जैन मुनि या सांभोगिक हैं, उन्हें ओघ आलोचना देकर उनके साथ खा सकता है।

आगम में एक स्थान पर गौतम स्वामी उदक पेदाल पुत्र को कहते हैं कि- हे श्रमण ! मुनि किसी गृहस्थ या अन्यतीर्थिक (मत के) साधु के साथ आहार नहीं कर सकता। यदि वह गृहस्थ या अन्य मत का साधु दीक्षा ग्रहण कर ले तो फिर उसके साथ आहार कर सकता है। परन्तु, यदि वह किसी कारणवश दीक्षा का त्याग करके पुनः अपने पूर्व रूप में परिवर्तित हो जाए तो फिर उसके साथ साधु आहार नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट होता है कि- मुनि का आहार-पानी का सम्बन्ध अपने समान आचार-विचार वाले साधु के साथ ही है, अन्य

भिक्षुकों के साथ नहीं। अतः इसका तात्पर्य यह है कि- गृहस्थ ने जो आहार दिया वह अन्य मत के साधुओं को सम्बोधित करके नहीं, प्रत्युत उक्त साधु के साथ के अन्य साम्भोगिक साधुओं को सम्बोधित करके दिया है। अतः वह अपने साथ के अन्य मुनियों के पास जाकर उन्हें वह आहार दिखाए और उनके साथ या उन सबका समविभाग करके उस आहार को खाए। इस तरह यह सारा प्रसंग अपने समान आचार वाले मुनियों के लिए ही घटित होता है।

वृत्तिकार एवं टब्बाकार दोनों के अभिमतों में टब्बाकार का अभिमत आगम सम्मत प्रतीत होता है। 'गच्छेज्जा' और 'आउसंतो समणा' शब्दा टब्बाकार के अभिमत को ही पुष्ट कहते हैं। यदि अन्यमत के साधुओं के साथ ही आहार करना होता तो वे सब वहीं गृहस्थ के द्वार पर ही उपस्थित थे, अतः कहीं अन्यत्र जाकर उन्हें दिखावे का कोई प्रसंग उपस्थित नहीं होता और साधु की मर्यादा है कि- वह गृहस्थ के घर से ब्रह्मण किया गया आहार अपने सांभोगिक बड़े साधुओं को दिखाकर सभी को आहार करने की प्रार्थना करके फिर आहार ब्रह्मण करे और यह बात गच्छेज्जा' शब्द से स्पष्ट होती है और 'आयुष्मन् श्रमणो' यह शब्द भी सांभोगिक साधुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसा इस पाठ से स्पष्ट परिलक्षित होता है।

“पुरा पेड़ाए तरसदथाए परो असणं वा ४ आहट्ट दलएज्जा अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठा एस पतिन्ना, एस हेउ, एस उवएसो जं णो तेसि संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा से तमायाए एगंतमवयकमिज्जा २ अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा।”

इसका तात्पर्य यह है कि- केवली भगवान ने इसे कर्म आने का मार्ग कहा है। (अन्य मत के भिक्षुओं और भिखारियों को लांघकर गृहस्थ के घर में जाने तथा उनके सामने खड़े रहने को)। क्योंकि- यदि उनके सामने खड़े हुए मुनि को गृहस्थ देखेगा तो वह उसे वहां आहार आदि पदार्थ लाकर देगा। अतः उनके सामने खड़ा न होने में यह कारण रहा हुआ है तथा यह पूर्वोपदिष्ट है कि- साधु उनके सामने खड़ा न रहे। इससे अनेक दोष लगने की संभावना है।

अब गृहस्थ के घर में प्रवेश के सम्बन्ध में सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ३६४ ॥

से भिक्खू वा. से जं पुण जाणिज्जा समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्व-पविट्ठं पेहाए नो तं उवाइयकम्म पविसिज्ज वा ओभासिज्ज वा, से तमायाए एगंतमवयकमिज्जा, आणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा, अह पुणेवं जाणिज्जा-पडिसेहिए वा दिण्णे वा तओ तंमि नियत्तिए संजयामेव पविसिज्ज वा ओभासिज्ज वा, एवं एयं सामगियं ॥ ३६४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः जानीयात् श्रमणं वा ब्राह्मणं वा ग्रामपिण्डावलगकं वा अतिथिं वा पूर्वप्रविष्टं प्रेक्ष्य, न तान् उपातिक्रम्य प्रविशेत् वा अवभाषेत वा । सः तमादाय एकान्तमपक्रामेत्, अपक्रम्य अनापातमसंलोके तिष्ठेत्, अथ पुनः एवं जानीयात्-प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा, ततः तस्मिन् निवृत्ते संयत एव प्रविशेत् वा अवभाषेत वा, एवं एतत् सामग्र्यम् ॥ ३६४ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु और साध्वी ऐसा जाने कि- कोई अन्य श्रमण, ब्राह्मण, याचक या अतिथि पूर्व में गृहस्थ के घर में प्रवेशित है। तो उसके आगे होकर गृहस्थ के घर में जायें नहीं, और बोले भी नहीं। किंतु अपने पात्र को लेकर एकांत स्थान में जाकर दृष्टिपथ से दूर खड़ा रहे एवं जब ऐसा जाने कि- उसको मना कर दिया है या उसको भिक्षा दे दी गई है तब उसके (भिक्षुक-याचक-ब्राह्मण-अतिथि) जाने के बाद यतना सहित वह प्रवेश करे या बोले। साधु साध्वी के लिए यह वास्तविक क्रियाविधि है। ऐसा मैं कहता हूं ॥ ३६४ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आहारादि के लिये गांव आदि में प्रवेश करने पर ऐसा जाने कि- यहां गृहस्थ के घर में श्रमणादि प्रवेश किये हुए हैं... इस स्थिति में वह साधु पूर्वप्रविष्ट उन श्रमण आदि को ओलंगकर प्रवेश न करें और नहीं वहां खड़े रहकर दाता से याचना करें किंतु इस स्थिति में वह साधु एकांत में जाकर खड़ा रहें अर्थात् तब तक कोई न देखे एवं कोई न आवे ऐसी जगह खड़ा रहे कि- जब तक वे उन श्रमणादि को, या तो निषेध करे या आहारादि दे... उसके बाद जब वे श्रमणादि उस घर में से निकले तब संयत ऐसा वह साधु उस घर में प्रवेश करे एवं याचना करे... इस प्रकार की आचरणा से ही उस साधु का संपूर्ण साधुभाव होता है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि किसी गृहस्थ के द्वार पर पहले से शाक्यादि मत के भिक्षु खड़े हैं, तो मुनि उन्हें उल्लंघकर गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे और न आहार आदि पदार्थों की याचना करे। उस समय वह एकान्त में ऐसे स्थान पर जाकर खड़ा हो जाए, जहां पर गृहस्थादि की दृष्टि न पड़े। और जब वे अन्य मत के भिक्षु भिक्षा लेकर वहां से हट जाएं या गृहस्थ उन्हें बिना भिक्षा दिए ही वहां से हटा दे, तब मुनि उस घर में भिक्षार्थ जा सकता है और निर्दोष एवं एषणीय आहार आदि पदार्थ ग्रहण कर सकता है।

अन्य मत के भिक्षुओं को उल्लंघनकर जाने से गृहस्थ के मन में भी द्वेष-भाव आ सकता है कि यह कैसा साधु है, इसे इतना भी विवेक नहीं है कि- पहले द्वार पर खड़े व्यक्ति को लांघ कर अन्दर आ गया है। उसके मन में यह भी आ सकता है कि- क्या भिक्षा के लिए सभी भिक्षुओं को मेरा ही घर मिला है। और यदि गृहस्थ भवितवश मुनि को देखकर उन्हें पहले आहार देने लगेगा तो इससे उन भिक्षुओं की वृत्ति में अंतराय पड़ेगी। और इस कारण वे गृहस्थ को पक्षापाती कह सकते हैं और साधु को भी बुरा-भला कह सकते हैं। अतः मुनि को ऐसे समय पर एकान्त स्थान में खड़े रहना चाहिए, किन्तु अन्य मत के भिक्षुओं एवं अन्य भिखारियों को उल्लंघनकर किसी भी गृहस्थ के घर में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए। यदि साधु के प्रवेश करने के पश्चात् कोई अन्य मत का भिक्षु या भिखारी आता हो तो उस साधु के लिए उस घर से आहार लेने का निषेध नहीं है।

'तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

॥ प्रथम चूलिकायां प्रथमपिण्डेषणाध्ययने पंचमः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडल श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाठ-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्रेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययन से विश्व के सभी जीव पंचाचार की दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपद की पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. १६.卐 विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - १ उद्देशक - ६

卐 पिण्डैषणा 卐

पांचवे उद्देशक के बाद अब छठे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... और यहां परस्पर यह संबंध है कि- पांचवे उद्देशक में श्रमणादिकों को अंतराय न हो अतः गृहप्रवेश का निषेध किया है... अब इस छठे उद्देशक में अन्य प्राणियों को भी अंतराय न हो अतः इस भय से इस छठे उद्देशक में भी प्रवेश निषेध विधि कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३६५ ॥

से भिक्खु वा, से जं पुण जाणिजा- रसेसिणो बहवे पाणा घासेसणाए संथडे संनिवडए पेहाए, तं जहा कुक्कुडजाइयं वा सूरजाइयं वा अग्गपिंडसि वा वायसा संथडा संनिवाइया पेहाए सइ परयकमे संजया नो उज्जुयं गच्छेजा ॥ ३६५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः जानीयात् - रसेषिणः बहून् प्राणिनः शासैषणार्थं संस्तृतान् संनिपतितान् प्रेक्ष्य तद्-यथा-कुक्कुटजातिकं वा शूकर जातिकं वा अग्गपिण्डे वा वायसान् संस्तृतान् संनिपतिताम् प्रेक्ष्य सति पराक्रमे संयतः न ऋजुना गच्छेत् ॥ ३६५ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु और साध्वी गोचरी जाते समय बहुत से प्राणियों को आहार की खोज में भूमि पर एकत्रित हुए देखे जैसे कि- कुक्कुटजाति के अर्थात् द्विपद और शूकर जाति के अर्थात् चतुष्पद अथवा अग्गपिंड के लिए कौवे आदि नीचे एकत्रित हुए देखे तब यदि अन्य मार्ग हो तो उस मार्ग से यतना पूर्वक जाए, परंतु उन प्राणियों को भय और अंतराय उत्पन्न हो ऐसे उस मार्ग से गमन न करें ॥ ३६५ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. भिक्षा के लिये गांव में प्रवेश करने पर देखे कि- बहुत सारे क्षुद्र जंतु-प्राणी भोजन के लिये कहीं शेरी आदि में रहे हुए हैं एवं आहार के लिये इकट्ठे हुए मुर्गे आदि पक्षीजाति तथा सूकर (भूंड) आदि चार पांव वाले प्राणियों को देखकर साधु

उस मार्ग से न जावे... तथा अग्रपिंड याने काकपिंडी में बाहार पिंड उछालने पर कौए इकट्ठे हुए हो तब उन्हें देखकर संयत-साधु अन्य मार्ग होने पर उस सीधे मार्ग में न जावे... क्योंकि- उस मार्ग से जाने में उन प्राणियों को खाने में (भोजन में) अंतराय होता है... और वे प्राणी यदि अन्य जगह जावे तब उनका वध (मरण) भी हो... इत्यादि दोषों की संभावना है...

अब गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर साधु को क्या करना चाहिये वह विधि सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- जिस रास्ते में भोजन की कामना से कुक्कुट आदि पक्षी या सूअर आदि पशु बैठे हों या अग्रपिंड के भक्षणार्थ कौवे आदि एकत्रित होकर बैठे हों तो अन्य रास्ते के होते हुए मुनि को उन्हें उल्लंघकर उस रास्ते से नहीं जाना चाहिए। क्योंकि मुनि को देखकर वे पशु-पक्षी भय के कारण इधर-उधर भाग जाएंगे या उड़ जाएंगे। इससे उन्हें प्राप्त होने वाले भोजन में अंतराय पड़ेगी और साधु के कारण उनके उड़ने या भागने से अन्य प्राणियों की हिंसा होगी। और कभी वे पशु जंगल में भाग गए और हिंसक जन्तु की लपेट में आ गए तो उनका भी वध हो जाएगा। अतः साधु को जहां तक अन्य पथ हो तो ऐसे रास्ते से आहार आदि के लिए नहीं जाना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि- साधु का जीवन दया एवं रक्षा की भावना से कितना ओत-प्रोत होता है। यही साधुता का आदर्श है कि- उसका जीवन प्रत्येक प्राणी के हित की भावना से भरा है। साधु स्वयं कष्ट सह लेता है, परन्तु अन्य प्राणी को कष्ट नहीं देता।

गृहस्थ के घर में प्रवेश करने के बाद साधु को वहां किस वृत्ति से खड़े होना चाहिए, इस सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं-

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ३६६ ॥

से भिवस्त्र् वा, जाव नो गाहावडकुलस्स वा दुवारसाहं अवलंबिय अवलंबिय चिड्ढिजा, नो गाहा, दगच्छड्डणमतए चिड्ढिजा, नो गाहा, चंदणिययए चिड्ढिजा, नो गाहा, सिणाणस्स वा वच्चस्स वा संलोए सपडिदुवारे चिड्ढिजा, नो आलोयं वा थिग्गलं वा संधि वा दगभवणं वा बाहाओ पगिज्झिय, अंगुलियाए वा उदिसिय, उण्णामिय, अवनमिय, निज्झाइजा, नो गाहावड अंगुलियाए उदिसिय, जाइजा, नो गाहा, अंगुलियाए चालिय, जाइजा, नो गाहा, अंगुलिए तज्जिय तज्जिय जाइजा, नो गाहा, अंगुलिए उक्खुलंपिय, जाइजा, नो गाहावडं वंदिय, जाइजा, नो वयणं फरुसं वडिजा ॥ ३६६ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, यावत् न गृहपतिकुलस्य वा द्वारधास्यां अवलम्ब्य अवलम्ब्य तिष्ठेत्, न गृह, उदक प्रतिष्ठापनमात्रके तिष्ठेत्, न गृह, आचमनोदकप्रवाहभूमौ तिष्ठेत्, न गृह, स्नानस्य वा वर्चसः वा संलोके सप्रतिद्वारे तिष्ठेत्, न आलोकं वा थिग्गलं वा सन्धिं वा उदकभवनं वा भुजां प्रगृह्य प्रगृह्य अङ्गुल्य वा उद्दिश्य उद्दिश्य वा, उन्नम्य उन्नम्य वा अवनम्य अवनम्य वा निध्यापयेत्, न गृहपतिं अङ्गुल्या उद्दिश्य उद्दिश्य याचेत्, न गृह, अङ्गुल्या चालयित्वा चालयित्वा याचेत्, न गृह, अङ्गुल्या तर्जयित्वा तर्जयित्वा याचेत्, न गृह, कण्डूयनं कृत्वा याचेत्, न गृहपतिं वन्दित्वा याचेत्, न वचनं परुषं वदेत् ॥ ३६६ ॥

III सूत्रार्थ :

भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में गये साधु और साध्वी को गृहस्थ के घर का बारसाख का सहारा लेकर खड़ा नहीं रहना चाहिए। गृहस्थ के घर का पानी फेंकने के मार्ग पर अथवा आचमन के स्थान पर अथवा गृहस्थ के घर का जहाँ स्नानगृह या शौचस्थान हो उस मार्ग पर खड़े नहीं रहे, और गृहस्थ के घर की खिडकियों को या चोर कृत खात को एवं जलगृह को हाथ के स्पर्श से या अंगुली से संकेत करके, स्वयं नीचे झुककर या ऊंचा मुख करके मुनि अवलोकन करें और गृहस्थ के पास अंगुली से बतलाकर याचना करें। अंगुली से उसको धमकाना नहीं चाहिए। गृहस्थ की प्रशंसा करके भी याचना करें। यदि गृहस्थ देवे तब कठोर वचन भी न कहें ॥ ३६६ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आहारादि के लिये गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर गृहस्थ के घर के बारसाख का आलंबन लेकर खड़े न रहें... क्योंकि- यदि वह जीर्ण हो तो गिर जाय, एवं ठीक से रखा न हो तो टेढामेढा हो जाय, ऐसा होने से संयम एवं आत्मविराधना हो... तथा बरतन धोने के बाद मलीन जल को फेंकने के स्थान के मार्ग में खड़ा न रहें... क्योंकि- ऐसी स्थिति में जिनशासन की निंदा हो, तथा इसी प्रकार हाथ धोने के स्थान पर खड़े न रहें... तथा स्नान एवं मलत्याग (संडास) के द्वार दिखे ऐसे स्थान में खड़े न रहें... यहां सारांश यह है कि- जहां खड़े रहने से गृहस्थों के स्नान एवं मलत्याग की क्रिया नजर में न आवे वहां खड़े रहें... अन्यथा साधु के उपर गृहस्थ को द्वेष हो... तथा गवाक्षादि आलोक या गिरे हुए थोड़े भाग को पुनः संस्कारित किये हुए थिग्गल... चौर ने किया हुआ छिद्र या भित्ति (दीवार) के संधान... तथा जलगृह याने "पाणीयारुं" इन सभी स्थानों को बार बार हाथ (भुजा) फेलाकर तथा अंगुली से निर्देश करके, अंगुली उंची करके, अंगुली नीची करके, न

देखें... तथा अन्य को-भी न दिखावें... क्योंकि- वैसा देखने से गृहस्थ की चोरी गइ एवं न मिलनेवाली वस्तु के विषय में गृहस्थ को साधु के उपर शंका हो... तथा वह साधु गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर अंगुली से गृहपति की ओर दिखाकर के, तथा अंगुली को चलाकर, या भय दिखाकर तर्जना करके अथवा गृहस्थ को वचन के द्वारा खुश करके याचना न करे...

यदि गृहपति कुछ भी आहारादि न दे तब भी कठोर वचन न बोलें... वह इस प्रकार- तुम तो यक्ष हो, क्योंकि- दूसरों के घर को संभालते हो, अतः आपसे दान की बात कैसे हो ? आपकी बात ही अच्छी है, अनुष्ठान याने आचरण अच्छा नहीं है...

कहा भी है कि- "नास्ति" ऐसे दो अक्षरों का उच्चारण जो लोग करते हैं वे भविष्यकाल में "देहि" ऐसे अक्षरों को बोलेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- गृहस्थ के घर में प्रविष्ट मुनि को चञ्चलता एवं चपलता का त्याग करके स्थिर दृष्टि से खड़े रहना चाहिए। इसमें बताया गया है कि- मुनि को गृहस्थ के द्वार की शाखा को पकड़कर खड़ा नहीं होना चाहिए। क्योंकि- यदि वह जीर्ण है तो गिर जाएगी, इससे मुनि को भी चोट लगेगी, उसके संयम की विराधना होगी और अन्य प्राणियों की भी हिंसा होगी। यदि जीर्ण तो नहीं है, परन्तु कमजोर है तो आगे-पीछे हो जाएगी, इस तरह उसको पकड़कर खड़े होने से अनेक तरह के दोष लगने की सम्भावना है। इसी तरह मुनि को उस स्थान पर भी खड़े नहीं रहना चाहिए जहां बर्तनों को धो कर पानी गिराया जाता है तथा स्नानघर, शौचालय या पेशाबघर है। क्योंकि- ऐसे स्थानों पर खड़े रहने से प्रवचन की जुगुप्सा-घृणा होने की सम्भावना है। और स्नानघर आदि के सामने खड़े होने से गृहस्थों के मन में अनेक तरह की शंकाएं पैदा हो सकती हैं। इसी प्रकार झरोखां, नव निर्मित दीवारों या दीवारों की सन्धि की ओर देखने से साधु के सभ्य व्यवहार में दोष लगता है।

भिक्षा ग्रहण करते समय अंगुली आदि से संकेतकर पदार्थ लेने से साधु की रस लोलुपता प्रकट होती है और तर्जना एवं प्रशंसा द्वारा भिक्षा लेने से साधु के अभिमान एवं दीन भाव का प्रदर्शन होता है। अतः साधु को भिक्षा ग्रहण करते समय किसी भी तरह की शारीरिक चेष्टाएं एवं संकेत नहीं करने चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि कोई गृहस्थ साधु को भिक्षा देने से इन्कार करे, तब साधु उस पर क्रोध करे और न उन्हें कटु एवं कठोर वचन कहें। साधु का यह कर्तव्य है कि- वह बिना कुछ कहे एवं मन में भी किसी तरह की दुर्भावना लाए बिना तथा संवलेस का संवेदन किए बिना शान्त भाव से गृहस्थ के घर से बाहर आ जाए।

इस सूत्र से साधु जीवन की धीरता, गम्भीरता, निरभिमानता अनासक्ति एवं सहिष्णुता का स्पष्ट परिचय मिलता है और इन्हीं गुणों के विकास में साधुता स्थित रहती है। इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ३६७ ॥

अह तत्थ कंचि भुंजमाणं पेहाए गाहावइं वा जाव कम्मकरिं वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसोत्ति वा, भइणित्ति वा दाहिसि मे इतो अण्णयरं भोयणजायं ? से सेवं वयंतस्स परो हत्थं वा मत्तं वा दत्थिं वा भायणं वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिज्जा वा पहोइज्ज वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा - आउसोत्ति वा भइणित्ति वा मा एयं हत्थं वा, सीओदगवियडेण वा उच्छोलेहि वा, अभिकंखसि मे दाउं एवमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो हत्थं वा, सीओ उस्सि उच्छोलित्ता पहोइत्ता आहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारेणं पुरेकम्मकएणं हत्थेण वा, असणं वा, अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा ।

अह पुण एवं जाणिज्जा नो पुरेकम्मएणं उदउल्लेणं तहप्पगारेणं वा उदउल्लेण वा हत्थेण वा, असणं वा, सफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा । अह पुणेवं जाणिज्जा नो उदउल्लेण ससिणिद्धेण सेसं तं चेव एवं ससस्यखे उदउल्ले ससिणिद्धे मट्टिया ऊसे । हरियाले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे । गेरुय वण्णिय सेडिय सोरडिय, कुकुस उयकुड्डसंसेण अह पुणेवं जाणिज्जा नो असंसडे संसडे तहप्पगारेण संसडेण हत्थेण वा, असणं वा, फासुयं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥ ३६७ ॥

II संस्कृत-छाया :

अथ तत्र कथन भुञ्जानं प्रेक्ष्य गृहपतिं वा यावत् कर्मकरीं वा, सः पूर्वमेव आलोचयेत्- हे गृहपते ! हे भगिनि ! दास्यसि मह्यं इतः अन्यतरं भोजनजातम् ? सः तस्य एवं वदतः परः हस्तं वा मात्रं वा दर्वीं वा भाजनं वा शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उत्क्षालयेत् वा प्रधायेत् वा । सः पूर्वमेव आलोचयेत् - हे गृहपति ! हे भगिनि ! मा एयं त्वं हस्तं वा, शीतोदकविकटेन वा, उत्क्षालय वा, अभिकाङ्क्षसि मह्यं दातुम् ? एवमेव दद्याः, सः तस्य एवं वदतः परः हस्तं वा, शीतो उष्णो उत्क्षालयित्वा प्रधायित्वा आहत्य दद्यात्, तथाप्रकारेण पुरःकर्मकृतेन हस्तेन वा, अशनं वा, अप्रासुकं यावत् न प्रतिगृह्णीयात् ।

अथ पुनः एवं जानीयात्- न पुरःकर्मकृतेन उदकार्द्रेण तथाप्रकारेण वा उदकार्द्रेण वा हस्तेन वा, अशनं वा, अप्रासुकं यावत् न प्रतिगृह्णीयात् । अथ पुनः एवं जानीयात्-

न उदकार्द्रेण सस्निग्धेन शेषं तत् चैव एवं- सरजस्कः उदकार्द्रः सस्निग्धः मृत्तिका ऊषः
हरतालः हिङ्गलोकः मनःशिला अञ्जनं लवणं । गेरुकः वर्णिका सेटिका सौराष्ट्रिका
कुम्बुकुसः उत्कृष्टसंसृष्टेन अथ पुनः एवं जानीयात्- न असंसृष्टः संसृष्टः तथा प्रकारेण
संसृष्टेन हस्तेन वा, अशनं वा, प्रासुकं यावत् प्रतिगृहीयात् ॥ ३६७ ॥

III सूत्रार्थ :

भिक्षा के लिए गये साधु और साध्वी गृह-स्वामी को, उसकी पत्नीको, पुत्रको, पुत्री
को, पुत्रवधु को, दास-दासी को, कर्मचारी को यावत् कर्मचारिणीको भोजन करते हुए देखकर
प्रथम कहते हैं कि- हे आयुष्मन् या हे आयुष्यमती ! इसमें से थोड़ा आहार मुझे दे सकते हैं
क्या ? ऐसे कहनेवाले मुनिको भोजन करनेवाले पुरुष या स्त्री हाथ, थाली, चम्मच या अन्य
पात्र सचित या अचित्त (उष्ण) जल से धोने लगे या विशेष शुद्धिपूर्वक मांझने लगे तो साधु
प्रथम से ही कह दे कि- हे आयुष्मन् ! आप हाथ यावत् पात्र को कच्चे या उष्ण जल से धोवे
नहीं या विशेष धोवे नहीं (मांझकर धोवे नहीं) मुझे देने की चाहना करते हो तो ऐसे ही दें।
साधु के ऐसा कहने पर भी यदि गृहस्थ हाथ यावत् पात्र को सचित या अचित्त जल से धोकर
या विशेष धो-कर देवे तो साधु ग्रहण न करे ! पूर्वकृत कर्मवाले हाथ आदि से अशनादि ग्रहण
करना अप्रासुक है, अनेषणीय है। लाभ होने की सम्भावना हो तो भी न ले ! कदाचित्, साधु
को प्रतीत होवे कि- मुझे भिक्षा देने के लिए नहीं परंतु अन्य कारण से दाता के हाथ आदि
गिले हैं फिर भी उस हाथ से दिये जाने वाले अशनादि को ग्रहण न करे। उसकी प्रकार
स्निग्धहाथ, सचित रजःवाला हाथ, और जिसमें से पानी टपक रहा है ऐसा हाथ या गिला हाथ
आदि से तथा सचित मिट्टी, खार, हडताल, हिङ्गलो, मनसिल, अंजन, नमक, गेरुं, पीली मिट्टी,
सफेद मिट्टी, फटकड़ी, ताजा (गीला) आटा, अथवा ताजे कूटे हुए चने, चावल आदिका आटा,
या कण की आदि कोई पण सचित पदार्थ से लिप्त हाथ आदि से अशन आदि ग्रहण न करे।
किंतु यदि ऐसा जाने कि- दातार के हाथ आदि अचित्त चीजों से लिप्त है तो वैसे हाथ आदि
से दिया जानेवाला अशन आदिको प्रासुक जानकर तथा ऐषणिक जानकर ग्रहण करे ॥ ३६७ ॥

IV टीका-अनुवाद :

अब वह साधु वहां गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर किसी घर के स्वामी आदि को
भोजन करते हुए देखकर ऐसा सोचे कि- यह गृहस्थ या उनकी भार्या या कर्मचारी (सेविका)
भोजन करतें हैं... तब विचार करके और नाम लेकर याचना करे कि- हे गृहपति ! हे भगिनि !
क्या आप मुझे इस आहारादि में से कुछ भी आहारादि देना चाहते हो ? यदि ऐसा कह नहीं
सकतें और कारण होने पर पुनः ऐसा कहे तब याचना करते हुए उस साधु को देखकर वह
गृहस्थ कभी हाथ पात्र चम्मच या बरतन शीतल जल (अपकाय) से या तीन उकाला न हुआ

हो ऐसा अप्रासुक गरम पानी से अथवा सचित्त बने हुए जल से एक बार या बार बार हाथ आदि बरतन धोवे तब वह साधु पहले से ही उपयोगवाला होकर देखे कि- यह गृहस्थ हाथ आदि धो रहा हैं... तब वह साधु नाम लेकर कहे कि- हे गृहपति ! आप ऐसा न करें... जब वह गृहस्थ सचित्त जल से हाथ आदि धोकर आहारादि देने के लिये तत्पर बने तब अप्रासुक जानकर साधु उन आहारादि को ग्रहण न करें...

जब गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर वह साधु ऐसा जाने कि- साधु को भिक्षा देने के लिये हाथ, बरतन आदि नहीं धोये है, किंतु तथा प्रकार से स्वयं ही कोई कार्य से जलवाला हाथ है, तथा इसी प्रकार बरतन आदि भी टपकते हुए जलबिंदुवाले हो, और चारों प्रकार के आहारादि दे रहे हो तब अप्रासुक एवं अनेषणीय मानकर साधु उन आहारादि को ग्रहण न करें... जिस प्रकार जलबिंदुवाले हाथ से आहारादि ग्रहण न करे, इसी प्रकार जलबिंदु टपकते न हो किंतु जल से स्निग्ध हाथ हो तो भी आहारादि ग्रहण न करें... इसी प्रकार रजकणवाले हाथ हो, या मिट्टी, क्षार, हरताल, हिंगलोक, मनःशिला, अंजन, लवण, गेरूक, पीलीमिट्टी, सफेद खडी मिट्टी, तुबरिका, नही छाने हुए तंदुल का चूर्ण, धान्य आदि के छिलके, तथा पीलुपर्णिकादि के उखल में चूर्ण किया हुआ हो, तथा आर्द्रपर्ण का चूर्ण इत्यादि युक्त हाथ आदि से दिये जा रहे आहारादि को साधु ग्रहण न करें... किंतु इन सभी प्रकार से यदि हाथ बरतन आदि असंसृष्ट हो तब दिये जा रहे आहारादि को ग्रहण करे...

जब ऐसा जाने कि- हाथ-बरतन आदि असंसृष्ट नहीं हैं किंतु उनसे बने हुए आहारादि से संसृष्ट है तब ऐसे संसृष्ट हाथ आदि से दिये जा रहे आहारादि को प्रासुक एवं एषणीय मानकर साधु ग्रहण करें... यहां आठ भांगे होते हैं...

१. असंसृष्ट हाथ असंसृष्ट पात्र निरवशेष द्रव्य.
२. असंसृष्ट हाथ असंसृष्ट पात्र सावशेष द्रव्य.
३. असंसृष्ट हाथ संसृष्ट पात्र निरवशेष द्रव्य.
४. असंसृष्ट हाथ असंसृष्ट पात्र सावशेष द्रव्य.
५. संसृष्ट हाथ असंसृष्ट पात्र निरवशेष द्रव्य.
६. संसृष्ट हाथ असंसृष्ट पात्र सावशेष द्रव्य.
७. संसृष्ट हाथ संसृष्ट पात्र निरवशेष द्रव्य.
८. संसृष्ट हाथ असंसृष्ट पात्र सावशेष द्रव्य.

यहां द्वितीय भंग संपूर्ण शुद्ध है, शेष सात भंगों में यथासंभव निर्दोषता को ध्यान में लेकर आहारादि को गवेषणा करें... अब वह साधु ऐसा जाने कि- जल आदि से हाथ आदि असंसृष्ट है तब आहारादि ग्रहण करें... अथवा तथाप्रकार के दान योग्य द्रव्य से हाथ आदि

संसृष्ट है तब तथाप्रकार के हाथ आदि से दिये जा रहे आहारादि को प्रासुक एवं एषणीय मानकर साधु ग्रहण करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि साधु गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होते समय यह देखे कि- गृहपति या उसकी पत्नी या पुत्र या पुत्री या दास-दासी भोजन कर रहा है; *यदि वह गृहपति या उसका पुत्र है तो हे आयुष्मन् ! और यदि वह स्त्री है तो हे ब्रह्म !, भगिनी !* आदि सम्बोधन करके पूछे कि- क्या तुम मुझे आहार दोगे ? इस पर यदि वह व्यक्ति शीतल (सचित्त)जल से या स्वल्प-उष्ण(मिश्र) जल से अपने हाथ धोकर आहार देने का प्रयत्न करे, तो उसे ऐसा करते हुए देखकर कहे कि- इस तरह सचित्त एवं मिश्र जल से हाथ धोकर आहार न दें, बिना हाथ धोए ही दे दें । इस पर भी वह न माने और उस जल से हाथ धोकर आहार दे तो उस आहार को अप्रासुक समझकर साधु उसे ग्रहण न करे ।

यदि गृहस्थ ने साधु को आहार देने के लिए सचित्त जल से हाथ नहीं धोए हैं, परन्तु अपने कार्यवश उसने हाथ धोए हैं और अब वह उन गीले हाथों से या गीले पात्र से आहार दे रहा है तब भी साधु उस आहार को ग्रहण न करे । इसी तरह सचित्त रज, मिट्टी, खार आदि से हाथ या पात्र संसृष्ट हों तो भी उन हाथों या पात्र से साधु आहार ग्रहण न करे । यदि किसी व्यक्ति ने सचित्त जल से हाथ या पात्र नहीं धोए हैं और उसके हाथ या पात्र गीले भी नहीं हैं या अन्य सचित्त पदार्थों से संसृष्ट नहीं हैं, तो ऐसे प्रासुक एवं एषणीय आहार को साधु ग्रहण कर सकता है ।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'उदउल्ले और ससिणिब्धे' शब्द में इतना ही अंतर है कि- पानी से धोने के बाद जिस हाथ से जल की बूंदें टपकती हों उसे जलार्द्र कहते हैं और जिससे बून्द नहीं टपकती हों परन्तु गीला हो उसे स्निग्ध कहते हैं ।

आचाराङ्ग की कुछ प्रतियों में 'अफासुयं' के साथ 'अणेसणिज्जं' शब्द भी मिलता है, वृत्तिकार ने भी अप्रासुक और अनेषणीय आहार लेने का निषेध किया है ।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि- प्रासुक शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- निर्जीव । अतः अप्रासुक का अर्थ हुआ सजीव पदार्थ । अतः सचित्त जल से हाथ या पात्र धोने मात्र से पदार्थ अप्रासुक कैसे हो जाते हैं ?

इसका समाधान यह है कि- प्रस्तुत प्रकरण में इस शब्द का प्रयोग अकल्पनीय अर्थ में हुआ है और उसके समान होने के कारण इसे भी अप्रासुक कहा गया है जैसे राजप्रशनीयसूत्र में देवकृत पुष्पदृष्टि के अचित्त पुष्पों के लिए जलज एवं स्थलज शब्दों का प्रयोग किया गया

है। जब कि- वे जलज एवं स्थलज नहीं हैं। परन्तु, उनके समान दिखाई देने के कारण उन्हें जलज एवं स्थलज कहा गया है। इसी तरह अप्रासुक शब्द अकल्पनीय शब्द के समान होने के कारण यहां उसे ग्रहण किया गया है।

अब आहार की गवेषणा के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ३६८ ॥

से भिक्खु वा, से जं पुण जाणिज्जा पिहयं वा बहुरयं वा जाव चाउलपलंबं वा असंजए भिक्खुपडियाए चित्तमंताए सिलाए जाव संताणाए कुट्टिसु वा कुट्टिति वा कुट्टिस्संति वा, उप्फणिसु वा, तहप्पगारं पिहयं वा अप्फासुयं नो पडिग्गाहिज्जा ॥ ३६८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः जानीयात्- पृथुकं वा पृहकं वा अर्धपक्वं वा असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया चित्तवत्यां शिलायां यावत् सन्तानायां कुट्टितवन्तः वा कुट्टन्ति वा कुट्टिष्यन्ति वा, उवाफणन् वा उत्फणन्ति वा, उत्फणिष्यन्ति वा तथाप्रकारं पृथुकं वा अप्रासुकं न प्रतिगृहीयात् ॥ ३६८ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु अथवा साध्वी ऐसा जाने कि- कोई असंयमी गृहस्थ साधु के निमित्त धानी, चावल, परमर, पोंक आदि तथा चावल के अर्धपक्व कण सचित्तशिला पर अथवा बीजयुक्त, वनस्पति युक्त, चींटी-मकोड़े युक्त या ओसवाली, सचित्तजलवाली, सचित्त मिट्टीवाली अथवा जीव युक्त शिला पर कूटकर, पीसकर तैयार किया हुआ है या तैयार कर रहे है या करेंगे अथवा छाज से झटक रहे है या झटकेंगे तो ऐसे चावल आदि वस्तुको अशुद्ध अकल्पनीय जानकर ग्रहण न करे ॥ ३६८ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. भिक्षा के लिये गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर देखे कि- शालि आदि के लाज (धानी) बहुरय याने चिवडे जैसा खाद्यआहार, तथा अर्ध पके हुए शालि आदि के कणों को गृहस्थ साधुओं के लिये सचित्त शिला के उपर तथा बीजवाले हरित-वनस्पति के ऊपर या अंडेवाली भूमि के ऊपर एवं करोडीये के जालेवाली जगह में कुट्टा हो, या कूटते हो या कुटनेवाले हो अथवा पृथुक आदि सचित्त या अचित्त शिला के उपर कूटकर के साधुओं

को देने के लिये सुखाने के लिये छाज से साफ किये हो, करते हो या करनेवाले हो, तब ऐसे प्रकार के पृथुकादि प्राप्त होने पर भी साधु ग्रहण न करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि कोई गृहस्थ सचित रज कणों से युक्त चावल आदि अनाज के दानों को या अर्द्ध पक्व चावल आदि के दानों को सचित शिला पर पीस कर या वायु में झटक कर उन दानों को साधु को दे तो साधु उन्हें अप्रासुक समझकर ग्रहण न करे। इसमें समस्त सचित अनाज के दाने तथा सचित वनस्पति एवं बीज आदि का समावेश हो जाता है। यदि कोई गृहस्थ इन्हें सचित शिला पर कूट-पीस कर दे या वायु में झटक कर उन्हें साफ करके दे तो साधु उन्हें कदापि ग्रहण न करे।

प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि सचित अनाज एवं वनस्पति आदि तो साधु को किसी भी स्थिति में ग्रहण नहीं करने चाहिए, चाहे वह सचित शिला पर कूट-पीस कर या वायु में झटककर दी जाए या कूटने झटकने की क्रिया किए बिना दी जाए। इसके अतिरिक्त यदि अचित अन्न के दाने, वनस्पति या बीज सचित शिला पर कूट-पीस कर या वायु में झटककर दिए जाएं तो वे भी साधु को ग्रहण नहीं करने चाहिए।

अब आहार ग्रहण करते समय साधु को पृथ्वीकायिक जीवों की किस प्रकार यतना करनी चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ३६९ ॥

से भिक्खु वा, जाव समाणे से जं० बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं असंजए जाव संताणाए भिदिसु वा, रुचिसु वा, बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं अफासुयं नो पडिग्गाहिज्जा ॥ ३६९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, यावत् प्रविष्टः सन् सः यत्० बिलं वा लवणं, उद्भिदं वा लवणं, असंयतः यावत् सन्तानायां अभैत्सुः वा, पिष्टवन्तः वा, बिलं वा लवणं, उद्भिदं वा लवणं अप्रासुकं न प्रतिगृह्णीयात् ॥ ३६९ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु और साध्वी भिक्षा के लिये जाते ऐसा जाने कि- बिल (खाण में निकला नमक) उद्भिज (समुद्र किनारे या अन्य स्थान पर खारेपानी से बनाया) नमक तथा अन्य प्रकार का

नमक असंयमी गृहस्थ ने साधु के निमित्त सचित यावत् जीवजन्तुवाली शिला पर कूटा है, कूटते हैं या कूटेंगे। पीसा है, पीस रहे है अथवा पीसेंगे तब ऐसा वह अप्राप्तुक जानकर उसको साधु ग्रहण नहीं करे ॥ ३६९ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. ऐसा जाने कि- बिल याने खदान से निकला हुआ नमक जैसे कि- सैंधव आदि तथा समुद्र के किनारे पर क्षारवाले जल के संपर्क से उत्पन्न होनेवाला नमक तथा रुमकादि लवण को पूर्व कहे गये विशेषणवाली शिला के उपर कणिक बनावे तथा उस कणिकाकार नमक को पीसा हो, या पीसते हो या पीसेंगे... तब ऐसे प्रकार के लवण भी अकल्पनीय जानकर साधु ग्रहण न करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- खान से एवं समुद्र से उत्पन्न लवण (नमक) को साधु ग्रहण न करे। इसके साथ सैन्धव, सौवर्चल (संचर) आदि सभी प्रकार का सचित नमक साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि कोई गृहस्थ सचित नमक को सचित शिला पर उसके टुकड़े-टुकड़े करके दे या उसका बारीक चूर्ण बनाकर दे तो उसे अप्राप्तुक समझकर ग्रहण न करे।

'बिल' शब्द खान एवं 'उब्भियं' शब्द समुद्र का बोधक है। और भिंदिसु एवं 'रुचिसु' इन उभय क्रियाओं से क्रमशः खंड-खंड करने एवं बारीक पीसने का निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त लवण शब्द के उपलक्षण से यहां समस्त सचित पृथ्वीकाय का ग्रहण किया गया है। अतः संयमशील साधु को पृथ्वीकायिक जीवों की यत्ना करनी चाहिए, अर्थात् पृथ्वीकायिक जीवों की विराधना नहीं करनी चाहिए।

'अप्राप्तुक' शब्द से यह भी सूचित किया गया है कि- यदि सचित नमक अन्य पदार्थ या शस्त्र के संयोग से अचित्त हो गया है, तब साधु के लिए अप्राप्तुक एवं अब्राह्य नहीं है।

अब अग्निकाय के आरम्भ का निषेध करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ३७० ॥

से भियख् वा, से जं० असणं वा, अगणिनियिख्त्तं तहप्पगारं असणं वा, अफासुयं नो० केवली ब्या-आयाणमेयं, असंजए भियख्पुडियाए उरिसंघमाणे वा निरिसंघमाणे वा आमजमाणे वा पमजमाणे वा ओयारेमाणे वा उव्वत्तमाणे वा

अगणिजीवे हिंसिजा । अह भियखूणं पुव्वोवड्डा एस पइण्णा, एस हेऊ एस कारणे
एसुवएसै जं तहप्पगारं असणं वा, अगणिनिखित्तं अफासुयं नो पडिं एयं सामग्गियं
॥ ३७० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत्० अशनं वा, अग्निनिक्षिप्तं तथा प्रकारं अशनं वा अप्रासुकं
न० केवली ब्रुयात्-आदानमेतत् । असंयतः भिक्षु प्रतिज्ञया उत्सिधन् वा निसिधन् वा
आमार्जयन् वा प्रमार्जयन् वा अवतारयन् वा अपवर्तयन् वा अग्निजीवान् हिंस्यात् । अथ
भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टा एषा प्रतिज्ञा एषः हेतुः एतत् कारणं अयमुपदेशः यत् तथाप्रकारं अशनं
वा, अग्निनिक्षिप्तं अप्रासुकं न प्रति० एतत् सामग्यम् ॥ ३७० ॥

III सूत्रार्थ :

भिक्षा के लिए गए साधु और साध्वी को ज्ञात होवे कि- अशनादि आहार अग्नि पर
रखा हुआ है तो ऐसे अशनादि को अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे । केवली भगवन्त का यह
कथन है कि- ऐसा आहार ग्रहण करने से कर्मबंधन होता है । ऐसा आहार कर्मबंधन का कारण
है । असंयमी गृहस्थ अग्नि पर रखे हुए आहार में से थोड़ा आहार साधु के लिये निकालते
हैं या पुनः डाल रहे हैं, हाथ पोंछते हैं, तथा विशेष रूप से साफकर रहे हैं । पात्र को नीचे
उतार रहे हैं या चढा रहे हैं । इसी कारण से निबंध मुनिओंकी यह ही प्रतिज्ञा है, यह ही हेतु
है, यह ही कारण है, यह ही उपदेश है कि- अग्नि पर रखे हुए उस आहार को हिंसाका कारण
जानकर ग्रहण न करे । साधु और साध्वी का यह आचार है । उसका पालन करते हुए संयम
में यतनावान् बनना चाहिये ॥ ३७० ॥

IV टीका-अनुवाद :

करने पर देखे कि- चारों प्रकार का आहारादि अग्नि के उपर रखा हुआ है, तब ऐसा
अग्नि-ज्वाला के संपर्क वाला आहारादि प्राप्त होने पर भी साधु ग्रहण न करें... केवलज्ञानी
प्रभुजी कहते हैं कि- इस स्थिति में कर्मबंध स्वरूप आदान रहा हुआ है... जैसे कि- गृहस्थ
साधुओं के लिये वहां अग्नि के उपर रहे हुए आहारादि को निकाले या पुनः वापस डालें... तथा
एक बार हाथ आदि से साफ करे, और विशेष प्रकार से साफ करे तथा नीचे उतारे या तिरछा
करे... ऐसा करने से अग्निजीवों की हिंसा होती है...

अब कहते हैं कि- साधुओं की पूर्व कही गई यह प्रतिज्ञा है, यह हेतु है, यह कारण
है, और यह उपदेश है... कि- तथा प्रकार के अग्नि से संबद्ध आहारादि अग्नि के उपर रहे
हुए हैं अतः अप्रासुक है और अनेषणीय है... ऐसा जानकर प्राप्त होने पर भी उन आहारादि

को साधु ग्रहण न करे... और यह हि निश्चित साधु का संपूर्ण साधुभाव है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के घर आहार आदि पदार्थ आग पर रखे हुए हैं और उस समय साधु को अपने घर में आया हुआ देखकर कोई गृहस्थ उस अग्नि पर स्थित आहार में से निकाल कर दे, या वह आग पर उबलते हुए दूध को पानी के छींटों से शान्त करके या आग पर से कोई वस्तु उतार कर साधु को दे तो साधु उस आहार को अप्रासुक समझ कर ग्रहण न करे। क्योंकि इन क्रियाओं से अग्निकायिक जीवों की हिंसा होती है। इसलिए साधु को इस तरह की सावध क्रिया कहते हुए कोई व्यक्ति आहार दे तो साधु उसे ग्रहण न करे।

कुछ प्रतियों में 'अफासुयं' के साथ 'अणेसणिज्जं लाभे संते' यह पाठ भी मिला है। उद्देशक की समाप्ति होने के कारण यहां 'तिबेमि' शब्द ग्रहण किया गया है।

'तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथमचूलिकायां प्रथमपिण्डैषणाध्ययने षष्ठः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐 卐 卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनचौडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाठ-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भद्रारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिधरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिधरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मूर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययन से विश्व के सभी जीव पंचाचार की दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपद की पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. १६. 卐 विक्रम सं. २०५८.

आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - १ उद्देशक - ७

卐 पिण्डैषणा 卐

छठे उद्देशक के बाद अब सातवे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... यहां पूर्व के छठे उद्देशक में संयम की विराधना कही, जब कि- इस सातवे उद्देशक में तो संयम, आत्मा एवं दाता की विराधना और ऐसी उस विराधना से प्रवचन (जिनशासन) की निंदा हो... यह बात यहां कहेंगे...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३७९ ॥

से भिक्खु वा, से जं पुण० असणं वा, खंधंसि वा धंभंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलियस्सजायंसि उवनिक्खित्ते सिया तहप्पगारं मालोहडं असणं वा, अफासुयं नो० केवली ब्या-आयाणमेयं, असंजए भिक्खुपडियाए पीठं वा फलकं वा निस्सेणिं वा उदूहलं वा आहट्ट उस्सविय दुरुहिज्जा, से तत्थ दुरुहमाणे पयलिज्जा वा पयडिज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा, हत्थं वा पायं वा बाहूं वा ऊरुं वा उदरं वा सीसं वा अण्णयरं वा कायंसि इंदियजालं त्सिज्ज वा प्राणाणि वा, अभिहणिज्ज वा लेसिज्ज वा संघसिज्जा वा संघट्टिज्ज वा परिवादिज्ज वा, तं तहप्पगारं मालोहडं असणं वा, लाभे संते नो पडिगाहिज्जा । से भिक्खु वा, जाव समाणे से जं, असणं वा, कुड्डियाओ वा कोलेज्जाउ वा, असंजए भिक्खुपडियाए उक्कुज्जिय अवउज्जिय ओहरिय आहट्ट दलइज्जा, तहप्पगारं असणं वा, लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ॥ ३७९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत्० अशनं वा, स्कन्धे वा स्तग्भे वा मञ्चके वा माले वा प्रासादे वा हर्म्यतले वा अन्यतरे वा तथाप्रकारे अन्तरिक्षजाते उपनिक्षिप्तः स्यात् । तथाप्रकारं मालापहतं अशनं वा, अप्रासुकं न० केवली ब्रूयात्-आदानमेतत्, असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया पीठं वा फलकं वा निःश्रेणिं वा उदूखलं वा आहत्य ऊर्ध्वं व्यवस्थाप्य आरोहेत्, सः तत्र आरोहन् प्रचलेत् वा प्रपतेत् वा, सः तत्र प्रचलन् वा, हस्तं वा पादं वा बाहूं वा ऊरुं वा उदरं वा शिरः वा (शीर्षं वा) अन्यतरं वा काये इन्द्रियजालं विराधयेत्, प्राणिनः वा, अभिहन्यात् वा वित्रासयेत् वा श्लेषयेत् वा संघर्षयेत् वा संघट्टयेत् वा परितापयेत् वा यत्नामयेत् वा स्थानात् स्थानं सङ्क्रामये वा, तं तथाप्रकारं मालापहतं

अशनं वा, लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात् । सः भिक्षुः वा, यावत् प्रविष्टः सन् सः यत्० अशनं वा, कोष्ठिकातः वा अधोवृत्तस्त्राताकारात् वा असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया उत्कुब्जीभूय अधोऽवनम्य तिरश्चीनो भूत्वा आहत्य दद्यात्, तथाप्रकारं अशनं वा, लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात् ॥ ३७१ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के घर भिक्षा के लिये गए साधु और साध्वी को ऐसा जानने में आता है कि- अशनादि द्विवार पर, स्तंभ पर, मांचे पर प्रासाद पर, हवेली की छत पर अथवा ऐसे कोई अन्य ऊंचे स्थान पर खड़ा हुआ है। तो ऐसे स्थान पर से लाया गया दिया जानेवाला आहार अप्रासुक है। इससे ऐसा आहार ग्रहण न करे। केवली भगवंत कहते हैं कि- यह कर्मबंध का कारण है। क्योंकि- असंयमी गृहस्थ साधु के निमित्त बाजोठ, पाट, पाटियुं, सीडी लाकर उसको ऊंचा कर उपर चढ़ेंगे, संभव है कि वहां से फिसल जाये, गीर जाये। यदि फिसलें या गीरे तो उसके हाथ-पैर या शरीरका कोई भी अवयव या कोई इन्द्रिय के अंगोपांग तूट जाय, फूट जाये और प्राणी, भूत, जीव तथा सत्व की हिंसा करेंगे। उनको त्रास होगा। या कूचला जायेंगे। उनके अंगोपांग तूट जायेंगे। टकरायेंगे। मसलायेंगे। टकरायेंगे, रगडायेंगे, संताप पायेंगे, पीडित होंगे, किलामणा होगी, उपद्रव पायेंगे, एक स्थान से दूसरे स्थान पर गिरेंगे। इसलिए इस प्रकारके मालोपहत भिक्षा मिलने पर भी साधु ग्रहण करे नहीं। अशन आदिको गृहस्थ के घर गये साधु अथवा साध्वी जाने कि- यह अशन आदि कोठी में से या कोठा में से साधु के निमित्त ऊंचा होकर, नीचे झूककर, शरीर को संकोचकर या आडे होकर आहार लाकर बहोरा रहे है तो उस अशनादि को लाभ होने पर भी ग्रहण न करे ॥ ३७१ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आहारादि के लिये गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर देखे कि- चारों प्रकार के आहारादि-स्कंध याने आधे प्राकार पे है, स्तंभ याने पत्थर या लकड़ी के धंभे पे है, तथा मांचडे पे, माले पे, प्रासाद याने महल-घर के उपर, तथा हवेली के उपर या अन्य कोई भी ऐसे प्रकार के आकाश में रहे हुए आहारादि को वहां से लाकर यदि गृहस्थ दे तब मालापहत-दोष मानकर साधु ऐसे आहारादि को ग्रहण न करे... केवलज्ञानी प्रभु कहतें हैं कि- यह मालापहत आहारादि आदान है... अर्थात् कर्मबंध का कारण है... जैसे कि- गृहस्थ साधुओं को दान देने के लिये पीठक, या फलक, या निसरणी, या उदूरखल (सांबेलुं) लाकर खड़ा रखकर उसके उपर चढ़े और चढ़ते चढ़ते स्खलित हो या गिर जाय तब हाथ, पाउं आदि शरीर के कोई भी अंगोपांग को चोंट लगे तथा त्रास एवं स्थावर जंतुओं को भी दुःख हो, या त्रास पहुंचाये... या क्लेश-परिताप हो, या एक स्थान से दूसरे स्थान पे संक्रमित हो... ऐसा

जानकर मालापहत दोषवाले आहारादि प्राप्त होने पर भी साधु उन्हें ग्रहण न करें... तथा

वह साधु यदि जाने कि- कोठी से या भूमि में कीये हुए गोलाकार गड्डे से आहारादि लेकर गृहस्थ दान दे रहा है, तब ऐसे अधोमालापहत दोषवाले आहारादि का लाभ होने पर भी साधु ग्रहण न करें...

अब पृथ्वीकाय के अधिकार को लेकर कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- समतल भूमि से बहुत ऊपर या नीचे के स्थान पर आहार आदि रखा हो, वह आहार सीढ़ी या चौकी को लगाकर या उसे ऊंचा करे उस पर चढ़कर वहां से आहार को उतार कर दे या इसी तरह नीचे झुक कर, टेढ़ा होकर नीचे के प्रकोष्ठ में रखे हुए पदार्थों को निकाल कर दे तो उन्हें अप्रासुक अकल्पनीय समझ कर ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहां अप्रासुक का अर्थ सचित नहीं, परन्तु अकल्पनीय है। उन अचित्त पदार्थों को अकल्पनीय इसलिए कहा गया है कि उक्त विषम स्थान से सीढ़ी, तख्त आदि पर से उतारते समय यदि पैर फिसल जाए या सीढ़ी या तख्त का पाया फिसल जाए तो व्यक्ति गिर सकता है और उससे उसके शरीर में चोट आ सकती है एवं अन्य प्राणियों की भी विराधना हो सकती है। इसी तरह नीचे के प्रकोष्ठ में झुककर निकालने से भी अयतना होने की सम्भावना है, अतः साधु को ऐसे स्थानों पर रखा हुआ आहार-पानी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

परन्तु, यदि उक्त स्थान पर चढ़ने के लिए सीढ़ियां बनी हों, किसी तरह की अयतना होने की सम्भावना न हो तो ऐसे स्थानों पर स्थित वस्तु कोई यत्नापूर्वक उतार कर दे तो साधु ले सकता है। 'पीढं वा फलगं वा निस्सेणिं वा आहट्टु उरसावय दुरूहिज्जा' पाठ से यह सिद्ध होता है कि हिलने-डुलने वाले साधनों पर चढ़कर उन वस्तुओं को उतार कर दे तो साधु को नहीं लेनी चाहिए, क्योंकि उन पर से फिसलने का डर रहता है। परन्तु, स्थिर सीढ़ियों पर से चढ़कर कोई वस्तु उतार कर लाई जाए या किसी स्थिर रहे हुए तख्त आदि पर चढ़कर उन्हें उतारा जाए तो वे अकल्पनीय नहीं कही जा सकतीं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जिससे आत्म विराधना, संयम विराधना, गृहस्थ की विराधना एवं जीवों की विराधना हो या गृहस्थ को किसी तरह का कष्ट होता हो तो ऐसे स्थान पर स्थित पदार्थ को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि किसी भी तरह की विराधना एवं किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचता हो तो उस स्थान पर स्थित वस्तु साधु के लिए ग्राह्य है। वस्तुतः यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि साधु के निमित्त किसी भी प्राणी को कष्ट न हो और आत्मा एवं संयम की विराधना भी न हो।

पृथ्वीकाय पर स्थित आहार के विषय में उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ३७२ ॥

से भिक्खू वा, से जं असणं वा, मट्टियाउलितं तहप्पगारं असणं वा लाभे स० केवली० अस्संजए भि० मट्टिओलितं असणं वा, उब्भिंदमाणं पुढविकायं समारंभिज्जा, तह तेउ-वाउ-वणस्सइ-तसकायं समारंभिज्जा, पुणरवि उल्लिंपमाणे पच्छाकम्मं करिज्जा, अह भिक्खूणं पुच्चो० जं तहप्पगारं मट्टिओलितं असणं वा, लाभे० ।

से भिक्खू० से जं असणं वा, पुढविकायपइड्डियं तहप्पगारं असणं वा, अफासुयं से भिक्खू० जं० असणं वा आउकायपइड्डियं चेव, एवं अगणिकायपइड्डियं लाभे० केवली० अस्संज० भि० अगणिं उस्सयिकय निस्सयिकय ओहरिय आहट्ट दलइज्जा, अह भिक्खूणं० जाव नो पडि० ॥ ३७२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत्० अशनं वा, मृत्तिकाअवलितं तथाप्रकारं अशनं वा, लाभे सति० केवली० असंयतः भिक्षु० मृत्तिकावलितं अशनं वा, उद्भिन्दन् पृथिवीकायं समारभेत, तथा तेजोवायु वनस्पति त्रसकायं समारभेत, पुनरपि अवलिम्पन् पश्चात्कर्म कुर्यात्, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टा० यत् तथाप्रकारं मृत्तिकावलितं अशनं वा, लाभे०...

सः भिक्षुः वा० सः यत्० अशनं वा, पृथिवीकाय प्रतिष्ठितं तथाप्रकारं अशनं वा, अपासुकं सः भिक्षुः वा० यत्० अशनं वा, अप्काय प्रतिष्ठितं चैव, एवं अग्निकाय प्रतिष्ठितं लाभे० केवली० असंयतः भिक्षुः वा० अग्निं प्रज्वाल्य उत्सिद्ध्य निःसिद्ध्य अपवृत्त्य आहत्य दद्यात्, अथ भिक्षुः यावत् न प्रति० ॥ ३७२ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी भिक्षा के निमित्त गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर यदि देखे कि अशनादि चतुर्विध आहार मिट्टी से लीपे हुए बर्तन में स्थित है, इस प्रकार के अशनादि चतुर्विध आहार को, मिलने पर भी साधु ग्रहण न करे। क्योंकि भगवान ने इसे कर्म आने का मार्ग कहा है। इसका कारण यह है कि गृहस्थ, भिक्षु के लिए मिट्टी से लिप्त अशनादि के भाजन का उद्भेदन करता हुआ पृथ्वीकाय का समारम्भ करता है, तथा अप-पानी, तेज-अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस काय का समारम्भ करता है, फिर शेष द्रव्य की रक्षा के लिए उस बर्तन का पुनः लेपन करके पश्चात् कर्म करता है, इसलिए भिक्षुओं को तीर्थकर आदि ने पहले ही

कह दिया है कि वे मिट्टी से लिप्त बर्तन में रखे हुए अशनादि को ग्रहण न करें। तथा गृहपति कुल में प्रविष्ट हुआ भिक्षु यदि यह जाने कि अशनादि चतुर्विध आहार सचित मिट्टी पर रखा हुआ है तो इस प्रकार के आहार को अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे।

वह भिक्षु यदि यह जाने कि अशनादि चतुर्विध आहार अप्काय पर रखा हुआ है तो उसे भी अप्रासुक जान कर स्वीकार न करे। इसी प्रकार अग्निकाय पर प्रतिहित अशनादि चतुर्विध आहार को भी अप्रासुक जानकर उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। केवली भगवान कहते हैं कि यदि गृहस्थ भिक्षु के निमित्त अग्नि में ईन्धन डालकर अथवा प्रज्वलित अग्नि में से ईन्धन निकाल कर या अग्नि पर से भोजन को उतार कर, इस प्रकार से आहार लाकर दे तो साधु ऐसे अहार को अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आहारादि के लिये गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर जाने कि- पिठरक आदि में मिट्टी से लेपा हुआ तथाप्रकार के आहारादि को कोइक निमित्त से पश्चात्कर्म दोषवाला जानकर ऐसे चारों प्रकार के आहारादि को प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करें... क्योंकि- केवलज्ञानी कहते हैं कि- यह कर्मबंध का कारण है... जैसे कि- कोइक गृहस्थ साधु के लिये मिट्टीवाले आहारादि के बरतन को खोलता हुआ पृथ्वीकाय का समारंभ करे... और अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रसकाय का भी समारंभ करे... तथा वह आहारादि देने के बाद भी शेष आहारादि के संरक्षण के लिये उस बरतन को पुनः लेप करता हुआ पश्चात्कर्म करे...

अतः साधुओं को पूर्व कही गइ प्रतिज्ञा एवं यह हेतु और यह कारण तथा यह उपदेश है कि- मिट्टी से लेपे हुए तथाप्रकार के आहारादि को प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करें...

वह साधु या साध्वीजी म. आहारादि के लिये गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर जाने कि- आहारादि सचित पृथ्वीकाय के उपर रहा हुआ है, ऐसे आहारादि को पृथ्वीकाय के संघट्टन के भय से प्राप्त होने पर भी अप्रासुक एवं अनेषणीय जानकर ग्रहण न करें... इसी प्रकार अप्काय (जल), और अग्नि के उपर रहे हुए आहारादि को गृहस्थ दे तो भी ग्रहण न करे... क्योंकि- केवलज्ञानी प्रभुजी कहते हैं कि- यह आदान याने कर्मबंध का कारण है... वह इस प्रकार- असंयत एसा गृहस्थ साधु को देनेके लिये अग्नि को उल्मुकादि से प्रज्वलित करके या अग्नि के उपर रहे हुए आहार के बरतन पिठरकादि को उतारकर या उस में से आहारादि लाकर साधु को दे... तब वहां साधुओं को पूर्व कही गइ यह प्रतिज्ञा है कि- ऐसे प्रकार के आहारादि को ग्रहण न करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- मिट्टी के लेप से बन्द किए गए खाद्य पदार्थ के बर्तन में से उचित लेप को तोड़कर गृहस्थ कोई पदार्थ दे तो साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि इससे पृथ्वीकाय की एवं उसके साथ अन्य अप्कायिक आदि जीवों की हिंसा होगी और उस बर्तन में अवशिष्ट पदार्थ की सुरक्षा के लिए उस पर पुनः मिट्टी का लेप लगाने के लिए नया आरम्भ करना होगा। इस तरह पश्चात कर्म दोष भी लगेगा। इसी तरह सचित पृथ्वी, पानी एवं अग्नि पर रखा हुआ आहार भी साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि कोई गृहस्थ अग्नि पर रखे हुए बर्तन को उतारते हुए या ऐसा ही कोई अन्य अग्नि सम्बन्धी आरम्भ करते हुए साधु को आहार दे तो उस आहार को भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिससे छः काय एवं ६ में से किसी भी एक कायिक जीवों की हिंसा होती हो तो ऐसा आहार साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अब वायुकाय की यतना के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ३७३ ॥

से भिक्खु वा, से जं० असणं वा, अचुसिणं अस्संजए भि० सुप्पेण वा दिहयणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंणेण वा पिहणेण वा पिहणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा फुमिज्ज वा वीइज्ज वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसोत्ति वा भइणित्ति वा ! मा एतं तुमं असणं वा, अचुसिणं सुप्पेण वा जाव फुमाहि वा वीयाहि वा, अभिकंखसि मे दाउं, एमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो सुप्पेण वा जाव वीइत्ता आहट्ट दलइज्जा, तहप्पगारं असणं वा, अफासुयं वा नो पडि० ॥ ३७३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत्० अशनं वा, अत्युष्णं असंयतः भि० सूर्पेण वा वीजनेन वा तालवृन्तेन वा पत्रेण वा शाखया वा शाखाभङ्गेन वा बर्हेण वा बर्हकलापेन वा वस्त्रेण वा वस्त्रकर्णेन वा हस्तेन वा मुखेन वा शीतीकुर्यात् वा वीजयेत् वा, सः पूर्वमेव आलोकयेत् हे आयुष्मन् ! वा भगिनि ! वा, मा, एतत् त्वं अशनं वा, अत्युष्णं सूर्पेण वा यावत् शीतीकृथाः वा वीजय वा, अभिकाङ्क्षसि मे (महां) दातुं, एवमेव ददस्व, सः तस्य एवं वदतः परः सूर्पेण वा यावत् वीजयित्वा आहत्य दद्यात्, तथाप्रकारं अशनं वा, अप्राप्तुकं वा न प्रति० ॥ ३७३ ॥

III सूत्रार्थ :

आहार के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर यदि साधु या साध्वी यह देखे कि, गृहस्थ साधु को देने के लिए अत्युष्ण अशनादिक चतुर्विध आहार को शूर्प से, पंखे से, ताड़ पत्र से, शाखा से, साखा खंड से, मयूरपिच्छ से, मयूर पिच्छ के पंखे से, वस्त्र से, वस्त्र खंड से, हाथ से अथवा मुख से फूंक मार कर या पंखे आदि की हवा से ठंडा करके देने लगे तब वह भिक्षु उस गृहस्थ को कहे कि हे आयुष्मन्-गृहस्थ ! अथवा हे आयुष्मति बहिन ! तुम इस उष्ण आहार को इस प्रकार पंखे आदि से ठंडा मत करो। यदि तुम मुझे देना चाहती हो तो ऐसे ही दे दो। साधु के इस प्रकार कहने पर भी यदि वह गृहस्थ, उसे पंखे आदि से ठंडा करके दे तो साधु उस आहार को अप्राप्त्युक्त जानकर ग्रहण न करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आहारादि के लिये गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर जाने कि- अतिशय गरम ओदन (चावल) आदि साधुओं को देने के लिये गृहस्थ उन चावल आदि को ठंडा करने के लिये सूपडे से या पंखे से या मोरपीछ के पंखे से या पत्ते से या शाखा या नै इली से या शाखा के पल्लव से, तथा पीछे से या पीछे के समूह से या वस्त्र से या वस्त्र के (पालव) छेडे से या हाथ से या मुख से या ऐसी अन्य कोई भी वस्तु से (मुखवायु या नै फूंक से) ठंडा करे या वस्त्र आदि से वीजकर ठंडा करे, तब वह साधु पहले से हि उपयोगवाला होकर जान ले एवं ऐसा करते हुए देखकर उन गृहस्थ को कहे कि- हे भाइ ! हे बहन ! ऐसा मत करो ! यदि आप यह आहारादि मुझे देना चाहते हो, तो ऐसा हि दीजिये...

अब वह गृहस्थ उस प्रकार साधु के कहने पर भी सूपडे या यावत् मुख से पवन देकर एवं लाकर वह आहारादि साधु को दे, तब वह साधु अनेषणीय जानकर उस आहारादि को ग्रहण न करें...

अब पिंडाधिकार में हि एषणा-दोषों के विषय में कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- यदि कोई गृहस्थ उष्ण पदार्थ को पंखे आदि से ठंडा करके देने का प्रयत्न करे तो साधु उसे ऐसा करने से इन्कार कर दे। वह स्पष्ट कहे कि हमारे लिए पंखे आदि से किसी भी पदार्थ को ठंडा करने की आवश्यकता नहीं है। इस पर भी यदि वह गृहस्थ साधु की बात को न मानकर उक्त उष्ण पदार्थ को पंखे आदि से ठंडा करके दे तो साधु उस आहार को ग्रहण करें। क्योंकि इस तरह की क्रिया से वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है।

अब वनस्पति काय की यतना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ३७४ ॥

से भियख् वा, से जं० असणं वा, वणस्सइकायपइड्डियं तहप्पगारं असणं वा, लाभे संते नो पडि० । एवं तसकाए वि ॥ ३७४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत्० अशनं वा, वनस्पतिकाय प्रतिष्ठितं तथाप्रकारं अशनं वा, लाभे सति न प्रति० । एवं त्रसकायेऽपि ॥ ३७४ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी, भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करते हुए यदि यह देखे कि गृहस्थ के वहां अन्नादि चतुर्विध आहार वनस्पति काय पर रखा हुआ है, तो ऐसे वनस्पतिकाय पर प्रतिष्ठित अशनादि को साधु प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे। इसी प्रकार त्रसकाय के विषय में भी जान लेना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आहारादि के लिये गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर जाने कि- यह चारों प्रकार के आहारादि वनस्पतिकाय के उपर रहे हुए हैं, अतः ऐसे आहारादि को ग्रहण न करें... इसी प्रकार त्रसकाय के विषय में भी जानीयेगा...

यहां "वनस्पतिकाय के उपर रहा हुआ" इत्यादि कहने से "निक्षिप्त" नाम का एषणा-दोष कहा... इसी प्रकार अन्य भी एषणा के दोषों को यथासंभव सूत्रों के माध्यम से जानीयेगा... और वे इस प्रकार हैं...

१. शंक्ति - आधाकर्म आदि की शंकावाला...
२. मक्षित - जल आदि से...
३. निक्षिप्त - पृथ्वीकाय आदि के उपर...
४. पिहित - बीजोरे आदि फलों से ढांके हुए...
५. संहत - बरतन में रहे हुए तुष (फोतरे) आदि को सचित्त पृथ्वीकाय आदि के उपर रखकर उसी बरतन से यदि आहारादि दे तब यह "संहत" दोष होता है...

- | | | |
|-----|------------|---|
| ६. | दायक - | दान देनेवाला बालक, वृद्ध आदि... |
| ७. | उन्मिश्र - | सचित्त से मिश्रित हो... |
| ८. | अपरिणत- | देने योग्य आहारादि अच्छी तरह से अचित्त न हुए हो, या दाता एवं ग्रहण करनेवालों के अच्छे भाव न हो... |
| ९. | लिप्त - | वसा = चरबी आदि से लिप्त हो... |
| १०. | छर्दित - | आहारादि देते हुए नीचे बिखेरता हुआ दे... यह एषणा के दश (१०) दोष हैं... |

अब पानक याने जल के विषय में कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के घर में आहार वनस्पति या त्रस प्राणी (क्षीन्द्रिय आदि प्राणियों) पर रखा हो या वनस्पति आदि खाद्य पदार्थों पर रखा हो तो साधु उस आहार को ग्रहण करें। इसका तात्पर्य यह है कि साधु के निमित्त स्थावर एवं त्रस किसी भी प्राणी को कष्ट होता हो तो साधु को ऐसा आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।

आहार की तरह पानी भी जीवन के लिए आवश्यक है और नदी, तालाब, कुएं आदि का जल सचित्त होता है। अतः साधु को कैसा पानी ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ३७५ ॥

से भियस्सु वा, से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तं जहा- उस्सेइमं वा १, संसेइमं वा २, चाउलोदगं वा ३, अण्णयरं वा तहप्पगारं पाणगजायं अहुणाथोयं अणंबिलं अण्णुकंतं अपरिणयं अविद्धत्थं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा । अह पुण एवं जाणिज्जा - धिराथोयं अंबिलं तुक्कंतं परिणयं विद्धत्थं फासुयं पडिगाहिज्जा । से भियस्सु वा, से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तं जहा- तिलोदगं वा ४, तुसोदगं वा ५, जवोदगं वा ६, आयामं वा ७, सोवीरं वा ८, सुद्धवियडं वा ९, अण्णयरं वा तहप्पगारं वा पाणगजायं पुव्वामेव आलोइज्जा - आउसोत्ति वा भड्ढणित्ति वा ! दाहिसि मे इत्तो अण्णयरं पाणगजायं ? से सेवं वयंतस्स परो वड्ढज्जा - आउसंतो समणा ! तुमं चेवेयं पाणगजायं पडिग्गहेण वा उस्सिंधिया णं उयत्तिया णं गिण्हाहि, तहप्पगारं पाणगजायं सयं वा गिण्हाहि, परो वा से दिज्जा, फासुयं लाभे संते पडिगाहिज्जा ॥ ३७५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः पानकजातं जानीयात्, तद् - तथा - उत्स्वेदितं वा १, संस्वेदितं वा २, तन्दुलोदकं वा ३, अन्यतरं वा तथाप्रकारं पानकजातं जानीयात्, अधुनाद्यौतं, अनाम्लं, अत्युत्क्रान्तं, अपरिणतं, अविध्वस्तं, अप्रासुकं यावत् न प्रतिगृहीयात् । अथ पुनः एवं जानीयात् - चिरात् धौतं आम्लं व्युत्क्रान्तं परिणतं विध्वस्तं प्रासुकं प्रतिगृहीयात् । सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः पानकजातं जानीयात्, तद्-यथा-तिलोदकं वा ४, तुषोदकं वा ५, यवोदकं वा ६, आचाम्लं वा ७, सौवीरं वा ८, शुद्धविकटं वा ९, अन्यतरं वा तथाप्रकारं वा पानकजातं पूर्वमेव आलोचयेत् - हे आयुष्मन् ! भगिनि ! वा, दास्यसि मे (महां) इतः अन्यतरत् पानकजातम् ? तस्य सः एवं वदतः परः वदेत्-हे आयुष्मन् श्रमण ! त्वमेवेदं पानकजातं पतद्ग्रहेण वा उत्सिञ्च्य अपवर्त्य वा गृहाण । तथाप्रकारं पानकजातं स्वयं वा गृहीयात्, परः वा तस्मै दद्यात्, प्रासुकं लाभे सति प्रतिगृहीयात् ॥ ३७५ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पार पानी के भेदों को जाने जैसे कि-चूर्ण से लिप्त बर्तन का धोवन, अथवा तिल आदि का धोवन, चावल का धोवन अथवा इसी प्रकार का अन्य कोई धोवन तत्काल का किया हुआ हो । जिसका कि स्वाद चलित नहीं हुआ हो, रस अतिक्रान्त नहीं हुआ हो । वर्ण आदि का परिणामन नहीं हुआ हो और शस्त्र से भी परिणत नहीं हुआ हो तो ऐसे पानी के मिलने पर भी उसे अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे । यदि पुनः वह इस प्रकार जाने कि यह धोवन बहुत देर का बनाया हुआ है और इसका स्वाद बदल गया है, रस का अतिक्रमण हो गया है, वर्ण आदि परिणत हो गया है और शस्त्र से भी परिणत हो गया है तो ऐसे पानी को प्रासुक जानकर साधु उसे ग्रहण कर ले ।

फिर वह साधु या साध्वी गृहस्थ के घर में जलार्थ प्रविष्ट होने पर जल के विषय में इस प्रकार जाने, यथा-तिलों का धोवन, तुषों का धोवन, यवों का धोवन तथा उबले हुए चावलों का जल, कांजी के बर्तन का धोवन एवं प्रासुक तथा उष्ण जल अथवा इसी प्रकार का अन्य जल इनको पहले ही देखकर साधु गृहपति से कहे-आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा- (स्त्री हो तो) हे भगिनि ! क्या मुझे इन जलों में से किसी जल को दोगी ? तब वह गृहस्थ, साधु के इस प्रकार कहने पर यदि कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! तुम इस जल के पात्र में से स्वयं उलीचकर और नितार कर पानी ले लो । गृहस्थ के इस प्रकार कहने पर साधु स्वयं ले ले अथवा गृहस्थ के देने पर उसे प्रासुक जान कर ग्रहण कर ले ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जल के लिये गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर जाने कि- उस्सेइमं याने यह जल आटे के उत्स्वेदन याने कणिक के लिये है... तथा संसेइमं याने बरतन को लगे हुए जलबिंदु का सुखना... तथा चाउलोदगं याने चावल का ओसामण... आदेश तो यह है कि- जल का स्वच्छ होना... इत्यादि जल यदि अनाम्ल याने अपने स्वाद से बदले न हो, तथा अचित्त न हुआ हो, परिणत न हुआ हो, विध्वस्त एवं प्रासुक न हुआ हो तो ऐसे जल को प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करें... और यदि इससे विपरीत याने अम्ल, व्युत्क्रांत परिणत यावत् प्रासुक हो तो ग्रहण करें...

तथा वह साधु जल के लिये गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर जाने कि- यह जल तिलों के द्वारा कोइक प्रकार से अचित्त हुआ है, इसी प्रकार- तुष, तथा यव, से अचित्त हुआ है... आचाम्ल याने ओसामण, सौवीर याने आरनाल (छासकी आछ) तथा शुद्धविकल याने गरम कीया हुआ अचित्त जल, इसी प्रकार अन्य भी तथाप्रकार के द्राक्षपानक याने द्राक्षजल इत्यादि पानी याने जल के प्रकारों को पहले से हि साधु उपयोग देकर जान ले और गृहस्थ को कहे कि- हे भाइ ! हे बहन ! यदि आप यह जल देना चाहते हो तो दीजीये... तब इस प्रकार कहते हुए साधु को वह गृहस्थ कहे कि- हे आयुष्मान् श्रमण ! आप अपने पात्र, टोकनी या कटाल से जल ग्रहण करो... इस प्रकार गृहस्थ से अनुज्ञा मीलने पर वह साधु स्वयं हि वह जल ग्रहण करें या अन्य गृहस्थ उन्हें दें... इस प्रकार प्रासुक जल प्राप्त होने पर साधु ग्रहण करे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को वह पानी ग्रहण करना चाहिए जो शस्त्र से परिणत हो गया है और जिसका वर्ण, गंध एवं रस बदल गया है । अतः बर्तन आदि का धोया हुआ प्रासुक पानी यदि किसी गृहस्थ के घर में प्राप्त हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है । इस प्रकार निर्दोष एवं एषणीय प्रासुक जल गृहस्थ की आज्ञा से स्वयं भी ले सकता है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि कभी गृहस्थ पानी का भरा हुआ बर्तन उठाने में असमर्थ है और वह आज्ञा देता है तो साधु उस प्रासुक एवं एषणीय पानी को स्वयं ले सकता है ।

प्रस्तुत सूत्र में ९ तरह के पानी के नामों का उल्लेख किया गया है- १. आटे के बर्तनों का धोया हुआ धोवन (पानी) । २. तिलों का धोया हुआ पानी, ३. चावलों का धोया हुआ पानी, ४. जिस पानी में उष्ण पदार्थ ठंडे किए गए हों, वह पानी, ५. तुषों का धोया हुआ पानी, ६. यवों का धोया हुआ पानी, ७. उबले हुए चावलों का निकाला हुआ पानी, ८. कांजी के बर्तनों का धोया हुआ पानी, ९. उष्ण-गर्म पानी । इसके आगे 'तहप्पगारं' शब्द से यह सूचित किया गया है कि इस तरह के शस्त्र से जिस पानी का वर्ण, गन्ध, रस बदल गया हो वह पानी

भी साधु ग्रहण कर सकता है। जैसे-ब्राह्मा का पानी, राख से मांजे हुए बर्तनों का धोया हुआ पानी आदि भी प्रासुक एवं ग्राह्य है।

इससे स्पष्ट हो गया कि साधु शस्त्र परिणत प्रासुक जल ग्रहण कर सकता है। यदि निर्दोष बर्तन आदि का धोया हुआ या गर्म पानी प्राप्त होता हो तो साधु उसे स्वीकार कर सकता है। इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ३७६ ॥

से भिक्खु वा, से जं पुण पाणगं जाणिज्जा, अणंतरहियाए पुढवीए जाव संताणए उद्धट्ट, निक्खित्ते सिया, असंजए भिक्खुपडियाए उदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा सकसाएण वा मतेण वा सीओदगेण वा संभोइत्ता आहट्ट दलइज्जा, तहप्पगारं पाणगजायं अफासुयं, एयं खलु सामग्गियं ॥ ३७६ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः पानकं जानीयात्-अनन्तरहितायां पृथिव्यां यावत् सन्तानके उद्वृत्त्य उद्वृत्त्य निक्षिप्तं स्यात्, असंयतः साधुप्रतिज्ञया उदकार्रेण वा, सस्निग्धेन वा, सकषायेण वा मात्रेण वा धीतोदकेन वा मिश्रयित्वा आहत्य दद्यात्, तथाप्रकारं पानकजातं अप्रासुकं, एतत् खलु सामग्यम् ॥ ३७६ ॥

III सूत्रार्थ :

जल के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर साधु या साध्वी जल के सम्बन्ध में यदि यह जान ले कि गृहस्थ ने प्रासुक जल को सचित पृथ्वी से लेकर मकड़ी आदि के जालों से युक्त पदार्थ पर रखा है या उसने उसे अन्य पदार्थ से युक्त बर्तन से निकाल कर रखा है या वह उन हाथों से दे रहा है जिससे सचित जल टपक रहा है या उसके हाथ जल से भीगे हुए हैं ऐसे हाथों से, या सचित पृथ्वी आदि से युक्त बर्तन से या प्रासुक जल के साथ सचित जल मिलाकर देवे तो इस प्रकार के जल को अप्रासुक जानकर साधु उसे ग्रहण न करे। यही संयमशील मुनि का समग्र आचार है। ऐसा में कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी न, यदि ऐसा जाने कि- यह जल सचित पृथ्वीकाय आदि में यावत् करोडीये (मकड़ी) के जाले में या अन्य बरतन में से निकाल निकालकर रखा हुआ है, तथा वह गृहस्थ साधु को देने के लिये जल से भीगे हाथों से या सचित पृथ्वी आदि से सहित पात्र (बरतन) से या ठंडा (कच्चा) जल मिलाकर के लाकर दे, तब ऐसा जल अप्रासुक

एवं अनेषणीय मानकर साधु ग्रहण न करें... यह हि साधु एवं साध्वीजी म. का संपूर्ण साधुपना है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि किसी गृहस्थ के घर पर प्रासुक पानी सचित पृथ्वी आदि पर रखा हुआ है, या उसमें सचित जल मिलाया जा रहा है, या उस सचित जल से गीले हाथों से या सचित पृथ्वी या रज आदि से भरे हुए हाथों से दे रहा है, तो साधु को वह पानी नहीं लेना चाहिए। क्योंकि उससे अन्य जीवों की हिंसा होती है। अतः साधु को वही प्रासुक पानी ग्रहण करना चाहिए जो सचित पृथ्वी, पानी, अग्नि वनस्पति आदि पर न रखा हो और गृहस्थ भी इन पदार्थों से युक्त न हो।

'तिबेभि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथमचूलिकायां प्रथमपिण्डैषणाध्ययने सप्तमः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्भरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री वृषभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. १६.卐 विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - १ उद्देशक - ८

卐 पिण्डैषणा 卐

सातवां उद्देशक कहा, अब आठवे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... इसका पूर्व के उद्देशक के साथ यह संबंध है कि- सातवे उद्देशक में जल का विचार किया, अब यहां आठवे उद्देशक में भी जल विषयक ही विशेष कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३७७ ॥

से भिक्खु वा, से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तं जहा - अंबपाणगं वा १०, अंबाडगपाणगं वा ११, कविडुपाण० १२, माउलिगपा० १३, मुदिया पा० १४, दालिम पा० १५, खजूर पा० १६, नालियेर पा० १७, करीर पा० १८, कोल पा० १९, आमलपा० २०, चिंचा पा० २१, अण्णयरं वा तहप्पगारं पाणगजातं सअड्डियं सकणुयं सबीयगं, अस्संजए भिक्खुपडियाए छब्बेण वा दूसेण वा वालगेण वा, आविलियाण पविलियाण परिसावियाण आहट्ट दलइज्जा, तहप्पगारं पाणगजायं अफा० लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ॥ ३७७ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः पानकजातं जानीयात्, तद्-यथा आम्रपानकं वा १०, अम्बाडक-पानकं वा ११, कपिस्थपानकं वा १२, मातुलिङ्ग पा० १३, द्राक्षा पा० १४, दाडिमपा० १५, खजूर पा० १६, नालिकेर पा० १७, करीर पा० १८, कोलपा० १९, आमलक पा० २०, चिंचा पा० २१, अन्यतरं वा तथाप्रकारं पानकजातं सास्थिकं सकणुकं सबीजकं असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया छब्बकेन वा दूष्येन वा वालकेन वा, आपीड्य परिपीड्य परिस्त्राव्य आहत्य दद्यात्, तथाप्रकारं पानकजातं अप्रासुकं लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात् ॥ ३७७ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के घर में पानी के निमित्त प्रवेश करने पर साधु या साध्वी पानी के विषय में इन बातों को जाने। जैसे कि-आम्रफल का पानी, अम्बाडगफल का पानी, कपित्थ फल का पानी, मातुलिङ्ग फल का पानी, द्राक्षा का पानी, अनार का पानी, खजूर का पानी, नारियल का पानी, करीर का पानी, बदरी फल-पानी, आंवले का पानी और इमली का पानी, तथा

इसी प्रकार का अन्य पानी, जो कि गुठली सहित, छाल सहित और बीज के साथ मिश्रित है, उसे यदि गृहस्थ भिक्षु के निमित्त बांस की छलनी से, वस्त्र से या बालों की छलनी से, एक बार अथवा अनेक बार छानकर और उसमें हुए गुठली छाल और बीजादि को छलनी के द्वारा अलग करके उसे दे तो साधु इस प्रकार के जल को अप्रासुक जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जल के लिये गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर जाने कि- यह जल आम के घोवण का जल है या अंबाडकजल, या कोठे का जल, या बीजोरे का जल, या द्राक्ष का जल, या दाडिम का जल, या खजूर का जल, या (श्रीफल) नारियेल का जल, या केर का जल, या कोल का जल, या आमले का जल या इमली का जल या अन्य ऐसे प्रकार के जल कि- जो (अस्थि) कुलकवाला है, छिल्लकेवाला है, बीजवाला है, अस्थि और बीज का स्वरूप आंवले आदि में विशेष रूप से प्रतीत होता है, तो ऐसे प्रकार के जल, यदि गृहस्थ साधुओं को देने के लिये द्राक्ष आदि का आर्मदन (चोलना-दबाना) करके तथा छिलके तथा बीज को निकालने के लिये वस्त्र या सुघरी (पक्षी) के माले (छलनी) से छानकर लाकर साधुओं को दे, तब ऐसे प्रकार के जल उद्गम-दोषवाले होने के कारण से प्राप्त होने पर भी साधु ग्रहण न करें...

उद्गम-दोष निम्न प्रकार के हैं...

१. आधाकर्म - साधु के लिये सचित्त को अचित्त किया जाय, या अचित्त को पकाया जाय...
२. औद्देशिक - पहले अपने लिये बनाये हुए लड्डू के चूरे में साधुओं को देने के लिये यदि गुड घी आदि से संस्कार करे तब वह आहारादि औद्देशिक दोषवाला होता है... और वह सामान्य एवं विशेष भेद से अनेक प्रकार का है कि- जो अन्य सूत्रों से जानीयेगा...
३. पूतिकर्म - जो शुद्ध आहार आधाकर्मवाले आहार से मिश्रित किया जाय वह... पूतिकर्म...
४. मिश्र - जो आहारादि पहले से हि साधु एवं गृहस्थों के लिये बनाया हो वह... मिश्रदोष...
५. स्थापना - जो आहारादि साधुओं को देने के लिये संभालकर रखा जाय, वह स्थापना-दोष...

६. प्राभृतिका - साधुओं की उपस्थिति को ध्यान में रखकर जो भी विवाहादि प्रसंग का समय (दिन) आगे-पीछे किया जाय वह...
७. प्रादुष्करण - साधुओं को आहारादि देने के लिये गवाक्ष खीडकी-दरवाजे आदि का खोलना या प्रकाश (दीया-लाइट) करना वह प्रादुष्करण-दोष...
८. क्रीत - धन (पैसा) देकर खरीदकर आहारादि साधुओं को देना वह क्रीतदोष...
९. प्रामित्य - साधुओं को देने के लिये जो आहारादि अन्य से "उधार" लेना वह प्रामित्य-
१०. परिवर्तित - साधुओं को देने के लिये जो गृहस्थ अपने पड़ोशी के घर से कोद्वय आदि के बदले में शालि-चावल आदि का अदला-बदला करे वह परिवर्तित- दोष...
११. अभ्याहत - गृहस्थ अपने घर से आहारादि लाकर साधुओं के उपाश्रय (वसति) में जाकर उन्हें दे, वह अभ्याहत दोष...
१२. उद्भिन्न - गोमय या मिट्टी आदि से लैपे हुए बरतन को खोलकर आहारादि साधु को दे, तब उद्भिन्न-दोष होता है...
१३. मालापहत - माले पे रहे हुए आहारादि को निसरणी आदि के द्वारा उतारकर यदि साधुओं को दे, तब मालापहत-दोष होता है...
१४. आच्छेद्य - नौकर आदि से बल जबरन लेकर जो आहारादि साधुओं को दीया जाय वह आच्छेद्य...
१५. अनिसृष्ट - दो-चार व्यक्तियों की सामान्य स्वामीत्व वाले आहारादि यदि उनकी अनुमति लिये बिना हि कोई एक व्यक्ति साधुओं को दे, तब अनिसृष्ट-दोष...
१६. अध्यवपूरक - अपने लिये बन रही रसोइ में यदि साधुओं का आगमन जानकर और अधिक रसोइ (चावल आदि) का प्रक्षेप करे तब अध्यवपूरक-दोष होता है...

इस प्रकार उद्गम के सोलह दोषों में से कोई भी दोष हो तब ऐसे आहारादि प्राप्त होने पर भी साधु ग्रहण न करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में २१ प्रकार के प्रासुक पानी का उल्लेख किया गया है। उसमें आम फल आदि के धोवन पानी के विषय में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ आम आदि को धोने के पश्चात् उस पानी को छान रहा है और उसमें रहे हुए गुठली छाल एवं बीज आदि को निकाल रहा है, तो साधु को उक्त पानी नहीं लेना चाहिए। क्योंकि वह वनस्पतिकार्यिक (बीज, गुठली आदि) जीवों से युक्त होने के कारण निर्दोष एवं ग्राह्य नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र में 'अस्थि' शब्द गुठली के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि आम के साथ उसका प्रयोग होने के कारण उसका गुठली अर्थ ही घटित होता है। द्राक्षा की अपेक्षा त्वक्-छाल, अनार आदि की अपेक्षा से बीज शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र का तत्पर्य यह है कि आम आदि फलों का धोया हुआ पानी एवं रस यदि गुठली, बीज आदि से युक्त है और उसे बांस की बनाई गई टोकरी या गाय के बालों की बनाई गई छलनी या अन्य किसी पदार्थ से निर्मित छलनी या वस्त्र आदि से एक बार या एक से अधिक बार छानकर तथा उसमें से गुठली, बीज आदि को निकाल कर दे तो वह पानी या रस साधु के लिए अग्राह्य है। क्योंकि इस तरह का पानी उद्गमादि दोषों से युक्त होता है। अतः साधु को ऐसा जल अनेषणीय होने के कारण ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अपने स्थान में स्थित साधु को भौतिक आहारादि पदार्थों से किस तरह अनासक्त रहना चाहिए, इस बात का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ३७८ ॥

से भिक्खु वा, आगंतारेसु वा, आरामागारेसु वा, गाहावडिगिहेसु वा, परियावसहेसु वा अण्णगंधाणि वा पाणगंधाणि वा, सुरभिगंधाणि वा आघाय, से तत्थ आसायपडियाए मुच्छिए गिद्धे गडिठए अज्झोववण्णे अहो गंधे, नो गंधमाघाडिजा ॥ ३७८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, आगन्तारेषु वा, आरामागारेषु वा, गृहपतिगृहेषु वा, पर्यावसथेषु वा, अन्नगन्धान् वा पानगन्धान् वा सुरभिगन्धान् वा आघ्राय आघ्राय सः तत्र आस्वादन

प्रतिज्ञया मूर्च्छित, गृद्धः, ब्रथित, अद्युपपन्नः अहो गन्धः अहो गन्धः न गन्धं
आजिघ्रेत् ॥ ३७८ ॥

III सूत्रार्थ :

धर्मशालाओं में, आरामशालाओं में, गृहस्थों के घरों में या परिव्राजकों के मठों में ठहरा हुआ साधु या साध्वी अन्न एवं पानी की तथा सुगन्धित पदार्थों कस्तूरी आदि की गन्ध को सुंघ कर उस गन्ध के आस्वादन की इच्छा से उसमें मूर्च्छित, गृद्धित, ब्रथित और आसक्त होकर हिंसा वाह ! क्या ही अच्छी सुगन्धि है, कहता हुआ उस गन्ध की सुवास न ले।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आगंतार याने नगर के बाहार जहां मुसाफिर आकर ठहरते हैं, तथा आरामगृह याने बगीचे-उद्यान में या गृहस्थों के घर में या भिक्षुकादि के मठों में इत्यादि स्थानों में आहार के गंध एवं जल-पान के गंध (सुगंध) को सुंघ-सुंघकर उनको खाने की पीने की इच्छा से मूर्च्छित हुआ, गृद्ध हुए, आदरवाले एवं उसी के विचारवाले होकर "अहो क्या सुगंध है," इत्यादि प्रकार से आदरवाले होकर गंध (सुगंध) को ग्रहण न करें...

अब और भी आहार के विषय में कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- धर्मशाला में, बगीचे में, गृहस्थ के मकान में, परिव्राजक-संन्यासी के मठ में अथवा किसी भी निर्दोष एवं एषणीय स्थान में ठहरा हुआ साधु अनासक्त भाव से अपनी साधना में संलग्न रहे। यदि उक्त स्थानों के पास स्वादिष्ट अन्न एवं पानी या अन्य सुवासित पदार्थों की सुहावनी सुवास आती हो तो वहां स्थित साधु उसमें आसक्त होकर उस सुवास को ग्रहण न करे और न यह कहे कि क्या ही मधुर एवं सुहावनी सुवास आ रही है। परन्तु, वह अपने मन आदि योगों को उस ओर से हटाकर अपनी साधना में-स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन-मनन आदि में लगा दे।

अब फिर से आहार ग्रहण करने के सम्बन्ध में सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ३७९ ॥

से भिक्खू वा, से जं, सालुयं वा विरालियं वा सासवनालियं वा अण्णयरं वा तहप्पमारं आमगं असत्थपरिणयं अफासु । से भिक्खू वा२ से जं पुण्, पिप्पलिं वा पिप्पलचुण्णं वा मिरियं वा मिरियचुण्णं वा सिग्गेरं वा सिग्गेरचुण्णं वा अण्णयरं वा

तहप्पगारं वा आमंगं वा असत्थपुं । से भियखू वा२ से जं पुण पलंबजायं जाणिज्जा, तं जहा--अंबपलंबं वा अंबाडगपलंबं वा तालपुं झिज्जिरिपुं सुरहिपुं सल्लरपुं अण्णयरं तहप्पगारं पलंबजायं आमंगं असत्थपुं । से भियखू वा२ से जं पुण पवालजायं जाणिज्जा, तं जहा-आसोत्थपवालं वा निग्गोहपुं पिलुंखुपुं निपूरपुं सल्लइपुं अण्णयरं वा तहप्पगारं पवालजायं आमंगं असत्थपरिणयं० से भियखू वा२ से जं पुण० सरडुयजायं जाणिज्जा, तं जहा सरडुयं वा कविट्टसरं दाडिमसरं बिल्लसरं अण्णयरं वा तहप्पगारं सरडुयजायं आमं असत्थपरिणयं० । से भियखू वा२ से जं पुं तं जहा-उंवरमंथुं वा नग्गोहमंथुं वा पिलुंखुमं० आसोत्थमं० अण्णयरं वा तहप्पगारं वा मंथुजायं आमयं दुरुक्कं साणुबीयं अफासुयं । ॥ ३७९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत्, सालुकं वा, विरालिकं वा, सर्षपनालिकं वा अन्यतरं वा तथाप्रकारं आमं अशस्त्रपरिणतं अप्रासुकं० । सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः० पिप्पली वा पिप्पलीचूर्णं वा मरिचं वा मरिचचूर्णं वा शृङ्गबेरं वा शृङ्गबेरचूर्णं वा अन्यतरं वा तथाप्रकारं वा आमं वा अशस्त्रपरि० । सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः पलम्बजातं जानीयात्, तद्यथा-आम्रपलम्बं वा अम्बाडकपलम्बं वा तालपुं झिज्जिरी (वल्ली) पलम्बं वा, सुरभिप० सल्लरपुं अन्यतरं तथाप्रकारं प्रलम्बजातं आमं अशस्त्रपरिणतं० । सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः प्रवालजातं जानीयात्, तद्यथा- अश्वत्थप्रवालं वा न्यग्रोधप्रवालं वा, पिप्परीपुं निपूरपुं सल्लकिपुं अन्यतरं वा तथाप्रकारं प्रवालजातं आमं अशस्त्रपरिणतं० । सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः० सरडुक जातं (अबद्धास्थिफलं) जानीयात्, तद्यथा-सरडुकं वा कपित्थसर० दाडिमसरं बिल्लसरं अन्यतरं वा तथाप्रकारं सरडुकजातं आमं अशस्त्रपरिणतं० । सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः० तद्यथा-उम्बरमन्थुं वा न्यग्रोधमन्थुं वा पिप्परीमन्थुं वा अश्वत्थमन्थुं वा अन्यतरं वा तथाप्रकारं वा मन्थुजातं आमं दुरुक्कं (ईषत्पिष्टं) साणुबीजं अप्रासुकं० । ॥ ३७९ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहपति के घर में प्रविष्ट जलज कन्द, और सर्षपनालिका कन्द तथा इसी प्रकार का अन्य कोई कच्चा कन्द कि- जो शस्त्रपरिणत नहीं हुआ ऐसे कन्द आदि को अप्रासुक जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे ।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होने पर साधु वा साध्वी पिप्पली, पिप्पली का चूर्ण, मिरच, मिरच का चूर्ण, अदरक, अदरक का चूर्ण, तथा इसी प्रकार का अन्य कोई पदार्थ या चूर्ण, कच्चा और अशस्त्र परिणत-जिसे शस्त्र परिणत नहीं हुआ हो ऐसा मिलने पर अप्रासुक जान कर ग्रहण न करे ।

गृहपति के घर में प्रविष्ट साधु या साध्वी प्रलम्बजात फलजात-फल समुदाय को जाने, देखे कि- यथा-आमप्रलम्ब आमफल का गुच्छा-फलसामान्य, अम्बाडण फल, ताडफल, लताफल, सुरभि फल, और शल्यकी का फल तथा इसी प्रकार का अन्य कोई प्रलम्बजात कच्चा और जो शस्त्र परिणत नहीं हुआ हो वह मिलने पर अप्रासुक जान कर ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट साधु या साध्वी प्रवालजात-पत्र समुदाय को जाने यथा अश्वत्थ प्रवाल, न्यग्रोध-वट प्रवाल, प्लक्ष प्रवाल, निपूर प्रवाल, नन्दी वृक्ष प्रवाल और शल्यकी प्रवाल तथा इस प्रकार का कोई अन्य प्रवालजात कच्चा अशस्त्रपरिणत (जिसे शस्त्रपरिणत नहीं हुआ) मिलने पर अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

गृहपति के घर में प्रविष्ट साधु या साध्वी अबद्धास्थि फल-कोमल फल को जाने, जैसे कि- आम वृक्ष का कोमल फल, कपित्थ का कोमल फल, अनार का कोमल फल और बिल्व का कोमल फल तथा इसी प्रकार का अन्य कोमल फल जो कि कच्चा और शस्त्र परिणत नहीं, ऐसा फल मिलने पर भी अप्रासुक जान कर साधु उसे परिग्रहण न करें...

गृहस्थी के घर में प्रविष्ट साधु या साध्वी मन्थु के सम्बन्ध में जानकारी करे जैसे- उदुम्बर मन्थु-चूर्ण, न्यग्रोधमन्थु, प्लक्षमन्थु, अश्वत्थमन्थु, तथा इसी प्रकार का अन्य मन्थुजात जो कि कच्चा और थोड़ा पीसा हुआ तथा सबीज अर्थात् जिसका कारण-योनि बीज विध्वस्त नहीं हुआ ऐसे चूर्ण जात को मिलने पर भी अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

IV टीका-अनुवाद :

इस सूत्र का अर्थ सुगम है, तो भी जो कठिन है वह कहते हैं- सायुंक याने जल में उत्पन्न होनेवाला कंद, विरालियं याने भूमि में हि उत्पन्न होनेवाला कंद, सासवनालियं याने सर्षपके कंद, तथा पिप्पली एवं मरिच तो प्रतीत हि है, तथा शृंगबेर याने आर्द्रक, तथा तथाप्रकार के आमले आदि आम याने कच्चे या शस्त्र से उपहत न हुए हो अर्थात् अचित्त न हुए हो, ऐसे उन्हे साधु ग्रहण न करें...

तथा प्रलम्बजात याने सामान्यफल, झिजिझरी याने वल्ली (वेलडी) के पाश (जाल) तथा सुरभि याने शतयु... इत्यादि...

तथा अश्वत्थं (पिंपल) तथा पिलुंखु याने पिप्पली, निपूर याने नन्दीवृक्ष, तथा सरडुय याने जिस में अस्थि (मिंज) न बंधे हो ऐसे फल, तथा कपित्थ (कोठे) आदि... तथा मन्थु याने चूर्ण, तथा दुरुक्क याने थोड़ा पीसा हुआ, और साणुबीय याने जिस बीज में योनि विनष्ट न हुई हो ऐसे बीज...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को अपक्व कन्द-मूल, वनस्पति एवं फल आदि नहीं लेने चाहिए। यदि कच्ची सब्जी शस्त्रपरिणत हो गई है तो वह ग्राह्य है, परन्तु, जब तक वह शस्त्रपरिणत नहीं हुई है, तब तक सचित है; अतः साधु के लिए अग्राह्य है।

'विरालियं' का अर्थ है-जमीन में उत्पन्न होने वाला कन्द विशेष। 'पलम्बजायं' का तात्पर्य फल से है। 'अबद्धा अत्थि फलं' का तात्पर्य है- वह फल जिस में अभी तक गुठली नहीं बन्धी है, ऐसे सुकोमल फल को 'सरडुय' कहते हैं 'मन्थु' का अर्थ चूर्ण होता है और 'साणुबीयं' का तात्पर्य है-वह बीज जिसकी योनि का अभी नाश नहीं हुआ है। 'झिज्जरी' शब्द लता विशेष का बोधक है। इस पाठ का तात्पर्य यह है कि साधु को सचित वनस्पति को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

पुनः आहार के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ३८० ॥

से भिक्खु वा, से जं पुणं आमडागं वा, पूइपिन्नागं वा, महं वा, मज्जं वा, सपिं वा, खोलं वा, पुराणगं वा, इत्थ पाणा अणुप्पसूयाइं जायाइं सुंवाडाइं अव्युयकंताइं अपरिणया इत्थ पाणा अविद्धत्था नो पडिगाहिज्जा ॥ ३८० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः० आमपत्रं वा, पूतिपुन्नागं वा, मधु वा, मद्यं वा सर्पिः वा खोलं वा, पुरानकं वा अत्र प्राणिनः अनुप्रसूताः जाताः संवृद्धाः अव्युत्क्रान्ताः अपरिणता अत्र प्राणिनः अविध्यस्ताः न प्रतिगृहीयात् ॥ ३८० ॥

III सूत्रार्थ :

गृहपति कुल में प्रदिष्ट हुआ साधु या साध्वी अर्द्धपक्व शाक, सड़ी हुई खल, मधु, मद्य, सर्पि-घृत, खोल-मद्य के नीचे का कर्दम-कीच इन पुराने पदार्थों को ग्रहण न करे, कारण कि- इन में प्राणी-जीव उत्पन्न होते हैं, जन्मते हैं, तथा वृद्धि को प्राप्त होते हैं और इन में प्राणियों का व्युत्क्रमण, परिणमन तथा विध्वंस नहीं होता, अर्थात् सजीव है अतः इसलिए मिलने पर भी उन पदार्थों को ग्रहण न करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब ऐसा जाने कि- यह अरणिक एवं तंदुलीयक आदि के

पत्ते अर्धपक्व या अपक्व है तथा पुतिपुन्नाग याने कुतखल, तथा मध, मघ, घी, और खोल याने मदिरा के नीचे जमा हुआ कर्दम (कादव-कीचड) यह सभी यदि पुराने हो तो ग्रहण न करें... क्योंकि- इन सभी पदार्थों में जीवजंतु उत्पन्न होते हैं... यहां विभिन्न देश के शिष्यजनों को समझाने के लिये एक अर्धवाले हि अनेक शब्द कहे गये हैं... अथवा तो इन अनुप्रसूत, जात, संवृद्ध, अव्युत्क्रांत, अपरिणत एवं अविध्वस्त शब्दों में परस्पर थोडा थोडा अर्थभेद भी है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को कच्चा पत्र, (वृक्षादि का पत्ता), सचित पत्र या अर्द्धपक्व पत्र एवं शाक-भाजी आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए और सड़ी हुई खल एवं पुराना मध, मधु (शहद), घृत और मघ के नीचे जमा हुआ कर्दम नहीं लेना चाहिए। क्योंकि ये पदार्थ बहुत दिनों के पुराने होने के कारण उनका रस विचलित हो जाता है और इस कारण उनमें त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए मुनि को ये पदार्थ ग्रहण नहीं करने चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त घृत तो साधु के लिए कल्पनीय है। परन्तु, मघ अकल्पनीय है, अतः मघ शब्द कुछ विचारणीय है। क्योंकि सूत्र में कहा गया है कि पुराना मघ एवं उसके नीचे जमा हुआ कर्दम (मैल) नहीं लेना, तो इसका अर्थ यह हो सकता है कि नया मघ लिया जा सकता है। किन्तु, आगमों में मघ एवं मांस का सर्वथा निषेध किया गया है। अतः यहां इसका यह अर्थ है-मघ के समान गुण वाला पदार्थ। यदि इसका तात्पर्य शराब से होता तो उसके अन्य भेदों का उल्लेख भी करते। क्योंकि सूत्र की यह एक पंक्ति है कि जिस वस्तु का उल्लेख करते हैं, उसके सब भेदों का नाम गिना देते हैं। यहां मघ शब्द के साथ अन्य नामों का उल्लेख नहीं होने से ऐसा लगता है कि मघ का अर्थ होगा- उसके सदृश पदार्थ। आगम में युगतियों के अधिकार में दश प्रकार के कल्पवृक्षों में 'मातंग' कल्प वृक्ष का नाम आता है। उसके फल मघ के समान मादक होते हैं। आजकल महुए के फलों को उसके समान समझ सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि मघ शब्द मदिरा का बोधक नहीं है। आगम में मदिरा का प्रबल शब्दों में निषेध किया गया है। इसके लिए दशवैकालिक सूत्र का ५वां अध्ययन द्रष्टव्य है। दशवैकालिक सूत्र प्रायः आचाराङ्ग का पद्यानुवाद है। इससे प्रस्तुत सूत्र का मदिरा सदृश पदार्थ अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

आहार के विषय में और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ३८९ ॥

से भिक्खु वा० से जं० उच्छुमेरगं वा अंककरेलुगं वा कसेरुगं वा सिंघाडगं वा

पुइआलुगं वा अण्णयरं वा० । से भिक्खू वा० से जं० उप्पलं वा उप्पलनालं वा भिसं वा भिसमुणालं वा, पुक्खलं वा पुक्खलविभंगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं० ॥ ३८९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत्० इक्षुगण्डिकां वा, अङ्ककरेलुकं वा कसेरुकं वा शृङ्गाटकं वा, पूति-आलुकं वा अन्यतरं वा० । सः भिक्षुः वा, सः यत्० उत्पलं वा उत्पलनालं वा पद्मकन्दमूलं वा पद्मकन्दमृणालं वा, पुष्कलं वा पुष्कलविभङ्गं वा अन्यतरं वा तथाप्रकारं० ॥ ३८९ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहपति कुल में प्रवेश करने पर साधु या साध्वी इस प्रकार से जाने, यथा-इक्षुखंड-गंडेरी, अंककरेल नामक वनस्पति, कसेरु, सिंघाडा और पूति आलुक तथा अन्य इसी प्रकार की वनस्पति विशेष जो शस्त्र परिणत नहीं हुई, उसे मिलने पर भी अप्रासुक जान कर साधु ग्रहण न करे ।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी यदि यह जान ले कि उत्पल-कमल, उत्पलकमल की नाल, उसका कन्द-मूल, उस कन्द के ऊपर की लता, कमल की केसर और पद्म कन्द तथा इसी प्रकार का अन्य कन्द कोई कच्चा हो, जो शस्त्र परिणत नहीं हुआ हो तो साधु मिलने पर भी उसे अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे ।

IV टीका-अनुवाद :

उच्छुमेरग याने छाल निकाले हुए शेरडी के टुकड़े, तथा अंककरेलुका आदि जल में उत्पन्न होनेवाली वनस्पतियां तथा अन्य भी तथाप्रकार की वनस्पतियां कि- जो कष्ठी याने शस्त्र से उपहत न हुई हो अर्थात् अचित्त न हुई हो, तो उनका ग्रहण न करें... वह साधु या साध्वीजी म. यदि ऐसा जाने कि- उत्पल याने नीलकमल तथा नीलकमल के नाल तथा पद्मकंद के मूल एवं पद्मकंद के ऊपर रहनेवाली लता, तथा पद्मकेशरा एवं पद्मकंद तथा ऐसे प्रकार के अन्य भी जो जो वनस्पतियां हो कि- जो आम याने सचित्त हो तो साधु प्राप्त होने पर भी उनका ग्रहण न करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को इक्षुखंड, कसेरु, सिंघाडा, उत्पल (कमल), उत्पल-नाल (कमल की डंडी), मृणाल (कमल के नीचे का कन्द) आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये सचित्त होते हैं, अतः जब तक शस्त्रपरिणत न हों तब तक साधु के लिए अवाह्य है ।

इस विषय में और पदार्थों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ३८२ ॥

से भिक्खू वा, से जं पु० अग्गबीयाणि वा मूलबीयाणि वा खंधबीयाणि वा पोरबीयाणि वा अग्गजायाणि वा मूलजा० खंधजा० पोरजा० नब्बत्थ तयकलिमत्थएण वा तयकलिसीसेण वा, नालियेरमत्थएण वा खज्जरिमत्थएण वा तालम० अन्नयरं वा तह० । से भिक्खू वा, से जं० उच्छुं वा काणगं वा अंगारियं वा संमिस्सं विग्गमियं वित्तगं वा कंदलीऊसुगं अण्णयरं वा तहप्प० ।

से भिक्खू वा, से जं पुण लसुणं वा लसुणपत्तं वा ल० नालं वा लसुणकंदं वा, ल० चोयगं वा अण्णयरं वा । से भिक्खू वा, से जं अच्छियं वा कुम्भीपक्कं तिंदुगं वा वेलुगं वा कासवनालियं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थप० । से भिक्खू वा, से जं० कणं वा कणकुण्डं वा कणपूयलियं वा चाउलं वा, चाउलपिड्डं वा तिलं वा तिलपिड्डं वा तिलपप्पडं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थप० लाभे संते नो प०, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं ॥ ३८२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः० अग्रबीजानि वा मूलबीजानि वा स्कन्धबीजानि वा पर्वबीजानि वा अग्रजातानि वा मूलजातानि वा स्कन्धजातानि वा पर्वजातानि वा, न अन्यत्र, तत्कलि-मस्तकेन वा तत्कलिशीर्षेण वा नालिकेरमस्तकेन वा खर्जूरमस्तकेन वा तालम० अन्यतरं वा तथा० । सः भिक्षुः वा२ सः यत्० इक्षुं वा काणकं वा अंगारकितं वा, संमिश्रं वृकभक्षितं वेत्राग्रं वा कन्दलीमध्यं अन्यतरं वा तथाप्रकारं० । सः भिक्षुः वा, सः यत्० लशुनं वा लशुनपत्रं वा, लशुननालं वा, लशुनकन्दं वा, लशुनबाह्यत्वक् वा अन्यतरं वा । सः भिक्षुः वा, सः यत्० अच्छियं वा कुम्भीपक्वं, टेम्बरुयं वा, बिल्वं वा श्रीपर्णीफलं वा अन्यतरं वा तथाप्रकारं आमं अशस्त्रपरि० । सः भिक्षुः वा, सः यत्० कणं वा कणकुण्डं वा कणपूपलिकां वा तन्दुलं वा तन्दुलपिष्टं वा तिलं वा तिलपिष्टं वा तिलपर्पटकं वा अन्यतरं वा तथाप्रकारं आमं अशस्त्रपरि० लाभे सति न प्रति० एवं खलु तस्य भिक्षोः सामग्र्यम् ॥ ३८२ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहपतिकुल में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी अग्रबीज, मूलबीज, स्कन्धबीज, तथा पर्वबीज, एवं अग्रजात, मूलजात, स्कन्धजात पर्वजात, इनमें इतना विशेष है कि ये उक्त स्थानों

से अन्यत्र उत्पन्न नहीं होते, तथा कन्दली के मध्य का गर्भ, कन्दली का स्तबक, नारियल का मध्यगर्भ, खजूर का मध्यगर्भ और ताड़ का मध्यगर्भ तथा इसी प्रकार की अन्य कोई कच्ची और अशखपरिणत वनस्पति, मिलने पर अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी इक्षु (इख) को, सछिद्र इक्षु की तथा जिसका वर्ण बदल गया, त्वचा फटगई एवं शृगालादि के द्वारा खाया गया ऐसा फल, तथा बैत का अग्रभाग और कन्दली का मध्यभाग तथा अन्य इसी प्रकार की वनस्पति, जो कि कच्ची और शख परिणत नहीं हुई, मिलने पर अप्रासुक जानकर साधु उसे स्वीकार न करे।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी लशुन, लशुन के पत्र, लशुन की नाल और लशुन की बाह्यत्वक्-बाहर का छिलका, तथा इसी प्रकार की अन्य कोई वनस्पति जो कि कच्ची और शखोपहत नहीं हुई है, मिलने पर अप्रासुक जान कर उसे ग्रहण न करे।

गृहपति कुलमें प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी अस्तिक (वृक्षविशेष) के फल, तिन्दुकफल, बिल्वफल और श्रीपर्णीफल, जो कि गर्त आदि में रखकर धुंए आदि से पकाए गए हों, तथा इसी प्रकार के अन्य फल जो कि कच्चे और अशख परिणत हों तब मिलने पर अप्रासुक जान कर उन्हें ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी शाल्यादि के कण कणमिश्रितकुक्कस, कणमिश्रित रोटी, चावल, चावलों का चूर्ण-आटा, तिल, तिलपिष्ठ-तिलकुट और तिलपर्पट-तिलपपडी तथा इसी प्रकार का अन्य पदार्थ जोकि कच्चा और अशख परिणत हो, मिलने पर अप्रासुक जान कर उसे ग्रहण न करे। यह साधु का समग्र-सम्पूर्ण आहार है।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब ऐसा जाने कि- यह जपाकुसुमादि अग्रबीज हैं तथा जाड़ आदि मूलबीज हैं, सल्यकी आदि स्कंधबीज हैं इक्षु (शेलडी) आदि पर्वबीज हैं, तथा अग्रजात, मूलजात, स्कंधजात, पर्वजात कि- जो अन्य अग्रबीज आदि से लाकर अन्य जगह नहि उगे हुए हैं, किंतु वहीं अग्रबीजादि में हि उत्पन्न हुए वे अग्रजातादि... तथा उनकी कली के मस्तक याने गर्भ, तथा कलीका शीर्ष याने स्तबक (गुच्छा) है... तथा नालियेर के मस्तक (गर्भ) तथा खजूर के मस्तक, तथा ताल का मस्तक, इसी प्रकार के कोई अन्य भी हो... और वह आम याने कच्चा तथा शख से परिणत न होने से, अचित्त हुआ न हो, तो ग्रहण न करे...

वह साधु या साध्वीजी म. जब जाने कि- यह इक्षु (शेलडी) रोगादि के कारण से छिद्रवाली है, या खराब वर्णवाली हुई है, या छिलका फुटे हुए छिलकेवाली है, या वरु एवं शियाल

आदि से कुछ खाइ हुई है... अतः इतने हि मात्र छिद्र आदि से वह शेलडी प्रासुक याने अचित नहि होती... तथा वेत्र का अग्र, तथा कंदली का मध्य, तथा अन्य भी कोई इसी प्रकार आम याने कच्चे हो, तथा शस्त्र से उपहत के अभाव में अचित न हुए हो तो ग्रहण न करें... इसी प्रकार लहसुन के विषय में भी स्वयं हि जानीयेगा... किंतु चोयगं याने कोशिकाकारवाली जो लहसुन की बाहार की छल्ली है, वह जब तक आर्द्र हो तब तक सचित है... तथा अच्छियं याने एक वृक्ष विशेष का फल, तथा तेंदुयं याने टेंबरुय, वेलुयं याने बिल्व, कासवनालियं याने श्रीपर्णी का फल यहां इन सभी के साथ कुंभीपक्व शब्द को जोडीयेगा... यहां सारांश यह है कि- जो अपरिपक्व (कच्चे) अच्छिक आदि फल गर्ता (खड़े) आदि में रखकर बलात्कार के पकाये जाते हैं वे आम याने कच्चा, अर्थात् अपरिणत हो तब उनको साधु ग्रहण न करें...

तथा कण याने शालि आदि कणिका, तथा कणिककुंड याने कणिका से मिश्रित बुक्कस, तथा कणपूपलिका याने कणिका से मिश्रित पूपलिका, यहां भी अपरिपक्वता के कारण से इन सभी पदार्थों को साधु ग्रहण न करें... यह हि साधु का सच्चा साधुपना है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- अग्रबीज, मूलबीज, स्कन्धबीज, पर्वबीज, मूलजात, स्कन्धजात, पर्वजात तथा कन्द का, खजूर का एवं ताड़ का मध्य भाग तथा इक्षु या शृगाल आदि से खाया हुआ फल, लहसुन का छिलका, पता, त्वचा या बिल्व आदि के फल आदि सभी तरह की वनस्पति जो सचित है, अपक्व है, शस्त्रपरिणत नहीं हुई है, तो साधु को उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अग्रबीज' एवं 'अग्रजात' में यह अन्तर है कि अग्रबीज को भूमि में बो देने पर उस वनस्पति के बढ़ने के बाद उसके अग्रभाग में बीज उत्पन्न होता है, जबकि अग्रजात अग्रभाग में ही उत्पन्न होता है, अन्यत्र नहीं। वृत्तिकार ने 'नन्नतथ' शब्द के दो अर्थ किए हैं- एक तो अन्यत्र उत्पन्न नहीं होते हैं और दूसरा अर्थ यह किया है कि कदली (केला) आदि फलों का मध्य भाग छेदन होने से नष्ट हो जाता है। इस तरह वे फल अचित होने से ब्राह्म हैं। परन्तु, इन अचित फलों को छोड़ कर, अन्य अपक्व एवं शस्त्र से परिणत नहीं हुए फलों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसी तरह शृगाल आदि पशु या पक्षियों के द्वारा थोड़ा सा खाया हुआ तथा अग्नि के धुंए से पकाया हुआ फल भी ब्राह्म है।

प्रस्तुत सूत्र का अनुशीलन-परिशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में साधु प्रायः बगीचों में ठहरते थे। शृगाल आदि द्वारा भक्षित फल बगीचों में ही उपलब्ध हो सकते हैं। क्योंकि शृगाल आदि जङ्गलों में ही रहते एवं घूमते हैं, वे घरों में आकर फलों को नहीं खाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि उस युग में साधु अधिकतर बगीचों में ही ठहरते थे।

इसी कारण वनस्पति की ग्राह्यता एवं अग्राह्यता पर विशेष रूप से विचार किया गया है। जैसे गरम पानी के झरने भी बहते हैं, परन्तु फिर भी वह पानी साधु के लिए अग्राह्य है। इसी तरह कृत्रिम साधनों से पकाए जाने वाले फल भी अग्राह्य हैं। क्योंकि वह उष्ण योनि के जीवों का समूह होने से सचित हैं। इसी तरह कुछ फल ऐसे हैं, जो अपक्व एवं शस्त्र परिणत नहीं होने के कारण साधु के लिए अग्राह्य हैं। इस तरह साधु को सब्जी ग्रहण करते समय उसकी सचितता एवं असचितता का सूक्ष्म अवलोकन करना चाहिए। इस तरह प्रासुक सब्जी ग्रहण करने पर ही उसका अहिंसा महाव्रत निर्दोष रह सकता है। यहां सारांश यह है कि- साधु के लिए अप्रासुक, अनेषणीय सब्जी ग्रहण करने का निषेध किया गया है।

‘तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए।

॥ प्रथमचूलिकायां प्रथमे पिण्डैषणाध्ययने अष्टमः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रथमः :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. १६.卐 विक्रम सं. २०५८.

卐卐卐

आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - १ उद्देशक - १

卐 पिण्डैषणा 卐

आठवा उद्देशक कहा, अब नववे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... यहां परस्पर यह संबंध है कि- आठवे उद्देशक में अनेषणीय आहारादि पिंड का त्याग करने का कहा, अब यहां नववे उद्देशक में भी यह ही बात प्रकारांतर से कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३८३ ॥

इह खलु पाईणं वा, संतेगइया सइढा भवन्ति, गाहावई वा जाव कम्मकरी वा तेसिं च णं एवं वुत्तपुल्लं भवइ, जे इमे भवन्ति समणा भगवन्तो सीलवन्तो वयवन्तो गुणवन्तो संजया संवुडा बंभयारी उवरया मेहुआणो धम्माओ, नो खलु एएसिं कप्पइ आहाकम्मिए असणे वा, भुत्तए वा । से जं पुण इमं अमहं अप्पणो अट्टाए निट्ठियं तं असणं, सच्चमेयं समणाणं निसिरामो, अवियाई वयं पच्छा अप्पणो अट्टाए असणं वा, चेइस्सामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुब्बा निसम्म तहप्पगारं असणं वा अफासुयं० ॥ ३८३ ॥

II संस्कृत-छाया :

इह खलु प्राच्यादौ दिशि सन्ति, एके श्राद्धाः भवन्ति, गृहपतिः वा यावत् कर्मकरी वा, तेषां च एवं उक्तपूर्वं भवेत्, ये इमे श्रमणाः भगवन्तः शीलवन्तः व्रतवन्तः संयताः संवृताः ब्रह्मचारिणः उपरताः मैथुनात् धर्मात्, न खलु एतेषां कल्पते आधाकर्मिकं अशनं वा, भोयतुं वा पातुं वा । सः यत् पुनः इदं अस्माकं आत्मार्थं निष्ठितं, तं अशनं वा, सर्वमेतत् श्रमणेभ्यः प्रयच्छामः, अपि च वयं पश्चात् आत्मार्थं अशनं वा, चेतयिष्यामः, एतत्-प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निश्चय्य तथाप्रकारं अशनं वा, अप्रासुकं० ॥ ३८३ ॥

III सूत्रार्थ :

इस क्षेत्र में पूर्वादि चारों दिशाओं में कई गृहपति एवं उनके परिजन आदि श्रद्धावान् सदगृहस्थ रहते हैं, और वे परस्पर मिलने पर इस प्रकार बातें करते हैं कि ये पूज्य श्रमण शील निष्ठ हैं, व्रतधारी हैं, गुण संपन्न हैं, संयमी हैं, संवृत-आस्रवों का निरोध करने वाले हैं, परमब्रह्मचारी हैं, मैथुन धर्म से सर्वथा निवृत्त हैं । इनको आधाकर्मिक अशनादि चतुर्विध आहार लेना कल्पता नहि है । अतः हमने जो अपने लिए आहार बनाया है, वह सब आहार इन श्रमणों को दे देंगे, और हम अपने लिए और आहार बना लेंगे । उनके इस प्रकार के वार्तालाप को

सुन कर तथा विचार कर साधु इस प्रकार के आहार को अप्रासुक जानकर मिलने पर भी ग्रहण न कर।

IV टीका-अनुवाद :

यहां प्रज्ञापक क्षेत्र में याने प्रज्ञापक की अपेक्षा से पूर्व आदि दिशाओं में पुरुष (मनुष्य) हैं, उनमें से कितनेक श्रद्धालु हैं... वे भद्रक प्रकृतिवाले श्रावक, तथा और अन्य गृहपति यावत् कर्मचारी (दासी) हैं... उन्होंने पहले से ही ऐसा कहा हो कि- जो यह श्रमण साधुभगवंत, अद्धारह हजार (१८०००) शीलांग को धारण करनेवाले शीलवंत, तथा पांच महाव्रत एवं छठे रात्रिभोजन विरमण व्रत को धारण करनेवाले व्रतवाले, तथा पिंडविशुद्धि आदि उत्तर गुणवाले गुणवंत, तथा पांच इंद्रियां एवं मन (नोइंद्रिय) के संयमवाले संयत, तथा आश्रव द्वारों का निरोध करनेवाले संवृत, तथा ब्रह्मचर्य की गुप्ति से गुप्त ऐसे ब्रह्मचारी, तथा अद्धारह भेदवाले अब्रह्म स्वरूप मैथुन से उपरत (संयत) ऐसे उन्हें आधाकर्मादि दोषवाले आहारादि लेना कल्पता नहि है, अतः जो यह अपने लिये आहारादि तैयार कीये हुए है, वह अशन, पान आदि इन साधुओं को दे रहें हैं... तथा हम बादमें अपने लिये आहारादि बनाएंगे... इत्यादि प्रकार की घोषणा सुनकर या अन्य से जानकर साधु पश्चात्कर्म (दोष) के भयसे वह आहारादि अनेषणीय एवं अप्रासुक मानकर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को अपने घर में आया हुआ देखकर यदि कोई श्रद्धालु गृहस्थ एक-दूसरे से कहें कि ये पूज्य श्रमण संयम निष्ठ हैं; शीलवान हैं, ब्रह्मचारी हैं। इसलिए ये आधाकर्म आदि दोषों से युक्त आहार नहीं लेते हैं। अतः हमने जो अपने लिए आहार बनाया है, वह सब आहार इन्हें दे दें और अपने लिए फिर से आहार बना लेंगे। इस तरह के विचार सुन कर साधु उक्त आहार को ग्रहण न करे। क्योंकि इससे साधु को पश्चात्कर्म दोष लगेगा।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त तीन शब्द विशेष विचारणीय हैं- १. सद्ददा, २. असण ३. वेइस्सामो। १. सद्ददा-प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने श्रावक एवं उपासक दोनों शब्दों का उपयोग न करके 'सद्ददा' शब्द का उपयोग किया है। इसका तात्पर्य यह है कि व्रतधारी एवं साधुसामाचारी से परिचित श्रावक इतनी भूल नहीं कर सकता कि वह पश्चात्कर्म का दोष लगाकर साधु को आहार दे। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि इस तरह का आहार देने का विचार करने वाला व्यक्ति श्रद्धानिष्ठ भक्त हैं, परन्तु साधु के आचार से पूरी तरह परिचित नहीं है। वह इतना तो जानता है कि ये आधाकर्म आदि आहार ग्रहण नहीं करते हैं। परन्तु उसे यह ज्ञात नहीं है कि ये पश्चात्कर्म दोष युक्त आहार भी ग्रहण नहीं करते हैं। अतः यहां

यह स्पष्ट कर दिया गया है कि चाहे दाता श्रद्धालु हो, प्रकृति का भद्र हो, दोषों से अज्ञात हो फिर भी साधु को इस तरह का सद्बोध आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।

२. असणं वा-सूत्रकार ने जगह-जगह चार प्रकार के आहार का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मद्य-मांस आदि का आहार साधु के लिए सर्वथा अब्राह्य है। यदि इस प्रकार के पदार्थ ब्राह्म्य होते तो जगह-जगह चार प्रकार के आहार का ही ग्रहण न करके, अन्य प्रकार के आहार को भी साथ जोड़ देते।

३. चेइस्सामो- इससे स्पष्ट होता है कि साधु को आहार देने के बाद फिर से ६ काय का आरम्भ करके आहार तैयार करने का विचार करके दिया जाने वाला आहार भी सद्बोध माना गया है। अतः आहार शुद्धि के लिए साधु को बड़ी सावधानी से गवेषणा करनी चाहिए।

इसी विषय में कुछ और जानकारी कराते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ३८४ ॥

से भियखू वा, वसमाणे वा० गामाणुगामं वा दूइज्जमाणे, सः जं० ग्रामं वा जाव रायहाणि वा इमंसि खलु गामंसि वा रायहाणिसि वा संतेगइयस्स भियखुस्स पुरे संथुया वा पच्छासंथुया वा परिवसंति, तं जहा-गाहावई वा जाव कम्म० तहप्पगाराइ कुलाइं नो पुव्वामेव भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमिज्ज वा पविसेज्ज वा, केवली बूया-आयाणमेयं, पुरा पेहाए तस्स परो अट्ठाए असणं वा, उवकरिज्ज वा उवक्खडिज्ज वा, अह भियखूणं पुव्वोवइट्ठा, जं नो तहप्पगाराइं कुलाइं पुव्वामेव भत्ताए वा पाणाए वा पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा, से तमायाय एगंतमवयकमिज्जा, अणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा।

से तत्थ कालेणं अणुपविसिज्जा, तत्थियरेयरेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं एसित्ता आहारं आहारिज्जा, सिया से परो कालेण अणुपविट्ठस्स आहाकम्मियं असणं वा, उवकरिज्ज वा उवक्खडिज्ज वा, तं घेगइओ तुसिणीओ उवेहेज्जा, आहडमेव पच्चाइक्खस्सामि, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसोत्ति वा भइणित्ति वा ! नो खलु मे कप्पइ आहाकम्मियं असणं वा, उवक्खडावित्ता अफासुयं ॥ ३८४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, वसन् वा ग्रामानुगामं वा गच्छन्, सः यत्० ग्रामं वा यावत् राजधानीं वा, अस्मिन् खलु ग्रामे वा राजधान्यां वा सन्ति एकस्य भिक्षोः पूर्वसंस्तुताः

वा पश्चात्संस्तुताः वा परिवसन्ति, तद्यथा-गृहपतिः वा यावत् कर्म० तथाप्रकाराणि कुलानि न पूर्वमेव भक्तार्थं वा पानार्थं वा निष्क्रामेत् वा प्रविशेत् वा, केवली ब्रूयात्-आदानमेतत्, पूर्वपिक्षया तस्य परः अर्थाय अशनं वा उपकुर्यात् वा, पचेत् वा, अथ भिक्षुणां पूर्वोपदिष्टा, यत् न तथाप्रकाराणि कुलानि पूर्वमेव भक्तार्थं वा पानार्थं वा प्रविशेत् वा निष्क्रामेत् वा, सः तमादाय एकान्तमपक्रामेत्, अपक्रम्य च अनापातमसंलोके तिष्ठेत् ।

सः तत्र कालेन अनुप्रविशेत्, अनुप्रविश्य च तत्र इतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः सामुदानिकं एषणीयं वैशिकं पिण्डपातं एषित्वा आहारं आहारयेत्, स्यात् तस्य परः कालेन अनुप्रविष्टस्य आधाकर्मिकं अशनं वा उपकुर्यात् वा पचेत् वा, तं च एककिकः तुष्णीभावेन उपेक्षेत, आहतमेव प्रत्याख्यास्यामि, इति मातृस्थानं संस्पृशेत्, न एवं कुर्यात्, सः पूर्वमेव आलोचयेत् - हे आयुष्मन् ! भगिनि ! वा, न खलु मे (महां) कल्पते आधाकर्मिकं अशनं वा भोक्तुं वा पातुं वा, मा उपकुरु मा पच । सः तस्य एवं वदतः परः आधाकर्मिकं अशनं वा कृत्वा आहत्य दद्यात्, तथाप्रकारं अशनं वा अप्रासुकं० ॥ ३८४ ॥

III सूत्रार्थ :

शारीरिक अस्वस्थता एवं बान्धव्य के कारण एक ही स्थान पर रहने वाले या ग्रामानुग्राम विहार करने वाले साधु या साध्वी के किसी गांव या राजधानी में, माता-पिता या श्वसुर आदि सम्बन्धिजन रहते हों या परिचित गृहपति, गृहपत्नी यावत् दास-दासी रहती हों तो इस प्रकार के कुलों में भिक्षाकाल से पूर्व आहार-पानी के लिए उनके घर में आए-जाए नहीं। केवली भगवान कहते हैं कि यह कर्म आने का मार्ग है। क्योंकि आहार के समय से पूर्व उसे अपने घर में आए हुए देखकर वह उसके लिए आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार एकत्रित करेगा या पकाएगा। अतः भिक्षुओं को पूर्वोपदिष्ट तीर्थकर आदि का उपदेश है कि इस प्रकार के कुलों में भिक्षा के समय से पूर्व आहार-पानी के लिए आए-जाए नहीं, किन्तु वह साधु स्वजनादि के कुल को जानकर और जहां पर न कोई आता-जाता हो और न देखता हो, ऐसे एकान्त स्थान पर चला जाए। और जब भिक्षा का समय हो, तब ग्राम में प्रवेश करे और स्वजन आदि से भिन्न कुलों में सामुदानिक रूप से निर्दोष आहार का अन्वेषण करे। यदि कभी वह गृहस्थ भिक्षा के समय प्रविष्ट हुए भिक्षु के लिए भी आधाकर्म आहार एकत्रित कर रहा हो या पका रहा हो और उसे देखकर भी कोई साधु इस भाव से मौन रहता हो कि जब वह लेकर आएगा तब इसका प्रतिषेध कर दूंगा तो मातृस्थान-माया का स्पर्श होता है। अतः साधु ऐसा न करे, अपितु वह देखते ही कह दे कि हे आयुष्मन् ! गृहस्थ ! अथवा भगिनि ! मुझे आधाकर्मिक आहार-पानी खाना और पीना नहीं कल्पता है, अतः मेरे लिए इसको एकत्रित न करो और न पकाओ। उस भिक्षु के इस प्रकार कहने पर भी यदि वह गृहस्थ, आधाकर्म आहार को एकत्रित करता है या पकाता है, और उसे लाकर देता है तो इस प्रकार

के आहार को अप्राप्तुक जानकर वह ग्रहण न करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. गांव यावत् राजधानी में रहते हुए या ग्रामानुग्राम विहार करते हुए, ऐसा जाने कि- इस गांव यावत् राजधानी में किसी एक साधु के माता-पिता चाचा आदि पूर्व परिचित, अथवा शशुरादि पश्चात् परिचित रहते हैं... और गृहपति या यावत् कर्मकरी रहते हैं... तब तथाप्रकार के कुल-घरों में आहारादि के लिये न प्रवेश करें और न निकलें... गणधर म. कहते हैं कि- यह बात में मेरे मनसे नहि कहता हूँ किंतु केवलज्ञानी प्रभुजी कहते हैं कि- यह आदान याने कर्मबंध का कारण है... यह बात वह साधु पहले से ही विचारे... तथा वे गृहस्थ लोग यदि उन साधुओं के लिये आहारादि की तैयारी करें या रसोइ बनावें...

तब साधुओं की यह पूर्व कह गई प्रतिज्ञा है कि- तथा प्रकार के स्वजन-संबंधिजनों के घरों में भिक्षाकाल के पहले ही आहारादि के लिये न प्रवेश करें या न निकलें...

अब इस स्थिति में क्या करना चाहिये ? यह बात अब कहते हैं- वह साधु स्वजनों के घर को जानकर कोई स्वजन न जाने इस प्रकार एकांत (निर्जन जगह) में जायें... एकांत जगह में जाकर वे स्वजनादि न आवें और न देखें इस प्रकार रहें... तथा वह साधु उस स्वजनवाले गांव में भिक्षा के समय में ही प्रवेश करें... और प्रवेश करके स्वजनों के सिवा अन्य अन्य घरों में से उद्गमादि दोष रहित एषणीय, तथा उत्पादनादि दोष रहित "वैषिक" आहारादि-भिक्षा की एषणा करके ब्रासैषणादि दोष रहित उन आहारादि को वापरें... (आहार करें-भोजन करें...)

अब यहां उत्पादना के सोलह दोष का स्वरूप कहते हैं...

१. धात्रीपिंड... आहारादि प्राप्त करने के लिये गृहस्थ-दाता के बच्चों पर उपकार करें... तब धात्री-दोष...
२. दूतीपिंड - गृहस्थों के आपस आपस के कार्यों को जोड़ने के लिये "दूत" का कार्य करें...
३. निमित्तपिंड... आहारादि की प्राप्ति के लिये जब साधु अंगुष्ठ-प्रश्न आदि करें तब निमित्तपिंड...
४. आजीविका-पिंड... आहारादि की प्राप्ति के लिये साधु अपनी जाति-कुल की प्रशंसा करें...

५. वनीकपिंड... गृहस्थ-दाता की जहां भक्ति हो उसकी प्रशंसा करे तब वनीकपिंड दोष होता है...
 ६. चिकित्सापिंड - छोटे - बड़े रोगों का निदान एवं चिकित्सा - दवाइयां बताने से...
 ७. क्रोधपिंड - क्रोध (गुस्सा) दिखाकर जो आहारादि प्राप्त किये जाय, वह क्रोधपिंड कहलाता है...
 ८. मानपिंड... अपनी जाति - कुल - ज्ञान - तप आदि का उत्कर्ष दिखलाने से...
 ९. माया पिंड... आहारादि प्राप्ति के लिये माया-कपट करे तब मायापिंड दोष होता है...
 १०. लोभपिंड... लोभ-लालच दिखलाकर जो आहारादि प्राप्त किये जाय वह लोभपिंड...
 ११. पूर्वपश्चात्संस्तवपिंड... आहारादि की प्राप्ति के लिये साधु गृहस्थों के साथ अपना पूर्व (माता-पितादि का) परिचय दे या पश्चात् याने सास-ससुराल का परिचय दे तब यह पूर्वपश्चात् संस्तवपिंड...
 १२. विद्यापिंड - विद्या के बल पर, जो आहारादि प्राप्त किये जाय वह विद्यापिंड दोष है...
 १३. मंत्रपिंड - मंत्र - जाप के द्वारा जो आहारादि प्राप्त किये जाय वह मंत्रपिंड कहलाता है...
 १४. चूर्णपिंड - वशीकरण एवं संमोहन आदि के लिये जो चूर्ण का प्रयोग किया जाय वह चूर्णपिंड...
 १५. योगपिंड - अंजन (पादलेप) आदि योग के द्वारा जो आहारादि प्राप्त किया जाय वह योगपिंड...
 १६. मूलकर्मपिंड - जिस कार्य से गर्भ-पतन हो इत्यादि कार्य करने से "मूल" नाम का प्रायश्चित्त लगता है वह मूलकर्मपिंड दोष है...
- यह सोलह दोष आहारादि की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं अतः वे उत्पादन दोष कहलाते हैं... तथा ब्राह्मण के पांच दोष इस प्रकार हैं...
१. संयोजना - स्वाद की लोलुपता से साधु आहारादि में दहिं, गुड आदि का संयोजन करे तब "संयोजना" दोष होता है...
 २. प्रमाण - बत्तीस (३२) कवल से अधिक आहार वापरने से प्रमाण दोष लगता है...

3. अंगार-दोष - आहारादि को राग से, आसक्ति से वापरने से साधु के चारित्र को अंगारे लगते हैं, चारित्र जलकर भ्रम हो जाता है अतः यह "अंगार" दोष है...
४. धूमदोष - अंत - प्रांत नीरस - तुच्छ आहार आदि वापरते वरुत साधु को आहारादि के उपर द्वेष हो तब धूम-दोष लगता है...
५. कारणाभावदोष - वेदना, ईयांसिमिति आदि छह (६) कारणों के सिवा यदि साधु आहारादि ग्रहण करे तब "कारणाभाव" दोष लगता है...

अतः प्रासुक एवं एषणीय आहारादि प्राप्त होने के बाद भी साधु ग्रासैषणा के दोष न लगे, इस प्रकार आहारादि वापरें...

अब कहते हैं कि- कभी ऐसा हो कि- वह गृहस्थ भिक्षा के समय पर प्रवेश कीये हुए उस साधु के लिये यदि आधाकर्मदि दोषवाले आहारादि बनावे, तब यदि वह साधु मौन रहकर उपेक्षा करे और सोचे कि- जब वे गृहस्थ लोग आहारादि देने लगेंगे तब मैं उन्हें मना करूंगा... किंतु ऐसा करने से वह साधु माया-स्थान को प्राप्त करता है, अतः साधु को ऐसा नहि करना चाहिये...

इस स्थिति में साधुओं को क्या करना चाहिये. वह बात अब कहते हैं - वह साधु पहले से हि उपयोगवाला होकर सावधान रहें, और देखे कि- गृहस्थ साधुओं के लिये आहारादि तैयार कर रहे हैं, तब साधु उन्हें कहे कि- हे भाइ ! हे बहिन ! ऐसा आधाकर्मदिवाले आहारादि हमें वापरना कल्पता नहि है... अतः आप हमारे लिये रसोइ न बनावें... यदि साधु ऐसा कहे तो भी वह गृहस्थ आधाकर्मदि दोषवाले आहारादि बनाकर साधुओं को दे, तब साधु ऐसे आहारादि प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में दो बातों का उल्लेख किया गया है- १. साधु आहार का समय होने से पहले अपने पारिवारिक व्यक्तियों के घरों में आहार को न जाए; क्योंकि उसे अपने यहां आया हुआ जानकर वे स्नेह एवं श्रद्धा-भक्ति वश सदोष आहार तैयार कर देंगे। इस तरह साधु को पूर्वकर्म दोष लगेगा। २. यदि कोई गृहस्थ साधु के लिए आधाकर्म आहार बना रहा हो, तो उसे देखकर साधु को स्पष्ट कह देना चाहिए कि यह आहार मेरे लिए ग्राह्य नहीं है। यदि इस बात को जानते-देखते हुए भी साधु उस गृहस्थ को आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार बनावे से नहीं रोकता है, तो वह माया का सेवन करता है। यदि साधु के इन्कार करने के बाद भी कोई आधाकर्म आहार बनाता रहे और वह सदोष आहार साधु को देने के लिए लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे।

प्रस्तुत सूत्र में जो सम्बन्धियों के घर में जाने का निषेध किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि यदि उनके घर में राग-स्नेह भाव के कारण आहार में दोष लगने की सम्भावना हो तो वहां साधु आहार को न जाए। यद्यपि साधु को परिवार वालों के यहां आहार को जाने एवं आहार-पानी लाने का निषेध नहीं किया है। क्योंकि- आगम में बताया है कि स्थविरों की आज्ञा से साधु सम्बन्धियों के घर पर भी भिक्षा के लिए जा सकता है।

निष्कर्ष यह है कि साधु को १६ उद्गम के, १६ उत्पादन के और १० एषणा के ४२ दोष टाल कर आहार ग्रहण करना चाहिए और ग्रसैषणा के ५ दोषों का त्याग करके आहार करना चाहिए। इस तरह साधु को ४७ दोषों से दूर रहना चाहिए।

साधु को सभी दोषों से रहित निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख करके अब उत्सर्ग एवं अपवाद में आहार ग्रहण करने की विधि का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ३८५ ॥

से भिक्खु वा, से जं० मांसं वा मच्छं वा भज्जिज्जमाणं पेहाए तिल्लपूयं वा आपसाए उवक्खडिज्जमाणं पेहाए नो खद्धं, उवसंक्रमित्तु ओभासिज्जा, नन्नत्थ गिलाणनीसाए ॥ ३८५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत्० मांसं वा मत्स्यं वा भज्यमानं प्रेक्ष्य तैलपूयं वा आदेशाय संस्क्रियमाणं (पच्यमानं) प्रेक्ष्य, न शीघ्रं, उपसङ्क्रम्य अवभाषेत, अन्यत्र ग्लानादिकार्यात् ॥ ३८५ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहपति कुल में प्रवेश करने पर साधु या साध्वी इस प्रकार जाने कि गृहस्थ अपने यहां आए हुए किसी अतिथि के लिए मांस और मत्स्य तथा तेल के पूड़े पका रहा है। उस समय उक्त पदार्थों को पकाते हुए देखकर वह अतिशीघ्रता से वहां जाकर उक्तविधि आहार की याचना न करे। यदि किसी रोगी के लिए आवश्यकता हो तो उसके लिए उनकी याचना कर सकता है।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. यदि ऐसा जाने कि- यहां मांस या मत्स्य पकाये जा रहे हैं, अथवा तैलके पुएं महेमानों (अतिथियों) के लिये बनाये जा रहे हैं, तब ऐसा देखकर आहारादि

की लोलुपता से जल्दी जल्दी से जाकर याचना न करें...

सिवा कि- ग्लान = बिमार आदि साधुओं के...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ अपने घर पर आए हुए अतिथि का आतिथ्य सत्कार करने के लिए कोई भोजन तैयार कर रहा हो तो साधु उसे देखकर शीघ्रता से उसकी याचना करने के लिए न जाए। यदि कोई बीमार साधु है और उसके लिए वह पदार्थ लाना है तो वह उसे मांगकर ला सकता है। अतिथि के भोजन करने के पूर्व नहीं लाना यह उत्सर्ग मार्ग है और बीमार के लिए आवश्यकता पड़ने पर अतिथि के भोजन करने से पहले भी ले आना अपवाद मार्ग है।

प्रस्तुत सूत्र में तैल के पूजों के साथ मांस एवं मत्स्य शब्द का प्रयोग हुआ है और वृत्तिकार ने इसका मांस एवं मत्स्य अर्थ ही किया है परन्तु, बालावबोध के लेखक उपाध्याय पार्श्वचन्द्र ने वृत्तिकार के विचारों की आलोचना की है, उन्हें आगम से विरुद्ध बताया है। उपाध्याय जी का कहना है कि सूत्रकार के युग में कुछ वनस्पतियों के लिए मांस एवं मत्स्य शब्द का प्रयोग होता था। अतः इससे उक्त शब्दों का वर्तमान में प्रचलित अर्थ करना उचित नहीं है।

जब हम वृत्तिकार एवं उपाध्याय जी के विचारों पर गहराई से विचार करते हैं। तो उपाध्याय जी का मत ही आगम के अनुकूल प्रतीत होता है। प्रस्तुत सूत्र में बीमार के लिए उक्त आहार लाने का उल्लेख किया गया है और तैल के पूए एवं मत्स्य आदि बीमार के लिए पथ्यकारक नहीं हो सकते और पूर्ण अहिंसक साधु की वृत्ति के भी अनुकूल नहीं है। जो मुनि समस्त सावध व्यापार का त्यागी है, वह सामिष आहार कैसे ग्रहण कर सकता है। इसलिए उक्त शब्द वनस्पति के ही पारिचायक हैं।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि उक्त शब्द वनस्पति के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, तो फिर उसके लिए याचना करने को अपवाद मार्ग क्यों बताया गया ? वनस्पति तो साधु बिना कारण भी मांग कर ला सकता है। इसका समाधान यह है कि अतिथि के लिए बनाए हुए पदार्थ उसके भोजन करने से पूर्व मांग कर लाना नहीं कल्पता इसलिए यह आदेश दिया गया है कि यदि बीमार के लिए उनकी आवश्यकता हो तो साधु अतिथि के भोजन करने के पूर्व भी उनकी याचना करके ला सकता है।

आहार के विषय में और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ३८६ ॥

से भिक्खु वा, अण्णयरं भोयणजायं पडिगाहिता सुब्धिं सुब्धिं भुच्चा, दुब्धिं दुब्धिं परिद्धवेइ, माइड्ढाणं संफासे, नो एवं करिज्जा । सुब्धिं वा दुब्धिं वा सत्वं भुजिज्जा, नो किंचिवि परिद्धविज्जा ॥ ३८६ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, अन्यतरत् भोजनजातं परिगृह्य सुरभि सुरभि भुक्त्वा, दुर्गन्धं दुर्गन्धं परित्यजेत् मातृस्थानं संस्पृशेत्, न एवं कुर्यात् । सुरभि वा दुर्गन्धं वा सर्वं भुञ्जीत, न किञ्चिदपि परित्यजेत् ॥ ३८६ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के घर में जाते पर कोई साधु या साध्वी वहां से भोजन लेकर, उसमें से अच्छा-अच्छा खाकर शेष आहार को बाहर फेंक दे तो उसे मातृस्थान (माया) का स्पर्श होता है। इसलिए उसे ऐसा नहीं करना चाहिए, सुगन्धित या दुर्गन्धित जैसा भी आहार मिला है, साधु उसे समभाव पूर्वक खा ले, किन्तु उसमें से किञ्चिन्मात्र भी फेंके नहीं।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. कोई भी प्रकार के आहारादि प्राप्त करके सुगंधी (अच्छे अच्छे) वापरकर दुर्गंधी याने नीरस आहारादि को फेंक न दे... ऐसा करने से माया-स्थान का स्पर्श होता है, अतः साधु ऐसा न करें... किंतु प्रासुक एवं एषणीय जो भी सुगंधी या दुर्गंधी आहारादि प्राप्त हुए हो, उन सभी आहारादि को वापरें... फेंक न दें... ॥

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को रस (स्वाद) की आसक्ति के वश लाए हुए आहार में से अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पदार्थ को ग्रहण करके, शेष अस्वादिष्ट पदार्थों को फेंक नहीं देना चाहिए। सरस एवं नीरस जैसा भी आहार उपलब्ध हुआ है, उसे अनासक्त एवं समभाव पूर्वक खा लेना चाहिए। क्योंकि साधु का आहार स्वाद के लिए नहीं, संयम का परिपालन करने के लिए होता है। अतः उसे लाए हुए आहार में स्वाद की दृष्टि से अच्छे-बुरे का भेद करके नहीं, बल्कि समभाव पूर्वक, बिना स्वाद लिए खा लेना चाहिए।

अब पानी के विषय में वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ३८७ ॥

से भिक्खु वा, अन्नयरं पाणगजायं पडिगाहिता पुष्पं, आविड्ता कसायं, परिड्देड, माइड्ढाणं संफासे, नो एवं करिज्जा । पुष्पं पुष्पेड वा कसायं कसायेड वा सत्वमेव भुजिज्जा, नो किंचिवि परि० ॥ ३८३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, अन्यतरत् पानकजातं परिगृह्य पुष्पं, आपीय, कषायं, परित्यजेत् मातृस्थानं संस्पृशेत्, न एवं कुर्यात् ! पुष्पं पुष्पितं वा कषायं कषायितं वा सर्वमेव भुञ्जीत, न किञ्चिदपि परि० ॥ ३८७ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के घर में जाने पर यदि कोई साधु या साध्वी जल को ग्रहण करके उसमें से वर्ण गन्ध युक्त जल को पीकर कषायले पानी को फेंक देता है तो उसे मातृस्थान-कपट का स्पर्श होता है। अतः वह ऐसा न करे, किन्तु वर्ण, गन्ध युक्त या वर्ण, गन्ध रहित जैसा भी जल उपलब्ध हो उसे सम्भाव पूर्वक पी ले, परन्तु उसमें से थोड़ा सा भी न फेंके।

IV टीका-अनुवाद :

इसी प्रकार पानकसूत्र भी... किन्तु पुष्पं याने अच्छे वर्ण-गंधवाले, और इससे विपरीत कषाय... यहां जल के विषय में भी पूर्व के दो सूत्र में कहे गये दोषों की संभावना है तथा आहारादि की आसक्ति से सूत्र एवं अर्थ ग्रहण करने में हानि होती है और कर्मबंध भी होता है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कभी खट्टा या कषायला पानी आ गया हो तो मुनि उसे फेंके नहीं। मधुर पानी के साथ उस पानी को भी पी ले। आहार की तरह पानी पीने में भी साधु अनासक्त भाव का त्याग न करे। दशद्वैकालिक सूत्र में भी इस सम्बन्ध में बताया गया है कि मधुर या खट्टा जैसा भी प्रासुक पानी आ जाए, साधु को बिना खेद के उसे पी लेना चाहिए।

अब फिर से आहार के विषय का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ३८८ ॥

से भिक्खु वा, बहुपरियावण्णं भोयणजायं पडिगाहिता बहवे साहम्मिया तत्थ वसंति, संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया अदूरगया, तेसिं अनालोइया अणामंते परिइवेइ, माइइणं संफासे, नो एवं करिज्जा, से तमायाय तत्थ गच्छिज्जा, गच्छिऊण से पुव्वामेव आलोइज्जा, आउसंतो समणा ! इमे मे असणे वा पाणे वा, बहुपरियावण्णे, तं भुज्जह णं, सेवं वयंतं परो वइज्जा - आउसंतो समणा ! आहारमेयं असणं वा, जावइयं, सरइ तावइयं, भुक्खामो वा पाहामो वा, सव्वमेयं परिसइइ, सव्वमेयं भुक्खामो वा पाहामो वा ॥ ३८८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, बहुपर्यापन्नं आहारजातं परिगृह्य, बहवः साधर्मिकाः तत्र वसन्ति, साम्भोगिकाः समनोज्ञाः अपरिहारिकाः अदूरगताः तेषां अनापृच्छ्य अनामन्य, परित्यजति, मातृस्थानं संस्पृशेत्, न एवं कुर्यात् । सः तत् आदाय तत्र गच्छेत्, गत्वा च सः पूर्वमेव आलोकयेत् ।

हे आयुष्मन् श्रमण ! इदं मम अशनं वा, बहुपर्यापन्नं, तत् भुङ्गध्वम्, सः तं एवं वदन्तं परः वदेत् - हे आयुष्मन् श्रमण ! आहारं एतत् अशनं वा, यावन्मात्रं, परिशटति, तावन्मात्रं भोक्ष्यामहे वा पास्यामः वा, सर्वमेतत् परिशटति, सर्वमेतत् भोक्ष्यामहे वा पास्यामः वा ॥ ३८८ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु अथवा साध्वी गृहपति कुल में प्रवेश करने पर गृहस्थ के घर से बहुत सा अशनादिक आहार प्राप्त होने पर ग्रहण करके अपने स्थान पर आए । यदि वह आहार उससे खाया न गया हो तो वहां पर जो अन्य स्वधर्मी साधु रह रहे हों, जो सांभोगिक तथा समान आचार वाले हैं, और जो अपने उपाश्रय के समीप भी हैं, उनको बिना पूछे, बिना निमन्त्रित किए यदि उस शेष आहार को परठ-फेंक देता है तो उसे मातृस्थान का स्पर्श होता है, अर्थात् माया का दोष लगता है । इस लिए वह ऐसा न करे, किन्तु वह भिक्षु उस आहार को लेकर वहां जावे और जाकर सर्वप्रथम उस आहार को दिखाए और दिखाकर इस प्रकार कहे-कि हे भाग्यशाली श्रमण ! यह अशनादिक चतुर्विध अहार मेरे खाने से बहुत अधिक है अतः आप इसे लीजिये वापरियेगा... इस प्रकार कहने पर किसी भिक्षु ने कहा-हे आयुष्मन् श्रमण ! यह आहार हम जितना खा सकेंगे उतना खाने का प्रयत्न करेंगे । यदि हम पूरा आहार-पानी खा-पी सके तो सब खा-पी लेंगे ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आचार्य, ग्लान, प्राधूर्णक आदि के लिये बहोत प्रकार के आहारादि प्राप्त करने के बाद, वह आहारादि बहोत होने के कारण से यदि वापरने में असमर्थ हो तब वहां उस गांव में अन्य जो साधर्मिक सांभोगिक समजोझ अपरिहारिक साधुजन हो या बहोत दूर न गये हो तब उनके पुछे विना हि प्रमादी होकर यदि साधु उन आहारादि का त्याग करे तब वह साधु माया-स्थान का स्पर्श करता है, किंतु साधु को ऐसा नहि करना चाहिये...

इस स्थिति में वह साधु क्या करे, यह बात अब कहते हैं, कि- वह साधु उस बचे हुए आहारादि को लेकर उन साधुओं के पास जावे, और वहां जाकर बचा हुआ आहारादि उनको दिखावे और कहे कि- "हे आयुष्मन् श्रमण ! यह आहारादि अधिक है, कि- जिसको मैं वापर नहि सकता, अतः आप कुछ आहारादि लीजिये..." ऐसा कहने पर वे साधुजन कहे कि- जितना आहारादि हम वापर शकेंगे उतना ग्रहण करेंगे, अथवा तो यदि सभी आहारादि हम वापर शकेंगे तो सब कुछ आहारादि वापरेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि साधु रोगी एवं बीमार आदि के लिए पर्याप्त आहार लेकर आए और वह आहार खाने के बाद कुछ बच गया है, तो साधु अपने शहर में या समीपस्थ गांव आदि में स्थित सांभोगिक साधुओं को उस आहार को खाने के लिए प्रार्थना करे, किन्तु दिखाए बिना परठे (फैंके) नहीं। यदि वह समीपस्थ स्थान में स्थित साधुओं को दिखाए बिना उस बड़े हुए आहार को बाहर फैंकता है, तो वह प्रायश्चित्त का अधिकारी होता है। अतः साधु का कर्तव्य है कि वह अपने निकट प्रदेश में स्थित सहधर्मी एवं सांभोगिक साधुओं के पास जाकर उन्हें प्रार्थना करे कि हमारे खाने के बाद कुछ आहार बड़ा है, अतः आप इसे ग्रहण करने की कृपा करें। और आप थोड़ा या पूरा जितना भी खा सकें, खाने का प्रयत्न करें।

इससे स्पष्ट होता है कि बड़ा हुआ आहार समान धर्मी, समान आचार-विचार वाले या सांभोगिक साधु को ही देने का विधान है। दूसरी बात यह है कि उस युग में बड़े-बड़े शहर होते थे, अतः एक ही शहर में कई स्थानों पर साधु आकर ठहर जाते थे। या थोड़ी-थोड़ी दूर पर गांव होते थे, जिनमें साधु ठहरा करते थे और वे गांव आहार-पानी लाने-ले जाने की मर्यादा में होते थे। तीसरी बात यह है कि साधु की भाषा निश्चल एवं स्पष्ट होती है। वह अन्य साधु के पास जाकर ऐसा नहीं कहता कि मैं आपके लिए अच्छा आहार लेकर आया हूं। वह तो स्पष्ट कहता है कि मैं अपने या अपने साथ के साधुओं के लिए आहार लाया-या, उसमें से इतना आहार बढ़ गया है। अतः कृपा करके इसे ग्रहण करें और लेने वाले साधु भी बिना

किसी भेदभाव के स्नेह एवं सद्भावना के साथ तथा जीवों की यतना के लिए उसे ग्रहण करते हैं और उस आणु हुए श्रमण से कहते हैं कि हम जितना खा सकेंगे उतना खाने का प्रयत्न करेंगे। इससे स्पष्ट होता है कि साधु जीवन कितना स्पष्ट, सरल एवं मधुर है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ३८९ ॥

से भियस्सु वा, से जं० असणं वा, परं समुद्दिस्स बहिया नीहडं जं परेहिं असमणुण्णायं अनिसिद्धं अफा० जाव नो पडिगाहिज्जा, जं परेहिं समणुण्णायं समं निसिद्धं फासुयं जाव पडिगाहिज्जा, एवं खतु तस्स भियस्सुस्स भियस्सुणीए वा सामग्गियं ॥ ३८९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत्० अशनं वा, परं समुद्दिश्य बहिः निष्क्रान्तं यत् परैः असमनुज्ञातं अनिसृष्टं अप्रासुकं० यावत् न प्रतिगृह्णीयात्, यत् परैः समनुज्ञातं सम्यग् विसृष्टं प्रासुकं यावत् प्रतिगृह्णीयात्, एवं खतु तस्य भिक्षोः भिक्षुण्याः वा सामग्र्यम् ॥ ३८९ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थों के घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट साधु या साध्वी भट आदि के निमित्त बनाया गया जो अशनादिक चतुर्विध आहार घर से देने के लिए निकाला गया है, परन्तु, गृहपति ने अभी तक उस आहार की उन्हें ले जाने के लिए नहीं कहा है, और उनके स्वाधीन नहीं किया है, ऐसी स्थिति में यदि कोई व्यक्ति उस आहार के लिये साधु को विनति करे तो वह उसे अप्रासुक जानकर स्वीकार न करे। और यदि गृहपति आदि ने उन भाटादि को वह भोजन सम्यक् प्रकार से समर्पित कर दिया है और कह दिया है कि तुम जिसे चाहो दे सकते हो। ऐसी स्थिति में वह साधु को बिनती करे तो साधु उसे प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले। यही साधु या साध्वी का समग्र आचार है।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब ऐसा जाने कि- यह आहारादि चार-भट्ट आदि के लिये घर से बाहर निकाला हुआ है, और उन गृहस्थों ने ऐसा कहा न हो कि- "आप किसी को भी दे दीजियेगा..." तब देनेवाले एवं लेनेवालेने स्वामी-भाव से त्याग न किया होने के कारण से बहुदोषवाले अप्रासुक एवं अनेषणीय उस आहारादि को साधु ग्रहण न करें... परन्तु यदि इससे विपरीत याने देनेवाले गृहस्थ ने भी अनुमति दी हो तो साधु उन आहारादि को ग्रहण करें... और ऐसा करना यह हि उस साधु का साधुपना है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि किसी गृहस्थ ने भाट या अन्य किसी के लिए अशन आदि चार प्रकार का भोजन बनाया है, किन्तु अभी तक न तो उसे दिया गया है, न उसके अधिकार में किया गया है और न उसे यह कहा गया है कि इस आहार को तुम जिसे चाहो दे सकते हो, ऐसी स्थिति में यदि कभी वह उस आहार के लिए साधु को प्रार्थना करे तो साधु उस आहार को अप्रासुक-अकल्पनीय समझ कर ग्रहण न करे। क्योंकि, वह आहार देने वाले व्यक्ति के अधिकार में नहीं है, अतः हो सकता है कि साधु को देते हुए देखकर गृहस्थ के मन में भाट या साधुके प्रति दुर्भाव या आवेश आ जाए। या वह भाट को देने के लिए फिर से भोजन बनाए। इससे कई तरह के दोष लगने की सम्भावना है। अतः साधु को ऐसा आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।

यदि वह आहार भाट आदि के अधिकार में हो गया है तो अब वह इस बात के लिए स्वतन्त्र है कि उक्त आहार को चाहे जिसे दे। ऐसी स्थिति में यदि वह साधु को आहार के लिए विनति करता है, तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है।

॥ प्रथमचूलिकायां प्रथमे पिण्डैषणाध्ययने नवमः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु, सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. ९६. 卐 विक्रम सं. २०५८.

आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - १ उद्देशक - १०

卐 पिण्डैषणा 卐

नववा उद्देशक कहा, अब दशवे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... यहां परस्पर यह संबंध है कि- नववे उद्देशक में पिंडग्रहणविधि कही, अब यहां दशवे उद्देशक में साधारणादि-पिंड की प्राप्ति होने पर वसति (उपाश्रय) में जाने के बाद साधु को क्या करना चाहिये, वह बात कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३९० ॥

से एगइओ साहारणं वा पिंडवायं पडिगाहिता, ते साहम्मिए अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खब्बं खब्बं दलइ, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा । से तमायाय तत्थ गच्छिज्जा, गच्छिऊण एवं वइज्जा-आउसंतो समणा । संति मम पुरेसंथुया वा पच्छा० तं जहा आयरिए वा, उवज्जाए वा, पविती वा, थेरे वा, गणी वा, गणहरे वा, गणावच्छेइए वा, अविद्याइ एतेसि खब्बं खब्बं दाहामि, से सेवं वयंतं परो वइज्जा - कामं खलु आउसो ! अहापज्जत्तं निसिराहि, जावइयं, परो वदइ, तावइयं, निसिरिज्जा, सव्वमेव, परो वयइ सव्वमेयं निसिरिज्जा ॥ ३९० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः एकतरः साधारणं वा पिण्डपातं परिगृह्य तान् साधर्मिकान् अनापृच्छ्य यस्मै यस्मै रोचते तस्मै तस्मै खब्बं खब्बं ददाति, मातृस्थानं संस्पृशेत्, न एवं कुर्यात् । सः तत् आदाय तत्र गच्छेत्, गत्वा च एवं वदेत् - हे आयुष्मन् श्रमण ! सन्ति मम पुरःसंस्तुताः वा पश्चात्० तद् यथा - आचार्यः वा, उपाध्यायः वा, प्रवर्तक वा, स्थविरः वा, गणी वा, गणधरः वा, गणावच्छेदकः वा, इति एवमादीन्, एतेभ्यः खब्बं खब्बं दास्यामि, सः एवं वदन्तं परः वदेत्-कामं खलु आयुष्मन् ! यथापर्याप्तं निसृज, - यावन्मात्रं परः वदति, तावन्मात्रं निसृज, सर्व एव परः वदति सर्व एतत् निसृज ॥ ३९० ॥

III सूत्रार्थ :

कोई भिक्षु गृहस्थ के यहां से सम्मिलित आहार को लेकर अपने स्थान पर आता है और अपने साधर्मियों को पूछे बिना जिस जिस को जो रुचता है उस उस के लिए वह दे देता है तो ऐसा करने से वह मायास्थान का सेवन करता है। अतः साधु को ऐसा नहीं करना चाहिए

परन्तु, उसे यह करना चाहिए कि उपलब्ध आहार को लेकर जहां अपने गुरुजनादि हों जैसे कि-आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक स्थविर, गणी, गणधर और गणावच्छेदक आदि, वहां जाए और उनसे प्रार्थना करे कि हे गुरुदेव ! मेरे पूर्व और पश्चात् परिचय वाले दोनों ही भिक्षु यहां उपस्थित हैं यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इन उपस्थित सभी साधुओं को आहार दे दूं ? उस भिक्षु के ऐसा कहने पर आचार्य कहें कि-आयुष्मन् श्रमण ! जिस साधु की जैसी इच्छा हो, उसी के अनुसार उसे पर्याप्त आहार दे दो। आचार्य की आज्ञानुसार सबको यथोचित बांट कर दे देवे। यदि आचार्य कहें कि जो कुछ लाए हो, सभी दे दो, तो बिना किसी संकोच के सभी आहार उन्हें दे दे।

IV टीका-अनुवाद :

वह कोई एक साधु सामान्य से सभी साधुओं के लिये प्राप्त उन आहारादि को लेकर, उन साधुओं के बिना पुछे हि जिस जिस साधु को जो कुछ चाहिये वह, अपने हि मन से बहोत सारा देता है, तब वह साधु माया-स्थान को स्पर्श करता है, अतः साधु को ऐसा नहि करना चाहिये...

असाधारण आहारादि की प्राप्ति में भी साधु को जो करना चाहिये वह अब कहतें हैं कि- वह साधु एषणीय एवं वेषमात्र से प्राप्त उस आहारादि को लेकर के वहां आचार्य आदि के पास जावे, तथा जाकर ऐसा कहे कि- हे आयुष्मन् श्रमण ! मेरे पूर्वसंस्तुत याने दीक्षा देनेवाले या पश्चात्संस्तुत याने जिन्हों के पास श्रुतज्ञान प्राप्त कीये है, वे या उनके संबंधित कि- जो अन्य जगह रहे हुए हैं... वे इस प्रकार... १. अनुयोगधारक आचार्य म. या २. अध्ययन करानेवाले उपाध्याय म. या ३. साधुओं को अपनी अपनी योग्यता अनुसार वैयावृत्य आदि प्रवृत्तियों में जोड़नेवाले प्रवर्तक, या ४. संयमादि में खेद पानेवाले साधुओं को संयम में स्थिर करनेवाले स्थविर, या ५. गच्छ के नायक गणी, या ६. आचार्य नहि किंतु आचार्य के समान कि- जो गुरु के आदेश से साधुओं को लेकर अलग विचरतें हैं वे गणधर, या ७. गच्छके कार्यों को संभालनेवाले गणावच्छेदक, इत्यादि उनके लिये, ऐसा कहे कि- आपकी अनुमति से मैं इन आचार्य आदि को बहोत सारा आहारादि दूं... इस प्रकार विनंति करने पर, वे साधुजन कहे कि- वे आपके आचार्यादि जितना चाहे उतना उन्हें दे दीजिये... और यदि सभी आहारादि की अनुमति हो तो, सब आहारादि उन आचार्यादि को साधु दे दे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि कोई मुनि अपने सांभोगिक साधुओं का आहार लेकर आया है, तो उसे पहले आचार्य आदि की आज्ञा लेनी चाहिए कि मैं यह आहार लाया हूं, आपकी आज्ञा हो तो सभी साधुओं में विभक्त कर दूं। उसके प्रार्थना करने पर आचार्य

आदि जो आज्ञा प्रदान करें उसके अनुसार कार्य करना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि साधु को संघ की व्यवस्था करने वाले आचार्य आदि प्रमुख मुनियों की आज्ञा लेकर ही साधु जीवन की प्रत्येक क्रिया में प्रवृत्त होना चाहिए।

आचार्य अभयदेव सूरि ने सात पदवियों का निम्न अर्थ किया है-

१. आचार्य :- प्रतिबोधक प्रव्राजकादि; अनुयोगाचार्यो वा।
२. उपाध्याय :- सूत्रदाता।
३. प्रवर्तक :- प्रवर्तयति साधूनाचार्योपादिष्टेषु वैयावृत्यादिष्विति प्रवर्ती।
४. स्थविर :- प्रवर्तिव्यापारितान् साधून् संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः।
५. गणी :- गणोऽस्यातीति गणी-गणाचार्यः।
६. गणधर :- गणधरो-जिनशिष्यविशेषः।
७. गणावच्छेदक :- गणस्यावच्छेदो- विभागोऽशोऽस्यास्तीति यो हि गणांशं गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादि निमित्तं विहरति स गणावच्छेदकः।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उक्त सातों उपाधियां गण की, संघ की सुरक्षा एवं सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए रखी गई हैं। इनमें गणावच्छेदक का कार्य साधुओं की उपधि आदि की आवश्यकता को पूरा करना है। जबकि आचाराङ्ग सूत्र के वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने गणावच्छेदक को गण, गच्छ या संघ का चिन्तक बताया है। परन्तु, आचार्य अभयदेव सूरि ने जो अर्थ किया है, वह दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में वर्णित आठ गणि संपदाओं से संबन्ध रखता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'पूरे संशुवा' और 'पच्छा संशुवा' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य दीक्षाचार्य एवं वाचनाचार्य से है। उक्त सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि दीक्षाचार्य एवं वाचनाचार्य (आगम का ज्ञान कराने वाले) अलग-अलग होते थे।

प्रस्तुत सूत्र में साधु के वात्सल्य भाव का वर्णन किया गया है और साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उसे प्रत्येक कार्य आचार्य आदि की आज्ञा से करना चाहिए। उन्हें बिना बताए या उन्हें बिना पूछे न स्वयं आहार करना चाहिए एवं न अन्य साधुओं को देना चाहिए। परंतु आहार आदि कार्यों में माया, छल, कपट आदि का परित्याग करके सरल भाव से साधना में संलग्न रहना चाहिए।

साधु को माया-कपट से सदा दूर रहना चाहिए इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि

सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ३९१ ॥

से एगइओ मणुणं भोयणजायं पडिगाहिता पंतेण भोयणेण पलिच्छाएइ, मा मेयं दाइयं संतं दहूणं समयाइए आयरिए वा जाव गणावच्छेए वा, नो खलु मे कस्सइ किंचि दायव्वं सिया, माइड्डणं संपासे, नो एवं करिज्जा । से तमायाय तत्थ गच्छिज्जा, गच्छिऊण पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे पडिगहं कट्ट इमं खलु इमं खलुति आलोइज्जा, नो किंचिवि निगूहिज्जा । से एगइओ अण्णयरं भोयणजायं पडिगाहिता भदयं, भुच्चा, विवण्णं विरसमाहरइ, माइ० नो एवं० ॥ ३९१ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः एकतरः मनोज्ञं भोजनजातं परिगृह्य, प्रान्तेन भोजनेन पर्याच्छादयति (अवगूहयेत्) मा मा एतत् दर्शितं सत्, दृष्ट्वा समाददाति आचार्यः वा यावत् गणाऽवच्छेदको वा, न खलु मया कस्मैचित् किञ्चिदपि दातव्यं स्यात्, मातृस्थानं संस्पृशेत्, न एवं कुर्यात् ! सः तद् आदाय तत्र गच्छेत्, गत्वा च पूर्वमेव उत्तानके हस्ते प्रतिग्रहं कृत्वा, "इदं खलु इदं खलु" इति आलोकयेत्, न किञ्चिदपि निगूहयेत् । सः एकतरः अन्यतरं भोजनजातं परिगृह्य भद्रकं, भुज्यतवा विवर्णं विरसं समाहरति, मातृ० नो एवं० ॥ ३९१ ॥

III सूत्रार्थ :

यदि कोई मुनि भिक्षा में प्राप्त सरस, स्वादिष्ट आहार को आचार्य आदि न ले लेवे इस दृष्टि से उसे रूखे-सूखे आहार से छिपा कर रखता है, तो वह माया का सेवन करता है । अतः साधु को सरस एवं स्वादिष्ट आहार के लोभ में आकर ऐसा छल-कपट नहीं करना चाहिए । जैसा भी आहार प्राप्त हुआ हो उसे ज्यों का त्यों लाकर आचार्य आदि के सामने रख दे और झोली एवं पात्र को हाथ में ऊपर उठाकर एक-एक पदार्थ को बता दे कि मुझे अमुक-अमुक पदार्थ प्राप्त हुए हैं । इस तरह साधु को थोड़ा भी आहार छिपाकर नहीं रखना चाहिए ।

यदि कोई साधु गृहस्थ के घर पर ही प्राप्त पदार्थों में से अच्छे-अच्छे पदार्थों को उदरस्थ करके बचे-रखे पदार्थ आचार्य आदि के पास लेकर आता है, तो वह भी माया का सेवन करता है । अतः साधु को ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए ।

IV टीका-अनुवाद :

ऐसा न करें यहां तक यह सूत्र सुगम हि है, अब जो करना चाहिये वह कहते हैं-

वह साधु उस आहारादि पिंड को लेकर, जहां आचार्यादि हैं वहां जावे, और जाकर जो आहारादि जैसा है वैसा ही दिखलावे, थोड़ा भी छुपावे नहि... अब आहारार्थ घुमनेवाले साधु को मातृस्थान का प्रतिषेध करते हैं... कि- वह कोइ एक साधु अच्छे वणवादिवाले अन्य कोइ आहारादि को ग्रहण करके, रस में आसक्त होने के कारण से घूमता हुआ हि अच्छे अच्छे आहारादि को वापरकर, जो कुछ अंत प्रांत विवर्ण आहारादि बचा हो वह उपाश्रय में लाता है, इस प्रकार वह साधु माया-स्थान का स्पर्श करता है, परंतु साधु को ऐसा नहि करना चाहिये...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधु जीवन की सरलता एवं स्पष्टता का दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें बताया गया है कि साधु को अपने स्वादेन्द्रिय का परिपोषण करने के लिए सरस आहारादि को न तो नीरस आहार से छुपाकर रखना चाहिए और न उसे गृहस्थ के घर में या मार्ग में ही उदरस्थ कर लेना चाहिए। साधु को चाहिए कि उसे गृहस्थ के घरों से जो भी आहार उपलब्ध हुआ है, उसमें किसी तरह की आसक्ति नहीं रखते हुए अपने अपने स्थान पर ले आए और आहार के पात्र को अपने हाथ में ऊपर उठाकर आचार्य आदि से निवेदन करे कि मुझे भिक्षा में ये पदार्थ प्राप्त हुए हैं। परन्तु, उसे उसमें से थोड़ा सा भी छुपाना नहीं चाहिए। आगम में यह भी कहा गया है कि जो साधु प्राप्त पदार्थों का सबसे समान भाग नहीं देता है तो वह मुक्ति नहीं पा सकता। अतः साधु को चाहिए कि वह बिना किसी संकोच एवं बिना किसी तरह की स्वादलोलुपता को रखते हुए सब सांभोगिक साधुओं में सम विभाजन करके आहार करे। परन्तु, ऐसा न करे कि अच्छे-अच्छे पदार्थ स्वयं खा ले और बचे-खुचे पदार्थ अन्य साधुओं को देवे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'मणुन्न' और 'पंतेण' पदों से सामूहिक संघारक आहार की परम्परा सिद्ध होती है। क्योंकि विविध प्रकार के सरस आहार की प्राप्ति अनेक घरों से ही हो सकती है। और अनेक घरों में कई साधुओं के लिए ही घूमा जाता है। केवल एक साधु के लिए पांच-दश घर ही पर्याप्त होते हैं। इस तरह इस सूत्र से सामूहिक संघारक गोचरी का स्पष्ट निर्देशन मिला है।

इस सूत्र में यह भी बताया गया है कि साधु को सदा सरल एवं स्पष्ट भाव रखना चाहिए। उसे अपने स्वाद एवं स्वार्थ के लिए किसी भी वस्तु को छुपाकर नहीं रखना चाहिए और गुरु एवं आचार्य आदि के सामने सभी पदार्थ इस तरह रखने चाहिए कि वे आसानी से सभी पदार्थों को देख सके। न तो उन्हें देखने में कोई कष्ट हो और न कोई पदार्थ उनकी दृष्टि से ओझल रह सके।

इस सूत्र से विशेष कारण होने पर गृहस्थ के घर में आहार करने की ध्वनि भी

प्रस्फुटित होती है। यह ठीक है कि उस समय वह इतना ईमानदारी एवं प्रमाणिकता रखे कि वह स्वयं ही सभी सरस पदार्थ न खा जाए। उस समय उस पर अपनी प्रमाणिकता को निभाने का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ जाता है। अतः, विशेष परिस्थिति में गृहस्थ के घर में खाने का पूर्णतया निषेध नहीं है। आगम में इसकी आज्ञा भी दी गई है।

साधु को किस तरह का आहार ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ३९२ ॥

से भिक्खू वा, से जं० अंतरुच्छियं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुमेरगं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा सिंबलि वा सिंबलथालगं वा अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे भोयणजाए बहुउज्झिय धम्मिए तहप्पगारं अंतरुच्छयं वा अफा० । से भिक्खू वा, से जं० बहुअड्डियं वा मंसं वा मच्छं वा बहुकंटयं अस्सिं खलु तहप्पगारं बहुअड्डियं वा मंसं लाभे संते नो० । से भिक्खू वा, सिया णं परो बहुअड्डिएण मंसेण वा मच्छेण वा उवनिमंतिज्जा - आउसंतो समणा ! अभिकंखसि बहुअड्डियं मंसं पडिगाहित्तए ? एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म से पुच्चामेव आलोइज्जा - आउसोत्ति वा, नो खलु मे कप्पइ बहु० पडिगा०, अभिकंखसि मे दाउं जावइयं तावइयं पुग्गलं दलयाहि, मा य अड्डियाइं, से सेवं वयंतस्स परो अभिहट्ट, अंतो पडिग्गहंसि बहु० परिभाइत्ता विहट्ट दलइज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफा० नो० ।

से आहच्च पडिगाहिए सिया तं नोहित्ति वइज्जा नो अणिहित्ति वइज्जा, से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा, अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे जाव संताणए मंसगं मच्छगं भुच्चा अड्डियाइं कंटए गहाय, से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा, अहे झामथंडिलंसि वा जाव पमज्जिय पमज्जिय परइविज्जा ॥ ३९२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत्० इक्षुपर्वमध्यं वा, सपर्वेक्षुशकलं वा, पीलितेक्षुच्छोदिका वा, इक्षुग्रं वा, इक्षुदीर्घशाखा वा, इक्षुशाखैकदेशः वा, मुद्गादीनां विध्वस्ता फलिः वा वल्यादिफलीनां पाकः वा, अत्र खलु प्रतिगृहीते, अल्पं भोजनजातं, बहुत्यजनधर्मकं तथाप्रकारं इक्षुपर्वमध्यं वा अप्राप्तुकं० । सः भिक्षुः वा, सः यत्० बहुअस्थिकं वा मांसं वा मत्स्यं वा बहुकण्टकं, अत्र खलु तथाप्रकारं बहुअस्थिकं वा मांसं, लाभे सति नो० । सः भिक्षुः वा, स्यात् परः बहुअस्थिकेन मांसेन वा मत्स्येन वा उपनिमन्त्रयेत् - हे आयुष्मन् श्रमण ! अभिकाइक्षसि बहुअस्थिकं मांसं प्रतिगृहीतुं ? एतत्-प्रकारं निर्घोषं

श्रुत्वा निश्चय सः पूर्वमेव आलोचयेत् - हे आयुष्मन् ! न खलु मे कल्पते बहु० प्रतिगु० अभिकाङ्क्षसि मह्यं दातुं यावन्मात्रं तावन्मात्रं पुद्गलं देहि, मा च अस्थिकानि, तस्य सः एवं वदतः परः अभ्याहृत्य अन्तः प्रतिग्रहके बहु० परिभज्य निहृत्य दद्यात्, तथाप्रकारं प्रतिग्रहं परहस्ते वा परपादे वा अप्रा० न० ।

सः आहृत्य (अकस्मात्) प्रतिगृहीतः ग्राहितः ? स्यात्, तं न इति वदेत् न इति वदेत्, सः तमादाय एकान्तमपक्रामेत् अपक्रम्य च अथ आरामे उपाश्रये वा अल्पाण्डं वा यावत्० संतानकं मांसं मत्स्यं भुक्त्वा अस्थिकानि कण्टकान् च गृहीत्वा, सः तमादाय एकान्तमपक्रामेत् अपक्रम्य च अथ दग्धस्थण्डिले वा यावत् प्रमृज्य प्रमृज्य परिष्ठापयेत् ॥ ३९२ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के घर पर आहार आदि के लिए गया हुआ भिक्षु, इक्षु खड आदि जो छिले हुए हैं एवं सब प्रकार से अचित्त हैं, तथा मूंग और बल्ली आदि की फली, जो किसी निमित्त से अचित्त हो चुकी है, परन्तु उसमें खाद्य भाग स्वल्प है और फेंकने योग्य भाग अधिक है तो इस प्रकार का आहार मिलने पर भी अकल्पनीय जानकर ग्रहण न करे ।

फिर वह भिक्षु किसी गृहस्थ के यहां गया हुआ बहुत गुठलियों युक्त फल के टुकड़े को और बहुत कांटों वाली मत्स्य नामक वनस्पति को भी उपर्युक्त दृष्टि के कारण ग्रहण न करे । यदि गृहस्थ उक्त दोनों पदार्थों की निमंत्रणा करे तो मुनि उसे कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ ! यदि तू मुझे यह आहार देना चाहता है तो उक्त दोनों पदार्थों का खाद्य भाग ही मुझे दे दे, शेष गुठली तथा कांटे मत दे ।

यदि शीघ्रता में गृहस्थ ने उक्त पदार्थ मुनि के पात्र में डाल दिए हों तो गृहस्थ को भला बुरा न कहता हुआ वह मुनि बगीचे या उपाश्रय में आए और वहां एकान्त स्थान में जाकर खाने योग्य भाग वापर ले और शेष गुठली तथा कांटों को ग्रहण कर एकान्त अचित्त एवं प्रासुक स्थान पर परठ छोड़ दे ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब ऐसा जाने कि- यह आहारादि- जैसे कि- शेलडी के पर्वमध्य है या पर्ववाली शेलडी के टुकड़े है, या पीली हुड़ शेलडी के छिलके (चू) है, या शेलडी का अग्रभाग है या शेलडी की लंबी शाखा है, या उसका एक टुकड़ा है, अथवा मुग आदि की अचित्त फली है, या वली आदि की फलीओं का पाक है, तब ऐसे आहारादि कि- जो खाने में थोडा और फेंकने में ज्यादा होते हैं, अतः साधु ग्रहण न करें... इसी प्रकार मांस-सूत्र को

भी जानीयेगा... इस सूत्रका यहां ग्रहण इसलिये किया है कि- कहीं कोई साधु को लुता-दोष के शमन के लिये अच्छे वैद्य के कहने से शरीर के बाह्य के भागों में उपयोग लेने के लिये... क्योंकि- स्वेद = पसीने आदि से ज्ञानादि में उपकारक होने से सफलता देखी गई है, यहां भुज् धातु का अर्थ बाह्योपभोग हि लेवें... इसी प्रकार गृहस्थ के आमंत्रण आदि की विधि यावत् पुद्गल... सूत्र सुगम है... इस प्रकार छेदसूत्र के अभिप्राय से ग्रहण करने पर कांटे आदि के त्याग की विधिवाला यह सूत्र भी सुगम हि है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को ऐसे पदार्थ ग्रहण नहीं करने चाहिए जिनमें से थोड़ा भाग खाया जाए और अधिक भाग फेंकने में आए। जैसे-छिला हुआ इक्षु खण्ड, मूंग, एवं बल्ली आदि की फली जो आग आदि के प्रयोग से अचित्त हो चुकी है, किंतु साधु को नहीं लेनी चाहिए। आग में भूनी हुई मूङ्गफली, पिस्ते, नोजे (छिलके सहित) भी नहीं लेने चाहिए। इसी तरह अग्नि पर पके हुए या अन्य तरह से अचित्त हुए फल भी नहीं लेने चाहिए। जिनमें गुठली, कांटे आदि फेंकने योग्य भाग अधिक हो। यदि कभी शीघ्रतावश गृहस्थ ऐसे पदार्थ पात्र में डाल दे तो फिर मुनि को उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उक्त पदार्थों को लेकर अपने स्थान पर आ जाए और उनमें से खाने योग्य भाग खा लेवे और अवशेष भाग (गुठली, कांटे आदि) एकान्त प्रासुक स्थान में परठ-फेंक दे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'बहु अद्वियं मांसं' और 'मच्छं वा बहु कंटयं' पाठ कुछ विवादास्पद हैं। कुछ विचारक इसका प्रसिद्ध शाब्दिक अर्थ ग्रहण करके जैन साधुओं को भी मांस भक्षण कहने का साहस करते हैं। वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने इसका निराकरण करने का विशेष प्रयत्न नहीं किया। वे स्वयं लिखते हैं कि बाह्य भोग के लिए अपवाद में मांस आदि का उपयोग किया जा सकता है।

परन्तु, वृत्तिकार के पश्चात् आचाराङ्ग सूत्र पर बालबोध व्याख्या लिने वाले उपाध्याय पार्श्वचन्द्र सूरि ने लिखा है कि आगम में अपवाद एवं उत्सर्ग का कोई भेद नहीं किया है और जो कंटक आदि को एकान्त स्थान में परठने का विधान किया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि अस्थि एवं कण्टक आदि फलों में से निकलने वाले बीज (गुठली) या कांटे आदि ही हो सकते हैं। प्रज्ञापना सूत्र में बीज (गुठली) के लिए अस्थि शब्द का प्रयोग किया गया है। यथा- 'एगद्विथा बहुद्विथा' एक अस्थि (बीज) वाले हर्द्रे आदि और बहुत अस्थि (बीज) वाले अनार, अमरूद आदि। इससे स्पष्ट होता है कि उक्त शब्दों का वनस्पति अर्थ में प्रयोग हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र के पूर्व में वनस्पति का स्पष्ट निर्देश है और उत्तर भाग में मांस शब्द का उल्लेख है। इ तरह पूर्व एवं उत्तर भाग का परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है। एक ही प्रकरण

में वनस्पति एवं मांस का सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता। और अस्थि एवं मांस शब्द का आगम एवं वैद्यक-ग्रन्थों में गुठली एवं गर अर्थ में प्रयोग मिलता है। आचाराङ्ग सूत्र में जहां धोवन (पासुक) पानी का वर्णन किया गया है, वहां अस्थि शब्द का प्रयोग किया गया है। उसमें बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ आम आदि के धोवन को साधु के सामने छीनकर एवं अस्थि (गुठली) निकाल कर दे तो ऐसा धोवन पानी साधु को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहां गुठली के लिए अस्थि शब्द का प्रयोग हुआ है। और यह भी स्पष्ट है कि आम के धोवन में अस्थि (हड्डी) के होने की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती। उसमें गुठली का होना ही उचित प्रतीत होता है। और आम के धोए हुए पानी में गुठली के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। इसे स्पष्ट होता है कि अस्थि शब्द का गुठली के अर्थ में प्रयोग होता रहा है।

प्रज्ञापना सूत्र में वनस्पति के प्रसंग में 'मांसकहाडं' शब्द का प्रयोग किया गया है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'समांसं सगिरं' अर्थात् फलों का गुद्दा किया है। और वृक्षों का वर्णन करते हुए लिखा है कि कुछ वृक्ष एक अस्थि वाले फलों के होते हैं- जैसे- आम, जामुन आदि के वृक्ष। अर्थात् आम, जामुन आदि फलों में एक गुठली होती है। यह तो स्पष्ट है कि फलों में गुठली ही होती है, न कि हड्डी इससे स्पष्ट है कि आगम में अस्थि शब्द गुठली के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है।

जैनाग्रन्थों के अतिरिक्त आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी अस्थि शब्द का गुठली के अर्थ में अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है-

तथा-वैद्यक के सुप्रसिद्ध सुश्रुतसंहिता तथा चरक संहिता से भी हमारे उक्त कथन का समर्थन होता है, यथा-

चूतफलेऽपरिपक्वे केशर मांसास्थि मज्जा न पथक् दृश्यन्ते ।

- सुश्रुत संहिता अध्याय ३, श्लोक ३२, पृ० ६४२ ।

अर्थ-पके आम फल में केशर, अस्थि, मज्जा प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं। परन्तु, कच्चे आम में ये अंग सूक्ष्म अवस्था में होने के कारण भिन्न-भिन्न नहीं दीखते, उन सूक्ष्म केशरादि को सुपक्व आमही व्यक्त रूप देता है।

प्रस्तुत पाठ में फलों के बारे में कहा गया है इसे और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ३९३ ॥

से भिक्खू० सिया से परो अभिहट्ट अंते पडिगिहे बिलं वा लोणं वा उब्भियं वा

लोणं परिभाइत्ता वीहट्टु दलइज्जा० तहप्पगारं पडिग्गहं परहतथंसि वा, अफासुयं नो पडि० । से आहच्च पडिगाहिए सिया, तं च नाइदूरगए जाणिज्जा, से तमायाय तत्थ गच्छिज्जा, पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसोति ! , इमं किं ते जाणया दिण्णं उयाहु अजाणया ? से य भणिज्जा - नो खलु मे जाणया दिण्णं, अजाणया दिण्णं, कामं खलु आउसो ! इयाणिं निसिरामि, तं भुंजह वा णं परिभाएह वा णं, तं परेहिं समणुण्णं यं समणुसट्ठं तओ संजयामेव भुंजिज्ज वा पीइज्ज वा, जं च नो संचाएइ भोत्तए वा पायए वा साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया अदूरगया, तेसिं अपुप्पयायत्वं सिया, नो जत्थ साहम्मिया, जहेव बहुपरियावण्णं कीरइ तहेव कायत्वं सिया, एवं खलु० ॥ ३९३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, तस्य परः अभ्याहृत्य अन्तः प्रतिग्रहे बिडं वा लवणं वा उद्भिन्नं वा लवणं परिभज्य निसृत्य दद्यात्, तथाप्रकारं प्रतिग्रहं परहस्ते वा, अप्रासुकं न प्रति० । सः आहत्य (सहसा) प्रतिगृहीतः स्यात्, तं च नाऽतिदूरगतः जानीयात्, सः तमादाय तत्र गच्छेत्, गत्वा च पूर्वमेव आलोकयेत् - हे आयुष्मन् ! वा, इदं किं त्वया जानता दत्तं, उत अजानता ? सः च भणेत् - न खलु मया जानता दत्तं, अजानता दत्तं, कामं खलु हे आयुष्मन् ! इदानीं निःसरामि, तत् भुङ्ग्ध्वं वा परिभाजयत वा तत् परैः समनुज्ञातं समनुसृष्टं, ततः संयतः एव भुञ्जीत वा पीबेत् वा, यत् च न शक्नोति भोयतुं वा पातुं वा, साधर्मिकाः तत्र वसन्ति, साम्भोगिकाः समनुज्ञाः अपरिहारिकाः अदूरगताः, तेभ्यः अनुप्रदातव्यं स्यात्, न तत्र साधर्मिकाः यथैव बहुपर्यापन्नं क्रियते, तथैव कर्तव्यं स्यात्, एवं खलु० ॥ ३९३ ॥

III सूत्रार्थ :

यदि कोई गृहस्थ घर पर भिक्षार्थ आए हुए भिक्षु को अंदर- घर में अपने पात्र में बिड़ अथवा उद्भिज्ज लवण को विभक्त कर उसमें से कुछ निकाल कर साधु को दे दे तो तथाप्रकार लवणादि को गृहस्थ के पात्र में अथवा हाथ में अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे ।

यदि कभी अकस्मात् वह ग्रहण कर लिया है तो मालूम होने पर गृहस्थ को समीपस्थ ही जानकर लवणादि को लेकर वहां जावे और वहां जाकर पहले दिखलाए और कहे कि- हे आयुष्मन् ! अथवा भगिनि ! तुमने यह लवण मुझे जानकर दिया है या बिना जाने दिया है ? यदि वह गृहस्थ कहे कि मैंने जानकर नहीं दिया, किन्तु भूल से दिया है । परन्तु, हे आयुष्मन् ! अब मैं तुम्हें जानकर दे रहा हूं, अब तुम्हारी इच्छा है- तुम स्वयं खाओ अथवा परस्पर में बांट लो । गृहस्थ की ओर से सम्यक् प्रकार से आज्ञा पाकर साधु अपने स्थान पर चला जावे,

और वहां जाकर यत्नपूर्वक खाए तथा पीए। यदि स्वयं खाने या पीने को असमर्थ हो तो जहां आस-पास में एक मांडले के सभागी, समनोद्भ और निर्दोष साधु रहते हों वहां जावे और उनको दे दे। यदि साधर्मिक पास में न हो तो जो परठने को विधि बतलाई है उसी के अनुसार परठ दे। इस प्रकार मुनि का आचार धर्म बतलाया गया है।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर जाने कि- वह गृहस्थ घर में जाकर काष्ठ के बरतन आदि में ग्लान आदि साधु के लिये सक्कर की याचना करने पर बिह नमक या सैंधव नमक, देने योग्य वस्तु में से अलग करके यदि साधु को दे, तब तथाप्रकार के गृहस्थ के हाथ आदि में रहे हुए उनका निषेध करे, कदाचित् जल्दी जल्दी में ले लिया हो, तब उस दांता को बहोत दूर नहि गया हुआ जानकर साधु वह लवण (नमक) आदि लेकर उसके पास जावे, और जाकर पहले हि उन्हे वह नमक आदि दिखावे, और कहे कि- हे भाइ ! हे बहन ! यह नमक आदि क्या आपने जानकर दिया है या अनजानेमें ? ऐसा करने पर यदि वह कहे कि- मैंने यह नमक आदि आपको अनजानेमें दीये है, किंतु यदि आपको चाहिये तो ले जाइए... उसका उपयोग करो... इस प्रकार गृहस्थ से अनुमति मिलने पर साधु वापरे, यदि साधु स्वयं वापर नहि शकता तब साधर्मिक साधुओं को दे, यदि वे न हो तब पूर्व कही गइ विधि से त्याग करे... यह हि साधु का साधुपना है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि किसी गृहस्थ ने साधु को भूल से अचित्त नमक दे दिया है तो साधु उस गृहस्थ से पूछे कि यह नमक तुमने भूल से दिया है या जानकर ? वह कहे कि मैंने दिया तो भूल से है, फिर भी मैंने आपको दे दिया है अतः अब आप इसे खा सकते हैं या अपने अन्य साधुओं को भी दे सकते हैं। ऐसा कहने पर वह साधु उस अचित्त नमक को यदि स्वयं खा सकता है तो स्वयं खा ले, अन्यथा अपने सांभोगिक, मनोद्भ एवं चारित्रनिष्ठ साधुओं को बांट दे। यदि स्वयं एवं अन्य साधु नहीं खा सकते हों तो उसे एकान्त एवं प्रासुक स्थान में जाकर परठ देवे।

प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट होता है कि यदि कोई पदार्थ बिना इच्छा के भूल से आ गया है तो उसके लिए गृहस्थ के पूछकर उसकी आज्ञा मिलने पर उसे खा सकता है, अपने समान आचार-विचारनिष्ठ साधुओं को दे सकता है और उसे खाने में समर्थ न हो तो साधु मर्यादा के अनुसार परिष्ठापन-विसर्जन कर सकता है।

‘तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

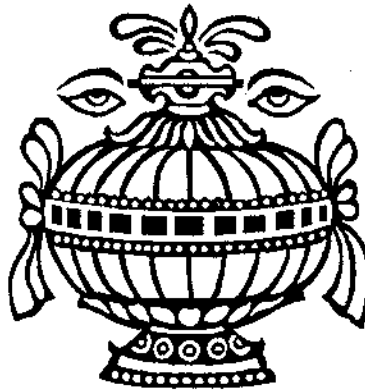
॥ प्रथमचूलिकायां प्रथमे पिण्डैवणाध्ययने दशमः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिन्हावल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २९२८.卐 राजेन्द्र सं. ९६.卐 विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - १ उद्देशक - ११

卐 पिण्डैषणा 卐

दशवा उद्देशक कहा, अब ग्यारहवे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... और इसका परस्पर यह संबंध है कि- दशवे उद्देशक में प्राप्त पिंड की विधि कही थी, और यहां ग्यारहवे उद्देशक में भी वह ही प्राप्तपिंड की विधि विशेष प्रकार से कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३९४ ॥

भियस्वाग्ना नामेगे एवमाहंसु समाणे वा वसमाणे वा गाम्माणुगामं वा दुइज्जमाणे मणुणं भोयणजायं लभित्ता से भियस्वु गिलाइ, से हंदह णं तस्साहरह, से य भियस्वु नो भुंजिज्जा, तुमं चेव णं भुंजिज्जासि, से एणइओ भोयस्वामि ति कट्ट पलिउंचिय, आलोइज्जा, तं जहा इमे पिंडे इमे लोए इमे तित्ते इमे कडुयए इमे कसाए इमे अंबिले इमे महुरे, नो खलु इतो किंचि गिलाणस्स सयइति माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा तहाठियं आलोइज्जा जहाठियं गिलाणस्स सयइति, तं तित्तयं तित्तएति वा कडुयं कडुयं कसायं कसायं अंबिलं अंबिलं महुरं महुरं ॥ ३९४ ॥

II संस्कृत-छाया :

भिक्षाटाः नाम एके एवं आहुः - समानाः वा, वसन्तः वा ग्रामानुग्रामं गच्छन्तो वा मनोज्ञं भोजनजातं लब्ध्वा, सः यः कथित् भिक्षुः ग्लायति, तस्मै गृहीत, तस्मै आहरत, सः च भिक्षुः न भुङ्कते, त्वमेव भुङ्कस्व, सः एकाकिकः भोक्ष्ये इति कृत्वा गोपित्वा गोपित्वा आलोकयेत्, - तद् - यथा - अयं पिण्डः, तत्र अयं रुक्षः अयं तियतः, अयं कटुकः अयं कषाय, अयं अम्लः, अयं मधुरः, न खलु अतः किञ्चित् ग्लानाय स्वदति इति मानुस्थानं संस्पृशेत्, न एवं कुर्यात् । तथास्थितं आलोकयेत्, यथास्थितं ग्लानाय स्वदति इति, तं तियतकं तियतक इति वा, कटुकं कटुकः, कषायं कषायः, अम्लं अम्लः, मधुरं मधुरः इति ॥ ३९४ ॥

III सूत्रार्थ :

एक क्षेत्र में किसी कारण से साधु रहते हैं, वहां पर ही ग्रामानुग्राम विद्यते हुए अन्य साधु भी आ गये हैं और वे भिक्षाशील मुनि मनोज्ञ भोजन को प्राप्त कर उन पूर्वस्थित भिक्षुओं को कहे कि अमुक भिक्षु रोगी है उसके लिए तुम यह मनोज्ञ आहार ले लो । यदि वह रोगी

भिक्षु न खाए तो तुम खा लेना ? किसी एक भिक्षु ने उनके पास से आहार लेकर मन में विचार किया कि यह मनोज्ञ आहार में ही खाऊंगा। इस प्रकार विचार कर उस मनोज्ञ आहार की अच्छी तरह छिपा कर, रोगी भिक्षु को अन्य आहार दिखला कर कहे कि यह आहार भिक्षुओं ने आप के लिए दिया है। किन्तु यह आहार आपके लिए पथ्य नहीं है, क्योंकि यह रुक्ष है, तिक्त है, कटुक है, कसैला है, खट्टा है, मधुर है, अतः रोग की वृद्धि करने वाला है, आपको इससे कुछ भी लाभ नहीं होगा। जो भिक्षु इस प्रकार कपट चर्या करता है, वह मातृस्थान का स्पर्श करता है, अतः भिक्षु को ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। किन्तु जैसा भी आहार हो उसे वैसा ही दिखलावे-अर्थात् तिक्त को तिक्त, कटुक को कटुक, कषाय को कषाय, खट्टे, को खट्टा और मीठे को मीठा बतलावे। तथा जिस प्रकार रोगी को शांति प्राप्त हो उसी प्रकार पथ्य आहार के द्वारा उसकी सेवा-शुश्रूषा करे।

IV टीका-अनुवाद :

भिक्षाके लिये जो धुमते हैं वे भिक्षुक... साधु... कितनेक साधु सांभोगिक या असांभोगिक वहां रहे हुए या ग्रामानुग्राम विहार करनेवाले साधुओं के पास जाकर कहे कि- आपके साथ यदि कोई साधु ग्लान हो, तो उनके लिये यह मनोज्ञ हो, यदि ग्लान साधु इस आहारादि को न वापरे, तो आप हि वापरीयेगा... इत्यादि...

तब वह साधु उस साधु के हाथों से ग्लान साधु के लिये आहारादि लेकर उपाश्रय की और जाता है उस वरत उसको विचार आता है कि- यह आहारादि में अकेला हि वापरूं... ऐसा सोचकर अच्छे अच्छे आहारादि को छुपाकर उस ग्लान साधु के पास जाकर आहारादि दिखाकर कहे कि- आपको वायु का रोग है अतः यह आहारादि आपके लिये अपथ्य है ऐसा कहकर उनके आगे रखे... और कहे कि- यह आहारादि आपके लिये दूसरे साधुने दीया है, किंतु रुक्ष है, अथवा तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल, मधुर इत्यादि कहकर कहे कि- इसमें से कुछ भी आपके लिये अनुकूल नहि है... इस प्रकार वह साधु माया-स्थान का स्पर्श करता है, किंतु ऐसा नहि करना चाहिये...

अब, क्या कहना चाहिये, वह कहते हैं... ग्लान साधु को आहारादि जैसा है वैसा कहकर दिखलाये... यहां सारांश यह है कि- माया - कपटका त्याग करके आहारादि जैसा है वैसा यथावस्थित हि कहे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में रोगी साधु की निष्कपट भाव से सेवा-शुश्रूषा करने का आदेश दिया गया है। यदि किसी साधु ने किसी रोगी साधु के लिए मनोज्ञ आहार दिया हो तो सेवा करने

वाले साधु का कर्तव्य है कि जिस साधु ने जैसा आहार दिया है उसे उसी रूप में बताए। ऐसा न करे कि उस मनोज्ञ आहार को स्वयं के लिए छुपाकर रख ले और बीमार साधु से कहे कि तुम्हारे लिए अमुक साधु ने यह रूखा-सूखा, खट्टा, कषायला आदि आहार दिया है, जो आपके लिए अपथ्यकर है। यदि स्वाद लोलुपता के वश साधु इस तरह से सरस आहार को छुपाकर उस रोगी साधु को दूसरे पदार्थ दिखाता है और उसके सम्बन्ध में गलत बातें बताता है तो वह माया-कपट का सेवन करता है। कपट आत्मा को गिराने वाला है। इससे महाव्रतों में दोष लगता है और साधु साधुत्व से गिरता है। अतः साधु को अपने स्वाद का पोषण करने के लिए छल-कपट नहीं करना चाहिए। जैसे आहार दिया गया है उसे उसी रूप में रोगी साधु के सामने रख देना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ३९५ ॥

भिक्षवागा नामेगे एवमाहंसु - समाणे वा वसमाणे वा ग्रामानुग्रामं दूज्जमाणे वा मणुणं भोयणजायं लभित्ता; से य भिक्षू गिलाइ, से हंदह णं तस्स आहरह, से य भिक्षू वो भुजिज्जा आहारिज्जा, से णं वो खलु मे अंतराय आहरिस्सामि, इचेयाइं आयतणाइं उवाइयकम्म ॥ ३९५ ॥

II संस्कृत-छाया :

भिक्षाराः नाम एके एवं आहः - समाणाः वा वसन्तः वा ग्रामानुग्रामं गच्छन्तो वा, मनोज्ञं भोजनजातं लब्ध्वा, सः च भिक्षुः ग्लायति, तस्मै गृह्णीत, तस्मै आहरत, सः च भिक्षुः न भञ्जीत, न आहरेत्, सः न खलु मम अन्तरायः, आहरिष्ये... इत्यादीनि आयतनानि उपातिक्रम्य ॥ ३९५ ॥

III सूत्रार्थ :

भिक्षाशील साधु, संभोगी साधु वा एक क्षेत्र में स्थिरवास रहने वाला साधु गृहस्थ के वहां से मनोज्ञ आहार प्राप्त करके ग्रामानुग्राम विचरने वाले अतिथि रूप में आए हुए साधुओं से कहे कि तुम रोगी साधु के लिए यह मनोज्ञ आहार ले लो ? यदि यह रोगी साधु इसे न खाए तो यह आहार हमें वापिस लाकर दे देना, क्योंकि हमारे यहां भी रोगी साधु है। तब वह आहार लेने वाला साधु उनसे कहे कि यदि मुझे आने में कोई विघ्न न हुआ तो मैं इस आहार को वापिस लाकर दे दूंगा, परन्तु रस लोलुपी वह साधु उस आहार को रोगी को न देकर स्वयं खा जाए और पूछने पर कहे मुझे शूल उत्पन्न हो गया था अर्थात् मेरे पेट में बहुत

दर्द हो गया था इस लिए मैं नहीं आ सका, इस प्रकार वह साधु मायास्थान का सेवन करता है, अतः इस तरह के पापकर्मों के स्थानों को सम्यक्तया दूर करके, रोगी साधु की आहार आदि के द्वारा सेवा करनी चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

साधु अच्छे आहारादि को प्राप्त करे तब मनोज्ञ या अमनोज्ञ, साधुओं को अथवा वहां रहनेवाले या प्राधूर्णकों को, ग्लान साधु को ध्यान में रखकर इस प्रकार कहे- कि- इस अच्छे आहारादि को ग्रहण करो और ग्लान साधु के लिये ले जाओ... यदि वह ग्लानसाधु इस आहारादि को न वापरे, तो हमारे ग्लान साधु के लिये वापस लाओ... वह साधु यदि ऐसा कहने पर जवाब दे कि- अंतराय याने कोई विघ्न के अभाव में मैं आहारादि ले आउंगा... इस प्रकार प्रतिज्ञा करके आहारादि लेकर ग्लान साधु के पास जाकर पूर्व के सूत्र में कहे गये आहारादि संबंधि रुक्ष आदि दोष कहकर उस ग्लान साधु वह आहारादि दीये बिना हि स्वयं हि लोलुपता से उस आहारादि को वापरकर बाद में उस साधु के पास जाकर कहे कि- ग्लान साधु की सेवा करते करते मुझे पेट में शूल की पीडा हुई अतः मुझे आनेमें अंतराय (विघ्न) हुआ... इसलिये मैं वह आहारादि लेकर नहि आया... इत्यादि प्रकार से वह साधु माया-स्थान का सेवन करे... किंतु ऐसी माया करना वह कर्मबंध का कारण है, यह बात अच्छी तरह जानकर माया का त्याग करके वह आहारादि ग्लान साधु को दे, अथवा आहारादि देनेवाले साधु को वापस लौटा दे...

अब पिंडाधिकार में हि सात पिंडैषणा का अधिकार कहतें हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र में कथित विषय को कुछ विशेषता के साथ बताया गया है। पूर्व सूत्र में कहा गया था कि यदि कोई साधु रोगी साधु की सेवा में स्थित साधु को यह कहकर मनोज्ञ आहार दे कि यह आहार रोगी को दे देना यदि वह न खाए तो तुम खा लेना, तो साधु उस आहार को अपने लिए छुपाकर नहीं रखे। किंतु प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि यदि किसी साधु ने प्रतिज्ञा पूर्वक यह कहा हो कि यह मनोज्ञ आहार रोगी साधु को ही देना यदि वह न खाए तो हमें वापिस लाकर दे देना, तो उस साधु को चाहिए कि वह आहार रोगी साधु को दे दे। स्वयं उसका उपभोग न करे। यदि वह स्वाद की लोलुपता से उस आहार को अपने लिए छुपाकर रखता है, तो माया का सेवन करता है। और उसकी इस वृत्ति से उसका दूसरा महाव्रत भी भंग होता है और रोगी को आहार की अंतराय देने के कारण अन्तराय कर्म का भी बन्ध होता है। इस तरह स्वाद के बश साधु अपना अधःपतन कर लेता है। वह आध्यात्मिक साधना से भ्रष्ट हो जाता है। अतः साधक को अपनी क्रिया में छल-कपट नहीं

करना चाहिए। पदार्थों के स्वाद की अपेक्षा साधना, सरलता, सेवा एवं सत्यता का अधिक मूल्य है, उस से आत्मा का विकास होता है। इसलिए साधु को शुद्ध एवं निष्कपट भाव से रोगी की सेवा करनी चाहिए और उसके लिए जो आहार दिया गया हो उसे बिना छुपाए उसी रूप में उसको देना चाहिए। वृत्तिकार का भी यही अभिमत है।

अब सप्त पिंडैषणा के विषय में सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ३९६ ॥

अह भिक्खू जाणिज्जा सत्त पिंडेसणाओ, सत्त पाणेसणाओ, तत्थ खलु इमा पढमा पिंडेसणा - असंसद्वे हत्थे असंसद्वे मत्ते, तहप्पगारेण असंसद्वेण हत्थेण वा मत्तेण वा असणं वा, सयं वा णं जाइज्जा, परो वा से दिज्जा, फासुअं पडिगाहिज्जा, पढमा पिंडेसणा ।

अहावरा दुब्बा पिंडेसणा - संसद्वे हत्थे संसद्वे मत्ते, तहेव दुब्बा पिंडेसणा ।

अहावरा तच्चा पिंडेसणा - इह खलु पाईणं वा, संतेगइया सइढा भवंति - गाहावई वा जाव कम्मकरी वा; तेसिं च णं अण्णयरेसु विरूवरूवेसु भायणजाएसु उवन्निविरूत्तपुव्वे सिया, तं जहा - धालंसि वा पिढरंसि वा सरगंसि वा परगंसि वा वरगंसि वा, अह पुणेवं जाणिज्जा - असंसद्वे हत्थे संसद्वे मत्ते, संसद्वे वा हत्थे असंसद्वे मत्ते, से य पडिग्गहधारी सिया पाणिपडिग्गहिण वा, से पुव्वामेव आउसोत्ति वा ! एएण तुमं असंसद्वेण हत्थेण संसद्वेण मत्तेण, संसद्वेण वा हत्थेण असंसद्वेण मत्तेण अस्सिं पडिग्गहगंसि वा पाणिंसि वा निहट्ट उचितु दलयहि, तहप्पगारं भोयणजायं सयं वा णं जाइज्जा, फासुयं पडिगाहिज्जा, तइया पिंडेसणा ।

अहावरा चउत्था पिंडेसणा - से भिक्खू वा, से जं पिहयं वा जाव चाउलपलंबं वा अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे अप्पे पज्जवजाए, तहप्पगारं पिहयं वा जाव चाउलपलंबं वा सयं वा णं जाव पडिं चउत्था पिंडेसणा ।

अहवरा पंचमा पिंडेसणा - से भिक्खू वा, उग्गहियमेव भोयणजायं जाणिज्जा, तं जहा सरावंसि वा डिंडिमंसि वा कोसगंसि वा, अह पुणेवं जाणिज्जा - बहुपरियावण्णे पाणीसु दगलेवे, तहप्पगारं असणं वा, सयं जाव पडिगाहिं पंचमा पिंडेसणा ।

अहावरा छट्ठा पिंडेसणा - से भिक्खू वा, पग्गहियमेव भोयणजायं जाणिज्जा, जं च सयड्ढा पग्गहियं, जं च परड्ढा पग्गहियं, तं पायपरियावण्णं तं पाणिपरियावण्णं फासुयं पडिं छट्ठा पिंडेसणा ।

अहावरा सत्तमा पिंडेसणा - से भियखू वा, बहु उज्झियधम्मियं भोयणजायं जाणिज्जा, जं चऽण्णे बहुवे दुपयचउप्पय समण माहण अतिहिकिविणवणीमगा वावकंस्वति, तहप्पगारं उज्झियधम्मियं भोयणजायं सयं वा णं जाइज्जा, परो वा से दिज्जा, जाव पडिं सत्तमा पिंडेसणा ।

इचेइयाओ सत्त पिंडेसणाओ अहावराओ सत्त पाणेसणाओ, तत्थ खलु इमा पढमा पाणेसणा असंसद्वे हत्थे असंसद्वे मत्ते, तं चेव भाणियव्वं, नवरं चउत्थाए नाणतं । से भियखू वा० से जं० पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तं जहा - तिलोदगं वा, अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे तहेव पडिगाहिज्जा ॥ ३९६ ॥

II संस्कृत-छाया :

अथ भिक्षुः जानीयात् सप्त पिण्डैषणाः सप्त पानैषणाः, तत्र खलु इयं प्रथमा पिण्डैषणा - असंसृष्ट हस्तः असंसृष्ट मात्रम्, तथाप्रकारेण असंसृष्टेन हस्तेन वा मात्रेण वा अशनं वा, स्वयं वा याचेत् परः वा तस्मै दद्यात्, प्रासुकं प्रतिगृहीयात्, प्रथमा पिण्डैषणा । अथाऽपरा द्वितीया पिण्डैषणा - संसृष्टं हस्तं संसृष्टं मात्रम्, तथैव द्वितीया पिण्डैषणा ।

अथाऽपरा तृतीया पिण्डैषणा - इह खलु प्राचीनं वा, सन्ति एके श्राद्धाः भवन्ति गृहपतिः वा यावत् कर्मकरी वा, तेषां च अन्यतरेषु विरूपरूपेषु भाजनजातेषु उपनिक्षिप्तपूर्वं स्यात्, तद् - यथा - स्थाले वा पिठरे वा शरके वा परके वा वरके वा, अथ पुनः एवं जानीयात् - असंसृष्टं हस्तः संसृष्टं मात्रम्, संसृष्टं वा हस्तः असंसृष्टं वा मात्रम्, सः च प्रतिग्रहधारी स्यात्, पाणिप्रतिग्रहिकः वा, तस्य पूर्वमेव हे आयुष्मन् ! वा, एतेन त्वं असंसृष्टेन हस्तेन संसृष्टेन मात्रेण, संसृष्टेन वा हस्तेन असंसृष्टेन मात्रेण, अस्मिन् प्रतिग्रहके वा पाणौ वा निहत्य उचितं दहि, तथाप्रकारं भोजनजातं स्वयं वा याचेत्, प्रासुकं प्रतिगृहीयात्, तृतीया पिण्डैषणा ।

अथाऽपरा चतुर्थी पिण्डैषणा - सः भिक्षुः वा, सः यत् पृथुकं वा यावत् तद्दुलपलम्बं वा अस्मिन् खलु प्रतिगृहीते अल्पे पथात्कर्म अल्पं पर्यवजातं, तथाप्रकारं पृथुकं वा यावत् तद्दुलपलम्बं वा स्वयं वा० यावत् प्रति० चतुर्था पिण्डैषणा ।

अथाऽपरा पञ्चमी पिण्डैषणा - सः भिक्षुः वा, उदग्रहीतं एव भोजनजातं जानीयात्, तद् - यथा - शरावं वा डिण्डिमं वा कोशकं वा, अथ पुनः एवं जानीयात् बहुपर्यापन्नः पाणिषु दकलेपः, तथाप्रकारं अशनं वा, स्वयं यावत् प्रति० (प्रतिगृहीयात्) पञ्चमा पिण्डैषणा ।

अथाऽपरा षष्ठी पिण्डैषणा - सः भिक्षुः वा, प्रगृहीतमेव भोजनजातं जानीयात्, यत् च स्वार्थं प्रगृहीतं, यत् च परार्थं प्रगृहीतं, तत् पात्रपर्यापन्नं तत् पाणिपर्यापन्नं प्रासुकं प्रति० षष्ठी पिण्डैषणा ।

अथाऽपरा सप्तमी पिण्डैषणा - सः भिक्षुः वा, बहु उज्झितधर्मिकं भोजनजातं जानीयात्, यत् च अन्ये बहवः द्विपदचतुष्पद श्रमण ब्राह्मण अतिथिकृपण वनीपकाः नाऽवकाङ्क्षन्ते, तथाप्रकारं उज्झितधर्मिकं भोजनजातं स्वयं वा याचेत्, परः वा तस्मै दद्यात्, यावत् प्रति० सप्तमी पिण्डैषणा ।

इत्यादिकाः सप्त पिण्डैषणाः अथाऽपराः सप्त पानैषणाः तत्र खलु इयं प्रथमा पानैषणा - असंसृष्टं हस्तः असंसृष्टं मात्रम्, तच्चैव भणितव्यम्, नवरं चतुर्थ्यां नानात्वम् । सः भिक्षुः वा, सः यत्० पुनः पानकजातं जानीयात्, तद् - यथा - तिलोदकं वा, अस्मिन् खलु प्रतिगृहीते अल्पं पश्चात्कर्म तथैव प्रतिगृहीयात् ॥ ३९६ ॥

III सूत्रार्थः :

संयमशील साधु सात पिण्डैषणाओं तथा सात पानैषणाओं को जाने । उन सातों में से पहली पिण्डैषणा यह है कि अचित्त वस्तु से न हाथ लिप्त है और न पात्र ही लिप्त है, तथा प्रकार के अलिप्त हाथ और अलिप्त पात्र से अशनादि चतुर्विध आहार की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर ग्रहण करले, यह प्रथम पिण्डैषणा है, इसके अनन्तर दूसरी पिण्डैषणा यह है कि अचित्त वस्तु से हाथ और भाजन लिप्त हैं तो पूर्ववत् प्रासुक जान कर उसे ग्रहण करले, यह दूसरी पिण्डैषणा है । तदनन्तर तीसरी पिण्डैषणा कहते हैं- इस संसार या क्षेत्र में पूर्वादि चारों दिशाओं में बहुत पुरुष हैं उन में से कई एक श्रमालु-श्रमालु वाले भी हैं, यथा गृहपति, गृहपत्नी यावत् उनके दास और दासी आदि रहते हैं । उनके वहां नानाविध बस्तनों में भोजन रखा हुआ होता है यथा-धाल में, पिठर-बटलोही में, सरक (छाज जैसा) में, टोकरी में और मणिजटित महार्घ पात्र में । फिर साधु यह जाने कि गृहस्थ का हाथ तो लिप्त नहीं है भाजन लिप्त है, अथवा हाथ लिप्त है, भाजन अलिप्त है, तब वह स्थविरकल्पी अथवा जिनकल्पी साधु प्रथम ही उसको देखकर कहे कि- हे आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा भगिनि ! तू मुझ को इस अलिप्त हाथ से और लिप्त भाजन से हमारे पात्र वा हाथ में वस्तु लाकर दे दीजिये । तथाप्रकार के भोजन को स्वयं मांग ले अथवा बिना मांगे ही गृहस्थ लाकर दे तो उसे प्रासुक जानकर ग्रहण करें । यह तीसरी पिण्डैषणा है । अब चौथी पिण्डैषणा कहते हैं- वह भिक्षु तुषरहित शाल्यादि को यावत् भुग्न शाल्यादि के चावल को जिसमें पश्चात्कर्म नहीं है, और न तुषादि गिराने पड़ते हैं, इस प्रकार का भोजन स्वयं मांग ले या बिना मांगे गृहस्थ दे तो प्रासुक जान ले लेवे, यह चौथी पिण्डैषणा है । पांचवीं पिण्डैषणा-गृहस्थ ने सचित्त

जल से हस्तादि को धोकर अपने खाने के लिए, सकोरे में, कांसे की थाली में अथवा मिट्टी के किसी भाजन में भोजन रक्खा हुआ है- उसके हाथ जो सचित जल से धोए थे अचित्त हो चुके हैं तथाप्रकार के अशनादि आहार को प्रासुक जानकर साधु ग्रहण कर ले, यह पांचवीं पिण्डैषणा है। छठी पिण्डैषणा यह है- गृहस्थ ने अपने लिए अथवा किसी दूसरे के लिए बर्तन में से भोजन निकाला है परन्तु दूसरे ने अभी उसको ग्रहण नहीं किया है तो उस प्रकार का भोजन गृहस्थ के पात्र में हो या उसके हाथ में हो तो मिलने पर प्रासुक जानकर उसे ग्रहण कर ले। यह छठी पिण्डैषणा है। सातवीं पिण्डैषणा यह है- वह साधु या साध्वी, जिसे बहुत से पशु-पक्षी मनुष्य-श्रमण (बौद्ध भिक्षु) ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी लोग नहीं चाहते, तथा प्रकार के उज्झित धर्म वाले भोजन को स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले, यह सातवीं पिण्डैषणा है। इस प्रकार ये सात पिण्डैषणाएँ कहीं हैं। तथा अपर सात पानैषणा अर्थात् पानी की एषणाएँ हैं। जैसे कि अलिप्त हाथ और अलिप्त भाजन आदि, शेष सब वर्णन पूर्वोक्त पिण्डैषणा की भांति समझना चाहिए। और चौथी पानैषणा में नानात्व का विशेष है। वह साधु या साध्वी पानी के विषय में जाने जैसे कि तिलादि का धोवन जिसके ग्रहण करने पर पश्चात्कर्म नहीं लगता है तो उसे प्रासुक जानकर ग्रहण कर ले। शेष पानैषणा पिण्डैषणा की तरह जाननी चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

यहां "अथ" शब्द अन्य अधिकार के विषय में प्रयुक्त है... प्रश्न - वह कौन सा अधिकार है ? उत्तर - सात पिण्डैषणा और सात पानैषणा... अब साधु या साध्वीजी म. सात पिण्डैषणा एवं सात पानैषणा को जाने - समझें... वे इस प्रकार- १. असंसृष्टा, २. संसृष्टा, ३. उद्धृता, ४. अल्पलेपा, ५. उद्गृहीता, ६. प्रगृहीता, ७. उज्झितधर्मिका...

जिनशासन में साधु दो प्रकार के होते हैं... १. गच्छ में रहे हुए, स्थविरकल्पी २. गच्छ से बाहार रहे हुए जिनकल्पी... इन दोनों में जो साधु गच्छ में रहे हुए हैं, उन्हें सातों पिण्डैषणा के ग्रहण की अनुमति है, किंतु जो जिनकल्पिकादि गच्छ से बाहार रहे हुए हैं, उन्हें पहली दो पिण्डैषणा का ग्रहण नहि होता है... शेष पांच पिण्डैषणा का हि अभिग्रह करतें हैं...

अब इन सातों पिण्डैषणाओं का क्रमशः स्वरूप कहतें हैं... वहां पहली पिण्डैषणा का स्वरूप है असंसृष्ट हाथ एवं असंसृष्ट पात्र... अब द्रव्य (आहारादि) दो प्रकार से होते हैं... १. सादशेष एवं २. निरवशेष... इनमें से जो निरवशेष है, उनमें पश्चात्कर्म दोष होता है, तो भी गच्छ में बाल ग्लान आदि प्रकार के साधु होते हैं अतः निषेध नहि है... इसी कारण से हि सूत्र में भी इस बाबत विशेष विचार नहि किया गया है... शेष सुगम है...

अब दूसरी पिंडैषणा है संसृष्ट हाथ एवं संसृष्ट पात्र... इत्यादि... शेष सुगम है...

अब तीसरी पिंडैषणा कहते हैं कि- प्रज्ञापक की अपेक्षा से जो पूर्व आदि दिशाएं हैं उनमें जो कोई श्रद्धालु गृहस्थ हैं, उनके घर में विध विध प्रकार के बरतन में आहारादि पहले से हि रखे हुए हो... जैसे कि- धाला, सूपडा, वांस से बने हुए छाबडी आदि, तथा मूल्यवान् मणी आदि से बने हुए बरतन... यदि प्रासुक एवं एषणीय आहारादि हो तो ग्रहण करें... यहां संसृष्ट असंसृष्ट एवं सावशेष द्रव्य इन तीन पदों के आठ (८) भंग होते हैं... उनमें जो आठवां भंग (विकल्प) है वह इस प्रकार है... संसृष्ट हाथ संसृष्ट पात्र एवं सावशेष द्रव्य... इस प्रकार की पिंडैषणा गच्छ से निकले हुए जिनकल्पिकादि को भी कल्पती है... और शेष सात (७) भंग वाली यह पिंडैषणा सूत्र एवं अर्थ की हानि आदि कारण को लेकर गच्छ में रहे हुए साधुओं को कल्पती है...

अब अल्पलेप नाम की जो चौथी पिंडैषणा है उसका स्वरूप कहते हैं... अल्पलेप जैसे कि- फोतरे निकले हुए शेके हुए शालि आदि को पृथुक कहते हैं... इत्यादि से लेकर तंदुलपलंब याने शेके हुए शालि आदि-तंदुल (चावल)... यहां पृथुक आदि ग्रहण करने पर पश्चात्कर्म दोष अल्प है और पर्यायजात दोष अल्प है... क्योंकि- यहां तुष-फोतरों का त्याग करना होता है, इस प्रकार यह अल्पलेप है... और भी वाल चने इत्यादि... यह सब कुछ यदि प्रासुक एवं एषणीय हो तो ग्रहण करते हैं...

अब 'अवगृहीता' नाम की पांचवी पिंडैषणा कहते हैं... जैसे कि- वह साधु या साध्वीजी म. जब आहारादि के लिये गृहस्थ के घर गये हो तब यदि वह गृहस्थ भोजन करने के लिये जो कुछ भोजन थाली में लेकर बैठे हो और कहे कि- यह आहारादि ग्रहण कीजिये... उस वरतन यदि उस गृहस्थ ने पहले से हि जल से हाथ या बरतन धोया हुआ हो, अर्थात् जल से भीगे हाथ एवं बरतन हो तो आहारादि ग्रहण न करें... किंतु यदि जल से भीगे हाथ एवं पात्र का जल सुख गया हो तब प्रासुक एवं एषणीय जानकर आहारादि ग्रहण करें...

अब 'प्रग्रहीता' नाम की छठी पिंडैषणा कहते हैं... वह इस प्रकार... गृहस्थ ने अपने लिये या दूसरों के लिये पिठरक (बरतन) आदि से चम्मच आदि से आहारादि निकाल कर खाने के लिये हाथ उंचा उठाया हो और इस स्थिति में यदि साधु को आहारादि दें तब वह प्रग्रहीता नाम की पिंडैषणा होती है... इस प्रकार यदि आहारादि पात्र में हो या हाथ में हो, और प्रासुक एवं एषणीय है ऐसा जानने में आवे, तब ग्रहण करें...

अब 'उज्जितधर्मिका' नाम की जो सातवी पिंडैषणा है वह सुगम है... इन सातों पिंडैषणाओं में संसृष्ट आदि आठ भंग होते हैं... किंतु चौथी पिंडैषणा में विभिन्नता है, क्योंकि- वह अल्पलेप है अतः संसृष्ट आदि का अभाव है... आठ भंग इस प्रकार होते हैं...

१.	संसृष्ट हाथ	संसृष्ट पात्र	निरवशेष द्रव्य
२.	संसृष्ट हाथ	संसृष्ट पात्र	सावशेष द्रव्य
३.	संसृष्ट हाथ	असंसृष्ट पात्र	निरवशेष द्रव्य
४.	संसृष्ट हाथ	असंसृष्ट पात्र	सावशेष द्रव्य
५.	असंसृष्ट हाथ	संसृष्ट पात्र	निरवशेष द्रव्य
६.	असंसृष्ट हाथ	संसृष्ट पात्र	सावशेष द्रव्य
७.	असंसृष्ट हाथ	असंसृष्ट पात्र	निरवशेष द्रव्य
८.	असंसृष्ट हाथ	असंसृष्ट पात्र	सावशेष द्रव्य

इसी प्रकार सात पानैषणा और आठ भंग जानीयेगा... किंतु चौथी पानैषणा में विभिन्नता है... क्योंकि- यहां जल स्वच्छ होने से अल्पलेपता है... अतः संसृष्ट आदि का अभाव है... इन एषणाओं में उत्तरोत्तर विधुद्धि की तरतमता होती है इसलिये इस प्रकार के उनका अनुक्रम उचित हि है...

अब इन एषणाओं का अभिग्रह लेनेवाले एवं पूर्वकाल में अभिग्रह लीये हुए साधुओं को जो करना चाहिये वह कहतें हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में विशिष्ट अभिग्रहधारी मुनियों के सात पिण्डैषणा एवं सात पानैषणा का वर्णन किया गया है। इसमें आहार एवं पानी ग्रहण करने के एक जैसे ही नियम हैं। ये सातों एषणाएं इस प्रकार हैं-

१. अलिप्त हाथ एवं अलिप्त पात्र से आहार ग्रहण करना प्रथम पिण्डैषणा है और अलिप्त हाथ एवं अलिप्त पात्र से पानी ग्रहण करना प्रथम पानैषणा है।
२. लिप्त हाथ और लिप्त पात्र से आहार ग्रहण करना द्वितीय पिण्डैषणा है और ऐसी ही विधि से पानी ग्रहण करना द्वितीय पानैषणा है।
३. अलिप्त हाथ और लिप्त पात्र या लिप्त हाथ और अलिप्त पात्र से आहार एवं इसी विधि से पानी ग्रहण करना तृतीय पिण्ड एवं पानैषणा है।
४. साधु को आहार देने के बाद सचित्त जल से हाथ या पात्र आदि धोने या पुनः आहार बनाने आदि का पश्चात्कर्म नहीं करना चतुर्थ पिण्डैषणा है, इसी तरह पानी देने के बाद भी पश्चात् कर्म नहीं लगाना चतुर्थ पानैषणा है। इसमें तिल, तुष, यव (जौ) का धोवन, आयाम-जिस पानी में गर्म वस्तु ठण्डी की जाती है, कांजी का पानी और उष्ण

जल आदि ६ प्रकार के प्रासुक जल का नाम निर्देश किया है। परन्तु उपलक्षण से अन्य प्रासुक पानी को भी समझ लेना चाहिए।

५. गृहस्थ ने अपने पात्र में खाद्य पदार्थ रखे हैं और उसके बाद वह सचित जल से हाथ धोता है, यदि हाथ धोने के बाद वह जल अचित्त रूप में परिवर्तित हो गया है तो मुनि उसके हाथ से आहार ले सकता है। इस तरह पानी भी ले सकता है, यह पांचवीं पिण्डैषणा एवं पानैषणा है।
६. गृहस्थ ने अपने या अन्य के खाने के लिए पात्र में खाद्य पदार्थ रखा है, परन्तु न स्वयं ने खाया है और न अन्य ने ही खाया है, ऐसा आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना छठी पिण्डैषणा है और ऐसा पानी लेने का संकल्प करना छठी पानैषणा है।
७. जिस आहार को बहुत से लोग खाने की इच्छा नहीं रखते हों ऐसा रूक्ष आहार लेने का संकल्प करना सातवीं पिण्डैषणा है। इसी तरह ऐसे पानी को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना सातवीं पानैषणा है।

उक्त अभिग्रह जिनकल्प एवं स्थविरकल्प दोनों तरह के मुनियों के लिए हैं। तृतीय पिण्डैषणा में 'पडिग्गहधारी सिया पाणिपडिग्गहिए वा' तथा छठी पिण्डैषणा में, पाय परियावन्नं पाणि परियावन्नं' दो पदों का उल्लेख करके यह स्पष्ट कर दिया है कि दोनों ही कल्प वाले मुनि इन अभिग्रहों को ग्रहण कर सकते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में उस युग के गृहस्थों के रहन-सहन, आचार-विचार एवं उस युग की सभ्यता का स्पष्ट परिचय मिलता है। ऐतिहासिक अन्वेषकों के लिए प्रस्तुत सूत्र महत्त्वपूर्ण है।

'उज्झित धर्म वाला' अर्थात् जिस आहार को कोई नहीं चाहता हो इसका तात्पर्य इतना ही है कि जो अधिक मात्रा में होने के कारण विशेष उपयोग में नहीं आ रहा है। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पदार्थ खाने योग्य नहीं है। इस अभिग्रह का उद्देश्य यही है कि अधिक मात्रा में अवशिष्ट आहार में से ग्रहण करने से पश्चात्कर्म का दोष नहीं लगता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'बहुपरियावन्ने पाणीसु दगलेवे' का अर्थ है- यदि सचित जल से हाथ धोए हों, परन्तु हाथ धोने के बाद वह जल अचित्त हो गया है तो साधु उस व्यक्ति के हाथ से आहार ले सकता है।

"सयं वा जाइज्जा परो वा से दिज्जा" का तात्पर्य है- जिस प्रकार मुनि गृहस्थ से आहार की याचना करे उसी प्रकार गृहस्थ के लिए भी यह विधान है कि वह भक्ति एवं श्रद्धा पूर्वक साधु को आहार ग्रहण करने की प्रार्थना करे।

उक्त अभिग्रह ग्रहण करने वाले मुनि को अन्य मुनियों के साथ-जिन्होंने अभिग्रह नहीं किया है या पीछे से ग्रहण किया है, कैसा बताव रखना चाहिए, इस संबंध में सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ३९७ ॥

इत्थेयासिं सत्तण्हं पिंडेसणाणं सत्तण्हं पाणेसणाणं अण्णयरं पडिमं पडिवज्जमाणे नो एवं वडिज्जामिच्छापडिवण्णा खलु एए भयंतारो, अहमेणे सम्मं पडिवण्णे, जे एए भयंतारो एयाओ पडिमाओ पडिवज्जिता णं विहरन्ति, जो य अहमंसि एयं पडिमं पडिवज्जिता णं विहरामि, सत्त्वे वि ते उ जिणाणाए उवड्डिया अण्णुण्ण समाहीए, एवं च णं विहरन्ति, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥ ३९७ ॥

II संस्कृत-छाया :

इत्येतासां सप्तानां पिण्डैषणानां सप्तानां पानैषणानां अन्यतरां प्रतिमां प्रतिपद्यमानः न एवं वदेत् - मिथ्याप्रतिपन्नाः खलु एते भगवन्तः अहं एकः सम्यक् प्रतिपन्नः ये इमे भगवन्तः एताः प्रतिमाः प्रतिपद्य विहरन्ति, यश्च अहं अस्मि, एतां प्रतिमां प्रतिपद्य विहरामि । सर्वेऽपि ते तु जिनाज्ञया उपस्थिताः अन्योन्यसमाधिना, एवं च विहरन्ति, एतत् खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुण्याः वा सामग्र्यम् ॥ ३९७ ॥

III सूत्रार्थ :

इन सातों पिण्डैषणाओं तथा पानैषणाओं में से किसी एक प्रतिमा-प्रतिज्ञा अभिग्रह को ग्रहण करता हुआ साधु फिर इस प्रकार न कहे कि- ये सब अन्य साधु सम्यक्तया प्रतिमाओं को ग्रहण करने वाले नहीं हैं, केवल एक में ही सम्यक् प्रकार से प्रतिमा ग्रहण करने वाला हूँ। परंतु उसे किस तरह बोलना चाहिए ? इस विषय में कहते हैं- ये सब साधु महाराज इन प्रतिमाओं को ग्रहण करके विचरते हैं। ये सब जिनाज्ञा में उद्यत हुए परस्पर समाधि पूर्वक विचरते हैं। इस तरह जो साधु साध्वी अहंभाव को नहीं रखता उसी में साधुत्व है और अहंकार नहीं रखना सम्यक् आचार है।

IV टीका-अनुवाद :

इस प्रकार इन सात पिण्डैषणा एवं सात पानैषणा प्रतिमाओं में से अन्यतर कोइ भी प्रतिमा को स्वीकारनेवाला साधु ऐसा न कहे कि- यह अन्य साधु भगवन्त अछी तरह से पिण्डैषणा आदि अभिग्रहवाले नहि है, अर्थात् मिथ्या प्रकार से प्रतिमा स्वीकारी है, मैंने अकेलेने हि यह प्रतिमा अछी तरह से स्वीकारी है... क्योंकि- मैंने विशुद्ध पिण्डैषणा का अभिग्रह किया है, इन्होंने नहि किया... इत्यादि... परंतु गच्छ से निकले हुए या गच्छ में रहे हुए साधु को

चाहिये कि- अन्य साधुओं को समदृष्टि से देखें... न कि- गच्छ में रहा हुआ उत्तरोत्तर आगे आगे की पिडैषणा के अभिग्रहवाला साधु पूर्व पूर्वतर पिडैषणा के अभिग्रह वालों को दूषित करें... अब जो करना चाहिये वह कहते हैं कि- वह साधु ऐसा कहे कि- देखीये ! यह वे साधु भगवंत पिडैषणादि अभिग्रहवाले इन प्रतिमाओं को स्वीकार के ग्रामनुग्राम विहार करते हैं... और यथायोग विचरते हैं... जिस प्रतिमा का स्वीकार करके मैं विचरता हूँ... यह सभी साधु भगवंत जिनाज्ञा के अनुसार हि उद्यत विहारवाले होते हुए विचरते हैं... और वे परस्पर समाधि से विचरते हैं कि- जो समाधि गच्छ में रहे हुए साधुओं को कही गइ है... तथा सात पिडैषणा गच्छवासीओं को कही है, और गच्छ से निकले हुए जिनकल्पिक आदि को पहली दो प्रतिमाओं को छोडकर शेष पांच पिडैषणा का अभिग्रह कहा है...

इस प्रकार यथाविहारी वे सभी साधु भगवंत जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करते... कहा भी है कि- जो साधु दो वस्त्रवाले हैं, या तीन वस्त्रवाले हैं या बहु वस्त्रवाले हैं या वस्त्र रहित हि विचरते हैं उन सभी साधुओं की हीलना (निन्दा) तिरस्कार नहि करना चाहिये, क्योंकि- वे सभी जिनाज्ञा अनुसार हि हैं... और ऐसा भाव रखना यह हि तो साधु और साध्वीजी म. का संपूर्ण साधुपना है... कि- जहां आत्मोत्कर्ष याने अभिमान का त्याग है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधना में अहंकार करने का निषेध किया गया है। साधना का उद्देश्य जीवन को ऊंचा उठाना है, अपनी आत्मा को शुद्ध बनाना है। अतः साधक को चाहिए कि वह दूसरे की निन्दा एवं असूया से ऊपर उठकर क्रिया-अनुष्ठान करे। यदि कोई साधु उसके समान अभिग्रह या प्रतिमा स्वीकार नहीं करता है, तो उसे अपने से निम्न श्रेणी का मानना एवं उससे घृणा करना साधुत्व से गिरना है। साधना की दृष्टि से की जाने वाली प्रत्येक क्रिया महत्वपूर्ण है और उसका मूल्य बाह्य त्याग के साथ आभ्यन्तर दोषों के त्याग में स्थित है। यदि बाह्य साधना की उत्कृष्टता के साथ-साथ उस त्याग का अहंकार है और दूसरे के प्रति ईर्ष्या एवं घृणा की भावना है तो वह बाह्य त्याग आत्मा को ऊपर उठाने में असमर्थ ही रहेगा। प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को अपने त्याग का, अपने अभिग्रह आदि का गर्व नहीं करना चाहिए और अन्य साधुओं को अपने से हीन नहीं समझना चाहिए। उसे तो साधना के पथ पर गतिशील सभी साधकों का समान भाव से आदर करना चाहिए। गुण सम्पन्न पुरुषों के गुणों को देखकर प्रसन्न होना चाहिए और उनके गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए। इसी से आत्मा का विकास होता है।

आगम में यह स्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि साधु को परस्पर एक-दूसरे की निन्दा नहीं करनी चाहिए। एक वस्त्र रखने वाले मुनि को दो वस्त्रधारी मुनि की और दो वस्त्र सम्पन्न मुनि को तीन या बहुत वस्त्र रखने वाले मुनि की निन्दा नहीं करनी चाहिए। इसी तरह अचेलक

मुनि को सवस्त्र मुनि का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। साधु को निन्दा-चुगली से सर्वथा निवृत्त रहना चाहिए। क्योंकि आत्मा का विकास निन्दा एवं चुगली से निवृत्त होने में है। साधना का महत्व आभ्यन्तर दोषों के त्याग में है, न कि केवल बाह्य साधना में। माता मरुदेवी एवं भरत चक्रवर्ती ने आभ्यन्तर दोषों का त्याग करके ही गृहस्थ के वेश में पूर्णता को प्राप्त किया था।

प्रस्तुत सूत्र में सात पिण्डैषणाओं का वर्णन करके अभिग्रह की संख्या सीमित कर दी है। सात से ज्यादा या कम अभिग्रह नहीं होते। और 'विहरंति' वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि चारित्र की साधना वर्तमान में ही होती है, ज्ञान एवं दर्शन पूर्व भव से भी साथ में आते हैं और एक गति से दूसरी गति में जाने समय भी साथ रहते हैं। परन्तु, चारित्र न पूर्वभव से साथ में आता है और न साथ में जाता है। उसकी साधना-आराधना इसी भव में की जा सकती है।

अभिग्रह के सम्बन्ध में वृत्तिकार का मत है कि स्थविर कल्पी मुनि सप्त अभिग्रह स्वीकार कर सकता है और जिन कल्पी मुनि ५ अभिग्रह स्वीकार कर सकता है।

आगमोदय समिति की प्रति में प्रस्तुत उद्देशक के अन्त में 'तिबेमि' नहीं दिया है। किन्तु, अन्य कई प्रतियों में 'तिबेमि' शब्द दिया है। 'तिबेमि' की व्याख्या पर्वदत् समझनी चाहिए।

॥ प्रथमचूलिकायां प्रथमपिण्डैषणाध्ययने एकादशः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐 卐 卐

: प्रथमः :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाठ-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक ऋनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. ९६. 卐 विक्रम सं. २०५८.

आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - २ उद्देशक - १

卐 शय्यैषणा 卐

प्रथम अध्ययन कहा, अब दूसरे अध्ययन का प्रारंभ करते हैं, और इन दोनों का इस प्रकार परस्पर संबंध है... यहां पहले अध्ययन में धर्म के आधार स्वरूप शरीर के पालन के लिये प्रारंभ में हि पिंड (आहारादि) ग्रहण करने की विधि कही... आहारादि प्राप्त होने पर साधु को जहां गृहस्थ न हो ऐसे उपाश्रय (वसति-मकान) में जाकर अवश्य ठहरना चाहिये... इस प्रकार से वसति-उपाश्रय के गुण एवं दोष कहने के लिये इस दूसरे अध्ययन का प्रारंभ करते हैं... अतः इस प्रकार के परस्पर के संबंध से आये हुए इस दूसरे अध्ययन के चार अनुयोग द्वारा कहते हैं... उनमें नामनिष्पन्न निक्षेप में "शय्यैषणा" ऐसा नाम है... अतः उसके निक्षेप करने के लिये कहते हैं कि- जहां पिंडैषणा नियुक्ति है वहां उनके निक्षेप कीये गये हैं अतः वहां से जानीयेगा... ऐसा अतिदेश याने भलामण करके प्रथम गाथा से और अन्य नियुक्तिओं की यथायोग्य संभावना और निक्षेप दूसरी गाथा से कहकर अब तीसरी गाथा से "शय्या" पद के छह (६) निक्षेप कहते हैं... उनमें से भी नाम एवं स्थापना सुगम होने के कारण से नियुक्तिकार अब शेष द्रव्य क्षेत्र आदि को कहते हैं... द्रव्यशय्या, क्षेत्रशय्या कालशय्या एवं भावशय्या उनमें यहां द्रव्यशय्या याने वसति-उपाश्रय का अधिकार है और वह संयत ऐसे साधुओं के योग्य होनी चाहिये...

अब द्रव्यशय्या का स्वरूप कहते हैं...

द्रव्यशय्या तीन प्रकार से होती है... १. सचित, २. अचित्त एवं ३. मिश्र... उनमें सचित पृथ्वीकाय आदि में रहना वह सचित द्रव्यशय्या है, और अचित्त पृथ्वीकाय आदि के उपर रहना वह अचित्त द्रव्यशय्या है, और अर्धपरिणत पृथ्वीकायादि में रहना वह मिश्रद्रव्यशय्या है... अथवा तो सचित द्रव्यशय्या का स्वरूप स्वयं नियुक्तिकार आगे की गाथा से कहेंगे... तथा क्षेत्रशय्या याने जहां गांव या नगर आदि क्षेत्र में निवास कीया जाय वह क्षेत्रशय्या है... तथा कालशय्या याने जहां ऋतुबन्ध काल आदि में रहा जाय वह कालशय्या...

अब सचित द्रव्यशय्या का स्वरूप कथानक के द्वारा कहते हैं...

जैसे कि- कोइ एक अटवी में उत्कल और कलिंग नाम के दो भाइ जंगल के विषम स्थान में पल्लि (निवास योग्य छोटा सा गांव) बनाकर चोरी के द्वारा जीवन जीते हैं... उनकी

वल्गुमती नाम की एक बहिन है... अब एक बार वहां गौतम नाम का निमित्तज्ञ आया तब उत्कल और कर्लिंग ने उनका स्वागत किया, उस वख्त उनकी बहिन वल्गुमति ने कहा कि- यह पुरुष भद्रक याने भला (अच्छा) नहि है... यदि यह पुरुष यहां रहेगा तो कभी न कभी अपनी पल्लि (निवास स्थान) का विनाश करेगा... इसलिये इस पुरुष को यहां से निकाल दीया जाय... तब उन दोनों भाइयों ने उस निमित्तज्ञ पुरुष को वहां से निकाल दीया... इस स्थिति में उस पुरुष ने गुस्से में आकर एक प्रतिज्ञा की कि- यदि मैं वल्गुमती के उदर (पेट) को चीरकर वहां न सोऊं तो मैं पुरुष नहि... इत्यादि... यहां अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं कि- वह वल्गुमती अपने पुत्र-पुत्रीयां छोटे होने के कारण से वह हि उस पल्लिकी स्वामिनी थी, और उत्कल तथा कर्लिंग दोनों निमित्तज्ञ थे... वह वल्गुमती इन दो निमित्तज्ञ के प्रति सदभाववाली होने से पहले से हि वहां रहनेवाले गौतम नाम के निमित्तज्ञ को वहां से निकाल दीया... इस स्थिति में वह गौतम निमित्तज्ञ गुस्से में आकर प्रतिज्ञा करके सर्षप (सरसव) को बोता हुआ वहां से निकल गया... वर्षाकाल में वे सर्षप अंकुरित होकर पौधे बन गये, तब उस सर्षपके पौधे की पंक्ति के अनुसार उस गौतम निमित्तज्ञने अन्य कोई राजा को उस पल्लि में प्रवेश कराकर संपूर्ण पल्लि को लुंठकर जला दी... और गौतम निमित्तज्ञने भी उस वख्त वल्गुमती का पेट (उदर) फाड़कर मूर्च्छित जीवित देहवाली उस वल्गुमती के उपर सो गया... इस प्रकार जो गौतम का सोना (रहना) वह सचित्त द्रव्यशय्या है...

अब भावशय्या का स्वरूप कहते हैं... भावशय्या के दो प्रकार है... १. काय विषयक, एवं २. षड्भावविषयक... उनमें षड्भाववाली शय्या इस प्रकार है कि- जो जीव औदयिक आदि सन्निपात पर्यंत के छह (६) भावों में जिस समय कहता है वह षड्भावभावशय्या... क्योंकि- जहां रहा जाय- शयन किया जाय वह भावशय्या... तथा स्त्रीआदि के शरीर में गर्भ स्वरूप जो जीव रहा हुआ है, उसके वह स्त्रीदेह हि भावशय्या है... क्योंकि- स्त्री आदि का शरीर सुखी हो या दुःखी हो, सोया हुआ हो या उठा (खड़ा-बैठा) हुआ हो तब उनके शरीर में रहा हुआ जीव भी वैसी हि अवस्था को प्राप्त करता है, अतः कायभावशय्या है...

इस संपूर्ण अध्ययन का विषय शय्या है... अब उद्देशार्थाधिकार कहने के लिये नियुक्तिकार आगे की गाथा कहते हैं...

इस द्वितीय अध्ययन के तीनों उद्देशकों में शय्या संबंधि अधिकार है, फिर भी उनमें परस्पर जो विशेषता है वहां में संक्षेप में कहता हूं... प्रथम उद्देशक में वसति के आधाकमादि उद्गम दोष एवं गृहस्थ आदि के संसर्ग से होनेवाले अपाय (उपद्रव) का विचार किया जाएगा... तथा द्वितीय उद्देशक में शौचवादीओं से होनेवाले अनेक प्रकार के दोष तथा शय्या (वसति) का विवेक एवं ऐसी वसति का त्याग कहा जाएगा... इस प्रकार यहां यह अर्थाधिकार है...

तृतीय उद्देशक में- उद्गमादि दोषों का त्याग करनेवाले यतनाशील साधु को जो कोइ छलना हो तब उसके परिहार (त्याग) में साधु सदा प्रयत्न करें... एवं पंचविध स्वाध्याय में व्याघात न हो ऐसे सम या विषमादि उपाश्रय (वसति) में कर्मों की निर्जरा हेतु साधु रहे... यह यहां अधीधिकार है...

यहां निर्युक्ति अनुगम पूर्ण हुआ, अब सूत्रानुगम में सूत्र का शुद्ध उच्चार करें... और इस सूत्र के बारेमें सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का प्रथम सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३९८ ॥

से भिक्खू वा, अभिकंखिज्जा उवस्सयं एसित्तए अणुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा - सअण्डं जाव ससंताणयं, पहप्पगारे उवस्सए वो ठाणं वा सिज्जं वा निसीहियं वा चेइज्जा । से भिक्खू वा, से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा, अप्पण्डं जाव अप्पसंताणयं, तहप्पगारे उवस्सए पडिलेहिता पमज्जिता तओ संजयामेव ठाणं वा, चेइज्जा ।

से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा, अस्सिं पडियाए एणं साहम्मियं समुदिस्स पाणाइं, समारम्भ समुदिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अनिसइं अभिहडं आहट्टु चेएइ, तहप्पगारे उवस्सए पुरिसंतरकडे वा जाव अणासेविए वा नो ठाणं वा, चेइज्जा । एवं बहवे साहम्मिया एणं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ । से भिक्खू वा० से जं पुण उ० बहवे समणवणीमए पगणिय, समुदिस्स तं चेव भाणियत्वं

से भिक्खू वा० से जं० बहवे समण० समुदिस्स पाणाइं, जाव चेएति, तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव अणासेविए नो ठाणं वा, चेइज्जा । अह पुणेवं जाणिज्जा पुरिसंतरकडे जाव अणासेविए नो ठाणं वा सेज्जं वा निसीहिं वा चेइज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा पुरिसंतरकडे जाव आसेविए पडिलेहिता, तओ चेइज्जा ॥ ३९८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, अभिकाङ्क्षेत उपाश्रयं एषितुं, अनुप्रविश्य ग्रामं वा यावत् राजधानीं वा, सः यत् पुनः उपाश्रयं जानीयात् सअण्डं यावत् ससन्तानकं, तथाप्रकारे उपाश्रये न स्थानं वा शय्यां वा निषीधिकां वा चेतयेत् । सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः उपाश्रयं जानीयात् अल्पाऽण्डं यावत् अल्पसन्तानकं, तथाप्रकारे उपाश्रये प्रतिलिख्य प्रमृज्य ततः संयत एव स्थानं वा, चेतयेत् । सः यत् पुनः उपाश्रयं जानीयात् एतया प्रतिज्ञया एकं साधर्मिकं उद्दिश्य प्राणिनः, समारम्भ, समुद्दिश्य क्रीतं प्रामीत्यं आच्छेद्यं अनिसृष्टं अभ्याहतं आहृत्य चेतयति, तथाप्रकारे उपाश्रये पुरुषान्तरकृते वा यावत् अनासेविते वा न स्थानं वा, चेतयेत् । एवं

बहू-साधर्मिकान् एकां साधर्मिकां बहूः साधर्मिकाः । सः भिक्षुः वा० सः यत् पुनः उपा०
बहून् श्रमण-वनीपकान् प्रमणय्य, समुद्दिश्य तच्चैव भणितव्यम् ।

सः भिक्षुः वा० सः यत् बहून् श्रमण० उद्दिश्य प्राणिनः, यावत् चेतयति,
तथाप्रकारे उपाश्रये अपुरुषान्तरकृते यावत् अनासेविते न स्थानं वा, चेतयेत् । अथ पुनः
एवं जानीयात्, पुरुषान्तरकृतं यावत् सेवितं, प्रतिलिख्य, ततः संयत एव चेतयेत् ।

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया कटकितः वा उत्कम्बितः वा
छन्नः वा लिप्तः वा घृष्टः वा मृष्टः वा संप्रधूपितः वा तथाप्रकारे उपाश्रये अपुरुषान्तरकृते
यावत् अनासेविते न स्थानं वा शय्यां वा निषेधिकां वा चेतयेत् । अथ पुनः एवं जानीयात्
पुरुषान्तरकृतः यावत् आसेवितः प्रतिलिख्य, ततः चेतयेत् ॥ ३९८ ॥

III सूत्रार्थ :

वह साधु वा साध्वी उपाश्रय की गवेषणा के लिए ग्राम यावत् राजधानी में जाकर
उपाश्रय को जाने जो उपाश्रय अण्डों से यावत् मकड़ी आदि के जालों से युक्त है तो उसमें वह
कायोत्सर्ग संस्तारक (संधारा) और स्वाध्याय न करे । वह साधु या साध्वी जिस उपाश्रय को
अण्डों और मकड़ी के जाले आदि से रहित जाने, उसे प्रतिलेखित और प्रमाजित करके उसमें
कायोत्सर्गादि करे ।

जो उपाश्रय एक साधर्मि के उद्देश्य से प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वादिका समारम्भ
करके, मोल लेकर, उधार लेकर, किसी निर्बल से छीन कर, यदि सर्व साधारण का है तो
किसी एक की भी बिना आज्ञा लिए साधु को देता है तो इस प्रकार का उपाश्रय पुरुषान्तरकृत
हो अथवा अपुरुषान्तरकृत, एवं सेवित हो या अनासेवित, उसमें साधु कायोत्सर्ग आदि कार्य
न करे । इसी प्रकार जो बहुत से साधर्मियों के लिए बनाया गया हो तथा एक साधर्मिणी या
बहुत सी साधर्मिणियों के लिए बनाया गया है उसमें भी स्थानादि कायोत्सर्गादि न करे । और
जो उपाश्रय बहुत से श्रमणों तथा भिक्षुकों के लिए बनाया गया हो उसमें भी स्थान आदि न करे ।

जो उपाश्रय शाक्यादि भिक्षुओं के निमित्त षट्काय का समारम्भ करके बनाया गया
है, जब तक वह अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित है तब तक उसमें स्थानादि-कायोत्सर्गादि
न करे, और यदि वह पुरुषान्तरकृत या आसेवित है तो उसका प्रतिलेखन करके यत्नापूर्वक
वहां स्थानादि कार्य कर सकता है ।

जो उपाश्रय गृहस्थ ने साधु के लिए बनाया हुआ है उसका काष्ठादि से संस्कार किया
है, बांस आदि से बान्धा है तृणादि से आच्छादित किया है गोबरादि से लिंपा है; सवारा है तथा
ऊंची नीची भूमि को समतल बनाया है, सुकोमल बनाया है और दुर्गन्धादि को दूर करने के

लिए सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित किया है तो इस प्रकार का उपाश्रय जब तक अपुरुषान्तरकृत या अवासेवित है, तब तक उस में नहीं ठहरना चाहिए, और यदि वह पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो गया हो तो उस का प्रतिलेखन करके उस में स्थानादि कार्य कर सकता है, अर्थात् कायोत्सर्ग, संधारा और स्वाध्याय आदि कर सकता है।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. वसति याने उपाश्रय की एषणा करना चाहे, तो गांव आदि में प्रवेश करें, वहां प्रवेश करके साधु को रहने के लिये योग्य वसति-उपाश्रय की शोध करे... यदि वहां जीवजंतु के अंडेवाला उपाश्रय हो, तो वहां स्थानादि न करें स्थान याने खड़े खड़े कायोत्सर्ग... शय्या याने संस्तारक (संधारो) निषीधिका याने स्वाध्यायभूमि... इत्यादि न करें... यदि इससे विपरीत याने जीव-जंतु रहित उपाश्रय हो तो प्रतिलेखन करके स्थानादि करे।

अब उपाश्रय के विषय में रहे हुए उद्गमादि दोषों को कहते हैं... वह भाव-साधु जब जाने कि- यह उपाश्रय किस श्रद्धावाले श्रावक (गृहस्थ) ने साधुओं के लिये त्रस एवं स्थावर जीवों को पीडा पहुंचाकर बनाया है... जैसे कि- जिनेश्वर ने कहे हुए धर्मानुष्ठान का आचरण करनेवाले किसी एक साधु के लिये त्रस एवं स्थावर जीवों का मर्दन करके बनाया गया है, तथा उसी साधु के लिये मूल्य से खरीद करके, अन्य से उच्छिना मांगकर के, या नौकर चाकर आदि से बल पूर्वक झुंटाकर या मकान के स्वामी ने अनुमति न दी हो ऐसे, या तैयार हि खरीदा गया हो, इत्यादि प्रकार से यदि गृहस्थ साधु को उपाश्रय दे, तब तथाप्रकार के पुरुषान्तरकृतादि उपाश्रय में साधु स्थानादि न करे... इसी प्रकार बहुवचनसूत्र याने अनेक साधुओं के लिये... इत्यादि जानीयेगा... इसी प्रकार साध्वीजी. म. के विषय में भी एकवचन एवं बहुवचन के विषय में भी स्वयं जानीयेगा... किंतु यह दोनों सूत्र पिडैषणा के अनुसार जानीयेगा... सुगम होने के कारण से यहां पुनः नहि कहते हैं...

तथा वह साधु यदि ऐसा जाने कि- यह उपाश्रय असंयत (गृहस्थ) ने साधुओं के लिये बनाया है... वह इस प्रकार - काष्ठ (लकड़ी) आदि से दिवार... आदि बनाइ हो, वंश आदि की कंबा आदि से बांधा हो, दर्भ (तृण-घास) आदि से ढांका हो, गोमय (गोबर) आदि से लिंपा हो, खड़ी मिट्टी आदि से पोता हो, तथा लेपनिका आदि से समतल किया हो, भूमिकर्मादि से संस्कारित किया हो, दुर्गंध को दूर करने के लिये धूप आदि से धूपित किया हो, तो इस प्रकार के अन्य पुरुष ने स्वीकार नहि हुए एवं नहि वापरे हुए उपाश्रय (मकान) में साधु स्थानादि न करें... किंतु यदि अन्य पुरुष ने अपने आपके लिये ग्रहण किया हो यावत् निवास किया हो तो प्रतिलेखन करके साधु स्थान, शय्या, निषद्यादि करे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- गांव या शहर में ठहरने के इच्छुक साधु-साध्वी को उपाश्रय (ठहरने के स्थान) की गवेषणा करनी चाहिए। उसे देखना चाहिए कि उस स्थान में अण्डे एवं मकड़ी के जाले आदि न हो और बीज एवं अनाज के दाने बिखरे हुए न हों। क्योंकि अण्डे, बीज एवं सब्जी आदि से युक्त मकान में ठहरने से उनकी विराधना होने की सम्भावना है। अतः साधु को ऐसे मकान की गवेषणा करनी चाहिए कि जिसमें संयम की विराधना न हो। यदि किसी मकान में चींटी आदि क्षुद्र जन्तु हो तो उस मकान का प्रमार्जन करके उन त्रस जीवों को एकान्त में छोड़ दे। इस तरह साधु ऐसे मकान में ठहरे जिसमें किसी भी प्राणी की विराधना (हिंसा) न हो।

स्थान की गवेषणा करते समय क्षुद्र प्राणियों से रहित स्थान के साथ-साथ यह भी देखना चाहिए कि वह स्थान साधु के उद्देश्य से न बनाया गया हो, साधु के लिए किसी निर्बल व्यक्ति से छीन कर न लिया गया हो, अनेक व्यक्तियों के सांझे का न हो यदि वह उपरोक्त दोषों से युक्त है तो वह स्थान चाहे गृहस्थों ने अपने काम में लिया हो या न लिया हो, चाहे उसमें गृहस्थ ठहरे हों या न ठहरे हों, साधु के लिए अकल्पनीय है, साधु उस स्थान में न ठहरे।

सांझे के मकान के विषय में इतना अवश्य है कि वह मकान साधु के लिए नहीं बनाया गया है और जिन व्यक्तियों का उस पर अधिकार है वे सब व्यक्ति इस बात में सहमत हैं कि साधु उक्त मकान में ठहरे तो साधु उस मकान में ठहर सकते हैं। यदि उन में से एक भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि साधु उक्त मकान में ठहरे तो साधु को उस मकान में नहीं ठहरना चाहिए।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या मकान भी सामने लाकर दिया जाता है ? इसका समाधान यह है कि तम्बू आदि सामने लाकर खड़े किए जा सकते हैं। लकड़ी के बने हुए मकान भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाए जा सकते हैं। और आजकल तो ऐसे मकान भी बनने लगे हैं कि उन्हें स्थानान्तर किया जा सकता है।

इससे स्पष्ट होता है कि साधु के निमित्त ६ काय की हिंसा करके जो मकान बनाया गया है, साधु को उस मकान में नहीं ठहरना चाहिए। और जो मकान साधु के लिए नहीं बनाया गया है, परन्तु उसमें साधु के निमित्त फर्श आदि को लीपा-पोता गया है या उसमें सफेदी आदि कराई गई है, तो साधु को उस मकान में तब तक नहीं ठहरना चाहिए जब तक वह पुरुषान्तर नहीं हो गया है। इसी तरह जो मकान अन्य श्रमणों के लिए या अन्य व्यक्तियों के ठहरने

के लिए बनाया गया है- जैसे कि- धर्मशाला आदि। ऐसे स्थानों में उनके ठहरने के पश्चात् पुरुषान्तर होने पर साधु ठहर सकता है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ३९९ ॥

से भिक्खु वा० से जं० पुण उवस्सयं जा अस्संजए भिक्खुपडियाए खुडियाओ दुवारियाओ महल्लियाओ कुज्जा, जहा पिडेसणाए जाव संथारगं संथारिज्जा, बहिया वा निन्नवस्खू, तहप्पगारे उवस्सए अपु० नो ठाणं, अह पुणेवं पुरिसंतरकडे आसेविए पडिलेहिता, तओ संजयामेव जाव चेइज्जा।

से भिक्खु वा० से जं० अस्संजए भिक्खुपडियाए उदग्गप्पसूयाणि कंदाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा ठाणाओ ठाणं साहरइ, बहिया वा निन्नवस्खू, तह० अपुरि० नो ठाणं वा चेइज्जा, अह पुण० पुरिसंतरकडं चेइज्जा।

से भिक्खु वा से जं० अस्संज० भि० पीठं वा फलकं वा निस्सेणि वा उदूखलं वा ठाणाओ ठाणं साहरइ, बहिया वा निन्नवस्खू, तहप्पगारे उ० अपु० नो ठाणं वा चेइज्जा, अह पुण० पुरिसं० चेइज्जा ॥ ३९९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत् पुनः उपाश्रयं जाव असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया लघु द्वारं महत् कुर्यात्, यथा पिण्डेषणा यावत् संस्तारकं संस्तरेत् बहिः वा निस्सारयेत्, तथाप्रकारे उपाश्रये अपु० न स्थानं, अथ पुनः एवं पुरुषान्तरकृतं आसेवितं प्रतिलिख्य, ततः संयत एव यावत् चेतयेत्।

सः भिक्षुः वा० सः यत् असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया उदग्रप्रसूतानि कन्दानि वा मूलानि वा पत्राणि वा पुष्पाणि वा फलानि वा बीजानि वा हरितानि वा स्थानात् स्थानं आहरति बहिः वा निःसारयति, तथा० अपु० न स्थानं वा चेतयेत्, अथ पुनः पुरुषा० चेतयेत्।

सः भिक्षुः वा, सः यत् असंयतः भिक्षु० पीठं वा फलकं वा निःश्रेणि वा उदूखलं वा स्थानात् स्थानं आहरति बहिः वा निःसारयति, तथाप्रकारे उपा० अपु० न स्थानं वा चेतयेत्, अथ पुनः पुरुषा० चेतयेत् ॥ ३९९ ॥

III सूत्रार्थ :

वह साधु या साध्वी उपाश्रय के विषय में यह जाने कि गृहस्थ ने साधु के लिए उपाश्रय के छोटे द्वार को बड़ा बनाया है या बड़े द्वार को छोटा कर दिया है, तथा भीतर से कोई पदार्थ बाहर निकाल दिया है तो इस प्रकार के उपाश्रय में जब तक वह अपुरुषान्तरकृत एवं अनासेवित है तब तक वहां कायोत्सर्गादि न करे, और यदि वह पुरुषान्तरकृत अथवा आसेवित हो गया है, तो उसमें स्थानादि कर सकता है।

इसी प्रकार यदि कोई गृहस्थ साधु के लिए उदक से उत्पन्न होने वाले कन्द मूल, पत्र, पुष्प, फल, बीज और हरी का एक स्थान से स्थानान्तर में संक्रमण करता है, या भीतर से किसी पदार्थ को बाहर निकालता है, तो इस प्रकार का उपाश्रय भी अपुरुषान्तरकृत और अनासेवित हो तो साधु के लिए अकल्पनीय है। और यदि पुरुषान्तरकृत अथवा आसेवित है तो उसमें वह कायोत्सर्गादि कर सकता है।

इसी भांति यदि गृहस्थ साधु के लिए पीठ (चौकी) फलक और ऊखल आदि पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान में रखता है या भीतर से बाहर निकालता है, तो इस प्रकार के उपाश्रय में जो कि अपुरुषान्तरकृत और अनासेवित है तो साधु उसमें कायोत्सर्ग आदि कार्य न करे, और यदि वह पुरुषान्तरकृत अथवा आसेवित हो चुका है तो उसमें वह कायोत्सर्गादि क्रियाएं कर सकता है।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब ऐसा जाने कि- यह उपाश्रय असंयत ऐसे गृहस्थ ने साधुओं के लिये जो लघु द्वारावाला था वह बड़े द्वारवाला किया है... तब ऐसे अन्य पुरुषों ने नहि ग्रहण कीये हुए उपाश्रय में स्थानादि न करें... किंतु यदि अन्य पुरुष ने उस मकान को ग्रहण किया हो एवं उपयोग में लिया हो तब स्थानादि करें... यहां इन दोनों सूत्र में उत्तरगुण कहे गये हैं... अतः ऐसे दोषवाला होने पर भी यदि अन्य पुरुष ने ग्रहण किया हो तो स्थान शय्या निषद्यादि करना कल्पता है... और यदि वह उपाश्रय मूलगुण के दोषवाला हो तब अन्य पुरुष ने ग्रहण किया हो तो भी स्थानादि करना कल्पता नहि है... मूलगुण के दोष इस प्रकार हैं... पृष्ठवंशादि से साधुओं के लिये बनाये हुअे उपाश्रय में वसति = निवास करने पर मूलगुण में दोष लगता है...

वह साधु या साध्वीजी म. जब ऐसा जाने कि- यह उपाश्रय गृहस्थ ने साधुओं के लिये बनाते वरुत्त पानी में उगे हुए कंद आदि को स्थानान्तर में संक्रमित किया है, या उखेडकर बाहार निकाल दीया है, तब ऐसे प्रकार के एवं अन्य पुरुष ने ग्रहण न कीये हो तो वहां साधु

स्थान, शय्या, निषद्यादि न करें, यदि अन्य पुरुष ने ग्रहण किया हो तो साधु स्थानादि करे...

इसी प्रकार अचित्ति-सारणसूत्र को भी जानीयेगा... यहां त्रस आदि जीवों की विराधना का दोष लगता है, यह यहां भाव है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- यदि किसी गृहस्थ ने साधु के निमित्त उपाश्रय के दरवाजे छोटे-बड़े किए हैं, या कन्द, मूल, वनस्पति आदि को हटाकर या कांट-छांट कर उपाश्रय को ठहरने योग्य बनाया है तथा उसमें स्थित तख्त आदि को भीतर से बाहर या बाहर से भीतर रखा है और इस तरह की क्रियाएं करने के बाद उस उपाश्रय में गृहस्थ ने निवास किया हो या अपने सामायिक संवर आदि धार्मिक क्रियाएं करने के काम में लिया हो तो साधु उस मकान में ठहर सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि जो मकान मूल से साधु के लिए बनाया हो, उस मकान में साधु किसी भी स्थिति-परिस्थिति में नहीं ठहर सकता। परन्तु, जो स्थान मूल से साधु के लिए नहीं बनाया गया है, केवल उसकी मुरम्मत की गई है या उसके कमरों या दरवाजों आदि को छोटाई-बड़ाई में कुछ परिवर्तन किया गया है या उसका अभिनव संस्कार किया गया है तो वह पुरुषान्तर होने के बाद साधु के लिए कल्पनीय है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ४०० ॥

से भियस्व वा० से जं० तं जहा- खंधंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलियस्वजायंसि, नन्नत्थ आगाढानागाढेहि कारणेहि वा नो चेइज्जा। से आहच्च वा प्पोइज्ज वा, नो तत्थ ऊसडं पकरेज्जा, तं जहा- उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा वंतं वा पित्तं वा पूयं वा सोणियं वा अण्णयरं वा सरीरावयवं वा, केवली बूया-आयाणमेयं, से तत्थ ऊसडं पगरेमाणे पयलिज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा हत्थं वा जाव सीसं वा अण्णयरं वा कायंसि इंदियजालं लूसिज्जा वा पाणि, अभिहणिज्ज वा जाव ववरोविज्ज वा, अथ भियस्वणं पुक्खोवइडा, जं तहप्पगारं उवस्सए अंतलियस्वजाए न ठाणंसि वा, चेइज्जा ॥ ४०० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत्० तद्-यथा-स्कन्धे वा मञ्जे वा माले वा प्रासादे वा हर्म्ये

वा अन्यतरे वा तथाप्रकारे अन्तरिक्षजाते, न अन्यत्र आगाढाऽनागाढैः कारणैः स्थानं वा न चेतयत् । सः आहत्य वा प्रहत्य वा, न तत्र उत्सृष्टं प्रकुर्यात्, तद् यथा-उच्चारं वा प्रस्त्रवणं वा खेलं वा सिद्धानकं वा दान्तं वा पित्तं वा पूतं वा शोणितं वा अन्यतरं वा शरीरावयवं वा, केवली ब्रूयात्-आदानमेतत्, सः तत्र त्यागे प्रकुर्वन् प्रचलेत् वा, सः तत्र प्रपलन् वा प्रपतन् वा हस्तं वा यावत् शीर्षं वा अन्यतरं वा काये इन्द्रियजालं विनाशयेत् वा, प्राणिनः अभिहन्यात् वा जाव ववरोविज्ज वा, अह भियस्खूणं पुत्त्वोवइडा, जं तहप्पगारं उवस्सए अंतलियखजाए नो ठाणंसि वा, चेतयेत् ॥ ४०० ॥

III सूत्रार्थ :

वह साधु या साध्वी उपाश्रय को जाने, जैसे कि- जो उपाश्रय एक स्तम्भ पर है, मंच पर है, माले पर है, प्रासाद पर-दूसरी मंजिल पर या महल पर बना हुआ है, तथा इसी प्रकार के अन्य किसी ऊंचे स्थान पर स्थित है तो किसी असाधारण कारण के बिना, उचित प्रकार के उपाश्रय में स्थानादि न करे। यदि कभी विशेष कारण से उसमें ठहरना पड़े तो वहां पर प्रासुक शीतल या उष्ण जल से, हाथ, पैर, आंख, दान्त और मुख आदि का एक या एक से अधिक बार प्रक्षालन न करे। वहां पर मल आदि का उत्सर्जन न करे यथा-उच्चार (विष्ठा) प्रस्त्रवण (मूत्र) मुख का मल, नाक का मल, वमन, पित्त, पूय, और रुधिर तथा शरीर के अन्य किसी अवयव के मल का वहां त्याग न करे। क्योंकि केवली भगवान ने इसे कर्म आने का मार्ग कहा है। यदि वह मलादि का उत्सर्ग करता हुआ फिसल पड़े या गिर पड़े, तो उसके फिसलने या गिरने पर उसके हाथ-पैर, मस्तक एवं शरीर के किसी भी भाग में चोट लग सकती है और उसके गिरने से स्थावर एवं त्रस प्राणियों का भी विनाश हो सकता है। अतः भिक्षुओं के लिए तीर्थकरादि का पहले ही यह उपदेश है कि इस प्रकार के उपाश्रय में जो कि अन्तरिक्ष में अवस्थित हैं, साधु कायोत्सर्गादि न करे और न वहां ठहरे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब ऐसा जाने कि- यह उपाश्रय एक शंभे के उपर हि रहा हुआ है, या मंच के उपर, या प्रासाद याने दो मंजिलवाला महल, या हर्म्यतल याने भूमीगृह... या अन्य ऐसे प्रकार के दसति-उपाश्रय में स्थान शय्या निषथा आदि न करें, हां यदि ऐसे कोई विशेष प्रयोजन न हो तब। यदि पूर्व कहे गये स्वरूपवाला उपाश्रय हो एवं तथा प्रकार के कोई विशेष प्रयोजन हो तो ऐसे उपाश्रय को ग्रहण करके वहां उपाश्रयमें शीतजल आदि से हाथ न धोयें, तथा वहां मल आदि अशुचि विसर्जन न करें, क्योंकि- केवलज्ञानी भ्रु कर्हते हैं कि- उपाश्रय में ऐसा अनुचित करने से आदान याने आत्म एवं संयम की विराधना से कर्मबंध का कारण होता है।

जैसे कि- वहां उपाश्रय में मल-मूत्र आदिका त्याग करने से वहां पांउ फिसलने से गिरना होता है, इस स्थिति में शरीर के कोड़ भी अवयव एवं आंख आदि इंद्रियों का विनाश होता है... और त्रस एवं स्थावर जीवों को आघात लगे यावत् प्राण त्याग स्वरूप मरण भी हो सकता है... अतः साधुओं की पूर्व कही गई यह प्रतिज्ञा है कि- तथाप्रकार के अंतरिक्षवाले उपाश्रय में स्थान-शय्या-निषद्यादि न करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में उपाश्रय के विषम स्थान में रहने का निषेध किया गया है। जो उपाश्रय एक स्तम्भ या मंच पर स्थित हो और उसके ऊपर निःश्रेणी (लकड़ी की सीढ़ी) लगाकर चढ़ना पड़े, तो ऐसे स्थानों में किसी विशेष कारण के बिना नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि उस पर चढ़ने के लिए निःश्रेणी लाने (लगाने) की व्यवस्था करनी होगी और उस पर से गिरने से शरीर पर चोट लगने या अन्य प्राणियों की हिंसा होने की संभावना रहती है। अतः जहां इस तरह के अनिष्ट की संभावना हो ऐसे विषम स्थानों में नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में अन्तरिक्षजात स्थानों में जो ठहरने का निषेध किया गया है, वह स्थान की विषमता के कारण किया गया है। यदि किसी उपाश्रय में ऊपर बने हुए आवासस्थल पर पहुंचने के लिए सुगम रास्ता है, उसमें गिरने आदि का कोई भय नहीं है और ऊपर छत इतनी मजबूत है कि चलने-फिरने से हिलती नहीं है या ऊपर से मिट्टी आदि नहीं गिरती है तो ऐसे स्थानों में ठहरने का निषेध नहीं किया गया है। आगम में यत्र-तत्र विषम स्थानों पर ठहरने या ऐसे विषम स्थानों पर रखी हुई वस्तु यदि कोई गृहस्थ उतार कर देवे तो साधु को ब्रह्मण करने का निषेध किया गया है। इसी तरह जो उपाश्रय दुर्बल (विषम स्थान पर स्थित) है, तो वहां साधु को नहीं ठहरना चाहिए। परन्तु, जिस उपाश्रय में ऊपर पहुंचने का मार्ग सुगम है और उसमें किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं होती हो तो ऐसे स्थान में साधु को ठहरने का निषेध नहीं किया गया है।

इसी तरह ऊपर की छत पर जो हाथ-पैर धोने आदि का निषेध किया है उसमें भी यही दृष्टि रही हुई है। यदि विषम स्थान नहीं है तो साधु उस पर आ-जा सकता है तथा दन्त आदि प्रक्षालन करने का जो निषेध किया है वह विभूषा की दृष्टि से किया गया है, न कि कारण विशेष की दृष्टि से। छेद सूत्रों में स्पष्ट कहा गया है कि जो साधु विभूषा, के लिए दान्तों का प्रक्षालन करते हैं उन्हें प्रायश्चित आता है। किंतु कारण विशेष से उपाश्रय में स्थित ऊपर के ऐसे स्थानों में जिन पर पहुंचने का मार्ग सुगम है, वहां ठहरने आदि का निषेध नहीं है।

उपाश्रय के विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ४०९ ॥

से भिक्खु वा० से जं० सइत्थियं सखुइडं सपसुभत्तपाणं तहप्पगारे सागारिए उवस्सए नो ठाणं वा, चेइज्जा । आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावइकुलेण सद्धिं संवसमाणस्स अलसणे वा विसूइया वा छडी वा उव्वाहिज्जा अण्णयरे वा । से दुक्खे रोगायके समुपज्जिज्जा, अस्संजए कलुणपडियाए तं भिक्खुस्स गायं तिल्लेण वा घण्ण वा नवनीएण वा वसाए वा अढ्भंगिज्ज वा मक्खिज्ज वा सिणाणेण वा कक्केण वा लुद्धेण वा वण्णेण वा चुण्णेण वा पउमेण वा आघंसिज्ज वा पघंसिज्ज वा उव्वलिज्ज वा उव्वट्ठिज्ज वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिज्ज वा पक्खालिज्जा वा सिणाविज्ज वा सिंचिज्ज वा दारुणा वा दारुपरिणामं कट्ट अगाणिकायं उज्जालिज्ज वा पज्जालिज्ज वा उज्जालित्ता कायं आयाविज्जा वा प० । अह भिक्खुणं पुव्वोवइइहा० जं तहप्पगारे सागारिए उवस्सए नो ठाणं वा, चेइज्जा ॥ ४०९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत्० सखीकं सक्षुलं (सबालं) सपशुभयतपानं तथाप्रकारे सागारिके उपाश्रये न स्थानं, वा चेतयेत् । आदानमेतत्, भिक्षोः गृहपतिकुलेन सार्द्धं संवसतः अलशकं वा विशुचिका वा छर्दी वा उद्बाधेरन्, अन्यतरत् वा दुःखं रोगातङ्कं समुत्पद्येत, असंयतः करुणप्रतिज्ञया तत् भिक्षोः गात्रं तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा अभ्यञ्ज्यात् वा ब्रक्षयेत् वा स्नानेन वा कल्केन वा लोक्षेण वा चूर्णेन वा पत्रेन वा आघर्षयेत् वा प्रघर्षयेत् वा उद्वलेत् वा उद्वर्तयेत् वा शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उत्क्षालयेत् वा प्रक्षालयेत् वा स्नापयेत् वा सिञ्चेत् वा दारुणा वा दारुपरिणामं कृत्वा अग्निं कायं उज्ज्वालयेत् वा प्रज्वालयेत् वा उज्ज्वालयित्वा कायं आतापयेत् वा प्रतापयेत् वा ।

अथ साधूनां पूर्वोपदिष्टा० यत् तथाप्रकारे सागारिके उपाश्रये न स्थानं वा, चेतयेत् ॥ ४०९ ॥

III सूत्रार्थ :

जो उपाश्रय स्त्री, बालक और पशु तथा उनके खाने योग्य पदार्थों से युक्त है तो इस प्रकार के गृहस्थादि से युक्त उपाश्रय में साधु-साध्वी न ठहरे । क्योंकि ऐसा उपाश्रय कर्म आने का मार्ग है । भिक्षु का गृहस्थ के कुटुम्ब के साथ बसते हुए कदाचित् शरीर का स्तम्भन या सूजन हो जाए या विसूचिका, वमन, ज्वर या शूलादि रोग उत्पन्न हो जाये, तो वह गृहस्थ करुणाभाव से प्रेरित होकर साधु के शरीर का तेल से, घी से, नवनीत (मक्खन) से और

बसा से मालिश करेगा। और फिर उसे प्रासुक शीतल या उष्ण जल से स्नान कराएगा या लोध से, चूर्ण से तथा पद्म से एक अथवा अनेक बार उसके शरीर को घर्षित करेगा, तथा शरीर की सिन्धता को उबटन आदि से दूर करेगा। उस मैल को साफ करने के लिए उसके शरीर का प्रासुक शीतल या उष्ण जल से प्रक्षालन करेगा। उसके मस्तक को धोएगा या उसे जल से सिंचित करेगा, अथवा अरणी के काष्ठ को परस्पर रगड़ कर अग्नि प्रज्वलित करेगा और उससे साधु के शरीर को गर्म करेगा। इस तरह गृहस्थ के परिवार के साथ उसके घर में ठहरने से अनेक दोष लगने की संभावना देखकर भगवान ने ऐसे स्थान पर ठहरने का निषेध किया है।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब ऐसा जाने कि- इस उपाश्रय में स्त्रीजन रहे हुए हैं तथा अथवा क्षुद्र ऐसे सिंह, कुत्ता, बिल्ली इत्यादि रहे हुए हैं... तथा पशुओं के आहार-पानी रहे हुए हैं... अथवा गृहस्थों से भरे हुए उपाश्रय में साधु स्थान शय्या निषद्यादि न करें... क्योंकि- ऐसे उपाश्रय में रहने से कर्मों का बंधन होता है... तथा गृहस्थ के कुटुंब के साथ रहनेवाले साधु को कर्मबंधनादि अनेक दोष लगते हैं... तथा गृहस्थों के वहां रहने से वे साधु लोग भोजनादि क्रिया निःशंक नहि कर सकें... अथवा तो कोई रोग-व्याधि उत्पन्न हो... जैसे कि- अलशक याने हाथ-पैर आदि का स्तम्भित होना अथवा हाथ-पाउं में सोजे आ जाना, विशूचिका तथा सरदी इत्यादि पीडाएं उस साधु को पीडा करे, अथवा अन्य कोई ज्वरादि रोग या तत्काल प्राण जाय ऐसा शूल देह में उत्पन्न हो... इस स्थिति में साधु को रोगादि से पीडित देखकर कोई गृहस्थ करुणाभाव से या पूज्य-भक्ति से उस साधु के शरीर को तैल, घी, मक्खन आदि से मसले और बाद में स्नान याने सुगंधिद्रव्य, कल्क याने कषायद्रव्य का कवाथ, लोध और वर्णक याने कपिल्लकादि, यव आदि के चूर्ण, तथा पद्मक इत्यादि पदार्थों से एक बार या बार बार देह को घसे, घीसने के बाद तैलादि के अभ्यंग को दूर करने के लिये उद्वर्तन करे और उसके बाद शीतजल से या गरम जलसे देह की शुद्धि करे या पुरे शरीर का स्नान करे... तथा लकड़ी से लकड़ी का घर्षण करके अग्नि उत्पन्न करे और प्रज्वलित करके साधु के शरीर को एक बार या बार बार सेक दे... इस कारण से साधुओं को पूर्व कही गई प्रतिज्ञाएं है कि- इस प्रकार के उपाश्रय में साधु स्थान, शय्या, निषद्यादि न करे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु-साध्वी को ऐसे मकान में नहीं ठहरना चाहिए जिसमें गृहस्थ सपरिवार रहता हो और अपने परिवार एवं पशुओं के पोषण के लिए सब तरह के सुख-साधन एवं भोगोपभोग की सामग्री रखी हो। क्योंकि, गृहस्थ के साथ ऐसे मकान

में ठहरने पर यदि कभी वह बीमार हो गया तो वह अनुरागी गृहस्थ अनेक तरह की सावध एवं निरवध औषधियों से, तेल आदि के लेपन से या अग्नि जलाकर उसके शरीर को तपाकर उसे व्याधि से मुक्त करने का प्रयत्न करेगा तब साधु को निषेध करना होगा। यदि वह प्रतिकार नहीं करेगा तो उसके संयम का नाश होगा। इसलिए साधु को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए, जिससे उसके महाव्रतों में किसी तरह का दोष लगे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'वसा' शब्द का अर्थ चर्बी नहीं, किन्तु स्निग्ध (चिकनाहट से युक्त) औषधि विशेष है। और 'पशुभक्तपाणं' का अर्थ है- पशुओं के काम में आनेवाले खाद्य पदार्थ। 'सखुइडं' (क्षुद्र) शब्द से कुत्ता, बिल्ली आदि पशुओं का एवं पशु शब्द से गाय भैंस आदि पशुओं का ग्रहण किया गया है।

यह स्पष्ट है कि बीमार साधु को देखकर गृहस्थ के मन में दयाभाव विशेष रूप से जागृत होता है। इसलिए साधु को गृहस्थ के परिवार के साथ नहीं ठहरना चाहिए। इससे और भी अनेक दोष लगने की संभावना है। स्त्री आदि के साथ अधिक परिचय रहने से ब्रह्मचर्य में भी शिथिलता आ सकती है। यही कारण है कि आगम में साधु को स्त्री, पशु और नपुंसक युक्त मकान में और साध्वी को पुरुष, पशु और नपुंसक सहित मकान में रहने का निषेध किया गया है और इनसे रहित मकान में रहने वाले साधु को ही निर्ग्रन्थ कहा गया है। यह बात अलग है कि जिस मकान में केवल पुरुष ही रहते हों तो उस मकान में साधु और जिस मकान में केवल स्त्रियें निवसित हों तो उस मकान में साध्विये ठहर सकती हैं।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ४०२ ॥

आयाणमेयं भिक्खूस्स सागारिए उवस्सए संवसमाणस्स इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरी वा अण्णमण्णं अयकोसंति वा पचंति वा रुंभंति वा उद्विंति वा, अह भिक्खू णं उच्चावयं मणं नियंछिज्जा, एए खलु अण्णमण्णं अयकोसंतु वा मा वा अयकोसंतु जाव मा वा उद्वित्तु, अह भिक्खूणं पुव्वं जं तहप्पगारे सा० नो ठाणं वा, चेइज्जा ॥ ४०२ ॥

II संस्कृत-छाया :

आदानमेतत्, भिक्षोः सागारिके उपाश्रये संवसतः इह खलु गृहपतिः वा यावत् कर्मकरी वा, अन्योऽन्यं आलोशन्ति वा पचन्ति वा रुन्धन्ति वा उपद्रवन्ति वा, अथ भिक्षुः उच्चावयं मनः कुर्यात्, एते खलु अन्योऽन्यं आलोशन्तु वा, मा वा आलोशन्तु, यावत्

मा वा उपद्रवन्तु, अथ भिक्षूणां पुट्वोप० यत् तथाप्रकारे सागा० नो स्थानं वा,
पेतयेत् ॥ ४०२ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थों से युक्त उपाश्रय में निवास करना साधु के लिए कर्म बन्ध का कारण कहा है। क्योंकि उसमें गृहपति, उसकी पत्नी, पुत्रिणें, पुत्रवधु, दास-दासियां आदि रहती हैं और कभी वे एक-दूसरी को मारें, बांधे या उपद्रव करें तो उन्हें ऐसा करते हुए देखकर मुनि के मन में ऊंचे-नीचे भाव आ सकते हैं। वह यह सोच सकता है कि ये परस्पर लड़े-झगड़े या लड़ाई-झगड़ा न करें आदि। इसलिए तीर्थकरों ने साधु को पहले ही यह उपदेश दिया है कि वह गृहस्थ से युक्त उपाश्रय में न ठहरे।

IV टीका-अनुवाद :

गृहस्थवाले उपाश्रय (मकान) में रहनेवाले साधु को कर्मबंध होता है, क्योंकि- ऐसे उपाश्रय में बहुत प्रकार के अपाय याने उपद्रवों की संभावना हैं... जैसे कि- गृहस्थादि गृहपति यावत् दास-दासियां परस्पर आक्रोशादि करे... तब उनके परस्पर होनेवाले आक्रोशादि को देखकर उस साधु का मन "उंचा-नीच" हो... "उंचा" याने यह लोग ऐसा आक्रोशादि न करे इत्यादि... तथा "नीचा" याने परस्पर आक्रोशादि करे इत्यादि... शेष सुगम है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में भी परिवार से युक्त मकान में ठहरने का निषेध किया है। क्योंकि कभी पारिवारिक संघर्ष होने पर साधु के मन में भी अच्छे एवं बुरे संकल्प विकल्प आ सकते हैं। वह किसी को कहेगा कि तुम मत लड़ो और किसी को संघर्ष के लिए प्रेरित करेगा। इस तरह वह साधना के पथ से भटककर झंझटों में उलझ जाएगा। यहां प्रश्न हो सकता है कि किसी को लड़ने से रोकना तो अच्छा है, फिर यहां उसका निषेध क्यों किया गया ? इसका समाधान यह है कि परिवार के साथ रहने के कारण उसका मन तटस्थ न रहकर राग-द्वेष से युक्त हो जाता है और इस कारण वह अपने अनुरागी व्यक्ति का पक्ष लेकर विरोधी को रोकना चाहता है और अनुरागी को भड़काता है, उसकी यह राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति कर्म बन्ध का कारण होने से साधु के लिए इसका निषेध किया है। यदि कोई साधु तटस्थ एवं मध्यस्थ भाव से संघर्ष को शान्त करने का प्रयत्न करता है तो उसका कहीं निषेध नहीं किया गया है। भगवान महावीर ने कहा है कि साधु जनता को शान्ति का मार्ग बताए और उपदेश के द्वारा कलह को शान्त करने का प्रयत्न करे। प्रस्तुत प्रसंग में जो निषेध किया है, वह राग-द्वेष युक्त भाव से किसी का पक्ष लेकर हां या ना करने का निषेध किया गया है, और इसी

भावना को सामने रखकर साधु को परिवार युक्त मकान में ठहरने का निषेध किया गया है, जिससे वह पारिवारिक संघर्ष से अलग रहकर अपनी साधना में संलग्न रह सके।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ४०३ ॥

आयाणमेयं भियस्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावई अप्पणो सयडाए अगणिकायं उज्जालिज्जा वा पज्जालिज्जा वा विज्झविज्ज वा, अह भियस्खू उच्चावयं मणं नियंछिज्जा, एए अगणिकायं उ० वा, मा वा उ० पज्जालित्तु वा मा वा प० विज्झवित्तु वा मा वा वि०, अह भियस्खूणं पुत्थो० जं तहप्पगारे उ० नो ठाणं वा, चेइज्जा ॥ ४०३ ॥

II संस्कृत-छाया :

आदनमेतत् साधोः गृहपतिआदिभिः (गृहस्थैः) (सह) सार्द्धं संवसतः, इह खलु गृहपतिः आत्मनः स्वार्थाय अग्निकायं उज्ज्वालयेत् वा प्रज्वालयेत् वा विध्यापयेत् वा, अथ भिक्षुः उच्चावचं मनः कुर्यात् । एते खलु अग्निकायं उज्ज्वालयन्तु वा, मा वा उज्ज्वालयन्तु, प्रज्वालयन्तु वा, मा वा प्रज्वालयन्तु, विध्यापयन्तु वा, मा वा विध्यापयन्तु । अथ भिक्षूणां पूर्वोप० यत् तथाप्रकारे उपाश्रये न स्थानं वा, चेतयेत् ॥ ४०३ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थादि से युक्त उपाश्रय में ठहरना साधु के लिए कर्मबन्ध का कारण है। क्योंकि वहां पर गृहस्थ लोग अपने प्रयोजन के लिए अग्नि को उज्ज्वलित और प्रज्वलित करते हैं या प्रज्वलित आग को बुझाते हैं। अतः उनके साथ बसते हुए भिक्षु के मन में कभी ऊंचे-नीचे परिणाम भी आ सकते हैं। कभी वह यह भी सोच सकता है कि यह गृहस्थ अग्नि को उज्ज्वलित और प्रज्वलित करें या ऐसा न करें, यह अग्नि को बुझा दें या न बुझाएं। इसलिए तीर्थंकरादि ने भिक्षु को पहले ही यह उपदेश दिया है कि वह इस प्रकार के सागारिक उपाश्रय में न ठहरे।

IV टीका-अनुवाद :

इस सूत्र में भी यह कहा गया है कि- गृहपति आदि अपने लिये अग्नि का समारंभ करे तब साधु के मन में "उच्च" याने यह लोग इस प्रकार अग्नि का समारंभ न करें इत्यादि विचार आवे, तथा "अवच" याने अग्नि का समारंभ करे... इत्यादि विचार आवे... शेष

सुगम है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में भी गृहस्थ के साथ गृहवास करने का विषेध किया गया है और बताया गया है कि उसके साथ निवास करने से मन विभिन्न संकल्प विकल्पों में चक्कर काटता रहेगा। कभी गृहस्थ दीपक प्रज्वलित करेगा और कभी जलते हुए दीपक को बुझा देगा। उसके इन कार्यों से साधु की साधना में रुकावट पड़ने के कारण उसके मन में ऊंचे-नीचे संकल्प-विकल्प उठ सकते हैं। इन सब संकल्प-विकल्पों से बचने के लिए साधु को गृहस्थ के साथ नहीं ठहरना चाहिए।

इस संबन्ध में सूत्रकार और भी बताते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ४०४ ॥

आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावइस्स कुण्डले वा गुणे वा मणी वा मुत्तिए ख हिरण्णेषु वा सुवण्णेषु वा, कडगाणि वा तुडियाणि वा तिसराणि वा पालंबगाणि वा हारे वा अद्धहारे वा एगावली वा कणगावली वा मुत्तावली वा रयणावली वा तरुणीयं कुमारिं वा अलंकियविभूसियं पेहाए, अह भिक्खु उच्चाव० एरिसिया वा सा, नो वा एरिसिया, इय वा णं ब्रूया, इय वा णं मणं साइज्जा, अह भिक्खुणं पूर्वो०, यत् तहप्पगारे उवस्सए नो ठाणं० ॥ ४०४ ॥

II संस्कृत-छाया :

आदानमेतत् भिक्षोः गृहपत्यादिभिः सार्द्धं संवसतः, इह खलु गृहपत्यादेः कुण्डले वा रसना वा मणी वा मोदितकः वा हिरण्येषु वा सुवर्णेषु वा कटकानि वा त्रुटितानि वा तिसराणि वा प्रालम्बकानि वा हारः वा अर्द्धहारः वा एकावली वा कनकावली वा मुक्तावली वा रत्नावली वा तरुणिकां वा कुमारिकां वा अलङ्कृतविभूषितां प्रेक्ष्य, अथ भिक्षुः उच्चावचं० एतादृशी वा सा न वा एतादृशी इति वा ब्रूयात्, इति वा मनः कुर्यात्, अथ भिक्षुणां पूर्वोप०, यत् तथाप्रकारे उपाश्रये न स्था० ॥ ४०४ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के साथ ठहरना भिक्षु के लिए कर्म बन्धन का कारण है। जो भिक्षु गृहस्थ के साथ बसता है उसमें निम्नलिखित कारणों से राग-द्वेष के भावों का उत्पन्न होना संभव है। यथा-गृहपति के कुण्डल, या धागे में पिरोया हुआ आभरण विशेष, मणि, मुक्ता-मोती,

चांदी, सोना या स्वर्ण के कड़े, बाजूबन्द-भुजाओं में धारण करने के आभूषण, तीन लड़ी का हार, फूल माला, अठारह लड़ी का हार, नौ लड़ी का हार, एकावती हार, सोने का हार, मोतियों और रत्नों के हार तथा वखालंकारादि से अलंकृत और विभूषित युवती स्त्री और कुमारी कन्या को देखकर भिक्षु के मन में ये संकल्प-विकल्प उत्पन्न हो सकते हैं, कि ये पूर्वोक्त आभूषणादि मेरे घर में भी थे अथवा मेरे घर में ये आभूषण नहीं थे। एवं मेरी स्त्री या कन्या भी इसी प्रकार की थी अथवा नहीं थी। इन्हें देखकर वह ऐसे वचन बोलेगा या मन में उन का अनुमोदन करेगा। इसलिए तीर्थंकरों ने पहले ही भिक्षुओं को यह उपदेश दिया है कि वे इस प्रकार के उपाश्रय में न ठहरें।

IV टीका-अनुवाद :

गृहस्थों के साथ निवास करनेवाले साधु को यहां जो कहे जाएंगे वे दोष लगते हैं... जैसे कि- किसी युवती या कन्या को अलंकारों से विभूषित देखकर साधु के मन में विभिन्न प्रकार के विचार आते हैं, जैसे कि- यह ऐसी विभूषित यह युवती अच्छी लगती है या अच्छी नहि लगती... इत्यादि... अथवा यह युवती मेरी भार्या-पत्नी के समान दिखती है... तथा यह अलंकार अच्छा है या अच्छा नहि है इत्यादि बोले... इस प्रकार साधु के मन में अच्छे-बुरे अनेक विचार आते हैं इसलिये ऐसे उपाश्रय में साधु स्थान शय्या निषद्यादि न करें... यहां सूत्र में जो गुण शब्द है वह रसना याने कंदोरा... हिरण्य याने सोनामहोर... त्रुटित याने मृणालिका... तथा प्रालम्बक याने आप्रदीपन नाम का आभरण विशेष है... शेष पुरा सूत्र सुगम है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में गृहस्थ के साथ ठहरने का निषेध करते हुए बताया गया है कि गृहस्थ के यहां विभिन्न तरह के वस्त्राभूषण एवं वस्त्राभूषणों से सुसज्जित नवयुवतियों एवं उसकी कुमारी कन्याओं को देखकर उसके मन में अपने पूर्व जीवन की स्मृति जाग सकती है। वह यह सोच सकता है कि मेरे घर में भी ऐसा ही था इससे भी अधिक वैभव था या मेरे घर में इतनी प्रचुर भोग सामग्री नहीं थी, मैंने अपने जीवन में इतने भोग नहीं भोगे। इस तरह गृहस्थ के वैभव संपन्न जीवन को देखकर उसका मन भोगों के चिन्तन में लग सकता है। अतः इसे कर्म बन्ध का कारण जानकर साधु को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ ४०५ ॥

आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावडीहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावडणीओ

वा, गाहावडधूयाओ वा, गाहा० सुणहाओ वा, गाहा० धाईओ वा, गाहा० दासीओ वा, गाहा० कम्मकरीओ वा, तासिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ - जे इमे भवन्ति समणा भगवन्तो जाव उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु एएसिं कप्पइ मेहुणधम्मं परियारणाए आउट्टितए, जा य खलु एएहिं सद्धिं मेहुणधम्मं परियारणाए आउट्टाविज्जा पुत्तं खलु सा लभिज्जा, उयस्सिं तेयस्सिं वच्चस्सिं संपराइयं आलीयणदरसणिज्जं, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म तासिं च णं अण्णयरी सइढ्ढी तं तवस्सिं भिक्खुं मेहुणधम्मपडियारणाए आउट्टाविज्जा, अह भिक्खूणं पुव्वो० जं तहप्पगारे सागारिए उव० नो ठाणं वा, चेइज्जा, एयं खलु तस्स सामग्गियं ॥ ४०५ ॥

II संस्कृत-छाया :

आदानमेतत् भिक्षोः गृहपत्यादिभिः सार्द्धं संवसतः, इह खलु गृहपतिभार्या वा गृहपतिदुहितारः वा, गृहपतिस्नुषाः वा गृहपतिधात्र्यः वा, गृहपतिदास्यः वा, गृहपतिकर्मकर्यः वा, तासां च एवं उक्तपूर्वं भवति- ये इमे भवन्ति श्रमणाः भगवन्तः यावत् उपरताः मैथुन-धर्मात्, न खलु एतेषां कल्पते मैथुनधर्म परिचारणाय अभिमुखीभवनम्। या च, खलु एतैः सार्द्धं मैथुनधर्म आसेवनार्थं अभिमुखं कुर्यात्, पुत्रं सा लभेत, स च ओजस्वी तेजस्वी वर्चस्वी यशस्वी भवेत्, तथा साम्परायिकः आलोकनदर्शनीयश्च। एतत्-प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निश्चय्य तासां मध्ये अन्यतरी श्राद्धी तं तपस्विनं भिक्षुं मैथुनधर्म-आसेवनार्थं अभिमुखं कुर्यात्। अथ भिक्षूणां पूर्वोप० यत् तथाप्रकारे सागारिके उपा० नो स्थानं वा, चेतयेत्, एतत् खलु तस्य (भिक्षोः) सामग्यम् ॥ ४०५ ॥

III सूत्रार्थ :

भिक्षु को गृहस्थों के साथ बसने से निम्नलिखित दोषलग सकते हैं। जब वह गृहस्थों के साथ रहेगा तब उन गृहस्थों की गृहपत्निएं उनकी पुत्रिएं, पुत्रवधुएं, धावमाताएं, दासिएं और अनुचरिएं आपस में मिल कर यह वार्तालाप भी करने लगती है कि- ये साधु मैथुन धर्म से सदा उपरत रहते हैं अर्थात् ये मैथुन क्रीडा नहीं करते। अतः इन्हें मैथुन सेवन करना नहीं कल्पता। परन्तु, जो कोई स्त्री इनके साथ मैथुन क्रीडा करती है, उसको बलवान, तेजस्वी, रूपवाला और कीर्तिमान, संग्राम में शूरवीर एवं दर्शनीय पुत्र की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के शब्द को सुनकर उनमें से कोई एक पुत्र की इच्छा रखने वाली स्त्री उस तपस्वी भिक्षु को मैथुन सेवन के लिए तैयार कर लेवे। इस तरह की संभावना हो सकती है, इसलिए तीर्थकरों ने ऐसे स्थान में ठहरने का निषेध किया।

IV टीका-अनुवाद :

पूर्व के सूत्र में कहे गये घर में निवास करनेवाले साधु को इस प्रकार के दोष लगते हैं... जैसे कि- गृहपति की भार्या, पुत्री, पुत्रवधु, धात्री, दासी, कर्मकरी इत्यादि ऐसा चिंतवे कि- यह साधुजन मैथुन से उपरत याने निवृत्त है... यदि इनके द्वारा पुत्र हो तब वह पुत्र ओजस्वी याने बलवान, तेजस्वी याने दीप्ति-कांतिमान्, वर्चस्वी याने रूपवान् तथा यशस्वी याने कीर्तिमान् हो... इस प्रकार का निर्धारण करके उनमें से कोईक श्रद्धालु स्त्री उस साधु को मैथुनकर्म की आसेवना के लिये अभिमुख करे... इत्यादि दोषों के भय से साधुओं को पूर्व के सूत्रों में कही गइ यह प्रतिज्ञा है कि- ऐसे प्रकार के उपाश्रय में साधु स्थान, शय्या, निषद्यादि न करें... यह हि साधु एवं साध्वीजीओं का संपूर्ण साधुभाव है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- गृहस्थ के साथ ठहरने से साधु के ब्रह्मचर्य व्रत में दोष आ सकता है। क्योंकि साधु को अपने बीच में पाकर स्त्रिएं उसकी ओर आकर्षित हो सकती है और पारस्परिक वार्तालाप से यह जानकर कि ब्रह्मचारी के संपर्क से होने वाला पुत्र बलवान एवं तेजस्वी होता है, तो पुत्र की अभिलाषा रखने वाली कोई स्त्री मुनि से मैथुन क्रीड़ा करने की प्रार्थना भी कर सकती है और अपने हाव-भाव से वह मुनि को भी इस कार्य के लिए तैयार कर सकती है। इस तरह महाव्रतों से गिरने की संभावना देखकर भगवान ने साधु को गृहस्थ के परिवार के साथ ठहरने का निषेध किया है।

वस्तुतः देखा जाए तो वीर्य ही जीवन है। क्योंकि इस शरीर का निर्माण वीर्य से ही होता है। आगम में बताया गया है कि मनुष्य की अस्थि, मज्जा, केश एवं रोम का निर्माण पिता के वीर्य से होता है और मांस-मस्तक आदि का ढांचा माता के रुधिर (रज) से बनता है। माता और पिता का जीवन जितना संयमित, नियमित एवं मर्यादित होगा उतना ही सन्तान का शरीर शक्तिसम्पन्न एवं तेजस्वी होगा। अतः जीवन को शक्तिसम्पन्न एवं तेजस्वी बनाए रखने के लिए वीर्य की सुरक्षा करना आवश्यक है। इसी कारण गृहस्थ के लिए भी स्वदारसन्तोष व्रत का उल्लेख किया गया है। स्वपत्नी के साथ भी मर्यादा से अधिक मैथुन का सेवन करना अपनी शक्ति का नाश करना एवं सन्तति को दुर्बल एवं रोगी बनाना है। असंयत एवं अमर्यादित जीवन चाहे गृहस्थ का हो या साधु का, किसी के लिए भी हितप्रद नहीं है। अतः साधु को अपने संयम एवं ब्रह्मचर्य की रक्षा में सदैव सावधान रहना चाहिए। क्योंकि ब्रह्मचर्य साधना का महत्वपूर्ण स्तम्भ है, इसलिए साधु को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए, कि- जहां ब्रह्मचर्य के स्वलित होने की संभावना हो।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'आउट्टिए, आउट्टाविज्जा' का प्राकृत महार्णव में आवृत करना, भुलाना, व्यवस्था करना, सम्मुख करना एवं तत्पर होना अर्थ किया है। और अर्द्धमागधी कोष में आउट्ट (आ+कुट्ट) धातु को हिंसार्थक माना है। परन्तु, प्रस्तुत प्रसंग में 'आउट्टिए' पद का सम्मुख करना अर्थ ही संगत प्रतीत होता है।

॥ प्रथमचूलिकायां द्वितीये शव्यैषणाध्ययने प्रथमः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिन्धुचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिभरजी म. के शिष्यरत्न दिङ्गद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिभरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैवानम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. १६.卐 विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - २ उद्देशक - २

卐 शय्यैषणा 卐

प्रथम उद्देशक कहा, अब द्वितीय उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... इसका परस्पर संबंध इस प्रकार है कि- यहां पहले उद्देशक में गृहस्थों के निवासवाले उपाश्रय में रहने से होनेवाले दोष कहे हैं, अब यहां दूसरे उद्देशक में भी तथाविध वसति के संभवित दोष विशेष प्रकार से कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४०६ ॥

गाहावई नामेगे सुइसमायारा भवति, से भियस्सू य असिणाणए मोयसमायारे ते तग्गंधे दुग्गंधे पडिकूले पडिलोमे यादि भवइ, जं पुव्वं कम्मं तं पच्छाकम्मं, जं पच्छाकम्मं तं पुरेकम्मं, तं भियस्सुपडियाए वट्टमाणा करिज्जा वा, नो करिज्जा वा, अह भियस्सूणं पुव्वो जं तहप्पमाए उवो नो ठाणं ॥ ४०६ ॥

II संस्कृत-छाया :

गृहपतयः नाम एके शुचिसमाचाराः भवन्तिः सः भिक्षुः च अस्नानतया कायिकसमाचारः, सः तद्गन्धः प्रतिकूलः प्रतिलोमः च अपि भवति । यत् पूर्वं कर्म तत् पश्चात् कर्म, यत् पश्चात् कर्म तत् पुरःकर्म, तत् भिक्षुप्रतिज्ञया वत्तमानाः कुर्यात् वा, न कुर्यात् वा । अथ भिक्षूनां पूर्वोप० यत् तथाप्रकारे उपा० न स्थानं० ॥ ४०६ ॥

III सूत्रार्थ :

कई एक गृहस्थ शुचि धर्म वाले होते हैं, और साधु स्नानादि नहीं करते और विशेष कारण उपस्थित होने पर मोक का आचरण भी कर लेते हैं । अतः उनके वस्त्रों से आने वाली दुर्गन्ध गृहस्थ के लिए प्रतिकूल होती है । इस लिए वह गृहस्थ जो कार्य पहले करना है उसे पीछे करता है और जो कार्य पीछे करना है उसे पहले करने लगते हैं और भिक्षु के कारण भोजनादि क्रियाएं समय पर करें, या न करें । इसी प्रकार भिक्षु भी प्रत्युपेक्षादि क्रियाएं समय पर नहीं कर सकेगा, अथवा सर्वथा ही नहीं करेगा । इसलिए तीर्थकरादि ने भिक्षुओं को पहले ही यह उपदेश दिया है कि वे इस प्रकार के उपाश्रय में न ठहरें ।

IV टीका-अनुवाद :

कितनेक गृहस्थ शुचि-पवित्रता के आचरणवाले होते हैं कि- जो भागवतादि के भक्त हैं, अथवा चंदन अगुरु कुंकुम कपूरादि के आसेवन करनेवाले भोगी होते हैं... अब स्नान नहि-करनेवाले और प्रसंगानुसार कायिक के समाचरण से साधु के देह से वैसी गंध दुर्गंध देखकर उन गृहस्थों को वह साधु अनुकूल (मान्य) नहि लगता, एवं उनके देह की गंध से विपरीत गंधवाले साधु उनको प्रतिलोम लगता है... इस स्थिति में वे गृहस्थ साधु के निमित्त से वहां गोचरी एवं स्वाध्याय भूमि में स्नानादि करे... यदि पहले स्नान कीया हो तो साधु के समीप जाने के कारण से पुनः स्नानादि करतें हैं... अथवा बाद में करने योग्य कार्य पहले करतें हैं...

इस प्रकार जाने-आने की क्रिया से साधुओं को अधिकरण (दोष) की संभावना होती है... अथवा तो वे गृहस्थ साधुओं के कारण से भोजन का काल हो जाने पर भी भोजन न करें... इस स्थिति में अंतराय या मनःदुःख आदि की संभावना है, अथवा वे साधुजन गृहस्थों के कारण से जो प्रतिलेखनादि पहले करने योग्य कार्य को बाद में करे, अथवा इससे विपरीत काल बित जाने पर करे, अथवा न करे... इस लिये साधुओं को पूर्व कही गइ यह प्रतिज्ञा है कि- तथाप्रकार के उपाश्रय में स्थान शय्या निषद्यादि न करे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में गृहस्थ एवं साधु जीवन के रहन-सहन का अन्तर बताते हुए कहा है कि कुछ गृहस्थ शुद्धि वाले होते हैं। वे स्नान आदि से अपने शरीर को शुद्ध बनाने में ही व्यस्त रहते हैं। और साधु सदा आत्मशुद्धि में संलग्न रहता है। वह ज्ञान रूपी सागर की अनन्त गहराई में डुबकिएं लगाता रहता है। वह गृहस्थों की तरह स्नान आदि नहीं करता और यदि कभी उसके शरीर पर घाव आदि हो जाता है तो वह औषध के रूप में अपने मूत्र का प्रयोग करके उस घाव को ठीक कर लेता है। इस तरह उसका आचरण गृहस्थ से भिन्न होता है। इसलिए अधिक शौच का ध्यान रखने वाला गृहस्थ मुनि के जीवन को देखकर उससे घृणा कर सकता है। और इस कारण वह गृहस्थ साधु के कारण अपनी क्रियाओं को आगे-पीछे कर सकता है और साधु भी गृहस्थों के संकोच से अपनी आवश्यक क्रियाओं को यथासमय करने में असमर्थ हो जाता है। इस तरह गृहस्थ के कारण साधु की साधना में अन्तराय पड़ती है और साधु के कारण गृहस्थ के दैनिक कार्यों में विघ्न होता है, इससे दोनों के मन में चिन्ता एवं एक-दूसरे के प्रति कुछ बुरे भाव भी आ सकते हैं। अतः मुनि को गृहस्थ के साथ नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'मोय समायारे' का पाठ भी विचारणीय है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ कायिक मूत्र माना है। परन्तु, वृत्तिकार ने उसके आचरण करने के विशिष्ट कारण का

भी उल्लेख नहीं किया है और उसके पीछे किसी तरह का विशेषण नहीं होने से यह भी स्पष्ट नहीं होता है कि वह मूत्र सामान्य है या विशिष्ट ? मूत्र सामान्य की अपेक्षा से गौ मूत्र का भी ग्रहण हो सकता है और उसे वैदिक एवं लौकिक परम्परा में भी अशुद्ध नहीं माना है। इसके अतिरिक्त 'मोय' शब्द के संस्कृत में मोक, मोघ और मोद तीन रूप बनते हैं। इस अपेक्षा से 'मोय समाचारे' की संस्कृत छाया 'मोद समाचारः' बनेगी और इसका अर्थ होगा-प्रसन्नता पूर्वक स्नान का त्याग करने वाला। अर्थात्- ज्ञान के पवित्र सागर में गोते लगाने वाला मुनि। महाभारत आदि ग्रन्थों में भी मुनि के लिए बाह्य स्नान के स्थान में अन्तर स्नान को महत्व दिया गया है। क्योंकि पानी से केवल शरीर की शुद्धि होती है, आत्मा की शुद्धि नहीं होती। आत्मशुद्धि के लिए ज्ञान एवं तप-त्याग का स्नान ही आवश्यक माना गया है। इस तरह 'मोय' का संस्कृत रूप मोद मान लेने पर अर्थ में किसी तरह की असंगति नहीं रहती है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी 'मोय' शब्द का 'मोद' के अर्थ में प्रयोग किया गया है। उसमें बताया गया है कि जैसे पक्षी स्वेच्छा पूर्वक आकाश में उड़ाने भरता है, उसी तरह काम-भोग का परित्याग करके लघुभूत बना हुआ मुनि 'मोयमाणा-मोदमाना' अर्थात् प्रसन्नता पूर्वक देश में विचरण करे। इस तरह 'मोय' शब्द का प्रसन्नता अर्थ ही अधिक संगत एवं उपयुक्त प्रतीत होता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ४०७ ॥

आयणमेयं भियस्सुस्स गाहावईहिं सद्धि संव०, इह खलु गाहावइस्स अप्पणो सयद्वाए विरूपरूवे भोयणजाए उवक्खडिए सिया, अह पच्छा भियस्सुपडियाए असणं वा, उवक्खडिज्ज वा उवकरिज्ज वा, तं च भियस्सु अभिकंखिज्जा भुतए वा पायए वा वियट्ठितए वा, अह भि० जं नो तह० ॥ ४०७ ॥

II संस्कृत-छाया :

आदानमेतत् भिक्षोः गृहपत्यादिभिः सार्द्धं संवसतः, इह खलु गृहपतिना आत्मनः स्वार्थाय विरूपरूपः भोजनजातः उपस्कृतः (संस्कृतः) स्यात्। अथ पश्चात् भिक्षुप्रतिज्ञया अथानं वा, संस्कुर्यात् वा उपस्कुर्यात् वा, तत्र भिक्षुः अभिकाङ्क्षेत भोयतुं वा पातुं वा विवर्तितुं वा, अथ भि० यत् न तथा० ॥ ४०७ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थों के साथ निवास करते हुए भिक्षु के लिए यह भी एक कर्म बन्धन का कारण हो सकता है, जैसे कि- गृहस्थ अपने लिये नाना प्रकार का भोजन तैयार करके फिर साथ

के लिये चतुर्विध आहार को तैयार करने एवं उसके लिये सामग्री एकत्रित करने में लगेगा, उस आहार को देखकर साधु भी उसका आस्वादन करना चाहेगा या उसमें आसक्त हो जायेगा। इसलिये तीर्थंकर भगवान ने पहले ही यह प्रतिपादन कर दिया है कि साधु को इस प्रकार के उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिये।

IV टीका-अनुवाद :

गृहस्थादि से युक्त ऐसे उपाश्रय में रहने से साधु को कर्मबंध होता है... जैसे कि- गृहपति ने अपने आपके लिये विविध प्रकार के आहारादि बनाये हो, और उसके बाद साधुओं के लिये पुनः आहारादि तैयार करे, अथवा रसोइ के लिये गेहूं चावल आदि लाकर दे... तब ऐसे तथाप्रकार के आहारादि यदि साधु वापरना चाहे... या वहां पर हि आहारादि की इच्छा से बैठना चाहे... किंतु साधु को ऐसा नहि करना चाहिये इत्यादि पूर्ववत् जानीयेगा...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत-उभय सूत्रों में यह बताया गया है कि यदि साधु गृहस्थ के साथ ठहरेगा तो गृहस्थ अपने लिए भोजन बनाने तथा सर्दी निवारणार्थ ताप के लिए लकड़ी आदि की व्यवस्था कर चुकने के बाद अतिथि रूप में ठहरे हुए साधु के लिए भोजन बनाने की सामग्री एकत्रित करेगा और उसके शीत को दूर करने के लिए लकड़ियों खरीदेगा, उसका छेदन-भेदन करायगा। उसे ऐसा करते हुए देखकर साधु के भावों में भी परिवर्तन आ सकता है और वह उस भोजन एवं आताप में आसक्त होकर संयम पथ से गिर भी सकता है। क्योंकि आत्मा का विकास एवं पतन भावों पर ही आधारित है। भावों के बनते एवं बिगड़ते विशेष देर नहीं लगती हैं। जैसे अपस्मार (मृगी) का रोगी पानी को देखते ही मूछित होकर गिर पड़ता है। इसी तरह आत्मा में सत्ता रूप से स्थित औदयिक भाव बाहर का निमित्त पाकर जागृत हो उठते हैं और आत्मा को सन्मार्ग के शिखर से पतन के गर्त में गिरा देता है। इसलिए साधु को सदा सावधान रहना चाहिए और उसे सदा ऐसे निमित्तों से बचकर रहना चाहिए जिससे उसकी आत्मा पतन की ओर गतिशील न हो। इसीलिए आगम में यह आदेश दिया गया है कि साधु को गृहस्थ के साथ नहीं ठहरना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ४०८ ॥

आयणमेयं भिक्खुस्स गाहावडणा सद्धिं संव० इह खलु गाहावडस्स अप्पणो सयड्ढाए विरूवरूवाइं दारुयाइं भिण्णपुग्घाइं भवंति, अह पच्छा भिक्खुपडियाए

विरूपरूवाइं दारुयाइं भिदिज्ज वा किणिज्ज वा पामिच्चेज्ज वा दारुणा वा दारुपरिणामं
कट्ट अगणिकायं उज्जा० पज्जा० तत्थ भियस्सू अभिकंखिज्जा आयावित्तए वा पयावित्तए
वा वियट्ठित्तए वा, अह भियस्सू० जं नो तहप्पगारे० ॥ ४०८ ॥

II संस्कृत-छाया :

आदाबमेतत् भिक्षोः गृहपत्यादिना सार्द्धं संवसतः, इह स्वतु गृहपतिना आत्मनः
स्वार्थाय विरूपरूपाणि दारुणि भिन्नपूर्वाणि भवन्ति, अथ पथात् भिक्षुप्रतिज्ञया
विरूपरूपाणि दारुणि भिन्धात् वा क्रीणीयात् वा प्रामीत्येत् वा दारुणा वा दारुपरिणामं
कृत्वा अग्निकायं उज्ज्वालयेत् प्रज्वालयेत्, तत्र भिक्षुः अभिकाङ्क्षेत आतापयितुं वा
प्रतापयितुं वा विवर्तयितुं वा, अथ भिक्षूणां० यत् न तथाप्रकारे ॥ ४०८ ॥

III सूत्रार्थ :

इसी प्रकार गृहस्थों के साथ ठहरने से भिक्षु को एक यह भी दोष लगेगा कि गृहस्थ
ने अपने लिये नाना प्रकार का काष्ठ-इंधन एकत्रित कर रखा है, फिर वह साधु के लिये नाना
प्रकार के काष्ठों का भेदन करेगा, मोल लेगा अथवा किसी से उधार लेगा, और काष्ठ से काष्ठ
को संघर्षित करके अग्निकाय को उज्ज्वलित और प्रज्वलित करेगा, और उस गृहस्थ की तरह
साधु भी शीत निवारणार्थ अग्नि का आताप लेगा और उसमें आसक्त हो जायगा। इस लिये
भगवान ने साधु के लिये ऐसे मकान में ठहरने का निषेध किया है।

IV टीका-अनुवाद :

पूर्ववत् यहां भी इस प्रकार काष्ठादि के प्रज्वलन का सूत्र जानीयेगा...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'गाहावइस्स' पद में तृतीया विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति
का प्रयोग किया गया है। और 'उवस्सए' अर्थात् उपाश्रय शब्द का प्रयोग स्थानक के अर्थ
में नहीं, प्रत्युत मकान मात्र के अर्थ में हुआ है। और जब हम प्रस्तुत पाठ का गहराई से
अध्ययन करते हैं तो उपाश्रय का अर्थ गृहस्थों से युक्त एवं भोजनशाला के निकटवर्ती स्थान
विशेष पर ही स्पष्ट होता है। इसे अन्तरगृह भी कहते हैं और कल्पसूत्र में साधु-साध्वी को
अन्तरगृह में ठहरने एवं मल-मूत्र के त्याग करने आदि क्रियाओं का निषेध किया गया है और
दशवैकालिक सूत्र में भी अन्तरगृह में निवास करने एवं पर्यक आदि पर बैठने का निषेध किया
गया है। इससे स्पष्ट होता है कि संयम की सुरक्षा के लिए मुनि को ऐसे मकान में नहीं ठहरना
चाहिए जिसमें गृहस्थ अपने परिवार सहित निवसित हो।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ४०९ ॥

से भिक्खु वा० उच्चारपासवणेण उब्बाहिज्जमाणे राओ वा वियाले वा गाहावडकुलस्स दुवारबाहं अवंगुणिज्जा, तेणे य तस्संधिचारी अणुपविसिज्जा, तस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ एवं वडत्तए- अयं तेणो पविसइ वा नो पविसइ, उवल्लियइ वा नो वा० आवयइ वा नो वा० वयइ वा नो वा० तेणहडं अण्णेण हडं, तस्स हडं अण्णस्स हडं, अयं तेणे, अयं उवचरए, अयं हंता अयं इत्थमकासी, तं तवस्सिं भिक्खुं अतेणं तेणांति संकइ, अह भिक्खुणं पुत्त्वो० जाव नो ठा० ॥ ४०९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० उच्चारप्रसवणेन उद्बाध्यमानः रात्रौ वा विकाले वा गृहपतिकुलस्य द्वारभागं उद्घाटयेत्, स्तेनश्च तत्सन्धिचारी अनुप्रविशेत् । तस्य भिक्षोः न खलु कल्पते एवं वक्तुं-अयं स्तेनः प्रविशति वा, नो वा प्रविशति, उपलीयते वा, न वा उपलीयते, आपतति वा, न वा आपतति, (व्रजति वा, न वा व्रजति) वदति वा न वा वदति तेन हतं, अन्येन हतं, तस्य हतं अन्यस्य हतं, अयं स्तेनः अयं उपचरकः अयं हन्ता, अयं इत्थं अकार्षीत्, तं तपस्विनं भिक्षुं अस्तेनं स्तेनं इति शङ्कते, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टां० यावत् न स्थानं० ॥ ४०९ ॥

III सूत्रार्थ :

रात्रि में अथवा विकाल में साधु ने मल-सूत्रादि की बाधा होने पर गृहस्थ के घर का द्वार खोला और उसी समय कोई चोर या उसका साथी घर में प्रविष्ट हो गया तो उस समय साधु तो मौन रहेगा । वह हल्ला नहीं मचाएगा, कि यह चोर घरमें घुसता है, अथवा नहीं घुसता है, छिपता है, अथवा नहीं छिपता है, नीचे कूदता है अथवा नहीं कूदता है, बोलता है अथवा नहीं बोलता है, उसने चुराया है, अथवा अन्य ने चुराया है, उसका धन चुराया है, अथवा अन्य का धन चुराया है, यह चोर है, यह उसका उपचारक है, यह मारने वाला है, और इस चोर ने यहां यह कार्य किया है । अतः साधु के कुछ नहीं कहने पर गृहस्थ को उस तपस्वी साधु पर जो वास्तव में चोर नहीं है, चोर होने का सन्देह हो जाएगा । इसलिए भगवान ने गृहस्थ से युक्त मकान में ठहरने एवं कायोत्सर्ग का निषेध किया है ।

IV टीका-अनुवाद :

वहां गृहस्थों से भरे हुए उपाश्रय में रहनेवाला साधु जब उच्चार (वडीनीति-स्थंडिल) के लिये पीडित हो, और रात्रि या विकाल आदि समय में उपाश्रय के द्वार को खोले, उस वख्त कोई चौर या छिद्रान्वेषी दुश्मन (शत्रु) उपाश्रय में प्रवेश करे... तब उसको देखकर वह साधु ऐसा न कहे कि- यह चौर उपाश्रय में प्रवेश करता है... या प्रवेश करता नहि है... तथा छुपा हुआ है... आया है, बोल रहा है या बोल नहि रहा है... उसने चोरी की है, या अन्यने चोरी की है, उसके यहां चोरी हुई है, या अन्य के यहां चोरी हुई है इत्यादि... तथा यह चौर है, यह उसका सेवक है... यह शखवाला है, यह मारता है, इसने यहां ऐसा किया है इत्यादि साधु न बोले... क्योंकि- ऐसा बोलने से उस चौर का मरण हो, या क्रोधवाला वह चौर हि उस साधु को मार डाले... इत्यादि दोषों की संभावना है... और यदि साधु कुछ भी न बोले तब वह गृहस्थ उस तपस्वी साधु को हि चौर समझे इत्यादि... शेष पूर्ववत्...

और भी वसति के दोष कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु रात्रि में या विकाल में मल-मूत्र का त्याग करने के लिए द्वार खोलकर बाहर आए और यदि उसी समय कोई चोर घर में प्रविष्ट होकर छुप जाए और समय धाकर चोरी करके चला जाए। ऐसी स्थिति में साधु उस चोर को चोर नहीं कह सकता है और न वो हल्ला ही कर सकता है। वह उस चोर को उपदेश दे सकता है। यदि उसने साधु का उपदेश नहीं माना तो उसके चोरी करके चले जाने के बाद गृहस्थ को मालूम पड़ने पर उस साधु पर चोरी का संदेह हो जाएगा, अतः साधु को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि जिस मकान में मल-मूत्र के परिष्ठापन का योग्य स्थान न हो वहां साधु को नहीं ठहरना चाहिए तथा यह भी स्पष्ट होता है कि मल-मूत्र के त्याग के लिए साधु द्वार खोलकर जा सकता है एवं वापिस आने पर बन्द भी कर सकता है।

इस सूत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि साधु को ऐसे मकान में नहीं ठहरना चाहिए, जिसमें गृहस्थ का कीमती सामान पड़ा हो। इस तरह गृहस्थ के साथ ठहरने से साधु की साधना में अनेक दोष आने की संभावना है। इसलिए साधु को गृहस्थ से युक्त मकान में नहीं ठहरना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ४१० ॥

से भिक्खु वा० से जं० तृणपुंजेसु वा पलालपुंजेसु वा सअण्डे जाव ससंताणए तहप्पगारे उव० नो ठाणं वा, । से भिक्खु वा० से जं० तृणपुं० पलाल० अप्पण्डे जाव० चेइज्जा ॥ ४१० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत्० तृणपुञ्जेषु वा पलालपुञ्जेषु वा सअण्डे यावत् ससन्तानके तथाप्रकारे उपा० न स्थानं वा, । सः भिक्षुः वा० सः यत्० तृणपुञ्जेषु वा पलालपुञ्जेषु वा अल्पाण्डे वा यावत् अल्प सन्तानके वा० चेतयेत् ॥ ४१० ॥

III सूत्रार्थ :

साधु अथवा साध्वी उपाश्रय के संबन्ध में यह जाने कि यदि तृण एवं पलाल का समूह अण्डों से युक्त है, अथवा मकड़ी के जालों से युक्त है तो इस प्रकार के उपाश्रय में कायोत्सर्गादि न करे। वह भिक्षु यदि यह जाने कि यह उपर्युक्त प्रकार का उपाश्रय अण्डों से रहित यावत् मकड़ी के जालों से रहित है, तो इस प्रकार के उपाश्रय में कायोत्सर्गादि क्रियायें कर सकता है।

IV टीका-अनुवाद :

यह सूत्र सुगम है... और इससे विपरीत सूत्र भी सुगम है, किंतु यहां "अल्प" शब्द अभाव-वाचक है

अब वसति के परित्याग के जो उद्देशक का अर्थाधिकार कहा गया है, वह अब कहतें हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह अभिव्यक्त किया गया है कि- तृण और पलाल (घास) के पुंजों से निर्मित उपाश्रय अण्डे आदि से युक्त हो तो साधु को वहां नहीं ठहरना चाहिए और न कायोत्सर्ग (ध्यान) ही करना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि उस युग में साधु गांवों में अधिक भ्रमण करते थे। क्योंकि, घास-फूस की झोंपड़िएं (मकान) प्रायः गांवों में ही मिलती हैं। और इस पाठ से यह भी ध्वनित होता है कि मकान के जिस भाग में साधु को कायोत्सर्ग आदि क्रियायें करनी हों, उस भाग में अण्डा एवं त्रस जीव आदि न हों। दशवैकालिक सूत्र में भी बताया गया है कि कायोत्सर्ग करते समय या अन्य समय में मुनि के शरीर पर या वस्त्र-पात्र आदि पर ऊपर से त्रस जीव गिर गया हो तो मुनि उसे बिना किसी तरह का कष्ट पहुंचाए

एकांत स्थान में छोड़ देवे। इस तरह प्रस्तुत पाठ विधि और निषेध दोनों का परिबोधक है। जिस स्थान में साधु को ठहरना हो, कायोत्सर्ग आदि क्रियाएं करनी हों उस स्थान में अंडा आदि जीव-जंतु नहीं होना चाहिए।

साधु को किस स्थिति में किस तरह के मकान में नहीं ठहरना चाहिए, इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं-

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ४११ ॥

से आगन्तारेसु आरामागारेसु वा गाहावडकुलेसु वा परियावसहेसु वा अभियस्त्रणं
साहम्भिएहि उवयमाणेहि नो उवडज्जा ॥ ४११ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः आगन्तागारेषु आरामागारेषु वा गृहपकुलेषु वा पर्यावसथेषु वा अभीक्षणं
साधर्मिकैः अवपतद्भिः न अवपतेत् ॥ ४११ ॥

III सूत्रार्थ :

धर्मशाला, उद्यान में बने हुए विश्रामगृह, गृहपति कुल एवं तापस आदि के मठों में जहां अन्य मत के साधु बार-बार आते-जाते हों, वहां जैन मुनि को मासकल्प नहीं करना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

जहां गांव आदि के बाहार आकर मुसाफिर ठहरते हैं वे आगन्तागारों में तथा आराम याने बगीचे के मध्य में जो घर है वहां, तथा पर्यावसथ याने मठों में इत्यादि उपाश्रय-मकानों में कि- जहां बार बार अन्य साधर्मिक साधु मासकल्पादि के लिये आते हो, वहां साधु न आवे अर्थात् वहां मासकल्पादि न करें...

अब कालातिक्रान्त वसति के दोष कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में धर्मशाला, विश्रामगृह, गृहपति के अतिथ्यालय एवं तापस आदि के मठों में यदि अन्यमत के साधुओं का अधिक आवागमन रहता हो तो साधु को ऐसे स्थानों में मासकल्प नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि उनके अत्यधिक आवागमन से वहां का वातावरण शान्त नहीं रह पाएगा और उस कोलाहलमय वातावरण में साधु एकाग्र एवं शान्त मन से स्वाध्याय, ध्यान एवं चिन्तन-मनन नहीं कर सकेगा। दूसरी बात यह है कि जैन मुनि की वृत्ति उनसे कठिन होने के कारण उनकी अधिक प्रतिष्ठा को देखकर वे उससे ईर्ष्या रखने

लगेगे और उसे तंग करने का भी प्रयत्न करेंगे और इस कारण संक्लेश का वातावरण भी बन सकता है और उनके साथ अधिक परिचय होने से श्रद्धा में विपरीतता आने की भी संभावना रहती है। इसलिए साधु को अन्य मत के भिक्षुओं के अधिक आवागमन वाले स्थान में मासकल्प या चातुर्मास कल्प नहीं करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि साधु को ऐसे स्थानों में परिस्थितिवश एक-दो दिन ठहरना पड़े तो उसका निषेध नहीं है। प्रस्तुत पाठ से यह भी ज्ञात होता है कि उस युग में यात्रियों के ठहरने की सुविधा के लिए गांव के बाहर धर्मशालाएं, विश्रामगृह एवं मठ आदि होते थे और गांव या शहर में गृहपतियों के अतिथ्यालय बने होते थे और उनमें बिना किसी सम्प्रदाय या पंथ भेद के सबको समान रूप से ठहरने की सुविधा मिलती थी।

प्रस्तुत सूत्र में 'साहम्मिएहि' पद का केवल साधर्मिक साधुओं के लिए नहीं, अपितु सभी साधुओं के लिए सामान्य रूप से प्रयोग किया गया है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ अन्य मत के साधु संन्यासी करना चाहिए। वृत्तिकार ने भी यही अर्थ किया है।

साधु को अपनी विहार मर्यादा में काल का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ४१२ ॥

से आगन्तारेषु वा, जे भयंतारो उउबद्धियं वा वासावासियं वा कल्पं उवाङ्गिता तत्थेव भुज्जो संवसन्ति, अयमाउसो ! कालाङ्कतकिरिया वि भवति ॥ १ ॥ ॥ ४१२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः आगन्तागारेषु वा, ये भगवन्तः ऋतुबद्धं वा वर्षवासं वा कल्पं उपनीय तत्रैव भूयः संवसन्ति, अयं हे आयुष्मन् ! कालातिक्रान्त-क्रिया-दोषः भवति ॥ १ ॥ ॥ ४१२ ॥

III सूत्रार्थ :

धर्मशाला आदि स्थानों में जो मुनिराज शीतोष्ण काल में मास कल्प एवं वर्षाकाल में चातुर्मासकल्प को बिताकर बिना कारण पुनः वहीं पर निवास करते हैं तो वे काल का अतिक्रमण करते हैं।

IV टीका-अनुवाद :

उन आगन्तागार-गृहों में जो साधु भगवन्त ऋतुबद्ध या ने शीत एवं उष्णकाल में मासकल्प करके पुनः वर्षाकाल में चार महिने रह कर पुनः वहां बिना कारण हि यदि रहते

हो, तब हे आयुष्मन् श्रमण ! वहां उन्हें कालातिक्रम नाम का दोष लगता है, तथा वहां के स्त्रीजनों से प्रतिबंध याने स्नेह-सद्भाव होता है और उस स्नेह-सद्भाव के कारण से उद्गमादि दोषों की संभावना है, इस कारण से ऐसे उपाश्रय (क्षेत्र) में साधुओं को स्थान शय्या निषद्यादि करना कल्पे नहि... ॥ १ ॥ ॥ ४१२ ॥

अब उपस्थान दोष कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- जिस स्थान में साधु ने मासकल्प या वर्षावासकल्प किया हो उसे उसके बाद उस स्थान में बिना कारण के नहीं ठहरना चाहिए। यदि बिना किसी विशेष कारण के वे उस स्थान में ठहरते हैं तो कालातिक्रमण दोष का सेवन करते हैं। क्योंकि मर्यादा से अधिक समय तक एक स्थान में रहने से गृहस्थों के साथ अधिक घनिष्ठ परिचय हो जाता है और इससे उनके साथ राग-भाव हो जाता है और इस कारण आहार में भी उद्गमादि दोषों का लगना सम्भव है। और दूसरी बात यह है कि एक ही स्थान पर रुक जाने से अन्य गांवों में धर्म प्रचार भी नहीं होता है। अतः संयम शुद्धि एवं शासनोन्नति की दृष्टि से साधु को मर्यादित काल से अधिक नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक क्रिया काल-मर्यादा में ही होनी चाहिए। इससे जीवन की व्यवस्था बनी रहती है और तप-संयम भी निर्मल रहता है। आगम में एक प्रश्न किया गया है कि काल की प्रतिलेखना करने से अर्थात् कालमर्यादा का पालन करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? इसका उत्तर देते हुए श्रमण भगवान महावीर ने फरमाया है कि काल मर्यादा का सम्यक्तया परिपालन करने वाला व्यक्ति ज्ञानावरणीय कर्मों की निर्जरा करता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक क्रिया समय पर करने के कारण वह स्वाध्याय, ध्यान एवं चिन्तन-मनन के समय का उल्लंघन नहीं करेगा और स्वाध्याय आदि के करने से ज्ञानावरणीय आदि कर्म का क्षय या क्षयोपशम होगा और उसके ज्ञान में अभिवृद्धि होगी। और समय पर क्रियाएं न करके आगे-पीछे करने से साधक स्वाध्याय आदि के लिए भी व्यवस्थित समय नहीं निकाल सकेगा। अतः मुनि को मासकल्प एवं वर्षावासकल्प के पश्चात् बिना किसी कारण के काल का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।

अब उपस्थान क्रिया के सम्बन्ध में सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ ४१३ ॥

से आगंतागारेसु वा, जे भयंतारो उउ० वासा० कप्पं उवाइणावित्ता तं दुगुणा

दु (ति) गुणेण वा अपरिहरिता तत्थेव भुज्जो० अयमाउसो ! अवट्ठाणकि०
॥ २ ॥ ॥ ४१३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः आगन्तागारेषु वा, ये भगवन्तः ऋतु० वर्षा० कल्पं उपनीय तं
द्विगुणत्रिगुणादिना वा अपरिहृत्य तत्रैव भूयः० अयं आयुष्मन् ! उपस्थान क्रियादोषदुष्टो
भवति ॥ २ ॥ ॥ ४१३ ॥

III सूत्रार्थ :

हे आयुष्यमन् (शिष्य) ! जो साधु साध्वी धर्मशाला आदि स्थानों में, शेषकाल में
मासकल्प आदि और वर्षा काल में चातुर्मासकल्प को बिताकर अन्य स्थानों में द्विगुण या त्रिगुण
काल को न बिताकर जल्दी ही फिर उन्हीं स्थानों पर निवास करते हैं, तो उन्हें उपस्थान क्रिया
लगती है।

IV टीका-अनुवाद :

आगन्तागारादि घरों में जो साधु भगवन्तः ऋतुबन्ध मासकल्प या वर्षावास रहकर अन्य
अन्य जगह एक एक मासकल्प करके यदि दो या तीन महीने का अंतर रखे बिना पुनः वहां
हि आकर रहते हो, तब इस प्रकार का वह उपाश्रय उपस्थान क्रिया नाम के दोष से दूषित
होता है, अतः वहां साधुओं को रहना कल्पता नहि है... ॥ २ ॥ ॥ ४१३ ॥

अब अभिक्रान्त वसति का स्वरूप कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु-साध्वी ने जिस स्थान में मास कल्प या
वर्षावासकल्प किया है, उससे दुगुना या तिगुना काल व्यतीत किए बिना उक्त स्थान में फिर
से मास या वर्षावास कल्प नहीं करना चाहिए। यदि कोई साधु-साध्वी अन्य क्षेत्र में मर्यादित
काल बिताने से पहले पुनः उस क्षेत्र में आकर मास या वर्षावास कल्प करते हैं तो उन्हें उपस्थान
क्रिया लगती है। इससे स्पष्ट है कि जिस स्थान में एक महीना ठहरें हों उस स्थान पर दो
या तीन महीने अन्य क्षेत्रों में लगाए बिना मास कल्प करना नहीं कल्पता। इसी तरह जहां
चातुर्मास किया है उस क्षेत्र में दो या तीन वर्षावास अन्य क्षेत्रों में किए बिना पुनः वर्षावास
करना नहीं कल्पता। इस प्रतिबन्ध का कारण यह है कि नए-नए क्षेत्रों में धूमते रहने से साधु
का संयम भी शुद्ध रहता है और अनेक क्षेत्रों को उनके उपदेश का लाभ भी मिलता है। और
अनेक प्राणियों को आत्म विकास करने का अवसर मिलता है। मुनियों का आवागमन कम

होने से कई बार लोगों की श्रद्धा में शिथिलता एवं विपरीतता भी आ जाती है। नन्दन-मणिहार का उदाहरण हमारे सामने हैं। यह व्रतधारी श्रावक था, परन्तु साधुओं का संपर्क कम रहने से, साधुओं का दर्शन न होने से तथा अन्य धर्म के विचारकों एवं भिक्षुओं का संपर्क रहने से उसकी श्रद्धा में विपरीतता आ गई थी। इसी तरह भगवान् पार्श्वनाथ के पास से श्रावक व्रत स्वीकार करने के बाद सोमल ब्राह्मण को साधुओं का संपर्क नहीं मिला और परिणाम स्वरूप वह भी पथभ्रष्ट हो गया था। इसलिए साधुओं को किसी एक गांव के स्थान विशेष से बंधकर नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत उन्हें समभाव पूर्वक गुरु परंपरा से निर्णीत जिल्ले या राज्य के सभी क्षेत्रों को संभालते रहना चाहिए। इससे उनकी साधना भी शुद्धरूप से गतिशील रहती है और लोगों की श्रद्धा एवं चारित्र में भी अभिवृद्धि होती है।

अब तृतीय अभिक्रान्त क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ९ ॥ ॥ ४१४ ॥

इह खलु पाइणं वा, संतेगइया सइढा भवन्ति, तं जहा-गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा, तेसिं च णं आयारगोयरे वो सुनिसंते भवइ, तं सदहमाणेहिं पतियमाणेहिं रोयमाणेहिं बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवन्ति, तंजहा-आसणाणि वा आयतणाणि वा देवकुलाणि वा सहाओ वा, पवाणि वा, पणियगिहाणि वा पणियसालाओ वा, जाणगिहाणि वा जाणसालाओ वा सुहाकम्मंताणि वा भवणगिहाणि वा वद्धकं० वक्कयकं० इंगालकम्मं० कडुकं० शुण्णागार-गिरिकं० दरसंति सेलोव झाणकम्मंताणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा तेहिं उवयमाणेहिं उवयन्ति, अयमाउसो ! अभियकंतकिरिया यावि भवइ ॥ ३ ॥ ॥ ४१४ ॥

II संस्कृत-छाया :

इह खलु प्राच्यादिषु वा, सन्ति एके श्रान्दाः भवन्ति, तद्यथा-गृहपतिः वा यावत् कर्मकर्यः वा, तेषां च आचारगोचरः न सुनिशान्तः भवति, तं श्रद्धानैः प्रतीयमानैः रोचमानैः बहवः श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण-वणीपकान् समुद्दिश्य तत्र तत्र अगारिभिः अगाराणि कृतानि भवन्ति, तद्यथा- आसनानि वा आयतनानि वा देवकुलानि वा, सभाः वा प्रपाः वा, पण्यगृहाणि वा, पण्यशालाः वा, यानगृहाणि वा यानशालाः वा सुधाकर्मान्तानि वा भवनगृहाणि वा, वर्धकर्मान्तानि वा वल्कजकं० अङ्गारकर्मान्तानि वा काष्ठगृहाणि श्मशानगृहाणि वा शून्यागार-गिरिकन्दरा-शान्ति-शैलोपस्थापन- कर्मान्तानि वा ये भगवन्तः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा यावत् गृहाणि

या, तैः उपयद्भिः उपयन्ति, इयं हे आयुष्मन् ! अभिक्रान्तक्रिया च अपि भवति

॥ ३ ॥ ॥ ४१४ ॥

III सूत्रार्थ :

हे आयुष्यमन् शिष्य ! इस संसार में पूर्वादि दिशाओं में कई व्यक्ति श्रद्धा और भक्ति से युक्त होते हैं। जैसे कि- गृहपति यावत् उनके दास-दासियां। उन्होंने साधु का आचार और व्यवहार तो सम्यक्तया नहीं सुना है परन्तु यह सुन रखा है कि उन्हें उपाश्रय आदि का दान देने से स्वर्गादि का फल मिलता है और इस पर श्रद्धा, विश्वास एवं अभिरुचि रखने के कारण उन्होंने बहोत से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी आदि का उद्देश्य करके तथा अपने कुटुम्ब का उद्देश्य रख कर अपने-अपने गांवों या शहरों में उन गृहस्थों ने बड़े-बड़े मकान बनाए हैं। जैसे कि लोहकार की शालायें, धर्मशालायें, देवकुल, सभाएं, प्रपाएं प्याउ, दुकानें, मालगोदाम, यानगृह, यानशालायें, चूने के कारखाने, कुशा के कारखाने, बर्ध के कारखाने, बल्कल के कारखाने, कोयले के कारखाने, काष्ठ के कारखाने, स्मशान भूमि में बने हुए मकान, शून्यगृह, पहाड़ के ऊपर बने हुए मकान पहाड़ की गुफा शान्तिगृह, पाषाण मण्डप, भूमिघर-तहखाने इत्यादि... और इन स्थानों में श्रमण-ब्राह्मणादि अनेक बार ठहर चुके हैं। यदि ऐसे स्थानों में जैन भिक्षु भी ठहरते हैं तो उसे अभिक्रान्त क्रिया कहते हैं अर्थात् साधु को ऐसे मकान में ठहरना कल्पता है।

IV टीका-अनुवाद :

यहां प्रज्ञापक की अपेक्षा से पूर्व आदि दिशाओं में श्राद्ध (श्रावक) या प्रकृतभद्रक गृहस्थ आदि होंगे, किंतु वे साधुओं के आचार अच्छी तरह से जानते न हों, कि- साधुओं को ऐसा उपाश्रय (मकान) कल्पता है या नहीं, किंतु उन्होंने कहीं से सुना हो कि- साधुओं को वसति (निवास) देने का फल स्वर्ग आदि है, अतः इस श्रद्धा, प्रतीति, रुचि से वे गृहस्थ उद्यान आदि में अपने लिये यानशाला आदि बनाते हुए उन श्रमण आदि को भी उतारा (निवास) देने के उद्देश से वे यानशाला आदि अधिक बड़े बनाये हों... जैसे कि- आदेशन याने लुहारशाला आदि... आयतन याने देवकुल के पास विभिन्न कमरे... तथा देवकुल (मंदिर), सभा याने चातुर्वेद्यादिशाला, प्रपा याने जलपान की परब, तथा पण्यगृह याने किराने की दुकान या कोठार... तथा यानगृह याने रथ आदि रखने के पडसाल... तथा सुधाकर्म याने जहां खडी-सफेद मिट्टी, चुना आदि तैयार करते हों ऐसे मकान... तथा दर्भ, वर्ध, वल्क, अंगार, और काष्ठकर्म के घर, तथा स्मशानगृह, शांतिकर्मगृह, गिरिगुफा, पाषाणमंडप इत्यादि प्रकार के मकान- घर में वे चरक, ब्राह्मण आदि साधुजन बार बार आकर ठहरते हों, तब हे आयुष्मन् श्रमण ! ऐसी वसति (उपाश्रय) अभिक्रान्तक्रियावाली याने अल्पदोषवाली होती है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु के आचार एवं व्यवहार से अपरिचित श्रद्धा-निष्ठ, भद्रपरिणामों वाले गृहस्थों ने शाक्य आदि अन्यमत के भिक्षुओं को ठहरने के लिए या अपने व्यवसाय आदि के लिए कुछ मकान बनाए हैं और वे मकान अन्यमत के साधु-संन्यासियों एवं गृहस्थों द्वारा अभिक्रान्त हो चुके हैं अर्थात् भोग लिए गए हैं तो साधु उसमें ठहर सकता है और उसकी इस वृत्ति को अभिक्रान्त क्रिया कहा गया है। अन्य भिक्षुओं एवं गृहस्थों द्वारा मकान के अभिक्रान्त होने की क्रिया के आधार पर ही इस क्रिया का नाम अभिक्रान्त क्रिया रखा गया है।

प्रस्तुत पाठ में अभिव्यक्त किए गए मकानों के नाम से उस युग में चलने वाले विविध व्यापारों का स्पष्ट परिचय मिलता है। और यह भी स्पष्ट होता है कि उस युग में देवी-देवताओं के मन्दिर, भिक्षुओं के लिए मठ, धर्मशालाएं एवं पहाड़ों पर विश्रामगृह तथा गुफाएं बनाने की परम्परा रही है। वर्तमान में उपलब्ध अनेक विशाल गुफाओं से- जिनमें रहने के लिए प्रकोष्ठ भी बने हैं, उस युग की प्रवृत्तियों का स्पष्ट परिज्ञान होता है।

'सइढा' शब्द का वृत्तिकार ने 'श्रावकाः वा प्रकृति भद्रकाः अर्थात् भद्र प्रकृति के श्रावक' अर्थ किया है। परन्तु, मूल पाठ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ऐसे श्रद्धालु भक्त जो साधुवाचार से अपरिचित हैं।

इस पाठ से यह स्पष्ट होता है कि साधु को निर्दोष एवं सीधे-सादे मकानों में ठहरना चाहिए। जिससे उनकी साधना में किसी तरह का दोष न लगे। इसी कारण आगम में मनोहर एवं सुसज्जित मकानों में तथा गृहस्थ के साथ ठहरने का निषेध किया गया है। जितना एकान्त, सादा एवं निर्दोष स्थान होगा जीवन में उतनी ही अधिक समाधि एवं शान्ति रहेगी। इसलिए साधक को बगीचों में, श्मशान एवं शून्य गृहों में ठहरने का भी आदेश दिया गया है। और इस पाठ से भी स्पष्ट होता है कि उस युग में श्मशान, जंगल एवं गिरिकन्द्राओं में भी स्थान बने होते थे, जिनमें वानप्रस्थ संन्यासी निवास किया करते थे और ऐसे निर्दोष एवं शान्त वातावरण वाले स्थानों में जैन साधु भी ठहर जाते थे। और ऐसे स्थान उनकी आत्मसमाधि एवं चिन्तन में सहायक होते थे।

अब अनभिक्रान्त क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १० ॥ ॥ ४१५ ॥

इह अलु पाईणं वा जाव रोयमाणेहिं बहवे समण-माहण अतिहि किवण

वणीमएँ समुद्दिस्स तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तं० आपसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्प० आपसणाणि जाव गिहाणि वा तेहिं आपोवयमाणेहिं उवयंति, अयमाउसो ! अणभिवकंतकरिया यावि भवइ ॥ ४ ॥ ॥ ४१५ ॥

II संस्कृत-छाया :

इह खलु प्राच्यादिषु वा, यावत् रोचमानैः बहून् श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण-वनीपकान् समुद्दिश्य तत्र तत्र अगारिभिः अगाराणि चेतितानि भवन्ति, तद्यथा-आदेशनानि वा यावत् भवनगृहाणि वा, ये भगवन्तः तथाप्र० आदेशनानि यावत् गृहाणि वा, तैः अनुपयद्भिः उपयन्ति, इयं आयुष्मन् ! अनभिक्रान्तक्रिया च अपि भवति ॥ ४ ॥ ॥ ४१५ ॥

III सूत्रार्थ :

हे आयुष्मन् शिष्य । संसार में बहुत से श्रन्नालु गृहस्थ ऐसे हैं जो साधु के आचार विचार को नहीं जानते हैं, परन्तु वसती दान के स्वर्गादि फल को जानते हैं । उन लोगों ने उक्त स्वर्ग के फल पर श्रद्धा और अभिरुचि करते हुए शाक्यादि श्रमणों का उद्देश्य करके लोहकार शाला यावत् तलघर आदि बनाए हैं । यदि ये लोहकार शाला यावत् तलघर आदि स्थान, गृहस्थों ने तथा शाक्यादि श्रमणों ने अपने उपभोग में नहीं लिए हैं, अर्थात् बनने के बाद वे खाली ही पड़े रहे हैं । ऐसे स्थानों में यदि जैन साधु ठहरते हैं तो उन्हें अनभिक्रान्त क्रिया लगती है ।

IV टीका-अनुवाद :

सुगम है... किंतु चरक आदि श्रमणों से वह वसति पूर्व काल में सेवित नहि होने के कारण से वह वसति अनभिक्रान्तक्रिया स्वरूप दोषवाली है, अतः अनभिक्रान्त के कारण से साधुओं को वह वसति (उपाश्रय) अकल्पनीय है... ४... ॥ ४१५ ॥

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र में अभिव्यक्त की गई बात को दुहराते हुए कहा गया है कि यदि किसी श्रन्नालु गृहस्थ द्वारा शाक्य आदि श्रमणों के लिये एवं अपने उपभोग के लिए बनाए गए स्थानों में वे अन्यमत के श्रमण एवं गृहस्थ ठहरे नहीं हो, उन्होंने उस मकान को अपने उपभोग में नहीं लिया है, तो जैन साधु को वहां नहीं ठहरना चाहिए । इसमें आरम्भ आदि के दोष की दृष्टि के अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि यदि कालान्तर में उस मकान में कोई उपद्रव हो गया या उससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ तो लोगों में यह अपवाद फैल सकता है कि इसमें सबसे पहले जैनमुनि ठहरे थे । अतः इस तरह की भ्रान्ति न फैले इस दृष्टि से

भी साधु को पुरुषान्तरकृत अपरिश्रुत मकान में ही ठहरना चाहिए।

अब वर्ज्याभिधान क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ११ ॥ ॥ ४१६ ॥

इह खलु पाईणं वा, जाव कम्मकरीओ वा तेसिं च णं एवं वुत्तपुत्वं भवइ-जे इमे भवंति समणा भगवंतो जाव उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु एएसिं भयंताराणं कप्पइ अहाकम्मिए उवस्सए वत्थए, से जाणिमाणि अहं अप्पणो सयद्वाए चेइयाइं भवंति, तं आप्पणाणि वा जाव गिहाणि वा, सव्वाणि ताणि समणाणं निसिरामो, अदियाइं वयं पच्छा अप्पणो सयद्वाए चेइस्सामो, तं आप्पणाणि जाव एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म जे भयंतारो तहप्पं आप्पणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति, इयरा-इयरेहिं पाहुडेहिं वट्ठंति, अयमाउसो ! वज्जकिरिया वि भवइ ॥ ५ ॥ ॥ ४१६ ॥

II संस्कृत-छाया :

इह खलु प्राच्यादिषु वा, यावत् कर्मकर्यः वा तेषां च एवं उक्तपूर्वं भवति, ये इमे भवन्ति श्रमणाः भगवन्तः यावत् उपरताः मैथुन-धर्मात्, न खलु एतेभ्यः भगवद्भ्यः कल्पते आधाकर्मिकः उपाश्रयः वसितुम्, सः यानि इमानि अस्माकं आत्मनः स्वार्थाय चेतितानि भवन्ति, तद्यथा आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा सर्वाणि तानि श्रमणेभ्यः निःसरामः, वयं पश्चात् आत्मनः स्वार्थाय चेतयिष्यामः, तद्यथा-आदेशनानि वा यावत् एतत्प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निश्चय्य ये भगवन्तः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा उपागच्छन्ति, इतरेतरेषु प्राभृतेषु वर्तन्ते, इयं आयुष्मन् ! वर्ज्यक्रिया च अपि भवति ॥ ५ ॥ ॥ ४१६ ॥

III सूत्रार्थ :

संसार में पूर्वादि दिशाओं में बहुत से ऐसे श्रद्धालु गृहस्थ यावत् दास दासी आदि व्यक्ति हैं, वे परस्पर बातचीत करते हुए कहते हैं कि- ये पूजनीय जैन साधु मैथुन धर्म से सर्वथा उपरत हैं एवं सावध क्रियाओं से विरक्त हैं। अतः इन्हें आधाकर्मिक- आधाकर्म दोष से दूषित उपाश्रय में बसना नहीं कल्पता है। हमने अपने लिए जो लोहकार शाला आदि मकान बनाए हैं, वे सब इन श्रमणों को दे देते हैं। और हम अपने लिए दूसरे नए लोहकार शाला आदि मकान बना लेंगे। गृहस्थों के उक्त निर्घोष को सुनकर तथा समझ कर भी जो मुनि-साधु तथाप्रकार के छोटे-बड़े लोहकार शाला आदि, गृहस्थों द्वारा, दिए गए स्थानों में उतरते हैं तो हे आयुष्मन्

शिष्य । उन्हें वर्ज्यक्रिया लगती है । अर्थात् जो साधु ऐसे स्थानों में ठहरता है उसे वर्ज्यक्रिया का दोष लगता है ।

IV टीका-अनुवाद :

सुगम है, किंतु सारांश यहाँ है कि- साधुओं के आचार से अनजान गृहस्थों ने अपने खुद के लिये बनाये हुए घर साधुओं को निवास के लिये देकर अपने लिये अन्य बनावे, तब ऐसे अन्य अन्य छोटे-बड़े घर में यदि साधु निवास करे, तो वह वसति वर्ज्याभिधान दोषवाली होने के कारण से साधुओं को वर्ज्याभिधान दोष लगता है, अतः ऐसी वसति साधुओं के लिये अकल्पनीय है...

अब महावर्ज्याभिधान वसति का स्वरूप कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- जो श्रद्धालु गृहस्थ साधवाचार से अपरिचित हैं, वे अपने अपने परिजनों को बताते हैं कि हम अपने लिए बनाए हुए मकान इन्हें ठहरने को दे देते हैं । अपने रहने के लिए दूसरा मकान बना लेंगे । इस तरह के विचारों को सुनकर साधु को उस मकान में नहीं ठहरना चाहिए । यदि यह जानने के पश्चात् भी वह उस मकान में ठहरता है तो उसे वर्ज्यक्रिया लगती है ।

स्थानांग सूत्र में 'वज्ज' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य अभयदेव सूरि ने लिखा है- 'वज्जन्ति-वर्ज्यन्ते इति वर्ज्यः हिंसानृतादि पापं कर्म' अर्थात् 'वज्र की तरह भारी हिंसा, झूठ आदि पापों को वर्ज्य कहते हैं । और तत्सम्बन्धी क्रिया वर्ज्य क्रिया कहते हैं ।' इस अपेक्षा से ५ आश्रव वज्र या वर्ज्य है । अतः साधु के निमित्त आहार या उपाश्रय यदि बनाया गया हो और साधु उसे जानते हुए भी उसका उपभोग कर रहा हो तो उसे वर्ज्य दोष लगता है । अतः साधु को ऐसे मकान में ठहरना नहीं कल्पता ।

अब महावर्ज्य क्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १२ ॥ ॥ ४१७ ॥

इह खलु पाईणं वा संतेगइया सइढा भवति, तेसिं च णं आयारणोयरे जाव तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहण जाव वणीमणे पणणिय, समुदिसस तत्थ, अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवति, तं० आपसणाणि वा जाव गिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आपसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति, इयरा-इयरेहिं पाहुडेहिं० अयमाउसो ।

महावज्जकिरियादि भवइ ॥ ६ ॥ ॥ ४१७ ॥

II संस्कृत-छाया :

इह खलु प्राच्यादिषु वा, सन्ति एके श्रद्धाः भवन्ति, तेषां च आचारगोचरान् यावत् तान् रोचमानैः बहून् श्रमण ब्राह्मण यावत् वनीपकान् गणयित्वा, समुद्दिश्य तत्र तत्र अगारिभिः अगाराणि चेतितानि भवन्ति, तद्यथा-आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा, ये भगवन्तः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा यावत् गृहाणि वा, उपागच्छन्ति, इतरेतरेषु प्राभृतेषु० इयं आयुष्मन् ! महावज्जक्रिया च अपि भवति ॥ ६ ॥ ॥ ४१७ ॥

III सूत्रार्थ :

इस संसार में पूर्वादि दिशाओं में बहुत से ऐसे श्रद्धालु गृहस्थ हैं जो साधु (जैन मुनि) के आचार विचार को सम्यक्तया नहीं जानते हैं, परन्तु साधु को बसती दान देने से स्वर्गादि फल को सम्यक्तया जानते हैं और उस पर श्रद्धा-विश्वास तथा अभिरुचि रखते हैं। उन गृहस्थों ने बहुत से श्रमण, ब्राह्मण यावत् भिखारियों को गिन गिन कर तथा उनका लक्ष्य करके लोहकार शाला आदि विशाल भवन बनाए हैं। जो पूज्य मुनिराज तथाप्रकार के छोटे बड़े और गृहस्थों द्वारा सहर्ष भेंट किए गए उद्यत लोहकार शाला आदि गृहों में आकर ठहरते हैं तो हे आयुष्मन् शिष्य ! यह उनके लिए महावज्ज क्रिया होती है, अर्थात् उन को यह सदोष क्रिया लगती है।

IV टीका-अनुवाद :

सुगम है, किंतु श्रमण आदि के लिये बनाये हुए जो कोई वसति (घर) में यदि साधु स्थान, शय्या, निषद्यादि करे तब, उन्हें महावज्जाभिधान नाम का दोष लगता है, अतः महावज्जाभिधान दोषवाली वसति साधुओं के लिये अकल्पनीय है... किंतु विशुद्धकोटि भी है...

अब सावद्याभिधान वसतिका स्वरूप कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- कुछ श्रद्धालु लोग साधवाचार से अनभिज्ञ हैं, परन्तु वे साधु को मकान का दान देने में स्वर्ग आदि की प्राप्ति के फल को जानते हैं और इस कारण उन्होंने श्रमण, भिक्षु आदि को लक्ष्य में रखकर उनके ठहरने के लिए मकान बनाए हैं। साधु को ऐसे मकान में नहीं ठहरना चाहिए, यदि वह ऐसे मकानों में ठहरता है तो उसे महावज्ज दोष लगता है। इस पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि गृहस्थ ने शाक्य आदि श्रमणों के लिए मकान बनाया है और वे उस मकान में ठहर भी चुके हैं, तो फिर साधु उस

मकान में ठहरता है तो उसे महावर्ज्य क्रिया कैसे लगती है ? इसका समाधान यह है कि श्रमण शब्द का प्रयोग निर्वन्ध के लिए भी होता है। आगम में बताया गया है- १. निर्वन्ध (जैन साधु), २. बौद्ध भिक्षु, ३. तापस, ४. गैरिक (संन्यासी) और ५. आजीवक (गौशालक मत के साधु) आदि ५ सम्प्रदायों के साधुओं के लिए श्रमण शब्द का प्रयोग होता रहा है। अतः श्रमण शब्द से जैन साधु का ग्रहण किया गया है, क्योंकि बौद्ध भिक्षुओं आदि के लिए भिक्षु शब्द का भी प्रयोग किया गया है। अतः जिस मकान को बनाने में जैन साधु का लक्ष्य रखा गया हो उस मकान के पुरुषान्तर होने पर भी जैन साधु को उसमें नहीं ठहरना चाहिए। यदि वह उसमें ठहरता है तो उसे महावर्ज्य क्रिया (दोष) लगती है।

अब सावध क्रिया को अभिव्यक्त करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे के सूत्र से कहेंगे।

I सूत्र ॥ १३ ॥ ॥ ४९८ ॥

इह खलु पाईणं वा संतेगइया जाव तं सदहमाणेहिं तं पत्तियमाणेहिं तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहण-अतिहिकिबणवणीमगे पणणिय, समुदिस्स तत्थ, अगाराइं चेइयाइं भवंति तं० आपसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्पगाराणि आपसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा उवागच्छंति, इयराइयरेहिं पाहडेहिं, अयमाउसो ! आवज्जकिरिया यावि भवइ ॥ ७ ॥ ॥ ४९८ ॥

II संस्कृत-छाया :

इह खलु प्राच्यादिषु वा सन्ति एके यावत् तं श्रद्धानैः तं प्रतीयमानैः तं रोचमानैः बहून् श्रमण-ब्राह्मण-अतिथि-कृपण-वनीपकान् गणयित्वा, समुदिश्य तत्र तत्र अगाराणि चेतितानि भवन्ति, तद्यथा-आदेशनानि वा यावत् भवनगृहाणि वा, ये भगवन्तः तथाप्रकाराणि आदेशनानि वा यावत् भवनगृहाणि वा उपागच्छन्ति, इतरेतरेषु प्राभृतेषु, इयं आयुष्मन् ! सावधक्रिया च अपि भवति ॥ ७ ॥ ॥ ४९८ ॥

III सूत्रार्थ :

इस संसार में पूर्वादि दिशाओं में बहुत से ऐसे श्रद्धालू गृहस्थ हैं जो उपाश्रय दान के फल पर श्रद्धा करने से प्रीति करने से और रुचि करने से बहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारियों का उद्देश्य रखकर लोहकार शालादि भवनों का निर्माण करते हैं जो मुनिराज तथाप्रकार के भेंटस्वरूप दिए गए छोटे बड़े भवनों में ठहरते हैं, तो हे आयुष्मन् शिष्य ! उनके लिए यह सावध क्रिया होती है।

IV टीका-अनुवाद :

सुगम है, किंतु पांच प्रकार के श्रमणादि के लिये बनाइ हुई यह वसति (उपाश्रय) सावधक्रिया नाम के दोषवाली है, अतः ऐसी वसति में स्थान, शय्या, निषद्यादि करनेवाले साधु को सावधक्रिया नाम का दोष लगता है, इसलिये ऐसी वसति साधुओं को अकल्पनीय है... तो भी विशुद्धकोटि है... पांच प्रकार के श्रमण इस प्रकार हैं... १. निर्ग्रथ, २. शाक्य ३. तापस, ४. गेरुक, ५. आजीवश्रमण...

अब महासावधाभिधान वसति का स्वरूप कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में भी पूर्व सूत्र की बात को दुहराया गया है। इसमें यह बताया गया है कि यदि श्रमण, भिक्षु आदि को लक्ष्य में रखकर किसी मकान में सावध क्रिया की गई हो तो साधु को उसमें नहीं ठहरना चाहिए। यदि कोई साधु उसमें ठहरता है तो उसे सावध क्रिया लगती है।

अब महासावध क्रिया का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १४ ॥ ॥ ४९९ ॥

इह खलु पाईणं वा जाव तं रोयमाणेहिं एगं समणजायं समुदिस्स तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तं० आपसणाणि जाव गिहाणि वा महया पुढविकायसमारंभेणं जाव महया तसकायसमारंभेणं महया विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं, तं जहा- छायणओ लेवणओ संधारदुवार पिहणओ सीओदए वा परडुवियपुव्वे भवइ, अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवइ, जे भयंतारो तहं आपसणाणि वा० उवागच्छंति, इयरा-इयरेहिं पाहुडेहिं दुपयखं ते कम्मं सेवंति, अयमाउसो ! महासावज्जकिरिया यावि भवइ ॥ ८ ॥ ॥ ४९९ ॥

II संस्कृत-छाया :

इह खलु प्राच्यादिषु वा यावत् तं रोचमानैः एकं श्रमणजातं समुदिश्य तत्र तत्र अगारिभिः अगाराणि चेतितानि भवन्ति, तद्यथा-आदेशनानि यावत् गृहाणि वा महता पृथिवीकायसमारंभेण यावत् महता त्रसकाय समारंभेण महता विरूपरूपैः पापकर्मकृत्यैः, तद्यथा- छादनतः लेपनतः संस्तार-द्वारपिधानार्थं शीतोदकं वा त्यक्तपूर्वं भवति, ये भगवन्तः तथा० आदेशनानि वा० उपागच्छन्ति, इतरेतरेषु प्राभृतेषु द्विपक्षं ते कर्म सेवन्ते, इयं आयुष्मन् ! महासावधक्रिया च अपि भवति ॥ ८ ॥ ॥ ४९९ ॥

III सूत्रार्थ :

इस संसार में पूर्वादि चारों दिशाओं में बहुत से श्रद्धालु व्यक्ति हैं, जिन्होंने साधु का आचार तो सम्यक्तया नहीं सुना, केवल उपाश्रय मकान के स्वर्गादि फल को सुना है। वे साधु के लिए ६ काय का समारम्भ करके लोहकार शाला आदि स्थान-मकान बनाते हैं। यदि साधु उनमें ज्ञात होने पर भी ठहरता है तो वह द्रव्य से साधु और भाव से गृहस्थ है, अर्थात् साधु का वेष होने से साधु और षट्काय के आरम्भ की अनुमति आदि से युक्त होने के कारण भाव से गृहस्थ जैसा है। अतः हे शिष्य ! इस क्रिया को महासावध क्रिया कहते हैं।

IV टीका-अनुवाद :

यहां कोईक गृहस्थ आदि किसी एक श्रमणसाधर्मिक के लिये पृथ्वीकाय आदि के संरंभ समारंभ एवं आरंभ से या कोई भी एक से विभिन्न प्रकार के भारे पाप कर्मों के आचरण के द्वारा जैसे कि- आच्छादन, लेपन, तथा संस्तारक के लिये या द्वार को ढांकने के लिये इत्यादि कारणों को लेकर पहले शीतल जल का छंटकाव किया हो या अग्नि जलाया हो, तो ऐसी वसति (मकान) में स्थान-शय्या-निषद्यादि करनेवाला साधु दो पक्ष के कर्मों का आसेवन करता है... जैसे कि- प्रव्रज्या में रहकर आधाकर्मवाली वसति में रहने के कारण से गृहस्थपना प्राप्त होने का दोष और राग-द्वेष का दोष... इस स्थिति में साधु को इर्यापथ एवं सांपरायिक कर्मबंध होता है... इत्यादि दोषों के कारण से ऐसी वसति महासावधक्रिया नाम के दोषवाली होती है... अतः अकल्पनीय है...

अब अल्पक्रियाभिधान वसति का स्वरूप कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- जो उपाश्रय-मकान साधु के उद्देश्य से बनाया गया है और साधु के उद्देश्य से ही उसको लीप-पोत कर साफ-सुथरा बनाया है और छप्पर आदि से आच्छादित किया है तथा दरवाजे आदि बनवाए हैं और गर्मी में ठण्डे पानी का छिड़काव करके मकान को शीतल एवं शरद् ऋतु में आग जलाकर गर्म किया गया है तो ऐसे मकान में साधु को नहीं ठहरना चाहिए। यदि साधु जानते हुए भी ऐसे मकान में ठहरता है तो उसे महासावध क्रिया लगती है। और ऐसे मकान में ठहरने वाला केवल वेष से साधु है, भावों से वह साधु नहीं। क्योंकि, उसमें साधु के लिए ६ काय के जीवों का आरंभ समारंभ हुआ है। इसलिए सूत्रकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है- 'दुपक्खं ते कम्मं सेवन्ति।' आचार्य शीलांक ने प्रस्तुत पद की व्याख्या करते हुए लिखा है- 'ते द्विपक्षं कर्मासेवन्ते तद्यथा-प्रव्रज्यायामाधाकर्मिकवसत्यासेवनाद् गृहस्थत्वं च रागद्वेषं च इर्यापथं साम्परायिकं च।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे सदोष मकान में ठहरने वाले साधु साधुत्व के महापथ से गिर जाते हैं, उनकी साधना शुद्ध नहीं रह पाती। अतः साधु को सदा निर्दोष एवं निरवघ मकान में ठहरना चाहिए।

अब अल्प सावध का वर्णन सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहेंगे।

I सूत्र ॥ १५ ॥ ॥ ४२० ॥

इह खलु पाईणं वा० रोयमाणेहिं अप्पणो सयद्वाए तत्थ अगारीहिं जाव उज्जालियपुत्वे भवइ, जे भयंतारो तहप्प० आएसणाणि वा० उवागच्छंति, इयरा-इयरेहिं पाहुडेहिं एणपयस्वं ते कम्मं सेवंति, अयमाउसो ! अप्पसावज्जकिरिया यावि भवइ ॥ १ ॥ एवं खलु तस्स० ॥ ४२० ॥

II संस्कृत-छाया :

इह खलु प्राच्यादिषु वा० रोचमानैः आत्मनः स्वार्थाय तत्र तत्र अगारिभिः यावत् उज्ज्वलितपूर्वं भवति, ये भगवन्तः तथाप्र० आदेशानानि वा० उपागच्छन्ति, इतरेतरेषु प्राभृतेषु एकपक्षं ते कर्म आसेवन्ते, इयं आयुष्मन् ! अल्पसावद्यक्रिया च अपि भवति ॥ १ ॥ एवं खलु तस्य० ॥ ४२० ॥

III सूत्रार्थ :

इस संसार में स्थित कुछ श्रद्धालु गृहस्थ जो यह जानते हैं कि साधु को उपाश्रय का दान देने से स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति होती है, वे अपने उपयोग के लिए बनाए गए मकान को तथा शीतकाल में जहां अग्नि प्रज्वलित की गई हो ऐसे छोटे-बड़े मकान को सहर्ष साधु को ठहरने के लिये देते हैं। ऐसे मकान में जो साधु ठहरते हैं वे एकपक्ष-पूर्ण साधुता का पालन करते हैं और इसे अल्पसावध क्रिया कहते हैं।

IV टीका-अनुवाद :

सुगम है, किंतु यहां "अल्प" शब्द अभाव वाचक है...१... अतः ऐसी निर्दोष वसति उपाश्रयमें रहनेवाले साधुको हि सच्चा साधुपना होता है...

यहां १. कालातिक्रान्त, २. उपस्थान, ३. अभिक्रान्त, ४. अनभिक्रान्त, ५. वर्ज्य, ६. महावर्ज्य, ७. सावध, ८. महासावध, एवं ९. अल्पक्रिया... यह नव प्रकारकी वसति अनुक्रमसे नव सूत्रोंके द्वारा कही गइ है, इन नव में से अभिक्रान्त एवं अल्पक्रियावाली वसति साधुओंको ठहरनेके लिये योग्य है, शेष सात प्रकारकी वसति साधुओंको ठहरनेके लिये योग्य नहि है... इति...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- जो मकान गृहस्थ ने अपने लिए बनाया हो और उसमें अपने लिए अग्नि आदि प्रज्वलित करने की सावध क्रियाएं की हों। साधु के उद्देश्य से उसमें कुछ नहीं किया हो तो ऐसे मकान में ठहरने वाला साधु पूर्ण रूप से साधुत्व का परिपालन करता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अप्प' शब्द अभाव का परिबोधक है। वृत्तिकार ने भी इसका अभाव अर्थ किया है। और मूलपाठ जो "एक पक्खं ते कम्मं सेवयि-अर्थात् जो द्रव्य और भाव से एक रूप अर्थात् साधुत्व का परिपालक है।" यह पद दिया है, इससे 'अप्प' शब्द अभाव सूचक ही सिद्ध होता है।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में उक्त नव क्रियाओं की एक गाथा भी मिलती है। उक्त नव प्रकार के उपाश्रयों में अभिक्रान्त और अल्प सावध क्रिया वाले दो प्रकार के मकान साधु के लिए ग्रह्य हैं, शेष सातों प्रकार के स्थान अकल्पनीय हैं।

॥ प्रथमचूलिकायां पिण्डैषणा शय्यैषणा-नाम-द्वितीयाध्ययने द्वितीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. १६.卐 विक्रम सं. २०५८.

आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - २ उद्देशक - ३

卐 शय्यैषणा 卐

द्वितीय उद्देशक कहा, अब तृतीय उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... यहां परस्पर यह संबंध है कि- दूसरे उद्देशक में कहा है कि- अल्पक्रिया वसति शुद्ध याने निर्दोष है... अब यहां तीसरे उद्देशक में प्रथम सूत्र से सदोष याने पूर्व कहे गये प्रकार से विपरीत वसति का स्वरूप कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४२१ ॥

से य नो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे नो य खलु सुद्धे इमेहिं पाहुडेहिं, तं जहा-छायणओ लेवणओ संधारदुवारपिहणओ पिंडवाएसणाओ, से य भिक्खू चरिया-रए, ठाणरए, निसीहियारए, सिज्जासंधारपिंडवाएसणारए, संति भिक्खूणो एवमयखाइणो उज्जुया नियागपडिवण्णा अमायं कुव्वमाणा वियाहिया, संतेगइया पाहुडिया उयिखत्तपुव्वा भवइ, एवं निविखत्तपुव्वा भवइ, परिभाइयपुव्वा भवइ, परिभुत्तपुव्वा भवइ, परिडुवियपुव्वा भवइ, एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरेइ ? हंता भवइ ॥ ४२१ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः च न सुलभः प्रासुकः उच्छः अथ एषणीयः, न च खलु शुद्धा अमीभिः प्राभृतैः, तद्यथा-छादनतः लेपनतः संस्तार-द्वार- पिधानतः पिण्डपातैषणामाश्रित्य, सः च भिक्षुः घर्धारतः स्थानरतः निषघारतः शय्यासंस्तारक-पिण्डपातैषणारतः, सन्ति भिक्षवः एवं आख्यायिनः ऋजवः नियागप्रतिपन्नाः अमायाविनः व्याख्याताः, सन्ति एके प्राभृतिका उत्क्षिप्तपूर्वा भवति, एवं निक्षिप्तपूर्वा भवति परिभ्राजितपूर्वा भवति, परिभुक्तपूर्वा भवति, परित्यक्तपूर्वा भवति, एवं व्याकुर्वन् सम्यग् व्याकर्ता भवति ? हन्त ! सम्यग् व्याकर्ता भवति ॥ ४२१ ॥

III सूत्रार्थ :

भिक्षा के लिए ग्राम में गए हुए साधु को यदि कोई भद्र गृहस्थ यह कहे कि भगवन् ! यहां आहार-पानी की सुलभता है, अतः आप यहां रहने की कृपा करें। इसके उत्तर में साधु यह कहे कि यहां आहार-पानी आदि तो सब कुछ सुलभ है परन्तु निर्दोष उपाश्रय का मिलना

दुर्लभ कठिन है। क्योंकि साधु के लिए कहीं उपाश्रय में छत डाली हुई होती है, कहीं लेपा-पोती की हुई होती है, कहीं संस्तारक के लिए ऊंची-नीची भूमि को समतल किया गया होता है और कहीं द्वार बन्द करने के लिए दरवाजे आदि लगाए हुए होते हैं, इत्यादि दोषों के कारण शुद्ध निर्दोष उपाश्रय का मिलना कठिन है। और दूसरी यह बात भी है कि शय्यातर का आहार साधु को लेना नहीं कल्पता है। अतः यदि साधु उसका आहार लेते हैं तो उन्हें दोष लगता है और उनके नहीं लेने से बहुत से शय्यातर गृहस्थ रुष्ट हो जाते हैं। यदि कभी उक्त दोषों से रहित उपाश्रय मिल भी जाए, फिर भी साधु की आवश्यक क्रियाओं के योग्य उपाश्रय का मिलना कठिन है। क्योंकि- साधु विहारचर्या वाले भी हैं, तथा शय्या-संस्तारक और पिंडपात की शुद्ध गवेषणा करने वाले भी हैं। उक्त क्रियाओं के लिये योग्य उपाश्रय मिलना और भी कठिन है। इस प्रकार कितने ही सरल-निष्कपट एवं मोक्ष पथ के गामी भिक्षु उपाश्रय के दोष बतला देते हैं।

कुछ गृहस्थ मुनि के लिये ही मकान बनाते हैं, और फिर यथा अवसर आगन्तुक मुनि से छल युक्त वार्तालाप करते हैं। वे साधु से कहते हैं कि 'यह मकान हमने अपने लिये बनाया है, आपस में बांट लिया है, परिभोग में ले लिया है, परन्तु अब नापसंद होने के कारण बहुत पहले से वैसे ही खाली छोड़ रखा है। अतः पूर्णतया निर्दोष होने के कारण आप इस उपाश्रय में ठहर सकते हैं।' परन्तु विचक्षण मुनि इस प्रकार के छल में न फंसे, तथा सदोष उपाश्रय में ठहरने से सर्वथा इन्कार कर दे। गृहस्थों के पूछने पर जो मुनि इस प्रकार उपाश्रय के गुण-दोषों को सम्यक् प्रकार से बतला देता है, उसके संबन्ध में शिष्य प्रश्न करता है कि- हे भगवन् ! क्या वह सम्यक् कथन करता है ? सूत्रकार उत्तर देते हैं कि- हां, वह सम्यक् कथन करता है।

IV टीका-अनुवाद :

यहां कभी कोइक साधु वसति (उपाश्रय) की अन्वेषणा (शोध) के लिये या भिक्षा के लिये गृहस्थ के घर में प्रवेश करने पर कोइक श्रद्धालु गृहस्थ ऐसा कहे कि- "इस गांव में आपको बहोत सारा आहारादि प्राप्त होगा अतः यहां वसति (उपाश्रय) ग्रहण करके आपको यहां रहना (ठहरना) ठीक रहेगा..." इत्यादि तब वह साधु गृहस्थ को कहे कि- यहां केवल (मात्र) प्रासुक आहारादि हि दुर्लभ है, ऐसा नहि है किंतु प्रासुक आहारादि प्राप्त होने पर, जहां बैठकर भोजन कर शकें ऐसी आधाकर्मादि रहित उपाश्रय (वसति) भी दुर्लभ है, और उंच याने छादन-लेपनादि उत्तर गुण के दोष रहित भी नहि है... और साधुओं को तो मूलगुणदोष एवं उत्तरगुणदोष रहित हि उपाश्रय एषणीय होता है, यहां वह वसति दुर्लभ है... मूल एवं उत्तर गुण इस प्रकार हैं...

१. गृहस्थों ने अपने आप के लिये बनाये हुए मकान-घर वह यथाकृत वसति मूलगुण से विशुद्ध है...
२. गृहस्थों ने अपने आपके लिये बनाये हुए मकान में यदि आच्छादन, लेपन आदि परिकर्म की भी आवश्यकता न हो तब वह मकान (वसति) उत्तरगुण से विशुद्ध है...
३. यदि उस मकान में धूप-वास-उद्योत-बलिवृत्त सिद्ध और संमार्जनादि क्रिया करनी हो तब वह वसति विशोधिकोटी दोषवाली कही है...

प्रायः वसति (मकान) में उत्तरगुण दोषों की संभावना होती है, अतः विस्तार से कहते हैं... जैसे कि- दर्भ आदि से ढांकना, गोमय आदि से लेपना, अपवर्तक के अनुसार संस्तारक (संधारो) तथा द्वार को बड़ा बनाना या छोटा बनाना इत्यादि... अथवा द्वार के कपाट (कमाड़-दरवाजे) बनाना... इत्यादि दोषों के कारण से वह वसति सदोष कही है...

तथा पिंड याने आहारादि की निर्दोष एषणा की दृष्टि से कहते हैं कि- कीसी उपाश्रय में ठहरे हुए साधुओं को घर का मालिक गृहस्थ आहारादि के लिये निमंत्रण करे, तब उस घर के मालिक (शय्यातर) के यहां से आहारादि लेने में निषिद्धाचरण नाम का दोष लगता है, क्योंकि- साधुओं को शय्यातर-पिंड अकल्पनीय कहा गया है, तथा यदि साधु उनके घर में से आहारादि न ग्रहण करे तो उन घर के मालिक (स्वामी) को द्वेष (गुस्सा) आदि होने की संभावना है, इस कारण से कहते हैं कि- उत्तरगुण से विशुद्ध उपाश्रय प्राप्त होना दुर्लभ है... यदि निर्दोष उपाश्रय प्राप्त हो तब साधु वहां स्थान, शय्या, निषद्यादि करे... अन्यत्र भी कहा है कि मूल एवं उत्तर गुण से विशुद्ध तथा स्त्री, पशु एवं नपुंसकों के आवागमन से रहित वसति में साधु निवास (मासकल्पादि) करे, और सदा दोषों से बचते रहें...

अब कहते हैं कि- मूल एवं उत्तर गुण से विशुद्ध वसति प्राप्त होने पर भी स्वाध्याय-भूमीवाला विविक्त उपाश्रय प्राप्त होना दुर्लभ है... जैसे कि- मल-मूत्र के निरोध में असहिष्णु साधु बार बार चर्यात याने आवागमन करते रहते हैं, स्थानरत याने एक जगह स्थिर रहकर काउस्सग करनेवाले, निषधारत याने स्वाध्याय ध्यान करनेवाले, शय्या याने शरीर प्रमाण और संस्तारक याने ढाड़ हाथ प्रमाण सोने की जगह... अथवा ग्लान (रोग) आदि के कारण से कोइक साधु सोने के लिये संधारे में रहते हो तथा निर्दोष आहारादि प्राप्त होने पर ब्रासैषणा (भोजन) में स्वत होते हैं इत्यादि विभिन्न चर्यावाले साधुजन होते हैं... इत्यादि प्रकार से गृहस्थ को वसति के गुण-दोष कहनेवाले वे साधु मोक्षमार्ग में चलनेवाले होते हैं एवं माया-कपट रहित होते हैं... अब इस प्रकार वसति का स्वरूप कहकर वे साधु वहां से विहार करे तब वे श्रद्धालु श्रावकों ने देखा कि- साधुओं को उपयोग में आवे ऐसी एषणीय वसति तो है नहि, अतः वे गृहस्थ साधुओं के लिये नये मकान को छादन, लेपन आदि से संस्कारित करें... अब कालांतर

में वे साधु या अन्य साधु आवे तब वे गृहस्थ इस प्रकार की छलना (माया) करे कि- प्राभृतिका देने के लिये यह वसति बनी हुई है, अतः यहां ठहरीयेगा... अथवा, यह वसति पहले से ही हमारे लिये बनाइ हुई है, अथवा हमारे भाइ-भतीजे के लिये यह घर बनाया हुआ है, अथवा इस घर में पहले अन्य लोग रहते थे, अथवा यह मकान अब हमारे काम का नहि है, हमने इसका त्याग किया है, यदि श्रमण भगवंत ऐसे आपको इस मकान में ठहरना न कल्पे तो अब हम इस मकान को तोडकर गिरा देंगे... इत्यादि प्रकार से छलना (माया-कपट) करे तब गीतार्थ साधु उन गृहस्थों की छलना को सम्यग् प्रकार से जानकर उस वसति का त्याग करें।

प्रश्न- क्या कभी ऐसी छलना होने पर भी कोईक गृहस्थ वसति के गुण-दोष आदि पुछे तब साधु जवाब दे कि नहि ? और ऐसा जवाब देनेवाला साधु सम्यक् जवाब देनेवाला कहलायेगा ?

उत्तर- आचार्यजी कहते हैं कि- हे शिष्य ! वसतिके गुण-दोष कहनेवाला साधु सम्यग् (सच्चा) जवाब देनेवाला है ऐसा कहा गया है...

अब तथाविध कार्य के कारण से चरक, कार्पटिक आदि के साथ संवास करना हो तो उसकी विधि कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु किसी गांव या शहर में भिक्षा के लिए गया, उस समय कोई श्रद्धानिष्ठ गृहस्थ उक्त मुनि से प्रार्थना करे कि हमारे गांव या शहर में आहार-पानी आदि की सुविधा है, अतः आप इसी गांव में ठहरें। गृहस्थ के द्वारा इस प्रकार प्रार्थना करने पर मुनि सरल एवं निष्कपट भाव से कहे कि- आहार पानी की तो यहां सुलभता है, परन्तु ठहरने के लिए निर्दोष मकान का उपलब्ध होना कठिन है। मूल एवं उत्तर गुणों की दृष्टि से निर्दोष मकान सर्वत्र सुलभ नहीं होता। कहीं मकानों की कमी के कारण मूल से ही साधु के लिए मकान बनाया जाता है। कहीं साधु के उद्देश्य से नहीं बने हुए मकान पर साधु के लिए छत डाली जाती है, उसमें सफेदी करवाई जाती है, शय्या के लिए योग्य स्थान बनाया जाता है, दरवाजे तथा खिडकिएं लगाई जाती हैं। इस तरह मूल या उत्तर गुण में दोष लगने की संभावना रहती है।

यदि कहीं सब तरह से निर्दोष मकान मिल जाए तो दूसरा प्रश्न यह सामने आएगा कि हम शय्यातर (मकान मालिक) के घर का आहार-पानी आदि ग्रहण नहि करते। कभी वह भवितवश आहार आदि के लिए आग्रह करे और हमारे द्वारा इनकार करने पर क्रोधित

होकर धर्म से या साधु-सन्तों से विमुख होकर उनका विरोध कर सकता है। वृत्तिकार ने भी यही भाव अभिव्यक्त किया है।

निर्दोष मकान एवं शय्यातर के अनुकूल मिलने के बाद तीसरी समस्या साधना की रह जाती है। कुछ साधु विहार चर्या वाले होती हैं, कुछ कायोत्सर्ग करने में अनुरक्त रहते हैं, कुछ स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन में व्यस्त रहते हैं। अतः इन सब साधनाओं की दृष्टि से भी मकान अनुकूल होना आवश्यक है, अर्थात् साधना के लिए एकान्त एवं शान्त वातावरण का होना जरूरी है। इस तरह मुनि स्थान सम्बन्धी निर्दोषता एवं सद्बोधता को स्पष्ट रूप से बता दे और सभी दृष्टियों से शुद्ध एवं निर्दोष मकान की गवेषणा करने के पश्चात् उसमें ठहरे।

साधु से मकान सम्बन्धी सभी गुण-दोष सुनने के बाद यदि कोई गृहस्थ साधु के लिए बनाए गए मकान को भी शुद्ध बताए और छल-कपट के द्वारा उसकी सद्बोधता को छिपाने का प्रयत्न करे तो साधु को उसके धोखे में नहीं आना चाहिए। और उसकी तरह स्वयं को भी छल-कपट का सहार नहीं लेना चाहिए। साधु को सदा सरल एवं निष्कपट भाव ही रखना चाहिए। यदि कोई गृहस्थ छल-कपट रखकर उपाश्रय के गुण-दोष जानना चाहे, तब भी साधु को बिना हिचकिचाहट के उपाश्रय सम्बन्धी सारी जानकार करा देनी चाहिए। इसी से साधु की साधना सम्यक् रह सकती है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'चरियारए' पद से विहार चर्या का 'ठाणरए' से ध्यानस्थ होने का, 'निसिहियाए' से स्वाध्याय का, 'उज्जुया' से छल-कपट रहित, सरल स्वभाव वाला होने का एवं 'नियाग पडिवन्ना' से संयम में मोक्ष के ध्येय को सिद्ध करने वाला बताया गया है। और 'संतेगइय पाहुडिया उक्खित्तपुव्वा भवइ' पद से यह स्पष्ट किया गया है कि- साधु के उद्देश्य से बनाए गए उपाश्रय को निर्दोष बताना तथा 'एवं परिभुत्तपुव्वा भवइ परिटठवियपुव्वा भवइ' आदि पदों से इस बात को बताया गया है कि- कुछ श्रद्धालु भक्त रागवश सद्बोध मकान को भी छल-कपट से निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं साधु को उनकी बातों में नहीं आना चाहिए।

यदि कभी परिस्थितिवश साधु को चरक-आदि अन्य मत के भिक्षुओं के साथ ठहरना पड़े, तो किस विधि से ठहरना चाहिए इसका उल्लेख सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ४२२ ॥

से भिक्खू वा० से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा खुइडियाओ खुइडदुवारियाओ निययाओ संबिरुद्धाओ भवंति, तहप्पणा० उवस्सए राओ वा वियाले वा नियस्सममाणे

वा पविसमाणे वा० पुरा हत्थेण वा पच्छा पाएण वा तओ संजयामेव नियस्वमिज्ज वा, केवली बूया-आयाणमेयं, जे तत्थ समणाण वा माहणाण वा छत्तए वा मत्तए वा दंडए वा लट्ठिया वा मिसिया वा नालिया वा चेलं वा चिलिमिली वा चम्मए वा चम्मकोसए वा चम्मछेयणए वा दुब्बुद्धे दुण्णिणियस्सत्ते अनिकंपे चलाचले भियस्सू य राओ वा वियाले वा नियस्वममाणे वा, पयलिज्जमाणे वा, से तत्थ पयलमाणे वा० हत्थं वा० लूसिज्ज वा पाणाणि वा० जाव ववरोदिज्ज वा, अह भियस्सूणं पुव्वोवड्डं जं तह० उदस्सए पुरा हत्थेण नियस्स० वा पच्छा पाएणं तओ संजयामेव नियस्वमिज्ज वा पविसिज्ज वा ॥ ४२२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत् पुनः उपाश्रयं जानीयात्- क्षुद्रिकाः क्षुद्रद्वाराः नीचाः सन्निरुद्धाः भवन्ति, तथाप्रका० उपाश्रये रात्रौ वा विकाले वा निष्क्रममाणेन वा प्रविशता वा पुरा हस्तेन वा पश्चात् पादेन वा ततः संयतः एव निष्क्रामेत् वा, केवली ब्रूयात्-आदानमेतत्, ये तत्र श्रमणानां वा ब्राह्मणानां वा (श्रमणेभ्यः वा ब्राह्मणेभ्यः वा) छत्रकं वा मात्रकं वा दण्डः वा लट्टिः वा मिश्रिका वा नालिका वा चेलं वा चिलिमिली (यवनिका) वा चर्म वा चर्मकोशः वा चर्मछेदनकः वा दुर्बद्धः दुर्णिक्षिप्तः अनिकम्पः चलाचलः, भिक्षुः च रात्रौ वा विकाले वा निष्क्रममाणः वा प्रविशन् वा, प्रचलेत् वा प्रपतेत् वा, सः तत्र प्रचलन् वा प्रपतन् वा हस्तं वा० लुष्यात् वा प्राणिनः वा, यावत् व्यवरोपयेत् वा, अथ भिक्षुणां पूर्वोपदिष्टं यत् तथा० उपाश्रये पुरा हस्तेन० निष्क्रम० वा पश्चात् पादेन, ततः संयतः एव निष्क्रामेत् वा प्रविशेत् वा ॥ ४२२ ॥

III सूत्रार्थ :

वह साधु अथवा साध्वी फिर उपाश्रय को जाने, जैसे कि- जो उपाश्रय छोटा है अथवा छोटे द्वार वाला है, तथा नीचा है और चरक आदि भिक्षुओं से भरा हुआ है, इस प्रकार के उपाश्रय में यदि साधु को ठहरना पड़े तो वह रात्रि में और विकाल में, भीतर से बाहर निकलता हुआ या बाहर से भीतर प्रवेश करता हुआ, प्रथम हाथ से देखकर पीछे पैर रखे। इस प्रकार साधु यतनापूर्वक निकले या प्रवेश करे। क्योंकि केवली भगवान कहते हैं कि- यह कर्म बन्धन का कारण है, क्योंकि वहां पर जो शाक्यादि श्रमणों तथा ब्राह्मणों के छत्र, अमत्र (भाजन विशेष) मात्रक, दंड, यष्टी, योगासन, नलिका (दण्ड विशेष) वस्त्र, यवनिका (मच्छरदानी) मृगचर्म, मृगचर्मकोष, चर्मछेदन-उपकरण विशेष-जो कि अच्छी तरह से बन्धे हुए और ढंग से रखे हुए नहीं है, कुछ हिलते हैं और कुछ अधिक चंचल हैं उनको आघात पहुंचने का डर है, क्योंकि रात्रि में और विकाल में अन्दर से बाहर और बाहर से अन्दर निकलता या प्रवेश करता हुआ

साधु यदि फिसल पड़े या गिर पड़े तो वे उपकरण टूट जाएंगे, अथवा उस भिक्षु के फिसलने या गिर पड़ने से उसके हाथ-पैर आदि के टूटने का भी भय है और उसके गिरने से वहां पर रहे हुए अन्य क्षुद्र जीवों के विनाश का भी भय है, इसलिए तीर्थकरादि आम पुरुषों ने पहले ही साधुओं को यह उपदेश दिया है कि इस प्रकार के उपाश्रय में पहले हाथ से टटोल कर फिर पैर रखना चाहिए और यत्नापूर्वक बाहर से भीतर एवं भीतर से बाहर गमनागमन करना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब ऐसा जाने कि- यह उपाश्रय छोटा है, या छोटे द्वारवाला है, अथवा बहुत ही नीचा है अथवा गृहस्थों से भरा हुआ है, और ऐसे उपाश्रय में यदि साधु ठहरे, तब गृहपति ने अन्य भी चरक आदि को भी कितनेक दिन रहने के लिये निवास द्वाया हुआ हो, या तो वे चरकादि पहले से ही रहते हो, और बाद में साधुओं को वहां ठहरने के लिये निवास दे, और विशेष कार्य को लेकर यदि साधु वहां निवास करे, तब रात्री में लघुनीति (पेसाब) आदि के लिये बाहर निकलते या पुनः अंदर प्रवेश करती वरत्त वहां रहे हुए चरक आदि के पात्र आदि उपकरणों का तुट-फुट (घात) विनाश न हो, या थोडा सा भी नुकसान न हो इस प्रकार अंधेरे में वह साधु अंधे आदमी की तरह हाथ आगे की और फैलाता हुआ गमनागमन (आना-जाना) करे इत्यादि... तथा चिलिमिली याने यवनिका (पडदा) तथा चर्मकोश याने पेर की पेनी का रक्षण करने का साधन, खत्तक आदि...

अब वसति-याचना की विधि कहतें हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- अपनी आत्मा एवं संयम की विराधना से बचने के लिए साधु को रात्रि एवं विकाल के समय आवश्यक कार्य से उपाश्रय के बाहर जाते एवं पुनः उपाश्रय में प्रविष्ट होते समय विवेक एवं यत्नापूर्वक गमनागमन करना चाहिए। यदि किसी उपाश्रय के द्वार छोटे हों या उपाश्रय छोटा हो और उसमें कुछ गृहस्थ रहते भी हों या अन्य मत के भिक्षु ठहरे हुए हों तो साधु को रात के समय बाहर आते-जाते समय पहले हाथ से टटोल कर फिर पैर रखना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से उसको कहीं चोट नहीं लगेगी और न किसी से टक्कर खाकर गिरने या फिसलने का भी भय रहेगा। यदि वह अपने हाथ से टटोल कर सावधानी से नहीं चलेगा तो संभव है दरवाजा छोटा होने के कारण उसके सिर आदि में चोट लग जाए या वह फिसल पड़े या किसी भिक्षु की उपधि-उपकरण पर पैर पड़ जाने से वह टूट जाए और इससे उसके मन को संक्लेश हो और परस्पर कलह भी हो जाए। इस तरह समस्त दोषों से बचने के लिए साधु को विवेक एवं यत्नापूर्वक गमनागमन करना

चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र से उस युग के साधु समाज में प्रचलित उपधियों-उपकरण का एवं उस युग की विभिन्न साधना पद्धतियों का परिचय मिलता है और साथ में गृहस्थ की उदारता का भी परिचय मिलता है कि वह बिना किसी भेद भाव से सभी संप्रदाय के भिक्षुओं को विश्राम करने के लिए मकान दे देता था। उसके द्वार सभी के लिए खुले थे।

साधु को स्थान की याचना किस तरह करनी चाहिए, इसका उल्लेख सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे के सूत्र से करेंगे।

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ४२३ ॥

से आगंतारेसु वा अणुवीय उवस्सयं जाइज्जा, जे तत्थ ईसरे, जे तत्थ समहिट्ठाए, ते उवस्सयं अणुणविज्जा- कामं खलु आउसो ! अहालंदं अहापरिण्णं यं वसिस्सामो जाव आउसंतो ! जाव आउसंतस्स उवस्सए जाव साहम्मियाइं ततो उवस्सयं गिण्हस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो ॥ ४२३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः आगन्तागारेषु वा अनुविचिन्त्य उपाश्रयं याचेत्, यः तत्र ईश्वरः यः तत्र समधिहाता, सः उपाश्रयं अनुज्ञापयेत्- कामं खलु आयुष्मन् ! यथाप्राप्तं यथापरिज्ञातं वत्स्यामः यावत् आयुष्मन् ! यावत् आयुष्मतः उपाश्रयः, यावत् साधर्मिकाः ततः उपाश्रयं गृहीष्यामः, ततः परं विहरिष्यामः ॥ ४२३ ॥

III सूत्रार्थ :

वह साधु धर्मशालाओं आदि में प्रवेश करने के अनन्तर यह विचार करे कि- यह उपाश्रय किसका है और यह किसके अधिकार में है ? तदनन्तर उपाश्रय की याचना करे। (इस सूत्र का विषय कुछ विलष्ट है इसलिए प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा जाता है)

मुनि- आयुष्मन् गृहस्थ ! यदि आप आज्ञा दें तो आपकी इच्छानुकूल जितने समय पर्यन्त और जितने भूमि भाग में आप रहने की आज्ञा देंगे, उतने ही समय और उतने ही भूमि भाग में हम रहेंगे।

गृहस्थ- आयुष्मन् मुनिराज ! आप कितने समय तक रहेंगे ?

मुनि- आयुष्मन् सदगृहस्थ ! किसी कारण विशेष के बिना हम व्रीष्म और हेमन्त ऋतु में एक मास और वर्षा ऋतु में चार मास पर्यन्त रह सकते हैं।

गृहस्थ- इतने समय के लिए आप को यह उपाश्रय नहीं दिया जा सकता ।

मुनि- यदि इतने समय तक की आज्ञा नहीं दे सकते तो कोई बात नहीं आप जितने समय के लिए कहेंगे उतने समय तक यहां ठहर कर फिर हम विहार कर जावेंगे ।

गृहस्थ- आप कितने साधु हैं ?

मुनि- साधु तो समुद्र के समान अनगिनत हैं । क्योंकि अपने पठन पाठन आदि कार्य के लिए कई मुनि आते हैं, और अपना कार्य करके चले जाते हैं । किन्तु जो यहां पर आवेंगे वे सब आपकी आज्ञानुसार रह कर विहार कर जावेंगे । इस प्रकार मुनि को गृहस्थ के पास उपाश्रय की याचना करनी चाहिए ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु आगंतुकों के ठहरने के घरों में प्रवेश करके एवं अनुप्रेक्षा (विचार) करके याने यह उपाश्रय कैसा है ? इसका स्वामी कौन है ? इत्यादि सोच-विचार करके मकान मालिक से वसति की याचना करे, तब वहां पर यदि गृहस्वामी हो या गृहस्वामी से नियुक्त कोई सेवक हो, तो वे उन साधुओं को ठहरने की अनुमति दे... जैसे कि- हे दीर्घायु ! हे श्रमण ! आप यहां इच्छानुसार ठहरीये... तब साधु उन्हें कहे कि- हां, ठीक है, आपकी अनुमति से दीये हुए इस उपाश्रय के इतने भाग में कुछ दिन रहेंगे... तब वह गृहस्थ कहे कि- हे श्रमण ! आप यहां कितने दिन रहोगे ? तब वह वसति के परीक्षक गीतार्थ साधु कहे कि- विशेष कारण के सिवा ऋतुबद्ध काल में एक महिना और वर्षाकाल में चार महिने रहने का विधान है... ऐसा कहने पर वह गृहस्थ कहे कि- इतने दिन तक तो मेरा यहां रहना नहि होगा.. तब वह साधु तथाप्रकार के कारण को लेकर कहे कि- हे आयुष्मन् ! आप जब तक यहां रहोगे तब तक हम आपके उपाश्रय (मकान) में निवास करेंगे, उसके बाद अन्यत्र विहार करेंगे... जब यह गृहस्थ कहे कि- हे श्रमण ! आप कितने साधुजन यहां रहेंगे ? तब वह साधु कहे कि- देखिये ! पू. आचार्य म. समुद्र के समान बहुत बड़े परिवारवाले हैं, अतः साधुओं की संख्या नियत नहि कह सकते... किंतु विभिन्न कार्यों के लिये केतनेक साधु आयेंगे, और जिन्हो का कार्य पूर्ण हुआ होगा वे अन्यत्र जाएंगे... अतः जितने भी हमारे साधर्मिक साधु आयेंगे, उनका यह निवास-स्थान रहेगा, ऐसा आप जानीयेगा... यहां सारांश यह है कि- साधुओं की संख्या निश्चित न कहें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में उपाश्रय की याचना करने की विधि का उल्लेख किया गया है । इसमें बताया गया है कि- साधु को सबसे पहले यह जानना चाहिए कि यह मकान किसके अधिकार

में है अथवा किस का है ? मकान मालिक का परिज्ञान करने के बाद उससे उस मकान में ठहरने की आज्ञा मांगनी चाहिए। यदि वह पूछे कि आप कितने समय तक ठहरेंगे तो मुनि उससे कहे कि हम वर्षावास में ४ महीने और शेष काल में एक महीने से ज्यादा बिना किसी विशेष कारण के एक स्थान में नहीं ठहरते हैं। यदि वह एक महीने के लिए मकान देने को तैयार न हो तो वह जितने दिन ठहरने की आज्ञा दे उतने दिन उस मकान में ठहरे। उसकी आज्ञा की अवधि पूरी होने के बाद उसकी पुनः आज्ञा लिए बिना साधु को उस मकान में नहीं ठहरना चाहिए। गृहस्थ ने जितने समय के लिए जितने भू-भाग को उपभोग में लेने की आज्ञा दी हो उतने समय तक उतने ही क्षेत्र को अपने काम में ले। यदि कोई गृहस्थ साधुओं की संख्या के विषय में पूछे तो मुनि को निश्चय संख्या में नहीं बंधना चाहिए। क्योंकि- कई बार स्वाध्याय आदि के लिए स्थान की अनुकूलता देखकर आस-पास के क्षेत्र में स्थित साधु भी स्वाध्याय, ध्यान आदि के लिए आ जाते हैं और वापिस चले भी जाते हैं। इस तरह सन्तों की संख्या कम-ज्यादा भी होती रहती है। इसलिए इस सम्बन्ध में उसे इतना ही कहना चाहिए की साधुओं की संख्या असीम हैं उसे नियमित रूप से नहीं बताया जा सकता, परन्तु आपने जितने समय के लिए आज्ञा दी है उससे ज्यादा समय आपकी आज्ञा लिए बिना कोई भी साधु नहीं ठहरेगा।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अहालन्द-यथालन्द' पद का अर्द्धमागधी कोष में निम्न अर्थ किया है- 'जितने समय के लिए कहा गया हो उतने समय तक ठहरे।' पानी से भीगा हुआ हाथ जितनी देर में सूखे उतने समय को जघन्य यथालन्द काल कहते हैं और पांच दिन की अवधि को उत्कृष्ट यथालन्द काल कहते हैं तथा उन दोनों के बीच के समय को मध्यम यथालन्द काल कहते हैं।

इस तरह उपाश्रय की आज्ञा लेने के बाद साधु को किस तरह रहना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ४२४ ॥

से भिक्खु वा० जस्सुवस्सए संवसिज्जा तस्स पुव्वामेव नामगुत्तं जाणिज्जा, तओ पष्ठा तस्स गिहे निमंतेमाणस्स वा अनिमंतेमाणस्स वा असणं वा, अफासुयं जाव नो पडिगाहेज्जा ॥ ४२४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा यस्य उपाश्रये संवसेत्, तस्य पूर्वमेव नामगोत्रं जानीयात्, ततः पश्चात् तस्य गृहे निमन्त्रयतः वा अनिमन्त्रयतः वा अशनं वा, अप्रासुकं यावत् न प्रतिगृहीयात् ॥ ४२४ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी जिस गृहस्थ के उपाश्रय-स्थान में ठहरे, उसका नाम और गोत्र पहले ही जान लें। तत्पश्चात् उसके घर में निमंत्रित करने या न करने पर भी अर्थात् बुलाने या न बुलाने पर भी उसके घर का अथनादि चतुर्विध आहार ग्रहण न करे।

IV टीका-अनुवाद :

सुगम है, किंतु साधुओं की यह सामाचारी (आचार-मर्यादा) है कि- शय्यातर (मकान मालिक) का नाम-गोत्र आदि जानना चाहिये, ऐसा करने से ही प्राधूर्णकादि श्रमण भिक्षा-गोचरी घूमने के वर्यत शय्यातर-गृह का सुख-सुगमता से त्याग कर सकें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- मकान में ठहरने के पश्चात् शय्यातर के नाम एवं गोत्र तथा उसके मकान आदि का परिचय करना चाहिए। आगमिक परिभाषा में मकान मालिक को शय्यातर कहते हैं। शय्या का अर्थ है- मकान और तर का अर्थ है- तैरने वाला, अर्थात् शय्या+तर का अर्थ हुआ-साधु को मकान का दान देकर संसार-समुद्र से तैरने वाला। शय्यातर के नाम आदि का परिचय करने का यह तात्पर्य है कि- उसके घर को अच्छी तरह पहचान सके। क्योंकि; भगवान ने शय्यातर के घर का आहार-पानी लेने का निषेध किया है। इसका कारण यह रहा है कि- जो कोई गृहस्थ किसी अन्य मर्त के साधु को ठहरने के लिए स्थान देता था उसे ही उसके आहार-पानी आदि का सारा प्रबन्ध करना पड़ता था। इस तरह वह भिक्षु उसके लिए बोझ रूप बन जाता था। इस कारण कई व्यक्ति निर्दोष मकान होते हुए भी देने से इन्कार कर देते थे। परन्तु, जैन साधु का जीवन्त किसी भी व्यक्ति पर बोझ रूप नहीं रहा है। इसी कारण भगवानने साधुओं को यह आदेश दिया है कि- जिस समय से शय्यातर के मकान में ठहरें तब से लेकर जब तक उस मकान में रहें तब तक शय्यातर के घर का आहार-पानी आदि ग्रहण न करें अर्थात् मकान का दान देने वाले पर दूसरा किसी तरह का बोझ नहीं डालें। इसलिए शय्यातर के नाम आदि का परिचय करना जरूरी है, जिससे आहारादि के लिए उसके घर को छोड़ा जा सकें।

उपाश्रय की योग्यता एवं अयोग्यता के विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ४२५ ॥

से भिक्खू वा० से जं० ससागारियं सागणियं सउदयं नो पण्णस्स निक्खम्मण-
पवेसाए जाव अणुर्चिताए तहप्पगारे उवस्सए नो ठा० ॥ ४२५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत्० ससागारिकं साग्निकं सोदकं, न प्रज्ञस्य निष्क्रमण-
प्रवेशाय यावत् अनुचिन्तायै तथाप्रकारे उपाश्रये न स्था० ॥ ४२५ ॥

III सूत्रार्थ :

जो उपाश्रय गृहस्थों से, अग्नि से और जल से युक्त हो, उसमें प्रज्ञावान् साधु या साध्वी को निष्क्रमण और प्रवेश नहीं करना चाहिए तथा वह उपाश्रय धर्मचिन्तन के लिए भी उपयुक्त नहीं है। अतः साधु को उसमें कायोत्सर्गादि क्रियाएं नहीं करनी चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब ऐसा जाने कि- यह उपाश्रय (वसति) गृहस्थोंवाला है, अग्निवाला है, जलवाला है, तब ऐसी स्थिति में साधुओं को उपाश्रय में प्रवेश करना, बाहार जाना, यावत् शरीर की छोटी-बड़ी चिंता, इत्यादि सुगम न हो, अतः ऐसे उपाश्रय में स्वाध्यायादि के लिये साधु स्थानादि न करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को ऐसे उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए जिसमें गृहस्थों का, विशेष करके साधुओं के स्थान में बहनों का एवं साध्वियों के स्थान में पुरुषों का आवागमन रहता हो और जिन स्थानों में अग्नि एवं पानी रहता हो। क्योंकि इन सब कारणों से साधु के मन में विकृति आ सकती है। इसलिए साधु को इन सब बातों से रहित स्थान में ठहरना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ४२६ ॥

से भिक्षु वा० से जं० गाहावङ्कुलस्स मज्झमज्झोणं गंतुं पंथए पडिबद्धं वा,
नो पण्णस्स जाव चिंताए, तह० उव० नो ठा० ॥ ४२६ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत्० गृहपतिकुलस्य मध्य-मध्येन गन्तुं, पन्थाः प्रतिबद्धः
वा, न प्रज्ञस्य यावत् अनुचिन्तायै, तथाप्रकारे उपाश्रये न स्थानादि कुर्यात् ॥ ४२६ ॥

III सूत्रार्थ :

जिस उपाश्रय में जाने के लिए गृहपति के कुल से-गृहस्थ के घर से होकर जाना पड़ता हो, और जिसके अनेक द्वार हों ऐसे उपाश्रय में बुद्धिमान साधु को स्वाध्याय और कायोत्सर्ग-ध्यान नहीं करना चाहिए अर्थात् ऐसे उपाश्रय में वह न ठहरे।

IV टीका-अनुवाद :

जिस उपाश्रय का आने-जाने का मार्ग गृहस्थ के घर के मध्य (बीच) से हो, वहां अनेक अपाय (उपद्रव-संकट) होने की संभावना है, अतः साधु वहां स्थानादि न करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- जिस उपाश्रय में जाने का मार्ग गृहस्थ के घर में से होकर जाता हो तो साधु को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि, बार-बार गृहस्थ के घर में से आते-जाते स्त्रियों को देखकर साधु के मन में विकार जागृत हो सकता है तथा साधु के बार-बार आवागमन करने से गृहस्थ के कार्य में भी विघ्न पड़ सकता है या बहिनों के मन में संकोच या अन्य भावना उत्पन्न हो सकती है। इसी कारण आगम में ऐसे स्थानों में ठहरने का निषेध किया गया है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ४२७ ॥

से भियखू वा० से जं० इह खलु गाहावई वा० जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णं
अक्कोसंति वा जाव उद्वंति वा, नो पण्णस्स० सेवं नच्चा तहप्पगारे उव० नो ठा०
॥ ४२७ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत्० इह खलु गृहपतिः वा यावत् कर्मकर्यः वा अन्योऽन्यं
आक्रोशन्ति वा यावत् उपद्रवन्ति वा, न प्रज्ञस्य० सः एवं ज्ञात्वा तथाप्रकारे उपाश्रये न
स्थानादि कुर्यात् ॥ ४२७ ॥

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ ४२८ ॥

से भियखू वा० से जं पुण० इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा
अण्णमण्णस्स गायं तिल्लेण वा नव० घय० वसाए वा अह्मंगेति वा मयख्वेति वा, नो

पण्णस्स जाव० तहप्प० उव० नो ठा० ॥ ४२८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत् पुनः० खलु गृहपतिः वा यावत् कर्मकर्यः वा अन्योऽन्यस्य गात्रं तैलेन वा नवनीतेन वा धृतेन वा वसया वा अभ्यञ्जन्ति वा ब्रक्षयन्ति वा, न प्रज्ञस्य यावत् तथाप्रकारे उपाश्रये न स्थानादि कुर्यात् ॥ ४२८ ॥

I सूत्र ॥ ९ ॥ ॥ ४२९ ॥

से भिक्खू वा० से जं पुण० इह खलु गाहावइं वा जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णस्स गायं सिणाणेण वा क० लु० चु० प० आघंसंति वा पघंसंति वा उव्वलंति वा उव्वट्ठिति वा नो पण्णस्स० ॥ ४२९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत् पुन० इह खलु गृहपतिः वा यावत् कर्मकर्यः वा अन्योऽन्यस्य गात्रं स्नानेन वा क० लु० चू० प० आघर्षयन्ति वा प्रघर्षयन्ति वा उद्वलयन्ति वा उद्वर्त्तयन्ति वा न प्रज्ञस्य० ॥ ४२९ ॥

I सूत्र ॥ १० ॥ ॥ ४३० ॥

से भिक्खू वा० से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा, इह खलु गाहावती वा जाव कम्मकरी वा अण्णमण्णस्स गायं सीओदण० उसिणो० उच्चो० पहोयंति सिंचंति सिणायंति वा नो पण्णस्स जाव नो ठाणं० ॥ ४३० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत् पुनः उपाश्रयं जानीयात्, इह खलु गृहपतिभार्या वा यावत् कर्मकरी वा अन्योऽन्यस्य गात्रं शीतोदकेन वा उष्णोदकेन वा उत्क्षालयंति वा प्रधोवन्ति वा सिञ्चन्ति वा स्नापयन्ति वा न प्रज्ञस्य यावत् न स्थानं० ॥ ४३० ॥

III सूत्रार्थ :

साधु और साध्वी गृहस्थ के उपाश्रय को जाने, जैसे कि जिस उपाश्रय-वसती में, गृहपति और उसकी स्त्री यावत् दास दासिणं परस्पर एक दूसरे को आक्रोशती-कोसती हैं, मारती और पीटती यावत् उपद्रव करती हैं। तथा परस्पर एक दूसरी के शरीर को तैल से, मक्खन से, घी से और बसा से मर्दन करती हैं और एक दूसरे के शरीर को पानी से, कर्क से, लोघ से, चूर्ण से और पद्मद्रव्य से साफ करती हैं मेल उतारती हैं तथा उबटन करती हैं और एक

दूसरे के शरीर को शीतल जल से, उष्ण जल से छींटे देती है, धोती हैं, जल से सींचन करती हैं और स्नान कराती हैं, प्रज्ञावान् साधु को इस प्रकार के उपाश्रय में न ठहरना चाहिए और न कायोत्सर्गादि क्रियाएं करनी चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

सुगम है, किंतु जहां पड़ोसी लोग प्रतिदिन कलह (झगडे) करते हो, वहां स्वाध्यायादि न हो पाने के कारण से साधु ऐसे उपाश्रय में स्थानादि न करें... इसी प्रकार- तैल आदि से अभ्यंगन, कल्क आदि से उद्वर्तन एवं जल आदि से प्रक्षालन (स्नान) आदि के विषय में भी सूत्र क्रमांक-४२८-२९-३० का भावार्थ जानीयेगा...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्रों में यह बताया गया है कि- जिस वस्ती में स्त्रियें परस्पर लड़ती-झगड़ती हों, मार-पीट करती हों, या एक दूसरी के शरीर पर तेल आदि स्निग्ध पदार्थों की मालिस करती हों, मैल उतारती हों, या परस्पर पानी उछालती हों, छींटे मारती हों या इसी तरह की अन्य क्रीड़ाएं करती हों तो मुनि को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए। ये चारों सूत्र स्त्रियों से सम्बन्धित हैं, अतः ऐसे स्थानों में साधुओं को ठहरने के लिए निषेध किया गया है, क्योंकि, इससे उनके मन में विकार जागृत हो सकता है। परन्तु, साध्वियें ऐसे स्थान में ठहर सकती हैं। यदि किसी वस्ती में उपरोक्त क्रियाएं पुरुष करते हों तो वहां साध्वियों को नहीं ठहरना चाहिए। छेद सूत्रों में भी बताया गया है कि जिस मकान में स्त्रियें रहती हों उस मकान में साधु को तथा जिस मकान में पुरुष रहते हों उस मकान में साध्वियों को ठहरना नहीं कल्पता।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ११ ॥ ॥ ४३१ ॥

से भिक्षु वा० से ज० इह खलु गाहावई वा, जाव कम्मकरीओ वा निगिणा ठिया, निगिणा उल्लीणा, मेहुणधम्मं विण्णवित्ति रहस्सियं वा मंतं मंतंति, नो पण्णस्स जाव नो ठाणं वा, चेइज्जा ॥ ४३१ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत्० इह खलु गृहपतिः वा, यावत् कर्मकरी वा बग्ना स्थिता, बग्ना उपलीना मैधुनधर्मं विज्ञापयन्ति, रहस्यं वा मन्त्रं मन्त्रयन्ति, न प्रज्ञस्य यावत्० न स्थानं वा, चेतयेत् ॥ ४३१ ॥

III सूत्रार्थ :

जिस उपाश्रय-वस्ती में गृहपति यावत् उसकी स्त्रियों और दासिएं आदि नग्न अवस्था में खड़ी हैं, और नग्न होकर मैथुनधर्म विषय परस्पर वार्तालाप करती हैं, अथवा कोई रहस्यमय अकार्य के लिए गुप्तमंत्रणा-गुप्त विचार करती हैं तो बुद्धिमान साधु को ऐसे उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए और उसमें कायोत्सर्गादि भी नहीं करना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

जहां पड़ौसी की स्त्रियां कपड़े उतारकर नग्न बैठी हो, या नग्न होकर गुप्त रीति से मैथुनक्रीडा विषयक कुछ रहस्य याने रात्रि में कीये हुए संभोग-क्रीडा की परस्पर बातें करते हो, अथवा अन्य रहस्य याने अनुचित कार्य संबंधित मंत्रणा याने बात-चित करते हों, तो ऐसे उपाश्रय में साधु स्थानादि न करें, क्योंकि- वहां स्वाध्यायादि में हादि होती है, और चित्त विक्षोभ याने काम विकार के विकल्प इत्यादि दोष होने की संभावना होती है...

V सूत्रसार. :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जिस मकान में स्त्री-पुरुष नग्न होकर आमोद-प्रमोद में व्यस्त हों, विषय-भोग सम्बन्धी वार्तालाप करते हों, रात्रि में मैथुन सेवन के लिए परस्पर प्रार्थना करते हों या किसी रहस्यमय कार्य के लिए गुप्त मंत्रणा कर रहे हों, तो विवेक सम्पन्न साधु को ऐसे स्थान में नहीं ठहरना चाहिए। क्योंकि इससे साधु के स्वाध्याय, ध्यान एवं चिन्तन-मनन में विघ्न पड़ेगा और उसके मन में भी विकार भावना जागृत हो सकती है। इसलिए साधु को सदा ऐसे स्थानों से बचकर ही रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि जब मानव मन में विषय-वासना की आग प्रज्वलित होती है तो उस समय वह अपना सारा विवेक भूल जाता है। उस समय उसे वस्त्रों का त्याग करने में भी हिचक नहीं होती और अश्लील शब्दों पर तो उसका जरा भी प्रतिबन्ध नहीं रहता है। इसलिए साधु-साधिवियों को ऐसे अश्लील वातावरण से सदा दूर रहना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १२ ॥ ॥ ४३२ ॥

से भिक्खू वा, से जं पुण उव० आइण्णसंलिकखं, नो पण्णस्स० ॥ ४३२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत् पुनः उपाश्रयं आकीर्णसंलेख्यं न प्रज्ञस्य० ॥ ४३२ ॥

III सूत्रार्थ :

जो उपाश्रय स्त्री पुरुष आदि के चित्रों से सज्जित हो तो उस उपाश्रय में प्रज्ञावान साधु को नहीं ठहरना चाहिए और वहां पर स्वाध्याय अथवा ध्यानादि भी नहीं करना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

सुगम है, किंतु ऐसे उपाश्रय में विभिन्न चित्रों के दर्शन से स्वाध्यायादि में हानि होती है... क्योंकि- तथाप्रकार के चित्रों में स्त्री आदि के दर्शन से, पूर्व गृहस्थावस्था में जो कोई कामक्रीडा की हुई हो, उसका स्मरण एवं कौतुक आदि होने की संभावनाएं हैं...

अब फलकादि संस्तारक के विषय में कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को चित्रों से आकीर्ण उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए। इसमें चित्र मात्र का उल्लेख किया गया है। यहां स्त्रियों एवं पुरुषों आदि के चित्र का भेद नहीं किया गया है। इससे यह ध्वनित होता है कि केवल चित्र का अवलोकन करने मात्र से ही विकार की जागृति नहीं होती। यदि स्त्री का चित्र देखते साधु का मन साधना के नियम को तोड़कर वासना की ओर प्रवहमान होने लगे तो फिर कोई भी साधु संयम में स्थिर नहीं रह सकेगा। क्योंकि, व्याख्यान सुनने एवं दर्शन के लिए आने वाली बहिनों को प्रत्यक्ष रूप से देखकर तथा आहार-पानी के समय भी उन्हें देखकर या उनसे बातें करके तो वह न मालूम कहां जा गिरेगा। संयम का नाश केवल स्त्री के चित्र या शरीर को देखने मात्र से नहीं होता, अपितु विकारी भाव से स्त्रियों को देखने पर संयम का विनाश होता है।

इससे यह प्रश्न पैदा होता है कि- फिर सूत्रकार ने चित्रों से युक्त मकान में ठहरने का निषेध क्यों किया ? इसका समाधान यह है कि चित्र केवल विकृति के ही साधन नहीं हैं, उनका और रूप में भी प्रभाव पड़ता है। यदि केवल विकार उत्पन्न होने की दृष्टि से ही निषेध किया जाता हो तब यह उल्लेख अवश्य किया जाता कि- साधु को स्त्री के चित्रों से चित्रित उपाश्रय में तथा साध्वी को पुरुषों के चित्र युक्त उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए। परन्तु, प्रस्तुत सूत्र में तो केवल स्त्री-पुरुष के चित्र ही नहीं, अपितु पशु-पक्षी एवं नदी, पर्वत, जंगल आदि के प्राकृतिक चित्रों से युक्त उपाश्रय में भी ठहरने का निषेध किया है। जबकि पशु-पक्षी एवं प्रकृति सन्बन्धी चित्रों को देखकर विकार भाव जागृत नहीं होते हैं। फिर भी इसका

निषेध किया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि उपाश्रय में चित्रित चित्र चाहे स्त्री-पुरुष कें हों या अन्य किन्हीं प्राणियों एवं प्रकृतिक द्रव्यों के हों, साधु उन्हें देखने में व्यस्त हो जाएगा और उसका स्वाध्याय एवं ध्यान का समय चक्षुइन्द्रिय के पोषण में लग जाएगा। इस तरह उसकी ज्ञान और ध्यान की साधना में विघ्न पड़ेगा और यदि उन चित्रों में आसक्ति उत्पन्न हो गई तो मन में विकृत भाव भी उत्पन्न हो सकते हैं। ज्ञान-दर्शन की साधना के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए साधु को ऐसे स्थानों में ठहरने का निषेध किया गया है। छेद सूत्रों में भी ऐसे स्थानों में ठहरने का निषेध किया गया है।

मकान में ठहरने में बाद तख्त आदि की आवश्यकता होती है, अतः साधु को कैसा तख्त ग्रहण करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १३ ॥ ॥ ४३३ ॥

से भियस्त्रु वा० अभिकंखिज्जा संधारणं एसित्तए, से जं, संधारणं जाणिज्जा सअंडं जाव ससंताणयं, तहप्पगारं संधारं लाभे संते नो पडि० ॥

से भियस्त्रु वा० से जं० अप्पंडं जाव संताणगरुयं तहप्पगारं नो पडि० ॥

से भियस्त्रु वा० अप्पंडं लहयं अपाडिहारियं तह० नो पडि० ॥

से भियस्त्रु वा० अप्पंडं वा जाव अप्पसंताणगं लहुअं पाडिहारियं नो अहाबद्धं तहप्पगारं लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ॥

से भियस्त्रु वा, से जं पुण० संधारणं जाणिज्जा अप्पंडं जाव संताणगं लहुअं पाडिहारिअं अहाबद्धं, तहप्पगारं संधारणं लाभे संते पडिगाहिज्जा ।

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० अभिकाङ्क्षित संस्तारकं एषयितुं सः यत्० संस्तारकं जानीयात् स-अण्डं यावत् ससन्तानकं, तथाप्रकारं संस्तारकं लाभे सति न प्रतिगृहीयात् ॥

सः भिक्षुः वा० सः यत्० अल्पाण्डं यावत् संतानकरुकं तथाप्रकारं न प्रति० ॥

सः भिक्षुः वा० अल्पाण्डं लघुकं अप्रातिहारिकं तथाप्रकारं० न प्रति० ॥

सः भिक्षुः वा० अल्पाण्डं यावत् अल्पसन्तानकं लघुकं प्रातिहारिकं, न यथाबद्धं, तथाप्रकारं लाभे सति न प्रतिगृहीयात् ॥

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः संस्तारकं जानीयात् अल्पाण्डं यावत् अल्प सन्तानकं लघुकं प्रातिहारिकं यथाबद्धं, तथाप्रकारं संस्तारकं लाभे सति प्रतिगृहीयात् ॥ ४३३ ॥

III सूत्रार्थ :

जो साधु या साध्वी फलक आदि संस्तारक की गवेषणा करनी चाहे तो वह संस्तारक के सम्बन्ध में यह जाने कि जो संस्तारक अण्डों से यावत् मकड़ी के जालों से युक्त है, ऐसे संस्तारक को मिलने पर भी ग्रहण न करे।

इसी प्रकार जो संस्तारक अण्डों और जाले आदि से तो रहित है, किन्तु भारी है, ऐसे संस्तारक का भी मिलने पर ग्रहण न करे।

जो संस्तारक अण्डों से रहित एवं लघु भी है किन्तु गृहस्थ उसे देकर फिर वापिस लेना नहीं चाहता है, तो ऐसा संस्तारक भी मिलने पर स्वीकार न करे।

इसी तरह जो संस्तारक अण्डादि से रहित है, लघु है और गृहस्थ ने उसे वापिस लेना भी स्वीकार कर लिया है परन्तु उसके बन्धन शिथिल हैं तो ऐसा संस्तारक भी स्वीकार न करे।

जो संस्तारक अण्डों आदि से रहित है, लघु है, गृहस्थ ने वापिस लेना भी स्वीकार कर लिया है और उसके बन्धन भी सुदृढ़ हैं, तो ऐसे संस्तारक को मिलने पर साधु ग्रहण कर ले।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब फलकादि (लकड़ी की पाट) आदि की शोध करना चाहे, तब देखे कि- यह पाट-पाटले क्षुद्र जंतुओं के अंडेवाले तो नहि है न ? यदि अंडेवाले हो तो संयमविराधना का दोष लगता है...

दूसरे सूत्र में- यदि वे पाट-पाटले वजन में भारी हो तो उठाने करने में आत्मविराधनादि दोष लगने की संभावना है...

तीसरे सूत्र में- यदि वहां कोई रखेवाल-चोकीदार न हो तो उसके परित्याग आदि दोष लगते हैं...

चौथे सूत्र में- यदि वे पाट-पाटले अबद्ध हो तो उनको बांधना आदि पलिमंथ दोष होते हैं...

पांचवा सूत्र- यदि वे पाट-पाटले अंडे के अभाववाले हो यावत् कचोडीये (मकड़ी) के

जाले न हो, वंजन में हलुवे हो, चौकीदार भी हो, और अवबद्ध याने बंधे हुए हो, तो सभी दोषों से मुक्त होने के कारण से वह साधु उन संस्तारक-पाट-पाटले को ग्रहण करें... इस प्रकार पांचों सूत्रों का यह समुदाय अर्थ जानीयेगा...

अब संस्तारक के विषय में अभिग्रह विशेष कहतें हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में संस्तारक-तख्त, पाट आदि के ग्रहण करने की विधि बताई गई है। इसमें बताया गया है कि जो तख्त अण्डे एवं जीव-जन्तुओंसे युक्त हो भारी हो जिसे गृहस्थ ने वापिस लेने से इन्कार कर दिया हो तथा जिसके बन्धन शिथिल (ढीले) हों, वह तख्त ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहां निर्दिष्ट चार या इनमें से कोई भी एक कारण उपस्थित हो तो साधु-साध्वी को ऐसा तख्त ग्रहण नहीं करना चाहिए। परन्तु, जो तख्त इन चारों कारणों से रहित हो वही तख्त साधु ग्रहण कर सकता है।

इसका कारण यह है कि- अण्डे आदि से युक्त तख्त ग्रहण करने से जीवों की हिंसा होगी, अतः संयम की विराधना होगी। और भारी तख्त उठाकर लाने से शरीर को संक्लेश होगा, कभी अधिक बोझ के कारण रास्ते में पैर के इधर-उधर पड़ने से पैर आदि में चोट आ सकती है, इस तरह आत्म विराधना होगी। यदि गृहस्थ उस तख्त को वापिस नहीं लेता है तो फिर साधु के सामने यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह उसे कहां रखे। क्योंकि- उसे उठाकर तो वह विहार कर नहीं सकता और एक व्यक्ति के यहां से ली हुई वस्तु दूसरे के यहां रख भी नहीं सकता, और यदि वह उसे यों ही त्याग देता है तो उसे परित्याग करने का दोष लगता है। और शिथिल बन्धन वाला तख्त लेने से उसे पलिमंथ दोष लगेगा। क्योंकि- यदि उसकी कोई कील निकल गई या वह कहीं से टूट या तो, साधु को स्वाध्याय में व्याघात होगा। अतः साधु को इन सब दोषों से मुक्त तख्त ही ग्रहण करना चाहिए।

जो तख्त अण्डे, जाले आदि से रहित हो, वजन में हल्का हो, साधु की आवश्यकता पूरी होने पर गृहस्थ उसे वापिस लेने के लिए कह चुका हो और जिसके बंधन मजबूत हों, वही तख्त साधु-साध्वी को ग्रहण करना चाहिए।

संस्तारक ग्रहण करने के लिए किए जाने वाले अभिग्रहों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहतें हैं...

I सूत्र ॥ १४ ॥ ॥ ४३४ ॥

इचेयाइं आयतणाइं उवाइयकम्म-अह भियस्सु जाणिज्जा- इमाइं चउहिं पडिमाहिं

संधारणं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा ।

भियखू वा, उद्दिसिय, संधारणं जाइज्जा, तं जहा-इयकडं वा कठिणं वा जंतुयं वा, परणं वा मोरणं वा तणणं वा सोरणं वा कुसं वा कुच्चणं वा पिप्पलणं वा पलालणं वा, से पुव्वामेव ओलोइज्जा- आउसो ! ति वा भ० दाहिसि मे इत्तो अण्णयरं संधारणं ? तह० संधारणं सयं वा णं जाइज्जा परो वा देज्जा, फासुयं एसणित्तं जाव पडि० पढमा पडिमा ॥ १ ॥ ॥ ४३४ ॥

II संस्कृत-छाया :

इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य-अथ भिक्षुः जानीयात् आभिः चतसृभिः प्रतिमाभिः संस्तारकं एषयितुं, तत्र खलु इयं प्रथमा प्रतिमा । भिक्षुः वा, उद्दिश्य, संस्तारकं याचेत्, तद्यथा- इयकडं वा कठिनं वा जन्तुकं वा परकं वा मोरकं वा तृणकं वा सौरकं वा, कुशं वा कूर्चकं वा पिप्पलकं वा पलालकं वा सः पूर्वमेव आलोकयेत्-हे आयुष्मन् ! वा भ० दास्यसि मह्यं इतः अन्यतरत् संस्तारकं ? तथा० संस्तारकं स्वयं वा याचेत् परः वा दद्यात्, प्रासुकं एषणीयं यावत् प्रतिगृहीयात्, प्रथमा प्रतिमा ॥ १ ॥ ॥ ४३४ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी को वसती और संस्तारक सम्बन्धि दोषों को छोड़कर इन चार प्रतिज्ञाओं से संस्तारक की गवेषणा करनी चाहिए इन चार प्रतिज्ञाओं में से पहली प्रतिज्ञा यह है- साधु तृण आदि का नाम ले लेकर याचना करे। जैसे-इयकड-तृण विशेष, कठिन बांस से उत्पन्न हुआ तृण विशेष, तृण विशेष, तृण विशेषोत्पन्न, पुष्पादि के गुन्धन से निष्पन्न, मयूर पिच्छ से निष्पन्न-संस्तारक, दूब, कुशादि से निर्मित संस्तारक पिप्पल और शाली आदि के पलाल आदि को देखकर साधु कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा भगिनि ! बहन ! क्या तुम मुझे इन संस्तारकों में से किसी एक संस्तारक को देओगी ? इस प्रकार के प्रासुक और निर्दोष संस्तारक की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ ही बिना याचना किए दे तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। यह प्रथम अभिग्रह की विधि है।

IV टीका-अनुवाद :

इत्यादि पूर्व कहे गये आयतन याने उपाश्रय दोष रहित होने पर या आगे कहे जानेवाले दोषों का निवारण करके वसति और संस्तारक का ग्रहण करें... वह भाव-साधु विशिष्ट कि-सूत्रोक्त अभिग्रह स्वरूप चार प्रतिमाओं के माध्यम से संस्तारक की अन्वेषणा (शोध) करें... वे इस प्रकार-१. उद्दिष्टा, २. प्रेक्षया, ३. तस्य एव, ४. यथासंस्तृता...

१. उद्दिष्टा- फलहक याने पाट-पाटले में से कोई एक ग्रहण करुंगा... अन्य नहि ॥ १ ॥
२. प्रेक्ष्या- पूर्व जो उद्दिष्ट कीया था उसको हि देखुंगा और बाद में ग्रहण करुंगा... अन्य नहि... यह दुसरी प्रतिमा... ॥ २ ॥
३. तस्यैव- और वह पाट-पाटले भी यदि शय्यातर के घर में हो, तो हि ग्रहण करुंगा, किंतु यदि अन्य जगह से लाकर दे, तो वहां शयन (संधारा) नहिं करुंगा... ॥ ३ ॥
४. यथासंस्तृता- और वे फलहकादि याने पाट-पाटले यथासंस्तृत हि हो, तो ग्रहण करुंगा, अन्यथा नहि... यह चौथी प्रतिमा ॥ ४ ॥

इन चार प्रतिमा में से पहली दो प्रतिमाओं का ग्रहण जिनकल्पिक साधु नहि करते, किंतु अंतिम दो प्रतिमाओं में से कोई भी एक प्रतिमा का अभिग्रह करते हैं... तथा स्थविर कल्पवाले साधुओं को चारों प्रतिमा का अभिग्रह ग्रहण करना कल्पता है... इन चारों प्रतिमा का स्वरूप यथाक्रम से सूत्र के द्वारा कहते हैं... जैसे कि- इयकड आदि में से कोई भी एक प्रकार से संस्तारक ग्रहण करुंगा... इस प्रकार जिस मुनी को अभिग्रह हो, वह मुनी अन्य प्रकार के संस्तारक प्राप्त हो, तो भी ग्रहण न करें... इत्यादि शेष सुगम है... किंतु- कठिन याने वंश, कट आदि... जंतुक याने तृण विशेष से तैयार होनावाला परक याने जिस तृण विशेष से होनेवाले पुष्प... मोरक याने मोर के पिंछे से बना हुआ, कूर्चक याने जिसके कूर्चक बनाये जाय वह... यह इस प्रकार के संस्तारक अनूपदेश में आर्द्रादि भूमी को अंतरित (ढांकने के लिये) करने के लिये साधु को अनुज्ञा दी गई है... अर्थात् ग्रहण करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में निर्दोष संस्तारक की गवेषणा के लिए उद्दिष्ट, प्रेक्ष्य, तस्यैव और यथासंस्तृत चार प्रकार के अभिग्रह का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में सूत्रकार को संस्तारक से तृण, घास-फूस आदि बिछौना ही अभिप्रेत है। अतः यदि साधु-साध्वी को बिछाने के लिए तृण आदि की आवश्यकता पड़े तो, उन्हें ग्रहण करने के लिए वह साधु या साध्वी जिस प्रकार का तृण या घास ग्रहण करना हो उसका नाम लेकर उसकी गवेषणा करे। अर्थात् तृण आदि की याचना के लिए जाने से पूर्व यह उद्देश्य बना ले कि मुझे अमुक प्रकार के तृण का संस्तारक ग्रहण करना है। जैसे- इयकड आदि के तृण, जिनका नाम मूलार्थ में दिया गया है। इस तरह उस समय एवं आज भी साधु-साध्वी विभिन्न तरह के तृण एवं घास फूस के बिछौने का प्रयोग करते हैं। अतः संस्तारक संबन्धी पहली प्रतिमा (अभिग्रह) है कि साधु यह निश्चय करके गवेषणा करे कि मुझे संस्तारक के लिए अमुक तरह का तृण ग्रहण करना है। इस तरह साधु किसी भी एक प्रकार के तृण का नाम निश्चित करके उसकी याचना करता

हैं और यदि कोई गृहस्थ उसे उस तरह के तृण का आमंत्रण करे तब भी वह उसे ग्रहण कर सकता है। यह प्रथम प्रतिमा हुई।

अब दूसरी एवं तीसरी प्रतिमा का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १५ ॥ ॥ ४३५ ॥

अहावरा दुच्चा पडिमा- से भियख् वा० पेहाए संधारगं जाइज्जा, तं जहा-गाहावइं वा कम्मकरिं वा से पुच्चामेव आलोइज्जा- आउ० ! भइ० ! दाहिसि मे ? जाव पडिगाहिज्जा, दुच्चा पडिमा ॥ २ ॥

अहावरा तच्चा पडिमा- से भियख् वा० जस्सुवस्सए संवसिज्जा, जे तत्थ अहासमण्णागए, तं जहा-इयकडेइ वा जाव पलालेइ वा, तस्स लाभे संवसिज्जा, तस्साऽलाभे उयकुडुए वा नेसज्जिए वा विहरिज्जा, तच्चा पडिमा ॥ ३ ॥

II संस्कृत-छाया :

अथाऽपरा द्वितीया प्रतिमा - सः भिक्षुः वा० प्रेक्ष्य संस्तारकं याचेत्, तद्यथा-गृहपतिं वा कर्मकरिं वा सः पूर्वमेव आलोकयेत्- हे आयुष्मन् ! हे भगिनि ! दास्यसि मह्यं ? यावत् प्रतिगृहीयात्, द्वितीया प्रतिमा ॥ २ ॥

अथाऽपरा तृतीया प्रतिमा- सः भिक्षुः वा० यस्य उपाश्रये संवसेत्, ये तत्र अथ समन्वागताः तद्यथा- इयकडः वा यावत् पलालः वा तस्य लाभे सति संवसेत्, तस्य अलाभे सति उत्कटुकः वा नैषधिकः वा विहरेत्, तृतीया प्रतिमा ॥ ३ ॥

III सूत्रार्थ :

द्वितीया प्रतिमा यह है कि साधु या साध्वी गृहपति आदि के परिवार में रखे हुए संस्तारक को देखकर उस की याचना करे- यथा हे आयुष्मन् ! गृहस्थ ! अथवा बहन ! क्या तुम मुझे इन संस्तारकों में से अमुक संस्तारक देओ ? तब यदि निर्दोष और प्रासुक संस्तारक मिले तो उसे लेकर वे संयम साधना में संलग्न रहे।

तृतीया प्रतिमा यह है कि- साधु जिस उपाश्रय में रहना चाहता है यदि उसी उपाश्रय में संस्तारक विद्यमान हो तो गृहस्वामी की आज्ञा लेकर संस्तारक को स्वीकार करके विचरे, यदि उपाश्रय में संस्तारक विद्यमान नहीं है तो वह उत्कटुक आसन, पद्मासन आदि आसनों के द्वारा रात्रि व्यतीत करे।

IV टीका-अनुवाद :

यहां पर भी पूर्ववत् सब कुछ जानीयेगा... किंतु यदि वह इयकडादि संस्तारक को देखकर हि याचना करे, बिना देखे याचना न करें... इसी हि प्रकार तीसरी प्रतिमा को भी जानीयेगा... किंतु यहां इतना विशेष है कि- गच्छान्तर्गत याने स्थविर कल्पिक साधु और गच्छनिर्गत याने जिनकल्पिक साधु यदि वसति दाता याने मकान मालिक हि संस्तारक दे, तो उसे ग्रहण करें, यदि ऐसा न हो तो वे साधु उत्कटुक आसन में रहें, या, निषण्ण याने पद्मासनादि के द्वारा हि पूरी रात बैठे रहें... इत्यादि ॥ ४३५ ॥

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- गृहस्थ के घर में जो तृण आदि रखे हुए हैं, उन्हें देखकर साधु उसकी याचना करे और यदि वह प्रासुक एवं निर्दोष हों तो वह उन्हें ग्रहण करे। यह दूसरी प्रेक्ष्य प्रतिमा है। तीसरी प्रतिमा को स्वीकार करने वाला मुनि जिस उपाश्रय में ठहरना चाहता है उसी उपाश्रय में स्थित प्रासुक एवं निर्दोष तृण ही ग्रहण कर सकता है। यदि उपाश्रय में तृण आदि नहीं हैं तो वह उत्कटुक या पद्मासन आदि आसनों से ध्यानस्थ होकर रात व्यतीत करे, परन्तु अन्य स्थान से लाकर तृण आदि न बिछाए। ये दोनों आसन कायोत्सर्ग से ही सम्बद्ध हैं। अतः इनका उल्लेख कायोत्सर्ग के लिए किया गया है। क्योंकि, कायोत्सर्ग का प्रमुख साधन आसन ही होता है। अतः प्रस्तुत उभय आसनों का उल्लेख करने का उद्देश्य यही है कि यदि तृतीय प्रतिमाधारी मुनि को उपाश्रय में संस्तारक प्राप्त न हो तो वह अपना समय ध्यान एवं चिन्तन-मनन में व्यतीत करे।

अब चतुर्थ प्रतिमा का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे के सूत्र से कहेंगे।

I सूत्र ॥ १६ ॥ ॥ ४३६ ॥

अहावरा चउत्था पडिमा- से भिक्खू वा अहासंथडमेव संथारणं जाइज्जा, तं जहा-पुढवि- सिलं वा कट्टसिलं वा अहासंथडमेव, तस्स लाभे संते संवसिज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुए वा, विहरिज्जा, चउत्था पडिमा ॥ ४ ॥

II संस्कृत-छाया :

अथाऽपरा चतुर्थी प्रतिमा- सः भिक्षुः वा० यथासंस्तृतं एव संस्तारकं याचेत्, तद्यथा पृथिवीशिलां वा काष्ठशिलां वा यथासंस्तृतामेव, तस्य लाभे सति संवसेत्, तस्य अलाभे उत्कटुकः वा, विहरेत्, चतुर्थी प्रतिमा ॥ ४ ॥

III सूत्रार्थ :

चतुर्थी प्रतिमा में यह अभिग्रह होता है कि- उपाश्रय में संस्तारक पहले से ही बिछा हुआ हो, या पत्थर की शिला या काष्ठ का तख्त बिछा हुआ हो तो वह उस पर शयन कर सकता है। यदि वहां कोई भी संस्तारक बिछा हुआ न मिले तो पूर्व कथित आसनों के द्वारा रात्रि व्यतीत करे यह चौथी प्रतिमा है।

IV टीका-अनुवाद :

यह भी सुगम हि है, किंतु इस चौथी प्रतिमा में यह विशेष है कि- यदि शिला आदि संस्तारक यथासंस्तृत हि शयन योग्य प्राप्त हो तो ग्रहण करके शयन करे, अन्यथा याने यदि ऐसा संस्तारक प्राप्त न हो तो शयन न करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में चतुर्थी प्रतिमा के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि- उक्त प्रतिमा को स्वीकार करने वाला मुनि जिस उपाश्रय में ठहरे उस उपाश्रय में प्रासुक एवं निर्दोष तृण आदि पहले से बिछे हुए हों या पत्थर की शिला या लड़की का तख्त बिछा हुआ हो तो वह उस पर शयन कर सकता है, अन्यथा तृतीय प्रतिमा में उल्लिखित आसनों के द्वारा रात्रि को आध्यात्मिक चिन्तन करते हुए व्यतीत करता है, परन्तु स्वयं संस्तारक बिछाकर शयन नहीं कर सकता है।

इससे स्पष्ट होता है कि- अक्षितम की दोनों प्रतिमाएं ध्यान एवं स्वाध्याय आदि की दृष्टि से रखी गई है। वृत्तिकार का भी यही मन्तव्य है। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'कदठसिल' पद का तात्पर्य काष्ठ के तख्त से ही है।

संस्तारक सम्बन्धी प्रतिमाओं के विषय का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

I सूत्र ॥ १७ ॥ ॥ ४३७ ॥

इच्छेइयाणं चउण्हं पडिमाणं अण्णयरं पडिमं पडिवज्जमाणे तं चेव जाव
अण्णोऽण्णसमाहीए, एवं च णं विहरन्ति ॥ ४३७ ॥

II संस्कृत-छाया :

इति एतासां चतसृणां प्रतिमानां अन्यतरां प्रतिमां प्रतिपद्यमानः तं च एव यावत्
अन्योऽन्य-समाधिना, एवं च विहरन्ति ॥ ४३७ ॥

III सूत्रार्थ :

इन चार प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा को धारण करके विचरने वाला साधु, अन्य प्रतिमाधारी साधुओं की अवहेलना निन्दान करे। किन्तु, सब साधु जिनेन्द्र देव की आज्ञा में विचरते हैं ऐसा समझ कर परस्पर समाधिपूर्वक विचरण करे।

IV टीका-अनुवाद :

इन चार प्रतिमाओं में से अन्यतर कोई भी एक प्रतिमा का अभिग्रह करनेवाला साधु, अन्य प्रतिमा का अभिग्रह करनेवाले साधु की अवगणना-निन्दा न करे, क्योंकि- वे सभी साधुजन जिनाज्ञा का आश्रय लेकर ही समाधि से रहते हैं...

अब प्रातिहारिक संस्तारक प्रत्यर्पण की विधि कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र-में बताया गया है कि- भगवान की आज्ञा के अनुरूप आचरण करनेवाले सभी साधु समाधियुक्त एवं मोक्ष मार्ग के आराधक होने से वन्दनीय एवं पूजनीय हैं। अतः उक्त चारों प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा को धारण करनेवाले मुनि को अन्य प्रतिमा धारण करनेवाले मुनियों को अपने से तुच्छ समझकर गर्व नहीं करना चाहिए। क्योंकि- चारित्र-संयम चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुरूप ही ग्रहण किया जाता है। अतः प्रत्येक चारित्रनिष्ठ मुनि का सम्मान करना चाहिए और अपने अहंकार का त्याग करके सबके साथ प्रेम-स्नेह रखना चाहिए।

इसे और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १८ ॥ ॥ ४३८ ॥

से भियखू वा० अभिकंस्त्रिज्जा संथारगं पच्चप्पिणित्तए, से जं पुण संथारगं जाणिज्जा, सअंडं जाव ससंताणयं, तहप्प० संथारगं नो पच्चप्पिणिज्जा ॥ ४३८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा अभिकाङ्क्षेत संस्तारकं प्रत्यर्पयितुं, सः यत् पुनः संस्तारकं जानीयात् स-अण्डं यावत् ससन्तानकं, तथाप्रकारं संस्तारकं न प्रत्यर्पयेत् ॥ ४३८ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी यदि प्रतिहारिक संस्तारक, गृहस्थ को वापिस देना चाहे तो वह

संस्तारक अण्डों यावत् मकड़ी के जाले आदि से युक्त नहीं होना चाहिए। यदि वह इन से युक्त है तो वह उसे गृहस्थ को वापिस न करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु यदि प्रातिहारिक संस्तारक का प्रत्यर्पण करना चाहे, तब यह देखे कि- वह संस्तारक गृहकोकिल याने गिरोली के अंडेवाला तो नहि है न ? हां ! यदि ऐसा हो तब वह पडिलेहण के योग्य न होने से उसका प्रत्यर्पण नहि करना चाहिये...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को अपनी निश्चामें स्थित प्रत्येक वस्तु की प्रतिलेखना करते रहना चाहिए। चाहे वह वस्तु गृहस्थ को वापिस लौटाने की भी क्यों न हो, फिर भी जब तक साधु के पास है, तब तक प्रतिदिन नियत समय पर उसका प्रतिलेखन करना चाहिए। जिससे उस में जीव-जन्तु की उत्पत्ति न हो। और उसे वापिस लौटाने समय भी प्रतिलेखन करके लौटानी चाहिए। यदि कभी संस्तारक पर किसी पक्षी ने अंडे दे दिए हों या मकड़ी ने जाले बना लिए हों तो वह संस्तारक गृहस्थ को वापिस नहीं देना चाहिए। क्योंकि, गृहस्थ उसे शुद्ध बनाने का प्रयत्न करेगा और परिणामस्वरूप उन जीवों की घात हो जाएगी। इस तरह साधु के प्रथम महाव्रत में दोष लगेगा, अतः उन जीवों की रक्षा के लिए ऐसे संस्तारक को वापिस नहीं लौटाना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहतें हैं...

I सूत्र ॥ १९ ॥ ॥ ४३९ ॥

से भिक्षू० अभिकंखिज्जा संधारणं० से जं० अप्पंडं० तहप्पगारं० संधारणं पडिलेहिय, पमज्जिय, आयाविय, विहुणिय, तओ संजयामेव पच्चप्पिणिज्जा ॥ ४२९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः० अभिकाङ्क्षेत संस्तारकं० सः यत्० अल्पाण्डं वा० तथाप्रकारं० संस्तारकं प्रत्युपेक्ष्य, प्रमृज्य, आतापयित्वा, विधूय, ततः संयतः एव प्रत्यर्पयित् ॥ ४३९ ॥

III सूत्रार्थ :

अण्डे एवं मकड़ी के जाले आदि से रहित जिस संस्तारक को साधु-साध्वी वापिस लौटाना चाहे, तो वह उसका प्रतिलेखन करके, रजोहरण से प्रमार्जित करके, सूर्य की धूप

में सुखा कर एवं यत्ना पूर्वक देख कर फिर गृहस्थ को लौटावे।

IV टीका-अनुवाद :

इस सूत्र का भावार्थ सुगम हि है... अब वसति में रहनेवालों की विधि कहते हैं...

V सूत्रसार :

इस सूत्र में बताया गया है कि- साधु को गृहस्थ के घर से लाए हुए संस्तारक को वापिस लौटाने समय उसकी शुद्धता का पूरा ख्याल रखना चाहिए। प्रतिदिन उसकी प्रतिलेखना करनी चाहिए जिससे उस पर जीव-जन्तु पैदा न हों, और वापिस लौटाने समय भी उसे अच्छी तरह से देख लेना चाहिए और रजोहरण से प्रमार्जन कर लेना चाहिए जिससे उस पर कूड़ा-ककट भी न जमा रहे। इतना ही नहीं, फिर उसे सूर्य की धूप में रखकर और भली-भांति झाड़-पोंछकर लौटाना चाहिए। इससे साधु जीवन की व्यवहारिकता पर विशेष प्रकाश डाला गया है। यदि वह उस संस्तारक को बिना साफ किए ही दे आएगा, तो गृहस्थ उसे साफ करके रखेगा और यह भी स्पष्ट है कि- वह सफाई करते समय साधु जितना विवेक नहीं रख सकेगा, अतः साधु को ऐसी स्थिति ही नहीं आने देनी चाहिए कि- उसके द्वारा उपभोग किए गए संस्तारक को साफ करने के लिए कोई गृहस्थ अयत्नापूर्वक प्रयत्न करे। दूसरे में साफ की हुई वस्तु को देखकर गृहस्थ के मन में फिर से किसी साधु को देने की भावना सहज ही जागृत होगी और अस्वच्छ रूप में प्राप्त करके उसके मन में कुछ रोष भी आ सकता है। अतः गृहस्थ के यहां से लाए हुए संस्तारक आदि को यत्नापूर्वक साफ करके ही लौटाना चाहिए।

साधु को बस्ती में किस तरह निवास करना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २० ॥ ॥ ४४० ॥

से भियखू वा० समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे वा पुव्वामेव पण्णस्स उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहिज्जा, केवली बूया- आयाण- मेयं, अपडिलेहियाए उच्चारपासवणभूमिं... से भियखू वा० राओ वा वियाले वा उच्चारपासवणं परिद्वेमाणे पयलिज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा, हत्थं वा पायं वा जाव लूसेज्ज वा, पाणाणि वा, ववरोविज्जा, अह भियखूणं पुट्ठो जं पुट्ठामेव पण्णस्स उच्चार० भूमिं पडिलेहिज्जा ॥ ४४० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा सन् वा वसन् वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् वा पूर्वमेव प्रज्ञस्य उच्चारप्रस्त्रवणभूमिं प्रत्युपेक्षेत, केवली ब्रूयात्-आदानमेतत्, अप्रतिलेखितायां उच्चारप्रस्त्रवणभूमौ, सः भिक्षुः वा० रात्रौ वा विकाले वा उच्चारप्रस्त्रवणं त्यजन् प्रचलेत् वा प्रपतेत् वा, सः तत्र प्रचलन् वा प्रपतन् वा हस्तौ वा पादौ वा यावत् लूषयेत्, प्राणिनः वा, व्यपरोपयेत्, अथ भिक्षुणां पूर्वोपदिष्टं० यत् पूर्वमेव प्रज्ञस्य उच्चार० भूमिं प्रतिलेखयेत् ॥ प्रत्युपेक्षेत ॥ ४४० ॥

III सूत्रार्थ :

जो साधु या साध्वी जंघादि बल से क्षीण होने के कारण एक स्थान में स्थित हो, या उपाश्रय में मास कल्पादि से रहता हो या ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ उपाश्रय में आकर रहे तो उस बुद्धिमान साधु को चाहिए कि- वह जिस स्थान में ठहरे, वहां पर पहले मल-मूत्र का त्याग करने की भूमि को अच्छी तरह से देख ले। क्योंकि- भगवान् ने बिना देखी भूमि को कर्म बन्धन का कारण कहा है। बिना देखी हुई भूमि में कोई भी साधु या साध्वी रात्रि में अथवा विकाल में मल-मूत्रादि को परठता हुआ यदि कभी पैर फिसलने से गिर पड़े तो उसके फिसलने या गिरने से उसके हाथ पैर या शरीर के किसी अवयव को आघात पहुंचेगा या उसके गिरने से वहां स्थित अन्य किसी क्षुद्र जीव का विनाश हो जाएगा। यह सब कुछ संभव है, इसलिए तीर्थकरादि आप्त पुरुषों ने पहले ही भिक्षुओं को यह आदेश दिया है कि- साधु को उपाश्रय में निवास करने से पहले वहां मल-मूत्र त्यागने की भूमि की अवश्य ही प्रतिलेखना कर लेनी चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

सुगम है, किंतु साधुओं की यह सामाचारी (आचार-मर्यादा) है कि- विकाल याने संध्या समय प्रस्त्रवण याने लघुनीति-मात्रा की भूमि का पडिलेहण करें...

अब संस्तारक-भूमि के विषय में कहते हैं...

V सूत्रसार :

इस सूत्र में साधु को यह आदेश दिया गया है कि- जिस मकान में स्थानापति करना चाहे या मास एवं वर्षावास कल्प के लिए ठहरे या विहार करते हुए कुछ समय के लिए ठहरे, तो उसे उस मकान में मल-मूत्र त्याग करने की भूमि अवश्य देख लेनी चाहिए। क्योंकि, यदि वह दिन में उक्त भूमि की प्रतिलेखना नहीं करेगा तो सम्भव है कि रात्रि के समय भूमि की

विषमता आदि का ज्ञान न होने से उसका पैर फिसल जाए और परिणाम स्वरूप उसके हाथ-पैर में चोट आ जाए और उसके शरीर के नीचे दब कर छोटे-मोटे जीव-जन्तु भी मर जाएं। इस लिए भगवान ने सबसे पहले मल-मूत्र का त्याग करने की भूमि का प्रतिलेखन करना जरूरी बताया है और बिना देखी भूमि में मल-मूत्र का त्याग करने की प्रवृत्ति को कर्म बन्ध का कारण बताया है।

अब संस्तारक भूमि का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २९ ॥ ॥ ४४९ ॥

से भिवस्त्र् वा, अभिकंस्त्रिज्जा सिज्जासंधारगभूमिं पडिलेहित्प, नण्णत्थ आयरिण्ण वा उवज्झाण्ण वा जाव गणावच्छेण्ण वा बालेण वा वुड्ढेण वा सेहेण वा गिलाणेण वा आप्सेण वा अंतेण वा मज्झेण वा समेण वा विसमेण वा पवाएण वा निवाएण वा, तओ संजयामेव पडिलेहिय, पमज्जिय, तओ संजयामेव बहुफासुअं सिज्जासंधारगं संधरिज्जा ॥ ४४९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, अभिकाङ्क्षेत शय्यासंस्तारकभूमिं प्रत्युपेक्षयितुं, नाऽन्यत्र आचार्येण वा उपाध्यायेन वा यावत् गणावच्छेदकेन वा, बालेन वा वृद्धेन वा शैक्षेण वा ग्लानेन वा आदेशेन वा अन्तेन वा मध्येन वा समेन वा विषमेन वा ततः संयतः एव प्रत्युपेक्ष्य, प्रमज्ज्य, ततः संयतः एव बहुप्रासुकं शय्या-संस्तारकं संस्तरेत् ॥ ४४९ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी यदि शय्या संस्तारक भूमि की प्रतिलेखना करनी चाहे तो आचार्य, उपाध्याय यावत् गणावच्छेदक, बाल, वृद्ध, नव दीक्षित, रोगी और महेमान रूप से आए साधु के द्वारा स्वीकार की हुई भूमि छोड़कर उपाश्रय के अन्दर, मध्यस्थान में या सम और विषम स्थान में या वायु युक्त और वायु रहित स्थान में भूमि की प्रतिलेखना, और प्रमार्जना करके तदनन्तर अत्यन्त प्रासुक शय्या-संस्तारक को बिछाए।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु, आचार्य, उपाध्याय आदि ने स्वीकृत की हो, उससे अतिरिक्त = अन्य भूमि को अपने संधारे के लिये प्रडिलेहण करे... शेष सुगम है, किंतु आदेश याने प्राधूर्णक (महेमान) मुनी, तथा अंतेन वा इत्यादि पदों में जो तृतीया विभक्ति है, वह सप्तमी के अर्थ में जानीये

अब शयन-विधि के विषय में कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में शयन करने की विधि का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि- साधु को आसन बिछाते समय यह देखना चाहिए कि आचार्य, उपाध्याय आदि ने कहां आसन लगाया है। उन्होंने जिस स्थान पर आसन किया हो उस स्थान को छोड़कर शेष अवशिष्ट भाग में सम-विषम, हवादार या बिना हवा वाली जैसी भूमि हो उसका प्रतिलेखन करके वहां पर आसन करें। इसका तात्पर्य यह है कि वह आचार्य आदि की सुविधा का ध्यान अवश्य रखे। इसके लिए वह विषम एवं बिना हवादार भूमि पर आसन अवश्य करें, परन्तु, उसके लिए किसी के स्थान का परिवर्तन न करे और न परिवर्तन करने के लिए संघर्ष करे। इससे साधु समाज के पारस्परिक प्रेम-स्नेह का भाव अभिव्यक्त होता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'सिज्जा संधारण' का अर्थ है शय्या या आसन करने का उपकरण।

साधु को संस्तारक पर कैसे बैठना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २२ ॥ ॥ ४४२ ॥

से भियखू वा० बहु संधरिता अभिकंखिज्जा बहुफासुए सिज्जासंधारए दुरुहितए ॥ से भियखू० बहु० दुरुहमाणे पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिय, तओ संजयामेव बहु० दुरुहिता, तओ संजयामेव बहु० सइज्जा ॥ ४४२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० बहु संस्तीर्य अभिकाङ्क्षेत बहु प्रासुके शय्या-संस्तारके आरोहुं, सः भिक्षुः० बहु० आरोहन् पूर्वमेव सशीर्षोपरिकं कायं पादौ च प्रमृज्य, ततः संयतः एव बहु० आरुह्य, ततः संयतः एव बहु शयीत ॥ ४४२ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी प्रासुक शय्यासंस्तारक पर जब बैठकर शयन करना चाहे तब पहले सिर से लेकर पैरों तक शरीर को प्रमार्जित करके फिर यतना पूर्वक उस पर शयन करे।

IV टीका-अनुवाद :

इस सूत्र का भावार्थ सुगम है...

अब सोने (शयन) की विधि के विषय में कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु संस्तारक को यत्ना पूर्वक बिछाने के बाद उस पर शयन करने से पहले शरीर का सिर से लेकर पैरों तक प्रमार्जन कर ले। क्योंकि, यदि शरीर पर कोई क्षुद्र जन्तु चढ़ गया हो या बैठ गया हो तो उसकी हिंसा न हो जाए और शरीर पर लगी हुई धूल से वस्त्र भी मैले न हों। संयम की साधना को शुद्ध बनाए रखने के लिए साधु को शरीर का प्रमार्जन करके ही शयन करना चाहिए।

शयन किस तरह करना चाहिए, उसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २३ ॥ ॥ ४४३ ॥

से भिक्षु वा० बहु० सयमाणे नो अण्णमण्णस्स हत्थेण हत्थं पाएण पायं
काएण कायं आसाइज्जा, से अणासायमाणे तओ संजयामेव बहु० सइज्जा।

से भिक्षु वा अण्णमण्णस्स वा क्खिण्णमण्णस्स वा काण्णमण्णस्स वा छीयमाणे वा
जंभायमाणे वा उड्डोए वा, वायनिसग्गं वा करेमाणे पुट्वामेव आसयं वा पोसयं वा
पाणिणा परिपेहिता तओ संजयामेव ऊससिज्जा वा जाव वायनिसग्गं वा
करेज्जा ॥ ४४३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० बहु० शयानः न अन्योऽन्यस्य हस्तेन हस्तं पादेन पादं कायेन
कायं आसादयेत्, सः अनासादयन् ततः संयतः एव बहु० शयीत।

सः भिक्षुः वा उच्छ्वसन् वा निःश्वसन् वा कासन् वा जृम्भमाणः वा वातनिसर्गं
वा कुर्वाणः पूर्वमेव आसयं वा अधिष्ठानं वा पाणिना परिप्रेक्ष्य ततः संयतः एव उच्छ्वसेत्
वा यावत् वातनिसर्गं वा कुर्यात् ॥ ४४३ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी शयन करते हुए परस्पर-एक दूसरे को अपने हाथ से दूसरे के हाथ की, पैर से दूसरे के पैर की आशातना न करे। अर्थात् इनका एक दूसरे से स्पर्श न हो। अर्थात् आशातना न करते हुए ही शयन करे।

इसके अतिरिक्त साधु या साध्वी उच्छ्वास अथवा निश्वास लेता हुआ, खांसता हुआ, छींकता हुआ, उबासी लेता हुआ अथवा अपान वायु को छोड़ता हुआ पहले ही मुख या गुदा को हाथ से ढाँककर उच्छ्वास ले या अपान वायु का परित्याग करे।

IV टीका-अनुवाद :

सुगम है, किंतु यहां यह सारांश है कि- शयन के समय एक हाथ के अंतर पे हि संधारा करें... तथा सोने के बाद निःश्वासादि विधि पूर्वक हि करें... तथा-आस्य याने मुख, पोसयं याने अधिष्ठान-गुदा...

अब सामान्य से शय्या के विषय में कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को शयन करते समय अपने हाथ-पैर से एक-दूसरे साधु की अशातना नहीं करनी चाहिए। अपने शरीर एवं हाथ-पैर का दूसरे के शरीर आदि से स्पर्श नहीं करना चाहिए। क्योंकि, ऐसी प्रवृत्ति से शारीरिक कुवेष्टा एवं अविनय प्रकट होता है, और मनोवृत्ति की चञ्चलता एवं मोहनीय कर्म की उद्दीरणा के कारण मोहनीय कर्म का उदय भी हो सकता है। अतः साधु को शयन करते समय किसी भी साधु के शरीर को हाथ एवं पैर आदि से स्पर्श नहीं करना चाहिए।

यदि साधु को श्वासोच्छ्वास, छींक आदि के आने पर जो मुंह पर हाथ रखने का कहा गया है, उसका अभिप्राय इतना ही है कि- उससे वायुकायिक जीवों की हिंसा न हो। प्रस्तुत प्रसंग में इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि यह वर्णन सामान्य रूप से चलने वाले श्वासोच्छ्वास के लिए नहीं, अपितु विशेष प्रकार के श्वासोच्छ्वास के लिए है। आगम में लिखा है कि फूंक आदि मारने से वायुकाय की हिंसा होती है, इसलिए साधु को इस तरह से यत्ना करने का आदेश दिया गया है।

कुछ लोगों का कहना है कि- भाषा के-पुद्गल चार स्पर्श वाले होते हैं अतः वे आठ स्पर्श वाले वायुकाय की हिंसा कैसे कर सकते हैं ? इसका समाधान यह है कि भाषा-वर्गणा के पुद्गल उत्पन्न होते समय चार स्पर्श वाले होते हैं, परन्तु भाषा के रूप में व्यक्त होते समय आठ स्पर्श वाले हो जाते हैं। इसी कारण शरीर से उत्पन्न होने वाली अचित वायुकाय को आठ स्पर्श युक्त माना गया है और वह ५ प्रकार की मानी गई है। अतः मुंह से निकलने वाली वायु से वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है।

यहां एक प्रश्न पैदा हो सकता है कि- जब साधु-साध्वी मुख पर मुखवस्त्रिका लगाते हैं, तब फिर श्वासोच्छ्वास से होने वाली वायुकायिक जीवों की हिंसा को रोकने के लिए मुंह पर हाथ रखने की क्या आवश्यकता है ? हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि यहां सामान्य रूप से चलने वाले श्वासोच्छ्वास के समय मुंह पर हाथ रखने का विधान नहीं किया है। यह विधान विशेष परिस्थिति के लिए है- जैसे उबासी, डकार एवं छींक आदि के समय जोर से निकलने वाली वायु का वेग मुखवस्त्रिका से नहीं रुक सकता है, ऐसे समय पर मुंह पर हाथ रखने का आदेश दिया गया है और मुख के साथ नाक का भी ग्रहण किया गया है। जैसे मुख से निकलने वाली वायु के वेग को रोकने के लिए मुख पर हाथ रखने को कहा है, उसी तरह अपान वायु के वेग को रोकने के लिए गुदा स्थान पर भी हाथ रखने का आदेश दिया है। आगम में चोलटटक एवं मुखवस्त्रिका दोनों का विधान मिलता है। अतः इन प्रसंगों पर उक्त स्थानों पर हाथ रखने का उद्देश्य केवल वायुकायिक जीवों की रक्षा करना ही है।

अब सामान्य रूप से शय्या का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २४ ॥ . ॥ ४४४ ॥

से भिक्खु वा० समा वेगया सिज्जा भविज्जा, विसमा वेगया सिज्जा० निवाया वेगया० ससरक्खा वे० अप्पससरक्खा वे० सदंसमसगा वे० अप्पदंसमसगा वे० सपरिसाडा वे० अपरिसाडा वेगया० सउवस्सग्गा वेगया० निरुवसग्गा वेगया० तहप्पगाराहिं सिज्जाहिं संविज्जमाणाहिं पग्गाहियतरागां विहारं विहरिज्जा, नो किंचिदि गिलाइज्जा, एवं खलु० जं सव्वडेहिं सहिए सया जए तिबेमि ॥ ४४४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० समा वा एकदा शय्या भवेत्, विषमा वा एकदा शय्या भवेत्, प्रवाता वा एकदा० निवाता वा एकदा० सरजस्का वा एकदा० अल्पसरजस्का वा एकदा० सदंशमशका वा एकदा० अल्पदंशमशका वा एकदा० सपरिशाटा वा एकदा० अपरिशाटा वा एकदा० सोपसर्गा वा एकदा० निरुपसर्गा वा एकदा० तथाप्रकारामिः शय्याभिः संविद्यमानाभिः प्रग्रहीततरं विहारं विहरेत्, न किञ्चिदपि ग्लायत्, एवं खलु० यत् सवर्षिः सहितः सदा यतेत इति ब्रवीमि ॥ ४४४ ॥

III सूत्रार्थ :

संयम शील साधु या साध्वी को किसी समय सम या विषम शय्या मिले, हवादार या

कम हवा वाला स्थान प्राप्त हो, इसी प्रकार धूलियुक्त या धूलिरहित, अथवा डांस मच्छर युक्त या उसके बिना की शय्या मिले, इसी भांति सर्वथा गिरी हुई, जीर्ण-शीर्ण अथवा सुकृढ़ शय्या मिले या उपसर्ग युक्त उपसर्ग रहित शय्या मिले, इस सब प्रकार की शय्याओं के प्राप्त होने पर वह उनमें समभाव से निवास करे। किन्तु मानसिक दुःख एवं खेद का बिल्कुल अनुभव न करे। यही भिक्षु का सम्पूर्ण भिक्षु भाव है। कि जो सर्व प्रकार से ज्ञान दर्शन और चारित्र्य से युक्त होकर तथा सदा समाहित होकर विचरने का यत्न करे। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

सुगम है, किन्तु जब तक तथाप्रकार की वसति (उपाश्रय) विद्यमान होने पर ग्रहण की हो, और वहां कोइक सम या विषम इत्यादि प्रकार की वसति प्राप्त हुई हो तब उस वसति (उपाश्रय) में समचितवाला होकर रहें... परंतु वहां जरा भी व्यलीकादि याने निंदा-दोष प्रंगट न करें... यह हि उस साधु का साधुपना है... कि- सभी आवश्यक क्रियानुष्ठान के साथ सदा यतना करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को हर परिस्थिति में समभाव रखना चाहिए। चाहे उसे सम शय्या मिले या विषम मिले, सर्दी-गर्मी के अनुकूल स्थान मिले या प्रतिकूल मिले, डांस-मच्छर एवं धूल से युक्त स्थान मिले या इनसे रहित मिले। कहने का तात्पर्य यह है कि- अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों अवस्थाओं में उसे समभाव रखना चाहिए। अनुकूल स्थान मिलने पर उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए और प्रतिकूल मिलने पर द्वेष नहीं करना चाहिए। साधु को राग-द्वेष से ऊपर उठकर विचरना चाहिए। वस्तुतः यही साधुता है और इस पथ पर गतिशील साधक ही अपनी साधना में सफल होकर साध्य को प्राप्त कर सकता है।

'तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथमचूलिकायां द्वितीयशय्येषणाध्ययने, तीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

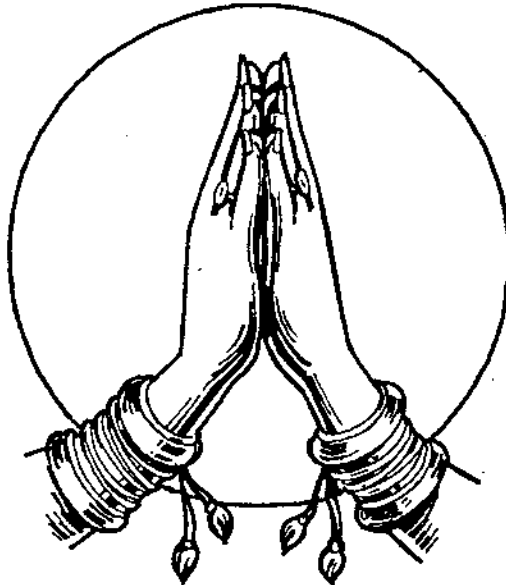
॥ समाप्तं द्वितीयं शय्येषणाध्ययनम् ॥

ॐ ॐ ॐ

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनश्रेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभवविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ॐ राजेन्द्र सं. १६. ॐ विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - ३ उद्देशक - १

卐 ईर्या 卐

द्वितीय अध्ययन कहा, अब तृतीय अध्ययन का प्रारंभ करते हैं... और यहां परस्पर यह संबंध है कि- प्रथम अध्ययन में धर्म के हनुभूत शरीर के संरक्षण के लिये आहारादि पिंड का स्वरूप कहा, तथा-उस आहारादि पिंड को प्राप्त करने के बाद इहलोक के एवं जन्मांतर के अपाय (उपद्रवों) से बचने के लिये वसति (उपाश्रय) में हि वापरना चाहिये, अतः दूसरे अध्ययन में पिंड एवं वसति की अन्वेषणा के लिये गमनागमन (आना-जाना) होता है, अतः वह गमनागमन कब किस प्रकार करें यह बात कहने के लिये इस तीसरे अध्ययन में "ईर्या" गमन-विधि कहेंगे... इस प्रकार के संबंध से आये हुए इस तीसरे अध्ययन के चार अनुयोग द्वार होते हैं, उनमें निक्षेपनियुक्ति अनुगम में नाम-निक्षेप के लिये नियुक्तिकार कहते हैं...

"ईर्या" पद के छह (६) निक्षेप होते हैं...

- | | | | |
|----|--------------|----|---------------|
| १. | नाम ईर्या | २. | स्थापना ईर्या |
| ३. | द्रव्य ईर्या | ४. | क्षेत्र ईर्या |
| ५. | काल ईर्या | ६. | भाव ईर्या... |

नाम एवं स्थापना ईर्या सुगम होने से अब द्रव्य ईर्या का स्वरूप कहते हैं...

द्रव्य-ईर्या सचित्त, अचित्त एवं मिश्र के भेद से तीन प्रकार से है... ईर्या याने गति करना चलना... उनमें सचित्त ईर्या याने सचित्त वायु, पुरुष आदि द्रव्यों का चलना-गति करना वह सचित्त द्रव्य ईर्या... इसी प्रकार परमाणु आदि पुद्गल द्रव्यों का गमन करना वह अचित्त द्रव्य ईर्या... तथा पुरुष बैठे हुए रथ का गमन वह मिश्र द्रव्य ईर्या... तथा क्षेत्र ईर्या याने जिस क्षेत्र में गमनागमन करना वह, अथवा जहां बैठकर ईर्या का स्वरूप कहा जाय वह क्षेत्र ईर्या... इसी प्रकार काल-ईर्या भी जानीयेगा... जैसे कि- जिस काल में गमनागमन कीया जाय, वह, अथवा जिस काल में "ईर्या" का स्वरूप कहा जाय वह काल-ईर्या...

अब भाव-ईर्या का स्वरूप कहते हैं... २. संयम-ईर्या... उनमें संयम-ईर्या के सत्तरह (१७) भेद है... अथवा असंख्य संयम स्थानों में से कोई एक संयम स्थान में से अन्य संयम स्थान में जाने को-संयम-ईर्या कही गई है... तथा चरण-ईर्या याने गति करना, चलना, आवागमन

करना... अब श्रमण-साधु को किस प्रकार से भाव-ईर्या निर्दोष हो वह कहते हैं...

आलंबन याने प्रवचन के लिये, संघके लिये, गच्छ के लिये, आचार्यादि के लिये...

तथा काल याने साधुओं को विहार करने योग्य समय... मार्ग-याने लोगों के आवागमन का मार्ग... यतना याने साढे तीन हाथ प्रमाण भूमि को देखते हुए यतना पूर्वक चलना...

इस प्रकार आलंबन, काल, मार्ग एवं यतना के पदों से सोलह (१६) भंग-विकल्प होते हैं...

१.	आलंबन	काल	मार्ग	यतना
२.	आलंबन	काल	मार्ग	अयतना
३.	आलंबन	काल	अमार्ग	यतना
४.	आलंबन	काल	अमार्ग	अयतना
५.	आलंबन	अकाल	मार्ग	यतना
६.	आलंबन	अकाल	मार्ग	अयतना
७.	आलंबन	अकाल	अमार्ग	यतना
८.	आलंबन	अकाल	अमार्ग	अयतना
९.	अनालंबन	काल	मार्ग	यतना
१०.	अनालंबन	काल	मार्ग	अयतना
११.	अनालंबन	काल	अमार्ग	यतना
१२.	अनालंबन	काल	अमार्ग	अयतना
१३.	अनालंबन	अकाल	मार्ग	यतना
१४.	अनालंबन	अकाल	मार्ग	अयतना
१५.	अनालंबन	अकाल	अमार्ग	यतना
१६.	अनालंबन	अकाल	अमार्ग	अयतना

इत्यादि सोलह भंग-विकल्पों में से जो भंग परिशुद्ध है वह हि प्रशस्त-शुभ कहा गया है... चार कारणों से साधु का गमन (चलना) परिशुद्ध होता है... जैसे कि- आलंबन के द्वारा दिन में मार्ग में यतना से चलना-गमनागमन करना... अथवा अकाल में भी गलनादि आलंबन से मार्ग में यतना से चलनेवाले का गमनागमन शुद्ध है... इस प्रकार से मार्ग में साधु यतना से चले...

नाम-निष्पन्न निक्षेप कहा, अब उद्देशार्थाधिकार के विषय में कहते हैं...

यहां तीसरे अध्ययन के तीनों उद्देशक में यद्यपि ईर्या-विशुद्धि का हि अर्थाधिकार है, फिर

भी प्रत्येक उद्देशक में जो कुछ विशेषता है वह अनुक्रम से कहलें हैं...

पहले उद्देशक में-वर्षाकाल के पूर्व हि विवक्षित क्षेत्र में पहुंचना और चातुर्मास ठहरना, तथा चातुर्मास पूर्ण होने के बाद शरत्कालादि में विहार (निर्गमन) की विधि और मार्ग में यतना का स्वरूप कहा जाएगा...

तथा दूसरे उद्देशक में- नदी उतरने के लिये नौका आदि में आरूढ हुए साधु को संभवित छलना-प्रक्षेपण इत्यादि कहा जाएगा... तथा जंचा प्रमाण जल में यतना की विधि एवं विभिन्न प्रकार के प्रश्न उपस्थित होने पर साधु को क्या करना चाहिये वह विस्तार से कहा जाएगा...

तथा तीसरे उद्देशक में- यदि कोई मनुष्य नदी के जल आदि के विषयक पुछे तब साधु जानता हुआ भी उसको न कहें इत्यादि अधिकार कहा जाएगा... तथा मार्ग में चोर-लुट-धाड का उपद्रव न हो वैया पहले से हि प्रतिबंध करें... कभी मार्ग में कोई लुट ले तब स्वजन या राजगृह की ओर न जाएं एवं उन्हें वह बात न कहें...

अब सूत्रानुगम में अस्खलितादि गुण सहित सूत्र का उच्चारण करें... वह सूत्र यह हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४४५ ॥

अभ्युपगए खलु वासावासे अभिपवुडे बहवे पांणा अभिसंभूया बहवे बीया अहुणाभिण्णा अंतरा से मग्गा बहुपाणा बहुबीया जाव ससंताणगा अणभियकंता पंधा नो विण्णाया मग्गा सेवं णच्चा नो गामाणुगामं दूइज्जिज्जा, तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिइज्जा ॥ ४४५ ॥

II संस्कृत-छाया :

अभ्युपगते खलु वर्षावासे अभिप्रवृष्टे बहवः प्राणिनः अभिसम्भूताः बहूनि बीजानि अभिनवाङ्कुरितानि अन्तराले तस्य मार्गाः बहुप्राणिनः बहुबीजाः यावत् ससन्तानकाः अनभिक्रान्ताः पन्थानः, न विज्ञाताः मार्गाः, सः एवं ज्ञात्वा न ग्रामानुग्रामं गच्छेत् (यायात्) ततः संयतः एव वर्षावासं उपलीयेत् ॥ ४४५ ॥

III सूत्रार्थ :

वर्षाकाल में वर्षा होजाने से मार्ग में बहुत से प्राणी-जीवजंतु उत्पन्न हो जाते हैं तथा बीज अंकुरित हो जाते हैं, पृथिवी घास आदि से हरी हो जाती है। मार्ग में बहुत से प्राणी-क्षुद्रजंतु बहुत से बीज तथा जाले आदि की उत्पत्ति हो जाती है, एवं वर्षा के कारण मार्ग अवरुद्ध हो जाने से मार्ग और उन्मार्ग का पता नहीं लगता। ऐसी परिस्थिति में साधु को एक ग्राम

से दुसरे ग्राम में विहार नहीं करना चाहिए। किन्तु वर्षाकाल के समय एक स्थान पर ही स्थित रहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि- साधु वर्षा काल पर्यन्त भ्रमण न करे किन्तु एक ही स्थान पर ठहरे।

IV टीका-अनुवाद :

चतुर्मास-वर्षाकाल निकट में आने पर मेघ बरसने से साधुओं की सामाचारी (आचार) इस प्रकार है कि- आषाढ चतुर्मास के प्रारंभ से पहले हि वर्षावास क्षेत्र में पहुंचकर तृण फलक डगलक एवं भस्म तथा मात्रक आदि ग्रहण कर लें... क्योंकि- वरसाद बरसने से बहुत सारे क्षुद्र जंतु जैसे कि- इंद्रगोपक बीयावक गर्दभक आदि उत्पन्न होते हैं तथा बहुत प्रकार के बीज भी अंकुरित होते हैं...

यहां वर्षाकाल एवं वृष्टि पद की चतुर्भंगी होती है...

१.	वर्षाकाल	प्रारंभ	वृष्टि होना
२.	वर्षाकाल	प्रारंभ	वृष्टि न होना
३.	वर्षाकाल	के पहले	वृष्टि होना
४.	वर्षाकाल	के पहले	वृष्टि न होना... इत्यादि...

यहां चौथा विकल्प निर्दोष है, अतः वर्षाकाल के प्रारंभ के पहले हि एवं वृष्टि होने के पहले से हि चातुर्मास-क्षेत्र में साधु पहुंच जाएं... तथा चतुर्मास के पहले किंतु वर्षा होने के बाद विहार करने पर बिच के मार्ग में चलते हुए साधुओं को बहुत सारे क्षुद्र (त्रस) जीव तथा बहुत प्रकार के बीज अंकुर यावत् मकड़ी के जाले आदि की विराधना हो तथा मार्ग भी लोगों के आने जाने से रहित हो... इस कारण से मार्ग तृण आदि से व्याकुल (भरे हुए) होने के कारण से साधुओं को ऐसे मार्ग में चलने की अनुमति नहि दी है... अर्थात् इस स्थिति में साधु एक गांव से अन्य गांव में न जावें... किंतु संयत हि रहकर वर्षाकाल में यथावसर प्राप्त वसति में हि तीन गुप्तियों से गुप्त-लीन रहे, अर्थात् वर्षावास- चतुर्मास कल्प करें...

अब इसका अपवाद कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधु को वर्षा काल में विहार करने का निषेध किया गया है। एक वर्ष में तीन चातुर्मास होते हैं- १. ग्रीष्म, २. वर्षा और ३. हेमन्त। इनमें वर्षाकाल में ही साधु को एक स्थान में स्थित होने का आदेश दिया गया है क्योंकि वर्षाकाल में पृथ्वी शस्य-श्यामला हो जाती है, क्षुद्र जन्तुओं की उत्पत्ति बढ़ जाती है अतः हरियाली एवं पानी की अधिकता के कारण साधु को वर्षाकाल में विहार नहीं करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि आषाढ पूर्णिमा के बाद कार्तिक पूर्णिमा तक विहार नहीं करना चाहिए। यदि कभी आषाढी पूर्णिमा से पूर्व ही वर्षा प्रारम्भ हो जाए और चारों तरफ हरियाली छा जाए तो साधु को उसी समय से एक स्थान पर स्थित हो जाना चाहिए और वर्षावास के लिए आवश्यक वस्त्र आदि ग्रहण कर लेना चाहिए। क्योंकि, वर्षावास में वस्त्र आदि ग्रहण करना नहीं कल्पता, इसलिए साधु उनका वर्षावास के पूर्व ही संग्रह कर ले।

वर्षावास का प्रारम्भ चन्द्रमास से माना जाता है। अतः वह श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है और कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को समाप्त होता है। शाकटायन ने भी आषाढ, कार्तिक एवं फाल्गुन की पूर्णिमा को चातुर्मास की पूर्णिमा स्वीकार किया है। उसने भी वर्ष में तीन चातुर्मासी को मान्य किया है।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि साधु को वर्षाकाल में विहार नहीं करना चाहिए। परन्तु, वर्षावास के लिए साधु को किन बातों का विशेष ख्याल रखना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ४४६ ॥

से भिक्खू वा० सेज्जं ग्रामं वा जाव रायहाणि वा इमंसि खलु ग्रामंसि वा जाव राय० नो महई विहारभूमी, नो महई विचारभूमी, नो सुलभे पीठफलगसिज्जासंधारणे नो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे, जत्थ बहवे समण० वणीमगा उवागया उवागमिस्संति य अच्चाइण्णा वित्ती नो पण्णस्स निक्खमणे जाव चिंताए, सेवं नच्चा तहप्पगारं ग्रामं वा नगरं वा जाव रायहाणि वा नो वासावासं उवल्लिइज्जा।

से भिक्खू० से जं० ग्रामं वा जा राय० इमंसि खलु ग्रामंसि वा जाव महई विहारभूमी, महई विचार० सुलभे जत्थ पीठ, सुलभे फा० नो जत्थ बहवे समण० उवागमिस्संति वा अच्चाइण्णा वित्ती जाव रायहाणि वा तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिइज्जा ॥ ४४६ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत्० ग्रामं वा यावत् राजधानीं वा अस्मिन् खलु ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा, न महती विहारभूमी वा न महती विचारभूमी, न सुलभः पीठफलकशय्यासंस्तारकः न सुलभः प्रासुकः उच्छः यथा-एषणीयः, यत्र बहवः श्रमण० वनीपकाः उपागताः वा उपागमिष्यन्ति वा, अत्याकीर्णं वृत्तिः, न प्रज्ञस्य निष्कमणं यावत् चिन्तायां, सः एवं ज्ञात्वा तथाप्रकारं ग्रामं वा नगरं वा यावत् राजधानीं वा, न वर्षावासं उपलीयेत्।

सः भिक्षुः वा० सः यत्० ग्रामं वा यावत् राज० अस्मिन् स्वल्ु ग्रामे वा यावत्० महती विहारभूमी महती विचारभूमी० सुलभः यत्र पीठ०, सुलभः प्रासुकः०, नो यत्र बहवः श्रमण० उपागमिष्यन्ति वा अल्पाकीर्णा वृत्तिः, यावत् राजधानीं वा, ततः संयतः एव वर्षावासं उपलीयेत ॥ ४४६ ॥

III सूत्रार्थ :

वर्षा वास करने वाले साधु या साध्वी को ग्राम नगर, यावत् राजधानी की स्थिति को भली-भांति जानना चाहिए। जिस ग्राम, नगर यावत् राजधानी में एकान्त स्वाध्याय करने के लिए कोई विशाल भूमि न हो, नगर से बाहर मल-मूत्रादि के त्यागने की भी कोई विशाल भूमि न हो, और पीठ-फलक-शय्या-संस्तारक की प्राप्ति भी सुलभ न हो, एवं प्रासुक और निर्दोष आहार का मिलना भी सुलभ न हो और बहुत से शाक्यादि भिक्षु यावत् भिखारी लोग आए हुए हों जिस से ग्रामादि में भीड़-भाड़ बहुत हो और साधु साध्वी को सुखपूर्वक स्थान से निकलना और प्रवेश करना कठिन हो तथा स्वाध्याय आदि भी न हो सकता हो तो ऐसे ग्रामादि में साधु वर्षाकाल व्यतीत न करे।

जिस ग्राम या नगरादि में विहार और विचार के लिए अर्थात् स्वाध्याय और मल-मूत्रादि का त्याग करने के लिए विशाल भूमि हो, पीठ-फलकादि की सुलभता हो, निर्दोष आहार पाणी भी पर्याप्त मिलता हो और शाक्यादि भिक्षु या भिखारी लोग भी आए हुए न हों एवं उनकी अधिक भीड़-भाड़ भी न हो तो ऐसे गांव या शहर आदि में साधु साध्वी वर्षाकाल व्यतीत कर सकता है।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब ऐसा जाने कि- इस गांव या राजधानी में बड़ी स्वाध्यायभूमी नहि है, तथा विचारभूमी याने स्थंडिलभूमी बड़ी नहि है... तथा यहां पीठ, फलक (पाट), शय्या, संस्तारक आदि सुलभ नहि है, तथा यहां प्रसुक एवं एषणीय आहारादि सुलभ नहि है... अर्थात् आहारादि जो उद्गमादि दोष रहित होने चाहिये वैसे एषणीय आहारादि सुलभ नहि है... तथा जहां गांव-नगर आदि में बहोत सारे श्रमण ब्राह्मण, कृपण, वनीपक आदि आये हुए हैं, और अन्य आनेवाले हैं इस प्रकार वहां वृत्ति याने रहना, जैसे कि- भिक्षाटन (गोचरी), स्वाध्याय, ध्यान, स्थंडिल भूमी जाना इत्यादि कार्यों में, लोगों के आवागमन की अधिकता से आकीर्ण याने गीच हो... इस स्थिति में साधुओं को वहां प्रवेश-निष्क्रमण याने आने जाने में यावत् देहर्चिता आदि क्रिया निरुपद्रव न हो, ऐसा जानकर साधु वहां वर्षावास=चातुर्मास न करें... इसी प्रकार व्यत्यय याने इस से विपरीत सूत्र को इस से विपरीत स्वरूप से जानीयेगा...

अब वर्षाकाल पूर्ण होने पर, कब और किस प्रकार विहार करें, इस विषय में कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में वर्षावास के क्षेत्र को चुनते समय ५ बातों का विशेष ख्याल रखने का आदेश दिया गया है- १-स्वाध्याय एवं चिन्तन मनन के लिए विशाल भूमि, २- शहर या गांव के बाहर मल-मूत्र का त्याग करने के लिए विशाल निर्दोष भूमि, ३-साधु साध्वी के ग्रहण करने योग्य निर्दोष शय्या-तख्त आदि की सुलभता, ४-प्रासुक एवं निर्दोष आहार पानी की सुलभता और ५-शाक्यादि अन्य मत के साधुओं तथा भिखारियों के जमघट का नहीं होना। जिस क्षेत्र में उक्त सुविधाएं न हों वहां साधु को वर्षावास नहीं करना चाहिए। क्योंकि- विचार एवं चिन्तन की शुद्धता के लिए शान्त-एकान्त स्थान का होना आवश्यक है। बिना एकान्त स्थान के स्वाध्याय एवं ध्यान में मन एकाग्र नहीं हो सकता और मन की एकाग्रता के अभाव में साधना में तेजस्विता नहीं आ सकती। इसलिए सब से पहले अनुकूल स्वाध्याय भूमि का होना आवश्यक है।

संयम की शुद्धता को बनाए रखने के लिए परठने के लिए भी निर्दोष भूमि, निर्दोष आहार पानी एवं निर्दोष शय्या-तख्त आदि की प्राप्ति भी आवश्यक है और इनकी निर्दोषता के लिए यह भी आवश्यक है कि उस क्षेत्र में अन्यमत के भिक्षुओं का अधिक जमाव न हो। यदि वे भी अधिक संख्या में होंगे तो शुद्ध आहार-पानी आदि की सुलभता नहीं मिल सकेगी।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि- उस युग में अन्य मत के भिक्षु भी वर्षाकाल में एक स्थान पर रहते थे। गृहस्थ लोग सभी तरह के साधुओं को स्थान एवं आहार आदि देते थे। इसी दृष्टि से साधु के लिए यह निर्देश किया गया कि उसे वर्षावास करने के पूर्व अपने स्वाध्याय की अनुकूलता एवं संयम शुद्धि आदि का पूरी तरह अवलोकन कर लेना चाहिए क्योंकि वर्षावास, जीवों की रक्षा संयम की साधना एवं ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की आराधना के लिए ही किया जाता है। अतः इन में तेजस्विता लाने का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

यदि वर्षाकाल के समाप्त होने के पश्चात् भी वर्षा होती रहे तो साधु को क्या करना चाहिए, इसके लिए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ४४७ ॥

अह पुणेवं जाणिज्जा-चत्तारि मासा वासावासाणं वीइयकंता हेमंताणं य पंचदसरायकप्पे परिवुसिए, अंतरा से मग्गा बहुपाणा जाव ससंताणगा, नो जत्थ बहवे जाव उवागमिस्संति, सेवं नच्चा नो गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥

अह पुणेवं जाणिज्जा चत्तारि मासा० कप्पे परिवुसिए, अंतरा से मग्गे अप्पंडा जाव असंताणगा, बहवे जत्थ समण० उवागमिस्संति, सेवं नच्चा तओ संजयामेव० दूइज्जिज्जा ॥ ४४७ ॥

II संस्कृत-छाया :

अथ पुनः एवं जानीयात्- चत्वारः मासाः वर्षावासानां व्यतिक्रान्ताः, हेमन्तानां च पद्मदशरात्रिकल्पः पर्युषितः, अन्तराले तस्य मार्गे बहुप्राणिनः यावत् ससन्तानकाः, न यत्र बहवः यावत् उपागमिष्यन्ति, सः एवं ज्ञात्वा न ब्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥

अथ पुनः एवं जानीयात् चत्वारः मासाः० कल्पः पर्युषितः, अन्तराले तस्य मार्गे अल्पाण्डाः यावत् असंतानकाः बहवः यत्र श्रमण० उपागमिष्यन्ति, सः एवं ज्ञात्वा ततः संयतः एव० गच्छेत् ॥ ४४७ ॥

III सूत्रार्थ :

वर्षाकाल के चार मास व्यतीत हो जाने पर साधु को अवश्य विहार कर देना चाहिए, यह मुनि का उत्सर्गमार्ग है। यदि कार्तिक मास में पुनः वर्षा हो जाए और उसके कारण मार्ग आवागमन के योग्य न रहे और वहां पर शाक्यादि भिक्षु नहीं आए हों तो मुनि को चतुर्मास के पश्चात् वहां १५ दिन और रहना कल्पता है। यदि १५ दिन के पश्चात् मार्ग ठीक हो गया हो, अन्यमत के भिक्षु भी आने लगे हों तो मुनि ब्रामानुग्राम विहार कर सकता है इस तरह वर्षा के कारण मुनि कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के पश्चात् मार्गशीर्षकृष्णा अमावस पर्यन्त ठहर सकता है।

IV टीका-अनुवाद :

अब वह साधु या साध्वीजी म. ऐसा जाने कि- वर्षाकाल के चार महिने बीत चुके हैं अर्थात् कार्तिक पूर्णिमा बीत चुकी है, वहां उत्सर्ग से यदि वृष्टि-बरसात न हो तो पडवे के दिन हि विहार करके अन्य गांव में जाकर पारणां करें, और यदि वृष्टि-बरसात हो, तो हेमंत ऋतु के पंद्रह (१५) दिन बीतने पर विहार करें... और वहां यदि अंतराल-मार्ग में क्षुद्र जंतुओं के अंडे हो या मकड़ी के जाले हो, और बहोत सारे श्रमण ब्राह्मण आदि आये न हो या आनेवाले न हो, तो संपूर्ण मागसर महिना वहां हि स्थिरता करें... उसके बाद कैसी भी स्थिति हो तो भी वहां न रहें... इसी प्रकार इससे विपरीत सूत्र का अर्थ भी विपरीत प्रकार से जानीयेगा...

अब मार्ग-यतना के विषय में कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में वर्षाकाल समाप्त होने के बाद ठहरने के सम्बन्ध में उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग को सामने रखकर आदेश दिया गया है। इस में बताया गया है कि यदि वर्षाकाल के अन्तिम दिनों में वर्षा हो जाए और उसके कारण मार्ग हीरयाली से ढक जाए, जीवों की उत्पत्ति हो जाए और अन्य मत के भिक्षु भी अधिक संख्या में न आए हों तो वर्षाकाल के समाप्त होने पर भी मुनि हेमन्त काल के १५ दिन तक उस स्थान में ठहर सकता है, इससे स्पष्ट होता है कि- मुनि का जीवन जीव-रक्षा के लिए है। क्षुद्र जीवों की यत्ना के लिए ही वह चार महीने एक स्थान पर स्थित होता है। अतः उसके पश्चात् भी क्षुद्र जीवों की एवं वनस्पति की अधिक उत्पत्ति हो तो वह १५ दिन और रुक जाता है। प्रस्तुत सूत्र में इससे अधिक समय का उल्लेख नहीं किया गया है और प्रायः हेमन्त काल में मार्ग भी साफ हो जाता है। फिर भी यदि कभी अकस्मात् वर्षा की अधिकता से मार्ग हरियाली एवं क्षुद्र जन्तुओं की अधिक उत्पत्ति हो जाए और उस से संयम की विराधना होने की संभावना देखकर साधु कुछ दिन और ठहर जाता है, तो भी वह आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। क्योंकि वह केवल संयम की विशुद्ध आराधना के लिए ही ठहरता है। यदि वर्षाकाल के पश्चात् मौसम साफ हो, मार्ग में किसी तरह की रुकावट न हो तो साधु को मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को विहार कर देना चाहिए।

आगम में स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया गया है कि साधु-साध्वी को वर्षाकाल में विहार करना नहीं कल्पता परन्तु हेमन्त और ग्रीष्म काल में विहार करना कल्पता है। आचारांग सूत्र में भी एक स्थल पर कहा है कि यदि साधु मास या वर्षावास कल्प के बाद बिना कारण उसी स्थान पर ठहरता है तो उसे कालातिक्रम दोष लगता है। और श्रमण भगवान महावीर ने भी कार्तिक चातुर्मासी (पूर्णिमा) के पश्चात् मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को विहार कर दिया था। इससे स्पष्ट होता है कि वर्षा आदि विशिष्ट कारणों के उपस्थित हुए बिना साधु को वर्षा काल के पश्चात् उसी स्थान पर नहीं ठहरना चाहिए।

वृत्तिकार ने यह भी लिखा है कि यदि वृष्टि आदि न हो तो उत्सर्ग मार्ग में साधु को वर्षावास के समाप्त होने पर चातुर्मासी के तप का पारणा अन्य स्थान पर जाकर करना चाहिए। आगम में वर्षावास के पश्चात् बिना कारण रात को ठहरना नहीं कल्पता अर्थात् जिस स्थान में वर्षावास किया हो साधु को वहां मार्गशीर्ष कृष्णा की प्रतिपदाकी रात को नहीं ठहरना चाहिए।

विहार के समय साधु को मार्ग की यत्ना कैसे करनी चाहिए इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ४४८ ॥

से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे पुरओ जुगमायाए पेहमाणे दइण तसे पाणे उद्धट्ट पादं रीइज्जा साहट्ट पायं रीइज्जा वित्तिरिच्छं वा कट्टु पायं रीइज्जा, सइ परक्कमे संजयामेव परियकमिज्जा नो उज्जुयं गच्छिज्जा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दुइज्जिज्जा ।

से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाणाणि वा बी० हरि० उदए वा ऋट्टिआ वा अविद्धत्थे सइ परक्कमे जाव नो उज्जुयं गच्छिज्जा, तओ संजया० गामा० दूइज्जिज्ज ॥ ४४८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् पुरतः युगमात्रया प्रेक्षमाणः दृष्ट्वा त्रसान् प्राणिनः पादं उद्धृत्य गच्छेत्, संहृत्य पादं गच्छेत् तिरश्चीनं वा पादं कृत्वा गच्छेत्, सति पराक्रमे संयतः एव पराक्रमेत्, न ऋजुना गच्छेत्, ततः संयतः एव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ।

सः भिक्षुः वा० ग्रामा० गच्छन् अन्तरा तस्य प्राणिनः वा बीजानि वा हरितानि वा उदकं वा मृत्तिका वा अविद्धार्थे सति पराक्रमे यावत् न ऋजुना गच्छेत्, ततः संयतः० ग्रामा० गच्छेत् ॥ ४४८ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ अपने मुख के सामने साढे तीन हाथ प्रमाण भूमि को देखता हुआ चले और मार्ग में त्रस प्राणियों को देखकर पैर के अग्रभाग को उठाकर चले। यदि दोनों ओर जीव हों तो पैरों को संकोच कर या तिर्यक् टेढा पैर रखकर चले। यह विधि अन्यमार्ग के अभाव में कही गई है। यदि अन्य मार्ग हो तो उस मार्ग से चलने का प्रयत्न करे, किन्तु जीव युक्त सरल (सीधे) मार्ग पर न चले। यदि मार्ग में प्राणी बीज, हरी, जल और मिट्टी आदि अचित न हुए हों तो साधु को अन्य मार्ग के होने पर उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए। यदि अन्य मार्ग न हो तो उस मार्ग से यत्नापूर्वक जाना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. एक गांव से दूसरे गांव की ओर जाते हुए मार्ग में आगे की ओर युगमात्र याने चार हाथ प्रमाण अर्थात् बैलगाडीकी घुंसरी के प्रमाण भूमि को देखते हुए विहार करें... और वहां मार्ग में पतंगीये आदि त्रस जीवों को देखकर पैर के आगे के पंजे के सहारे चले या पैर के पीछे के भाग पानी के सहारे चले या पैर को तीरछा करके

चले... यह विधि अन्य मार्ग न होने पर ही जानीयेगा... यदि अन्य मार्ग हो तो संयत साधु अन्य मार्ग से ही चले... किंतु ऋजु याने सीधे मार्ग से न चले इत्यादि... शेष सूत्र के पदार्थ सुगम हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को विहार करते समय अपनी दृष्टि गन्तव्य मार्ग पर रखनी चाहिए। अपने सामने की साढ़े तीन हाथ भूमि को देखकर चलना चाहिए। उस समय अपने मन, वचन एवं काय योग को भी इधर-उधर नहीं लगाना चाहिए। यहां तक कि साधु को चलते समय स्वाध्याय एवं आत्मचिन्तन भी नहीं करना चाहिए। उस समय उसका ध्यान विवेक पूर्वक चलने की ओर होना चाहिए और रास्ते में आने वाले क्षुद्र जन्तुओं एवं हरित काय की रक्षा करते हुए गति करनी चाहिए। यदि रास्ते में बीज, हरियाली एवं क्षुद्र जन्तु अधिक हों और उस गांव को दूसरा रास्ता जाता हो- चाहे वह कुछ लम्बा पड़ता हो, परन्तु जीवों से रहित हो, तो मुनि को वह जीवजन्तुओं से युक्त सीधा रास्ता छोड़कर उस निर्दोष मार्ग से जाना चाहिए। यदि दूसरा मार्ग न हो तो यत्नापूर्वक पैरों को संकच कर या टेढ़े-मेढ़े पैर रखकर या अंगूठे आदि के बल पर उस रास्ते को तय करे अर्थात् उस मार्ग को विवेकपूर्वक पार करे जिससे जीवों को किसी तरह की पीड़ा एवं कष्ट न पहुंचे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ४४९ ॥

से भिक्खु वा० ग्रामा० दूइज्जमाणे अंतरा से विरुवरुवाणि पच्चंतिगाणि दस्सुगाययाणि मिलयखूणि अणायरियाणि दुसण्णपाणि दुप्पण्णवणिज्जाणि अकालपडिबोहीणि अकालपरिभोईणि सइ लाढे विहाराए संथरमाणेहिं जाणवएहिं नो विहारवडियाए पवज्जिज्जा गमणाए, केवली बूया- आयाणमेयं, ते णं बाला अयं तेणे अयं उवचए अयं ततो आगएत्ति कट्टु तं भिक्खुं अदकोसिज्ज वा जाव उद्विज्ज वा वत्थं प० कं० पाय० अच्चिदिज्ज वा भिदिज्ज वा अवहरिज्ज वा परिद्विज्ज वा, अह भिक्खुणं पु० जं तहप्पगाराइं विरु० पच्चंतियाणि दस्सुंगा० जाव विहारवतियाए नो पवज्जिज्ज वा गमणाए तओ संजया गा० दू० ॥ ४४९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० ग्रामा० गच्छन् अन्तरा तस्य विरूपरूपाणि प्रात्यन्तिकानि दस्युकायतनानि म्लेच्छप्रधानानि अनायाणि दुःसञ्ज्ञाप्यानि दुःप्रज्ञाप्यानि अकालप्रतिबोधीनि अकालपरिभोजीनि, सति लाढे विहारे विद्यमानेषु जनपदेषु, न

विहारवृत्तितया प्रपद्येत गमनाय, केवली ब्रूयात्- आदानमेतत्, ते बालाः- अयं स्तेनः, अयं उपचरकः, अयं ततः आगतः इति कृत्वा तं भिक्षुं आक्रोशयेयुः वा यावत् जीवितात् व्यपरोपयेयुः, वस्त्रादि वा आच्छिन्द्युः वा भिन्द्युः वा अपहरेयुः वा निर्द्धाटयेयुः वा, अथ भिक्षुणां पूर्वोप० यत् तथाप्रकाराणि विरूपरूपाणि प्रात्यान्तिकानि दस्युकायतनानि यावत् विहारवृत्तितया न प्रपद्येत वा गमनाय, ततः संयतः एव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥ ४४९ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विचरता हुआ जिस मार्ग में नाना प्रकार के देशकी सीमा में रहने वाले चोरों के, म्लेच्छों के और अनार्यों के स्थान हों तथा जिनको कठिनता पूर्वक समझाया जा सकता है या जिन्हें आर्य धर्म बड़ी कठिनता से प्राप्त हो सकता है ऐसे अकाल (कुसमय) में जागने वाले, अकाल (कुसमय) में खाने वाले मनुष्य रहते हों, तो अन्य आर्य क्षेत्र के होते हुए ऐसे क्षेत्रों में विहार करने का कभी मन में भी संकल्प न करे। क्योंकि केवली भगवान कहते हैं कि- वहां जाना कर्म बन्धन का कारण है। वे अनार्य लोग साधु को देखकर कहते हैं कि- यह चोर है, यह गुप्तचर है, यह हमारे शत्रु के गांव से आया है, इत्यादि बातें कहकर वे उस भिक्षु को कठोर वचन बोलेंगे उपद्रव करेंगे और उस साधु के वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद प्रोक्षण आदि का छेदन भेदन या अपहरण करेंगे या उन्हें तोड़ फोड़कर दूर फेंक देंगे क्योंकि ऐसे स्थानों में यह सब संभव हो सकता है। इसलिए भिक्षुओं को तीर्थकरादि ने पहले ही यह उपदेश दिया है कि साधु इस प्रकार के प्रदेशों में विहार करने का संकल्प भी न करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. ग्रामांतर विहार करते हुए जाने कि- मार्ग में विभिन्न प्रकार के अतिशय दूर ऐसे चौरों का निवास है, या बर्बर, शबर, पुलिंद आदि म्लेच्छलोगों के (साठे पच्चीस आर्यदेश को छोड़कर शेष अनार्यदेश के लोगों के) निवास है, कि- जो लोग बड़ी कठीनाइ से आर्य-संज्ञा को समझते हैं, और बड़े कष्ट से धर्मकथा के उपदेश से अनार्य संज्ञा से निवृत्त होते हैं तथा अकालप्रतिबोधी याने जिन्होंने का भटकने का कोई निश्चित समय नहि है... अर्थात् रात-दिन कभी भी भटकते रहते हैं... क्योंकि- वे आधी रात में भी शिकार के लिये निकल पड़ते हैं... तथा अकालभोजी याने खाने-पीने का भी कोई निश्चित समय नहि है ऐसे उन लोगों के निवास क्षेत्र में विहार न करें, किंतु आर्यदेश में हि विहार करें... क्योंकि- यहां केवली प्रभु कहते हैं कि- ऐसे अनार्यलोगों के क्षेत्र में विहार करने से कर्मबंध होता है... यहां संयमविराधना और आत्मविराधना संभवित है... तथा आत्मविराधना में संयम विराधना होती है... वह इस प्रकार- अनार्यक्षेत्र में विहार करने पर जब वे अनार्य लोग साधु को देखे

तब वे पोकार करे कि- "यह चोर है, यह हमारे शत्रुओं के गांव से आया हुआ चर पुरुष है" इत्यादि कहकर वाणी से आक्रोश करे, दंड-लकड़ी से मारे, यावत् प्राणांत कष्ट देकर मार डाले... तथा वस्त्र-पत्रादि लुट ले, या तोड़-फोड़ करे, या सब कुछ लुटकर साधु को भगा दे... अतः साधुओं को पूर्व कहीं गड़ प्रतिज्ञादि इस प्रकार है कि- साधु ऐसे वैसे म्लेच्छ-अनार्य क्षेत्र में विहार न करें... किंतु अनार्य-क्षेत्र का त्याग करके आर्यक्षेत्र में ही संयमी होकर एक गांव से दुसरे गांव में विहार करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को ऐसे प्रान्तों में विचरना चाहिए जहां आर्य एवं धर्म-निष्ठ भद्र लोग रहते हों। परन्तु, सीमान्त पर जो अनार्य देश हैं, जहां पर चोर-डाकू, भील, अनार्य एवं म्लेच्छ लोग रहते हों उन देशों में नहीं जाना चाहिए। क्योंकि, वे लोग दुर्लभ बोधि होते हैं अर्थात् धर्म और आर्यत्व को जल्दी ग्रहण नहीं कर पाते। वे कुसमय में जागृत रहते हैं अर्थात् जिस समय सभ्य एवं सज्जन लोग शयन करते हैं, उस समय उनका धन लुटने के लिए वे लोग जागते रहते हैं और कुसमय में ही भोजन करते हैं तथा उन्हें भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विवेक नहीं होता है। यदि ऐसे अनार्य व्यक्तियों के निवास स्थानों की ओर साधु चला जाए तो वे उसे चोर, गुप्तचर आदि समझकर कष्ट देंगे, मारेंगे-पीटेंगे तथा उसके उपकरण एवं वस्त्र आदि छीन लेंगे या तोड़-फोड़कर दूर फेंक देंगे। इसलिए मुनि को ऐसे प्रदेशों की ओर विहार नहीं करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि- वर्तमान युग की तरह उस समय भी एक-दूसरे देश की सीमाओं पर तथा अपने राज्य की आन्तरिक स्थिति का तथा चोर-डाकूओं के गुप्त स्थानों का पता लगाने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति की जाती थी।

प्रस्तुत सूत्र में ऐसे स्थानों पर जाने का निषेध साधु के लिए ही किया गया है, न कि सम्यग्दृष्टि एवं श्रावक के लिए। सम्यग्दृष्टि एवं श्रावक अनुकूल साधनों के प्राप्त होने पर वहां जाकर उन्हें संस्कारित एवं सभ्य बनाने का प्रयत्न कर सकते हैं।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ४५० ॥

से भियस्व० दुइज्जमाणे अंतरा से अरायाणि वा गणरायाणि वा जुवरायाणि वा दो रज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा सइ लाढे विहाराए संथ० जण० नो विहारवडियाए० केवली बूया-आयाणमेयं, ते णं बाला तं चेव जाव गमणाए तओ

संजयामेव गामा० दूइजिज्जा ॥ ४५० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० गच्छन् अन्तरा तस्य अराजानि वा, गणराजानि वा, युवराजानि वा द्विराज्यानि वा विराज्यानि वा विरुद्धराज्यानि वा सति लाडे विहारे विद्यमानेषु जनपदेषु नो विहारवृत्तितया० केवली-ब्रूयात्-आदानमेतत्, ते बालाः तं एव यावत् ततः संयतः एव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥ ४५० ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साधवी विहार करते हुए जिस देश में राजा का शासन नहीं है, अथवा अशांतियुक्त गणराज्य है, अथवा केवल युवराज है, जो कि राजा नहीं बना है, दो राजाओं का शासन चलता है, या दो राजकुमारों में परस्पर वैर विरोध है, या राजा तथा प्रजा में परस्पर विरोध है, तो विहार के योग्य अन्य प्रदेश के होते हुए इस प्रकार के स्थानों में विहार करने का संकल्प न करे। साधु को विहार योग्य अन्य स्थानों में विहार करना चाहिए शेष वर्णन पूर्ववत् समझें।

IV टीका-अनुवाद :

यह सूत्र सुगम है, किंतु अराजा याने जहां राजा का मरण हुआ हो, तथा युवराजा याने जहां अभी भी राजा का राज्याभिषेक न हुआ हो, इत्यादि... ऐसे क्षेत्र में विहार न करें... सुगम है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- जिस राज्य में राजा न हो या जिस राज्य में या गणतन्त्र में अशान्ति हो, कलह हो, राज्य प्रबन्ध ठीक न हो, राजा और प्रजा में संघर्ष चल रहा हो, एक ही प्रदेश के दो राजा या दो राजकुमार शासक हों और दोनों में संघर्ष चल रहा हो तो ऐसे देश में साधु को नहीं जाना चाहिए। क्योंकि किसी देश का गुप्तचर आदि समझकर वे लोग उन साधुओं के साथ दुर्व्यवहार कर सकते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि- उस युग में भारत में गणराज्य की व्यवस्था भी थी। काशी और कौशल में मल्लवी और लिच्छवी जाति के क्षत्रियों का गणराज्य था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय भी भारत कई प्रान्तों (देशों) में विभक्त था, जिनमें अलग-अलग राजाओं का शासन था और एक दूसरे देश के राजा सीमाओं आदि के लिए परस्पर संघर्ष भी करते रहते थे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ४५१ ॥

से भिक्खु वा० ग्रामाणुग्रामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा एगाहेण वा दुआहेण वा तिआहेण वा चउआहेण वा पंचाहेण वा पाउणिज्ज वा नो पाउणिज्ज वा तहप्पगारं विहं अणेगाहगमणिज्जं सइ लाढे जाव गमणाए, केवली बूया- आयाणमेयं, अंतरा से वासे सिया पाणेसु वा पणएसु वा बीएसु वा हरि० उद० मट्टियाए वा अविद्धत्थाए, अह भिक्खु जं तह० अणेगाह० जाव नो पव० तओ संजयामेव ग्रामाणुग्रामं दूइज्जिज्जा ॥ ४५१ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा तस्य अनेकाहगमनीयः पन्थाः स्यात्, सः यत् पुनः पन्थानं जानीयात् = एकाहेन वा, द्वयहेन वा, त्र्यहेन वा चतुरहेन वा पञ्चाहेन वा प्राप्नुयात् वा न प्राप्नुयात् वा तथाप्रकारं मार्गं (पन्थानं) अनेकाहगमनीयं सति लाढे (आर्यदेशे) यावत् गमनाय, केवली ब्रूयात्-आदानमेतत्, अन्तरा तस्य वासः स्यात् प्राणिषु वा पनकेषु वा बीजेषु वा हरितेषु वा उदकेषु वा मृत्तिकायां वा अविद्धार्थायां, अथ भिक्षुः यत् तथा० अनेकाह० यावत् न प्रपद्येत गमनाय, ततः संयतः एव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥ ४५१ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ मार्ग में उपस्थित होने वाली अटवी को जाने, जिस अटवी को एक दिन में, दो दिन में, तीन और चार अथवा पांच दिन में उल्लंघन किया जा सके, अन्य मार्ग होने पर उस अटवी को लांघकर जाने का विचार न करे। केवली भगवान कहते हैं कि- यह कर्म बन्धन का कारण है। क्योंकि मार्ग में वर्षा हो जाने पर, द्वीन्द्रियादि जीवों के उत्पन्न हो जाने पर, लील-फूल एवं सचित्त जल और मिट्टी के कारण संयम की विराधना का होना सम्भव है। इस लिए ऐसी अटवी जो कि अनेक दिनों में पार की जा सके मुनि उसमें जाने का संकल्प न करे, किन्तु अन्य सरल मार्ग से अन्य गावों की ओर विहार करे।

IV टीका-अनुवाद :

विहारानुक्रम से ग्रामांतर जाता हुआ साधु जब जाने कि- दो गांव के बीच अटवी के

मार्ग में अनेक दिनवाला मार्ग आता है, तब ऐसे अनेक दिनवाले मार्ग को जानकर यदि अच्छा मार्ग हो तो उस अनेक दिनवाले मार्ग से जाने का विचार न करें... इत्यादि... शेष सुगम है...

अब नौका के द्वारा जाने की विधि कहतें हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- मुनि को ऐसी अटवी में से होकर नहीं जाना चाहिए जिसे पार करने में लम्बा समय लगता हो। क्योंकि, इस लम्बे समय में वर्षा होने से द्वीन्द्रिय आदि क्षुद्र जन्तुओं एवं निगोदकाय तथा हरियाली आदि की उत्पत्ति हो जाने से संयम की विराधना होगी और कीचड़ आदि हो जाने के कारण यदि कभी पैर फिसल गया तो शरीर में चोट आने से आत्म विराधना भी होगी। और बहुत दूर तक जंगल होने के कारण रास्ते में विश्राम करने को स्थान की प्राप्ति एवं आहार पानी की प्राप्ति में भी कठिनता होगी। इसलिए मुनि को सदा सरल एवं सहज ही समाप्त होने वाले मार्ग से विहार करना चाहिए।

यदि कभी विहार करते समय मार्ग में नदी पड़ जाए तो साधु को क्या करना चाहिए इसका उल्लेख सूत्रकार महर्षि, सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से करेंगे।

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ ४५२ ॥

से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जिज्जा० अंतरा से नावासंतारिमे उदए सिया, से जं पुण नावं जाणिज्जा असंजए अ भिक्खुपडियाए किणिज्ज वा पामिच्चेज्ज वा नावाए वा नावं परिणामं कट्ट थलाओ वा नावं जलंसि ओगाहिज्जा, जलाओ वा नावं थलंसि उक्कसिज्जा पुण्णं वा नावं उस्सिंचिज्जा सण्णं वा नावं उप्पीलाविज्जा तहप्पगारं नावं उप्पीलाविज्जा तहप्पगारं नावं उइढगामिणि वा अहे गा० तिरियगामि० परं जोयणमेराए अद्ध जोयणमेराए अप्पतरे वा भुज्जतरे वा नो दूरुहिज्जा गमणाए।

से भिक्खू वा० पुव्वामेव तिरिच्छसंपाइमं नावं जाणिज्जा, जाणित्ता से तमायाए एणंतमवकमिज्जा, भंडणं पडिलेहिज्जा, एणओ भोयणभंडणं करिज्जा, ससीसोवरियं कायं पाए पमज्जिज्जा सागारं मत्तं पच्चयखाइज्जा, एणं पायं जले किच्चा एणं पायं थले किच्चा, तओ संजयमेव नावं दूरुहिज्जा ॥ ४५२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा तस्य नौ-संतार्य उदकं स्यात्, सः यत् पुनः नावं जानीयात् असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया क्रीणीयात्, उच्छिन्ना वा गृहीयात्, नावः वा नावं परिणामं कृत्वा, स्थलात् वा नावं जले अवगाहयेत्, जलात् वा नावं स्थले

उत्सर्पयेत्, पूर्णा वा नावं उत्-सिञ्चेत्, सन्नं वा नावं उत्पीडयेत् तथाप्रकारां नावं ऊर्ध्वगामिनीं वा अधोगामिनीं वा तिर्यग्गामिनीं वा परं योजनमर्यादायां अर्द्धयोजनमर्यादायां अल्पतरे वा भूयस्तरे वा न दूरुहेत् गमनाय ।

सः भिक्षुः वा० पूर्वमेव तिर्यक्-सम्पातिमां नावं जानीयात्, ज्ञात्वा सः तं आदाय एकान्तं अपक्रामेत्, अपक्रम्य भण्डकं प्रतिलिखेत्, प्रतिलिख्य एकतः भोजनभण्डकं कुर्यात्, कृत्वा सक्षीर्षोपरिकां कायां पादौ च प्रमार्जयेत्, सागारं भक्तं प्रत्याख्यायात्, एकं पादं जले कृत्वा एकं पादं स्थले कुर्यात्, ततः संयतः एव नावं दूरुहेत् ॥ ४५२ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ यदि मार्ग में नौका द्वारा तैरने योग्य जल हो तो नौका से नदी पार करे। परन्तु इस बात का ध्यान रखे कि यदि गृहस्थ साधु के निमित्त मूल्य देता हो या नौका उधार लेकर या परस्पर परिवर्तन करके या नौका को स्थल से जल में या जल से स्थल में लाता हो, या जल से परिपूर्ण नौका को जल से खाली करके या कीचड़ में फंसी हुई को बाहर निकाल कर और उसे तैयार कर के साधु को उस पर चढ़ने की प्रार्थना करे, तो इस प्रकार की ऊर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी या तिर्यग् गामिनी नौका, जो कि उत्कृष्ट एक योजन क्षेत्र प्रमाण में, चलने वाली है या अर्द्ध योजन प्रमाण में चलने वाली है, ऐसी नौका पर थोड़े या बहुत समय तक गमन करने के लिए साधु सवार न हो अर्थात् ऐसी नौका पर बैठ कर नदी को पार न करे। किन्तु, पहले से ही तिर्यग् चलने वाली नौका को जानकर, गृहस्थ की आज्ञा लेकर फिर एकान्त स्थान में चला जाए और वहां जाकर भण्डोपकरण की प्रतिलेखना करके उसे एकत्रित करे, तदनन्तर सिर से पैर तक सारे शरीर को प्रमार्जित करके अगार सहित भक्त पान का परित्याग करता हुआ एक पैर जल में और एक पैर स्थल में रखकर उस नौका पर यत्नापूर्वक चढ़े।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. ग्रामानुग्राम विहार करे तब मार्ग में नौका से पार उतर सकें ऐसे जलवाली नदी आती है ऐसा जाने और वह नौका भी कीसी गृहस्थ ने साधुओं के लिये खरीदी हुई है या अन्य के पास से किराये पर ली हुई है या अदला-बदली की हुई है इत्यादि जानीयेगा... तथा यदि वह नौका भूमी से लेकर जल में उतारे तब उस नौका में साधु न चढ़े इत्यादि शेष सूत्र सुगम है...

अब कारण = प्रयोजन होवे तो नौका में बैठने की विधि कहतें हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह अभिव्यक्त किया गया है कि विहार करते हुए यदि मार्ग में नदी आ जाए और उसे बिना नौका के पार करना कठिन हो तो साधु अपनी मर्यादा का परिपालन करते हुए विवेक एवं यत्नापूर्वक नौका का उपयोग कर सकता है। यदि मुनि को नदी के किनारे खड़ा देखकर कोई गृहस्थ उसे पार पहुंचाने के लिए नाविक को पैसा देता हो या उससे नौका उधार लेता हो या उससे नावका परिवर्तन करता हो, तो साधु को उस नाव पर नहीं बैठना चाहिए। इसी तरह यदि कोई नाविक साधु को नदी से पार करने के लिए अपनी नौका को जल में से स्थल पर लाता हो या स्थल पर से जल में ले जाता हो या कर्दम-किच्छड में फंसी हुई नाव को निकाल कर लाता हो, तो साधु उस नौका पर भी सवार न हो, भले ही वह नाव एक योजन गामिनी हो या इससे भी अधिक तेज गति से चलने वाली क्यों न हो। जिस नौका के लिए गृहस्थ को पैसा देना पड़े या जिसमें साधु के लिए नए रूप से आरम्भ करना पड़े... साधु उस नाव में न बैठे। परन्तु, जो नाव पहले से ही पानी में हो, तो उस नाव से पार होने के लिए वह नाविक से याचना करे और उसके स्वीकार करने पर एकान्त स्थान में जाकर अपने भण्डोपकरणों को एकत्रित करे और अपने शरीर का सिर से लेकर पैर तक प्रमार्जन करे। उसके पश्चात् सागारिक संधारा करके विवेक पूर्वक एक पैर पानी में और एक पैर स्थल पर रखकर यत्ना से नौका पर चढ़े।

प्रस्तुत सूत्र में ऊर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी और तिर्यग् गामिनी नौकाओं का उल्लेख किया गया है। किंतु साधुओं को ऊर्ध्व और अधोगामिनी नौकाओं में बैठने का निषेध किया गया है। कारणवश केवल तिर्यग् गामिनी नौका पर सवार होने का ही आदेश दिया गया है। निशीथ सूत्र में भी ऊर्ध्व और अधोगामिनी नौकाओं पर सवार होने वाले को प्रायश्चित्त का अधिकारी बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय आकाश में उड़ने एवं पानी के भीतर चलने वाली नौकाएं भी होती थी। ऊर्ध्वगामी नौका से वर्तमान युग के हवाई जहाज जैसे यान का होना सिद्ध होता है और अधोगामी नौका से पनडुबी का होना भी प्रमाणित होता है। वृत्तिकार ने उक्त तीनों तरह की नौकाओं का कोई स्पष्टीकरण नहीं किया है। अतः आकाश एवं जल के भीतर चलने वाली नौकाओं के निषेध का तात्पर्य तो स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि साधु तिर्यग् गामिनी (पानी के ऊपर गति करने वाली) नौका पर सवार हो सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में एक या अर्ध योजन तक पानी में रहने वाली नौका पर सवार होने का निषेध किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इतनी या इससे अधिक दूरी का मार्ग नौका के द्वारा तय करना नहीं कल्पता।

नौका में सवार होने के पूर्व जो सागरी अनशन करने का उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि यदि मैं कुशलता पूर्वक किनारे न पहुंच पाऊं तो मेरे आहार-पानी आदि का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग है।

एक पैर पानी में तथा दूसरा पैर स्थल पर रखने का विधान अप्रकायिक जीवों की दया के लिए किया गया है और यहां स्थल का अर्थ पानी के ऊपर का आकाश प्रदेश है, न कि पृथ्वी। इसका तात्पर्य यह है कि साधु को पानी को मथते हुए-आलोड़ित करते हुए नहीं चलना चाहिए, परन्तु विवेक पूर्वक धीरे से एक पैर पानी में और दूसरा पैर पानी के ऊपर आकाश में रखना चाहिए, इसी विधि से नौका तक पहुंच कर विवेक के साथ नौका पर सवार होना चाहिए।

नौका से सम्बन्धित विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहेंगे।

I सूत्र ॥ ९ ॥ ॥ ४५३ ॥

से भियस्वू वा० नावं दूरुहमाणे नो नावाओ पुरओ दूरुहिज्जा, नो नावाओ मग्गओ दूरुहिज्जा, नो नावाओ मज्झओ दूरुहिज्जा, नो बाहाओ पगिज्झिय, अंगुलियाए उदिसिय, ओणामिय, उण्णामिय, निज्झाइज्जा। से णं परो नावागओ वइज्जा ! आउसंतो ! समणा एयं ता तुमं नावं उक्कसाहिज्जा वा वुक्कसाहि वा खिवाहि वा रज्जूयाए वा गहाय आकासाहि। नो से तं परिणं परिजाणिज्जा, तुसिणीओ उवेहिज्जा।

से णं परो नावागओ नावाग० वइ० -आउसंतो ! नो संचाएसि तुमं नावं उक्कसित्तए वा, रज्जूयाए वा गहाय आकसित्तए वा आहर एयं नावाए रज्जूयं सयं चैव णं वयं नावं उक्कसिस्सामो वा जाव रज्जूए वा गहाय आकसिस्सामो, नो से तं परिणं परि० तुसिणीओ उवेहिज्जा।

से णं परो० आउसंतो ! एअं वा तुमं नावं आलितेण वा पीढएण वा वंसेण वा बलएण वा अवलुएण वा वाहेहि, नो से तं प०-तुसि०

से णं परो० एयं ता तुमं नावाए उदयं हत्थेण वा पाएण वा मतेण वा पडिग्गहेण वा नावा उस्सिंचणेण वा उस्सिंचाहि, नो से तं० से णं परो० समणा ! एयं तुमं नावाए उत्तिगं हत्थेण वा पाएण वा बाहुणा वा ऊरुणा वा उदरेण वा सीसेण वा काएण वा उस्सिंचणेण वा चलेण वा मट्टियाए वा कुसपत्तएण वा कुविदएण वा पिहेहि, नो से तं०।

से भियस्वू वा, नावाए उत्तिगेण उदयं सवमाणं पेहाए उवरुवरिं नावं

कज्जलावेमाणिं पेहाए नो परं उवसंकमित्तु एवं ब्या-आउसंतो ! गाहावड ! एयं ते नावाए उदयं उतिगेण आसवड, उवरुवरिं नावा वा कज्जलावेड, एयप्पगारं मणं वा वायं वा नो पुरओ कट्ट विहरिज्जा अप्पुस्सुए अबहिल्लेसे एगंतगएण अप्पाणं विउसेज्जा समाहीए, तओ सं० नावा संतारिमे उदए आहारियं रीडज्जा, एयं खलु सया जइज्जासि तिबेमि ॥ ४५३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० नावं दूरुहन् न नावः पुरतः दुरुहेत्, न नावः मार्गतः दूरुहेत्, न नावः मध्यतः दूरुहेत्, न बाहाः प्रगृह्य प्रग्रह्य अङ्गुल्या उद्दिश्य, अवनम्य अवनम्य उन्नम्य उन्नम्य निध्ययित् । तस्य तस्मै परः नौगतः नौगतं वदेत्- हे आयुष्मन् ! श्रमण ! एतां तावत् त्वं नावं उत्कर्षय, व्युत्कर्षय, क्षिप, रज्ज्वा वा गृहीत्वा आकृष, न सः तां परिज्ञां परिजानीयात्, तूष्णीकः उपेक्षेत ।

तस्य परः नौगतः नौगतं वदेत्- हे आयुष्मन् ! श्रमण ! न शयनोषि त्वं नावं उत्कर्षयितुं वा, रज्ज्वा वा गृहीत्वा आकर्षयितुं वा, आहर एतां नावः रज्जुकां, स्वयं एव वयं नावं उत्कर्षिष्यामः वा यावत् रज्ज्वा वा गृहीत्वा आकर्षिष्यामः, न सः तां परिज्ञां० तूष्णीकः० ।

तस्य परः० हे आयुष्मन् ! हतत् वा त्वं नावं आलिप्तने वा पीठकेन वा वंशेने वा बलकेन वा अवलुकेन वा वाहय । न सः तां परिज्ञां० तूष्णीकः० ।

तस्य परः० एतत् तावत् त्वं नावः उदकं हस्तेन वा पादेन वा मात्रेण वा पतद्ग्रहेण वा नौ-उदसेचनेन वा उत्सिञ्च... न सः तां० तस्य परः० हे श्रमण ! एतत् त्वं नावः उत्तिङ्गं हस्तेन वा पादेन वा बाहूना वा उरुणा वा उदरेण वा शीर्षेण वा कायेन वा उत्सेचनेन वा चलेन वा मृत्तिकया वा कुशपत्रकेण वा कुविन्दकेन वा पिधेहि, न सः तां० ।

सः भिक्षुः वा, नावः उत्तिङ्गेन उदकं खवन्तः प्रेक्ष्य उपर्युपरि नावं प्लाव्यमानां प्रेक्ष्य, न परं उपसङ्क्रम्य एवं ब्रूयात्- हे आयुष्मन् गृहपते ! एतत् तव नावि उदकं उत्तिङ्गेन आश्रवति, उपरिउपरि नौ वा प्लाव्यते, एतत् प्रकारं मनः वा वाचं वा पुरतः कृत्वा विहरेत्, अल्पोत्सुकः अविमनस्कः अबहिल्लेश्यः एकान्तगतेन आत्मानं व्युत्सृजेत् समाधौ, ततः संयतः एव० नौसंतार्ये उदके यथा-आर्यं गच्छेत्, एतत् खलु सदा यतेत इति ब्रवीमि ॥ ४५३ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी नौका पर चढ़ते हुए नौका के आगे, पीछे और मध्य में न बैठे। और नौका के बाजू को पकड़कर या अंगुली द्वारा उद्देश्य (स्पर्श) करके तथा अंगुली ऊंची करके जल को न देखे। यदि नाविक साधु के प्रति कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! तू इस नौका को खींच या अमुक वस्तु को नौका में रखकर और रज्जू को पकड़कर नौका को अच्छी तरह से बान्ध दे। या रज्जू के द्वारा जोर से कस दे। इस प्रकार के नाविक के वचनों को साधु स्वीकार न करे किन्तु मौन वृत्ति को धारण कर अवस्थित रहे।

यदि नाविक फिर कहें कि आयुष्मन् श्रमण ! यदि तू इस प्रकार नहीं कर सकता तो मुझे रज्जू लाकर दे। हम स्वयं नौका को दृढ़ बन्धनों से बान्ध लेंगे और उसे चलायेंगे फिर भी साधु चुप रहे।

यदि नाविक कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! तू इस नौका को चप्पू से पीठ से, बांस से, बलक और अबलुक से आगे कर दे। नाविक के इस वचन को भी स्वीकार न करता हुआ साधु मौन रहे।

फिर नाविक बोले कि आयुष्मन् श्रमण ! तू नाव में भरे हुए जल को हाथ से, पांव से, भाजन से, पात्र से और उत्सिंचन से बाहर निकाल दे। नाविक के इस कथन को भी अस्वीकार करता हुआ साधु मौन रहे। यदि फिर नाविक कहे कि- आयुष्मन् श्रमण ! तू नाव के इस छिद्र को हाथ से, पैर से, भुजाओं से, जंघा से, उदर से, सिर से और शरीर से, नौका से जल निकालने वाले उपकरणों से, वस्त्र से, मिट्टी से, कुश पत्र और कुबिंद से रोक दे— बन्द कर दे। साधु नाविक के उक्त कथन को भी अस्वीकार कर मौन धारण करके बैठा रहे।

साधु या साध्वी नौका में छिद्र के द्वारा जल भरता हुआ देखकर एवं नौका को जल से भरती हुई देखकर, नाविक के पास जाकर ऐसे न कहे कि हे आयुष्मन् गृहपते ! तुम्हारी यह नौका छिद्र द्वारा जल से भर रही है और छिद्र से जल आ रहा है। इस प्रकार के मन और वचन को उस ओर न लगाता हुआ विचरे। उस समय वह साधु शरीर एवं उपकरणादि पर मूर्छा न करता हुआ, लेश्या को संयम में रखे तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में समाहित होकर आत्मा को राग और द्वेष से रहित करने का प्रयत्न करे। और नौका के द्वारा तैरने योग्य जल को पार करने के बाद जिस प्रकार तीर्थंकरों ने जल के विषय में ईर्या समिति का वर्णन किया है— उसी प्रकार उसका पालन करे। यही साधु का समग्र आचार है अर्थात् इसी में उसका साधु भाव है। इसी प्रकार मैं कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट हि है, किंतु नौका के आगे के भाग में न बैठें, क्योंकि- वहां नियामक के द्वारा उपद्रव हो सकता है... तथा नौका में बैठनेवाले लोगों के पहले (सर्व प्रथम) भी न चढ़ें... क्योंकि- ऐसा करने से नौका के प्रवर्तन का दोष लगता है... तथा नौका में बैठा हुआ वह साधु न तो स्वयं हि नौका संबंधित कार्य करें, और अन्य के कहने से भी न करें तथा अन्य के द्वारा करवायें भी नहि... तथा छिद्र से नौका में पानी आने से नौका के डूबने की परिस्थिति में उत्सुकता को छोड़कर तथा विमनस्कता का त्याग करके शरीर और उपकरणादि में मूर्च्छा (ममता) न रखें... तथा उस जल में नौका के द्वारा किनारे की ओर जाता हुआ वह साधु जिस प्रकार आर्य याने तीर्थकरादि होते हैं उस प्रकार रहें... अर्थात् विशिष्ट अध्यवसायवाला होकर रहें...

क्योंकि- यह हि साधु का संयम जीवन है...

V सूत्राचार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि नाविक साधु को नौका के बांधने एवं खोलने तथा चलाने आदि का कोई भी कार्य करने के लिए कहे तो साधु को उसके वचनों को स्वीकार नहीं करना चाहिए। परन्तु, मौन रहकर आत्म-चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए। इसी तरह नौका में पानी भर रहा हो तो साधु को उसकी सूचना भी नहीं देनी चाहिए। इन सूत्रों से कुछ पाठकों के मन में यह सन्देह हो सकता है कि यह सूत्र दया-निष्ठ साधु की अहिंसा एवं दया भावना का परिपोषक नहीं है। परन्तु, यदि इस सूत्र पर गहराई से सोचा-विचार जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रस्तुत सूत्र साधु के अहिंसा महाव्रत का परिपोषक है। क्योंकि, साधु ऽ काय का संरक्षक है, यदि वह नाव को खींचने, बांधने एवं चलाने आदि का प्रयत्न करेगा तो उसमें अनेक त्रस एवं स्थावर कायिक जीवों की हिंसा होगी और नौका में छिद्र आदि का कथन करने से एकाएक लोगों के मन में भय की भावना का संचार होगा। जिससे उनमें भाग दौड़ मच जाना सम्भव है और परिणाम स्वरूप नाव खतरनाक स्थिति में पहुँच सकती है। इसलिए साधु को इन सब झंझटों से दूर रहकर अपने आत्म-चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए। इसमें उन अन्य व्यक्तियों के साथ साधु स्वयं भी तो उसी नौका में सवार है। यदि नौका में

किसी तरह की गड़बड़ होती है तो उसमें साधु का जीवन भी तो खतरे में पड़ता है। फिर भी साधु अपने लिए किसी तरह का प्रयत्न नहीं करता। क्योंकि, जिस प्रवृत्ति में अन्य जीवों की हिंसा हो वैसी प्रवृत्ति करना साधु को नहीं कल्पता। प्रस्तुत सूत्र में साधुत्व की उत्कृष्ट साधना को लक्ष्य में रखकर यह आदेश दिया है कि वह मृत्यु का प्रसंग उपस्थित होने पर भी नाव में होने वाली किसी तरह की सावध प्रवृत्ति में भाग नहीं ले परन्तु मौन भाव से आत्म-चिन्तन में लगा रहे।

यदि कोई साधारण साधु कभी परिस्थितिवश व्यावहारिक दृष्टि को सामने रखकर नौका को संकट से बचाने के लिए कोई प्रयत्न करे तो उसे भगवान द्वारा दी गई आज्ञा के उल्लंघन का प्रायश्चित लेना चाहिए। निशीथ सूत्र में नौका सम्बन्धी कार्य करने का जो प्रायश्चित बताया गया है वह—वह प्रायश्चित जो लोगों के प्रति मुनि की दया भावना है, उनकी रक्षा की दृष्टि है, उसका नहीं है वह प्रायश्चित केवल मर्यादा भंग का है। क्योंकि, उक्त प्रवृत्ति में प्रमादवश हिंसा का होना भी सम्भव है, इसलिए उक्त दोष का निवारण करने के लिए ही प्रायश्चित का विधान किया गया है। और उक्त क्रियाओं के करने का लघु चोमासिक प्रायश्चित बताया गया है।

कुछ प्रतियों में प्रस्तुत सूत्र का अन्तिम अंश इस प्रकार भी मिलता है— 'एवं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामगिगयं जं सव्वदठेहिं सहिते सदा जएज्जासि।' परन्तु, इससे अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है।

प्रस्तुत सूत्र में साधु की विशिष्ट साधना एवं उत्कृष्ट अध्यवसायों का उल्लेख किया गया है। नौका में आरूढ़ हुआ साधु अपने विचार एवं चिन्तन को इधर उधर न लगाकर आत्म चिन्तन में ही लगाए रहता है और ६ काय की रक्षा के लिए अपने जीवन का व्यामोह भी नहीं रखता है। इसलिए नौका में पानी भरने की स्थिति में भी शांत रहना उसकी विराट् साधना का प्रतीक है, इससे उसके आत्म-चिन्तन की स्थिरता का स्पष्ट परिचय मिलता है। इस तरह प्रस्तुत सूत्र में दिया गया आदेश साधुत्व की विशुद्ध साधना के अनुकूल ही प्रतीत होता है।

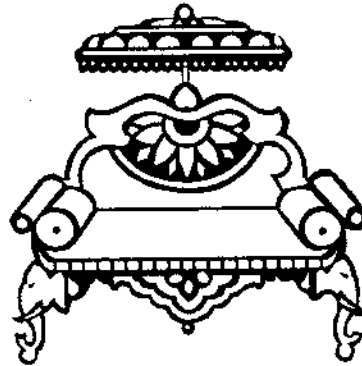
'तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

卐卐卐

: प्रथमः :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनस्त्रेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-घरंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भद्रास्काचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. १६.卐 विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - ३ उद्देशक - २

卐 ईर्या 卐

पहला उद्देशक कहा, अब दुसरा उद्देशक कहते हैं... इसका यहां इस प्रकार अभिसंबंध है... पहले उद्देशक में नौका में बैठे हुए साधु को क्या करना चाहिये वह विधि कही है, और यहां दुसरे उद्देशक में भी वह ही विधि कहना है... अतः इस संबंध से आये हुए इस दुसरे उद्देशक का यह प्रथम सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४५४ ॥

से णं परो नावा० आउसंतो ! समणा ! एयं ता तुमं, छत्तगं वा जाव चम्मछेयणगं वा गिण्हाहि, एयाणि तुमं विरुवरूपाणि सत्थजायाणि धारेहि, एयं ता तुमं दारगं वा पज्जेहि, नो से तं० ॥ ४५४ ॥

II संस्कृत-छाया :

तस्य परः नौगतः० हे आयुष्मन् ! श्रमण ! एतत् तावत् त्वं छत्रकं वा यावत् चर्मच्छेदनकं वा गृहाण, एतानि त्वं विरूपरूपाणि शस्त्रजातानि धारय, एतं तावत् त्वं दारकं वा पायय, न सः तां परिज्ञा० ॥ ४५४ ॥

III सूत्रार्थ :

यदि नाविक नाव पर सवार मुनि को यह कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! पहले तू मेरा छत्र यावत् चर्मछेदन करने के शस्त्र को ग्रहण कर। इन विविध शस्त्रों को धारण कर और इस बालक को दुध पीला दे। वह साधु उसके उक्त वचन को स्वीकार न करे, किन्तु मौन धारण करके बैठा रहे।

IV टीका-अनुवाद :

नौका में बैठे हुए वे गृहस्थादि वहां बैठे हुए साधु को कहे कि- हे आयुष्मान् श्रमण ! यह मेरे छत्र आदि को जरा (क्षण भरके लिये) पकडीयेगा... तथा यह हमारे शस्त्र-आयुध आदि को पकड कर बैठा... तथा इस हमारे बच्चे को दुध पीलाओ... इत्यादि प्रार्थनाएं न सुनीयेगा...

यदि दुसरे के वैसे वैसे कार्य न करने पर यदि वे गुस्से में आकर द्वेष धारण करे

और यदि नौका में से साधु को पकड कर जल में फेंके तब जो करना चाहिये वह अब कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि नाविक साधु को छत्र, शस्त्र आदि धारण करने के लिए कहे या अपने बालक को दुध पिलाने के लिए कहे तो साधु उसकी बात को स्वीकार न करे, किन्तु मौन भाव से आत्म चिन्तन में संलग्न रहे। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि नाविक मुनि जीवन से सर्वथा अपरिचित होने के कारण उसे ऐसे आदेश देता है। यदि वह साधु के त्याग निष्ठ जीवन से परिचित हो तो वह साधु के साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता। अतः उसके भाषण करने के ढंग से उसकी अनभिज्ञता प्रकट होती है और साधु के मौन रहकर उसके आदेश को अस्वीकार करने के पीछे एकमात्र प्राणी जगत की रक्षा एवं संयम साधना को दिशुब्ध रखने का भाव स्पष्ट होता है। क्योंकि, यदि साधु छत्र, शस्त्र आदि धारण करेगा तथा नाविक के बच्चों को दुध पिलाएगा या उसके ऐसे ही अन्य कार्य करेगा तो उसमें असंयम होने से अनेक जीवों की हिंसा होगी और परिणाम स्वरूप उसकी संयम साधना भी टूट जाएगी। अतः साधु को नाविक के आदेशानुसार कार्य नहीं करना चाहिए, परन्तु मौन भाव से उसे अस्वीकार करके अपनी आध्यात्मिक साधना में व्यस्त रहना चाहिए।

नाविक का कार्य न करने पर यदि कोई नाविक क्रुद्ध होकर साधु के साथ दुष्टता का व्यवहार करे, उसे उठाकर नदी की धारा में फेंक दे तो उस समय साधु को क्या करना चाहिए ? इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ४५५ ॥

से णं परो नावागए नावागयं वएज्जा- आउसंतो ! एस णं समे नावाए भंडभारिए भवइ, से णं बाहाए गहाय नावाओ उदगंसि पविस्वविज्जा, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म से य चीवरधारी सिया खिप्पामेव चीवराणि उट्ठेदिज्जा वा निवेदिज्जा वा उफेसइं वा करिज्जा अहं० अभिकंत कूरकम्मा खत्तु बाहाहिं गहाय नावा० पविस्वविज्जा, से पुट्टवामेव वइज्जा- आउसंतो ! गाहावइ ! मा मेत्तो बाहाए गहाय नावाओ उदगंसि पविस्ववह, सयं चेव णं अहं नावाओ उदगंसि ओगाहिस्सामि, से नेवं वयंतं परो सहसा बलसा बाहाहिं गं० पविस्वविज्जा, तं नो सुमणे सिया नो दुम्मणे सिया नो उच्चावयं मणं नियंछिज्जा नो तेसिं बालाणं घायाए वहाए समुट्ठिज्जा, अप्पुस्सुए जाव समाहीए तओ, सं० उदगंसि पविज्जा ॥ ४५५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः परः नौगतः नौगतं वदेत्- हे आयुष्मन् ! एषः श्रमणः नावि भाण्डभृतः भवति, तस्य बाहुं गृहीत्वा नावः उदके प्रक्षिपेत्, एतत्-प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य सः च चीवरधारी स्यात्, शीघ्रमेव धीवराणि उद्वेष्टयेत् वा निर्वेष्टयेत् वा, शिरोवेष्टनं वा कुर्यात्, अथ० अभिक्रान्तक्रूरकर्माणः खलु बालाः बाहुभ्यां गृहीत्वा ना० प्रक्षिपेत्, सः पूर्वमेव वदेत्- हे आयुष्मन् ! गृहपते ! मा मा इतः बाहुना गृहीत्वा नावः उदके प्रक्षिप, स्वयं एव अहं नावः उदके अवगाहिष्ये, सः न एवं वदन्तं परः सहसा बलेन बाहुभ्यां गृहीत्वा० प्रक्षिपेत्, तं न सुमनाः स्यात्, न दुर्मनाः स्यात्, न उच्चावचं मनः नियच्छेत्, न तेषां बालानां घाताय वधाय समुत्तिष्ठेत्, अल्पोत्सुकः यावत् समाधिना ततः सं० उदके प्रविशेत् ॥ ४५५ ॥

III सूत्रार्थ :

यदि नाविक नौका पर बैठे हुए किसी अन्य गृहस्थ को इस प्रकार कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ ! यह साधु जड़ वस्तुओं की तरह नौका पर केवल भारभूत ही है । यह न कुछ सुनता है और ना कोई काम ही करता है । अतः इसको भुजा से पकड़कर इसे नौका से बाहर जल में फेंक दे । इस प्रकार के शब्दों को सुनकर और उन्हें हृदय में धारण करके वह मुनि यदि वस्त्रधारी है तो शीघ्र ही वस्त्रों को फैलाकर, फिर उन्हें अपने सिर पर लपेट कर विचार करे कि ये अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाले अज्ञानी लोग मुझे भुजाओं से पकड़कर नौका से बाहर जल में फेंकना चाहते हैं । ऐसा विचार कर वह उनके द्वारा फेंके जाने के पूर्व ही उन गृहस्थों को सम्बोधित करके कहे कि आयुष्मन् गृहस्थों ! आप लोग मुझे भुजाओं से पकड़कर जबदस्ती नौका से बाहर जल में मत फेंको । मैं स्वयं ही इस नौका को छोड़ कर जलमें प्रविष्ट हो जाऊंगा । साधु के ऐसे कहने पर भी यदि कोई अज्ञानी जीव शीघ्र ही बलपूर्वक साधु की भुजाओं को पकड़ कर उसे नौका से जल में फेंक दे, तो जल में गिरा हुआ साधु मन में हर्ष-शोक न करे । वह मनमें किसी तरह का संकल्प-विकल्प भी न करे और उनकी घात-प्रतिघात करने का तथा उनसे प्रतिशोध लेने का विचार भी न करे इस तरह वह मुनि राग द्वेष से रहित होकर समाधिपूर्वक जल में प्रवेश कर जाए ।

IV टीका-अनुवाद :

नौका में रहा हुआ नाविक जब नौका में रहे हुए अन्य गृहस्थों को कहे कि- हे आयुष्मन् यहां बैठा हुआ यह साधु पात्र की समान जड़ जैसा बैठा है अथवा भारी सामान की तरह बहोत सारे वजनवाला भारी है, अतः इसको बाहु में पकड़कर नौका के बाहर जल में फेंक दो... इत्यादि बात-चित को सुनकर या अन्य कहीं से जानकर वह साधु गच्छगत याने

स्थविर कल्पवाला हो या गच्छनिर्गत याने जिनकल्पवाला हो, वह साधु तत्काल असार वस्त्रों को शरीर से दूर करे और सारभूत वस्त्रादि को शरीर के साथ बांध ले... या माथे पे बांध दे, जिससे बांधे हुए उन उपकरणों से व्याकुलता रहित जल को तैर शके... या धर्मकथा के द्वारा उन गृहस्थों को अनुकूल करे... शेष सूत्र सुगम है...

अब जल में तैरते हुए साधु को क्या करना चाहिये... वह विधि आगे के सूत्र से कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधु को हर परिस्थिति में समभाव बनाए रखने का आदेश दिया गया है। साधु का आदर्श ही यह है कि दुःखों की तपती हुई दोपहरी में भी समभाव की जल-धारा को न सूखने दे। जैसे कि- अपने आदेश का पालन होते हुए न देखकर यदि कोई नाविक उसे नदी की धारा में फेंकने की योजना बनाए और साधु उसे सुन ले तो उस समय साधु उस पर क्रोध न करे और न उसका अनिष्ट करने का प्रयत्न करे, प्रत्युत वह उससे मधुर शब्दों में कहे कि तुम मुझे फेंकने का कष्ट क्यों करते हो। यदि मैं तुम्हें बोझ रूप प्रतीत होता हूँ और तुम मुझे तुरन्त ही नौका से हटाना चाहते हो तो लो में स्वयं ही सरिता की धारा में उतर जाता हूँ। उसके इतना कहने पर भी यदि कोई अज्ञानी नाविक उसका हाथ पकड़कर उसे जल में फेंक दे, तो साधु उस समय शांत भाव से अपने भौतिक देह का त्याग कर दे। परन्तु, उस समय उन व्यक्तियों पर मन से भी क्रोध न करे और न उनसे प्रतिशोध लेने का ही सोचे और उन्हें किसी तरह का अभिशाप भी न दे और न दुर्वचन ही कहे।

प्रस्तुत सूत्र में साधुता के आदर्श एवं उज्ज्वल स्वरूप का एक चित्र उपस्थित किया गया है। साधु की इस विराट् साधना का यथार्थ रूप तो अनुभव गम्य ही है, शब्दों के द्वारा उस स्वरूप को प्रकट करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। आत्मा के इस विशुद्ध आचरण के सामने दुनिया की सारी शक्तियां निस्तेज हो जाती हैं इसके प्रखर प्रकाश के सामने सहस्रकिरण सूर्य का प्रकाश भी धूमिल सा प्रतीत होता है। आत्मा की यही महान् शक्ति है जिसकी साधना करके मानव आत्मा से परमात्मा बनता है, साधक से सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है।

इस सूत्र में सचेतक साधु को ही निर्देश करके यह आदेश दिया गया है। यहां पर वस्त्रों को फैलाकर फिर उन्हें समेटने का आदेश दिया गया है। इससे यही स्पष्ट होता है कि यह पाठ स्थविर कल्पी मुनि को लक्ष्य करके कहा गया है।

यदि कोई नाविक साधु को जल में फेंक दे तो उस समय उसे क्या करना चाहिए

इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ४५६ ॥

से भिक्खू वा० उदगंसि पवमाणे नो हत्थेण हत्थं पाएण पायं काएण कायं आसाइज्जा, से अनासायणाए अनासायमाणे तओ सं० उदगंसि पविज्जा ।

से भिक्खू वा० उदगंसि पवमाणे उम्मग्ग निमुग्गयं करिज्जा, मामेयं उदगं कण्णेसु वा अच्छीसु वा नयकंसि वा मुहंसि वा परियावज्जिज्जा, तओ० संजयामेव उदगंसि पविज्जा ।

से भिक्खू वा० उदगंसि पवमाणे दुब्बलियं पाउणिज्जा सिप्पामेव उवहिं विगिचिज्ज वा विसोहिज्ज वा; नो चेव णं साइज्जिज्जा, अह पु० पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा काएण उदगतीरे चिद्धिज्जा ।

से भिक्खू वा० उदउल्लं वा, कायं नो आमज्जिज्जा वा नो पमज्जिज्जा वा नो संलिहिज्जा वा नो निल्लिहिज्ज वा नो उव्वलिज्जा वा नो उव्वट्ठिज्जा वा नो आयाविज्ज वा नो पया० अह पु० विगओदओ मे काए छिण्णसिणेहे काए तहप्पगारं कायं आमज्जिज्ज वा जाव पयाविज्ज वा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ ४५६ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, उदके प्लवमानः न हस्तेन हस्तं, पादेन पादं, कायेन कायं आसादयेत्, सः अनासादनया अनासादन्, ततः संयतः एव उदके प्रविशेत् ।

सः भिक्षुः वा, उदके प्लवमानः न मज्जन-उम्मज्जनं कुर्यात्, मा मा एतत् उदकं कर्णयोः वा अक्षणोः वा नासिकायां वा मुखे वा परितापयेत्, ततः संयतः एव उदके प्रविशेत् ।

सः भिक्षुः वा, उदके प्लवमानः दौर्बल्यं प्राप्नुयात्, शीघ्रमेव उपार्थं त्यजेत् वा विशोधयेत् वा, न एव सात्मीकुर्यात्, अथ पुनः० पारगः स्यात् उदकात् तीरं प्राप्नोतुं ततः संयतः एव उदकार्द्रेण वा सस्निग्धेन वा कायेन उदकतीरे तिष्ठेत् ।

सः भिक्षुः वा, उदकार्द्रं वा सस्निग्धं वा कायं न आमृज्यात् वा न प्रमृज्यात् वा न संलिखेत् वा न निर्लिखेत् वा, न उद्वलेत् वा न उद्वर्तयेत् वा न आतापयेत् वा न प्रतापयेत् वा, अथ पुनः० विगतोदकः मम कायः छिन्नस्त्रेहः मम कायः, तथाप्रकारं कायं

आमृज्यात् वा यावत् प्रतापयेत् वा, ततः संयतः एव० ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥ ४५६ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी जल में बहते समय अप्काय के जीवों की रक्षा के लिए अपने एक हाथ से दूसरे हाथ का एवं एक पैर से दूसरे पैर का और शरीर के अन्य अवयवों का भी स्पर्श न करे। इस तरह वह परस्पर में स्पर्श न करता हुआ जल में बहता हुआ चला जाए। वह बहते समय डूबकी भी न मारे, एवं इस बात का विचार करे कि यह जल मेरे कानों में, आखों में, नाक और मुख में प्रवेश पाकर परिताप न पाए। तदनन्तर जल में बहता हुआ साधु यदि दुर्बलता का अनुभव करे तो शीघ्र ही थोड़ी या समस्त उपधि का त्याग कर दे वह साधु उस उपधि-उपकरण पर किसी प्रकार का ममत्व न रखे। यदि वह यह जाने कि मैं उपधि युक्त ही इस जल से पार हो जाऊंगा तो किनारे पर आकर जब तक शरीर से जल टपकता रहे, शरीर गीला रहे तब तक नदी के किनारे पर ही ठहरे किन्तु जल से भीगे हुए शरीर को एक वार या एक से अधिक वार हाथ से स्पर्श न करे, मसले नहीं और न उद्वर्तन की भांति मैल उतारे, इसी प्रकार भीगे हुए शरीर और उपधि को धूप में सुखाने का भी प्रयत्न न करे वह यह जाने ले कि मेरा शरीर तथा उपधि पूरी तरह सूख गई है तब अपने हाथ से शरीर का स्पर्श या मर्दन करे एवं धूप में खड़ा हो जाए फिर किसी गांव की ओर जावे अर्थात् विहार कर दे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जल में तैरते हुए अप्काय जीवों की रक्षा के लिये हाथ आदि से हाथ आदि का स्पर्श न करें... इस प्रकार साधु संयत होकर हि जल को तैरे...

वह साधु जल में तैरता हुआ जल में मज्जन-उन्मज्जन या ने डूबना एवं उपर आना न करे इत्यादि शेष सुगम है... तथा साधु जल में तैरते हुए थक जावे ततः तत्काल वस्त्रादि उपकरणों का त्याग करे या अस्त्र वस्त्रादि का त्याग करे, किंतु वस्त्रादि उपकरणों में आसक्त होकर पकड न रखे... तथा जब ऐसा जाने कि- वस्त्रादि उपकरणों के साथ जल में तैर कर किनारे पहुंचने में मैं समर्थ हूं, तब वह साधु जल को तैर कर किनारे पे आकर संयत हि होकर टपकते हुए जलवाले या भीगे हुए शरीर से किनारे पे खड़ा रहे, और वहां इरियावही प्रतिक्रमण करे... शेष सूत्र सुगम है... किंतु यहां सामाचारी इस प्रकार है कि- जो वस्त्रादि जल से भीगे हुए हैं वे स्वयं हि जब तक सुख जावे तब तक वहां किनारे पे खड़ा रहे... परंतु यदि वहां चौर आदि के भय से गमन करना हो तो सीधे शरीर से हि (हाथ को चलाये बिना) वहां से गांव की ओर विहार करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में मुनि की अहिंसा साधना का विशिष्ट परिचय दिया गया है। इसमें बताया गया है कि नाविक द्वारा जल में फेंके जाने पर भी मुनि अपने जीवन की ओर विशेष ध्यान नहीं देता। उसे अपने जीने एवं मरने की परवाह नहीं है। परन्तु, ऐसी विकट परिस्थिति में भी वह अन्य जीवों की दया का पूरा-पूरा ध्यान रखता है। उसके जीवन के कण-कण में दया का दरिया प्रवहमान रहता है। वह नदी में बहता हुआ भी अपने हाथों एवं पैरों का तथा शरीर के अन्य अंग-प्रत्यंगों का इसलिए परस्पर स्पर्श नहीं करता कि इससे अप्कायिक जीवों की एवं उसमें स्थित अन्य प्राणियों की हिंसा न हो। इसी दया भावना से न वह डुबकी लगाता है और न अपने कान, नाक, आंख आदि में भरते हुए पानी को परिताप देता है। इस तरह वह यत्नापूर्वक बहता चलता है।

यदि सरिता की धारा में बहते समय कमजोरी के कारण वह उपकरणों के बोझ को सहने में असमर्थ हो तो उसे चाहिए कि उन्हें विवेक पूर्वक धीरे से नदी में त्याग दे। किंतु यदि समर्थ हो तब त्याग न करें... इस प्रकार नदी के तट पर पहुंचने के पश्चात् वह तब तक स्थिर खड़ा रहे जब तक उसका शरीर एवं उसके वस्त्र आदि सुख न जाएं। परन्तु, वह अपने भीगे हुए वस्त्रों को निचोड़ कर धूप में सुखाने का तथा अपने शरीर को वस्त्र से पोंछकर या धूप में खड़ा होकर सुखाने का प्रयत्न भी नहीं करे। जब उसका शरीर स्वाभाविक रूप से सुख जाए तब वह वहां से गांव की ओर विहार करे।

इस सम्बन्ध में वृत्तिकार का कहना है कि यदि वहां चोर आदि का भय हो तो वह अपने हाथों को लम्बा फैलाकर शरीर सुखाकर गांव की ओर जा सकता है।

प्रस्तुत पाठ में नदी पार करके किनारे पर आने के पश्चात् उसे ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करने का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु वृत्तिकार ने इसका उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि यदि आगम में बताई गई विधि से प्रवृत्ति न की गई हो तो उसकी शुद्धि के लिए ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करना चाहिए। अन्यथा प्रतिक्रमण की कोई आवश्यकता नहीं है।

आगम में मास में दो या तीन बार महानदी का उल्लंघन करने का निषेध किया गया है तथा उसका प्रायश्चित्त भी बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि मास में एक बार महानदी पार करने का निषेध नहीं है, न उसे सबल दोष ही माना गया है और न उसके लिए प्रायश्चित्त का ही विधान किया गया है। आगम में यह भी बताया गया है कि यदि कोई साध्वी जल में गिर गई हो तो साधु उसे पकड़कर निकाल ले। आगम में यह भी बताया गया है कि- एक समय में समुद्र के जल में दो एवं नदी के जल में ३ जीव सिद्ध हो सकते हैं। इससे सूर्य के उजाले की तरह यह साफ हो जाता है कि आत्मा की शुद्धि एवं अशुद्धि भावों पर आधारित

है। दुर्भाव पूर्वक की गई द्रव्य हिंसा ही पापकर्म के बन्ध का कारण हो सकती है। आगम में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि विवेक एवं यत्ना पूर्वक चलते समय यदि साधु के पैर के नीचे क्षुद्र मंडुकी आदि कोई जीव मर जाए तब भी साधु को ईर्यापथिक क्रिया से संभवित कर्म का बन्ध होता है, सांप्रसायिकी क्रिया का बंध नहीं होता। वीतराग भगवान की आज्ञा के अनुसार विवेक पूर्वक नदी पार करने का कोई प्रायश्चित नहीं बताया गया है और न उसके लिए ईर्यापथिक प्रतिक्रमण का ही उल्लेख किया गया है क्योंकि प्रायश्चित विवेक पूर्वक, सावधानी से कार्य करने का नहीं होता, वह प्रायश्चित तो असावधानी एवं आज्ञा के उल्लंघन करने का होता है।

साधु-साध्वी को रास्ते में किस तरह चलना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ४५७ ॥

से भियस्व वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे नो परेहिं सद्धिं परिलविय, गामा० दूइज्जिज्जा, तओ सं० गामा० दूइज्जिज्जा ॥ ४५७ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् न परैः सार्द्धं भृशं उल्लापं कुपन् ग्रामानुग्रामं गच्छेत्, ततः संयतः एव० ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ।

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए गृहस्थों के साथ वार्तालाप करता हुआ गमन न करे। किन्तु ईर्यासमिति का यथाविधि पालन करता हुआ ग्रामानुग्राम विहार करे।

IV टीका-अनुवाद :

सुगम हि है किन्तु- साधु अन्य लोगों के साथ वार्तालाप करते हुए मार्ग में न चलें...

अब जंघा-संतरण विधि कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु या साध्वी को विहार करते समय या चलते समय अपने साथ के अन्य साधु से या गृहस्थ से बातें नहीं करनी चाहिए। क्योंकि, बातें करने से मार्ग में आने वाले जीव जन्तुओं को बचाया नहीं जा सकेगा तथा मार्ग का सम्यक्तया

अवलोकन भी नहीं हो सकेगा। आगम में यहां तक कहा गया है कि साधु को चलते समय पांचों तरह का स्वाध्याय— १. वाचना, २. पृच्छना, ३. परावर्त ४. अनुप्रेक्षा और ५. धर्म कथा का स्वाध्याय भी नहीं करना चाहिए। इस तरह अपने योगों को सब ओर से हटाकर ईर्यासमिति का पालन करना चाहिए।

जिस नदी में जंघा प्रमाण पानी हो उस नदी को साधु किस तरह पार करे, इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ४५८ ॥

से भियखू वा० गामा० दू० अंतरा से जंघासंतारिमे उदगे सिया, से पुट्टामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिज्जा, एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा, तओ संजयामेव० उदगंसि आहारियं रीइज्जा।

से भियखू वा० आहारियं रीयमाणे नो हत्थेण हत्थं जाव अनासायमाणे, तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदए आहारियं रीएज्जा।

से भियखू वा० जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीयमाणे नो सायावडियाए नो परिदाहपडियाए महइमहालयंसि उदयंसि कायं विउसिज्जा, तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा, काएण दगतीरए चिद्धिज्जा।

से भियखू वा० उदउल्लं वा कायं ससिणिद्धं वा कायं नो आमज्जिज्ज वा नो० अह पुण० दिगओदए मे काए छिण्णसिणेहे, तहप्पगारं कायं आमज्जिज्ज वा० जाव पयाविज्ज वा तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ ४५८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा तस्य जङ्घा-संतार्ये उदकं स्यात्, सः पूर्वमेव स्वशीर्षोपरिकां कायां पादौ च प्रमृज्यात्, प्रमृज्य च एकं पादं जले कृत्वा एकं पादं स्थले कुर्यात्, ततः संयतः एव उदके याथार्यं गच्छेत्।

सः भिक्षुः वा० याथार्यं गच्छन् न हस्तेन हस्तं यावत् अनासादन् ततः संयतः एव जङ्घासंतार्ये उदके यथार्यं गच्छेत्।

सः भिक्षुः वा० जङ्घासंतार्ये उदके यथार्यं गच्छन् न सात्ता-पतितया न परिदाहपतितया महति महालये उदके कायं प्रविश्येत्, ततः संयतः एव जङ्घासंतार्ये

उदके यथार्यं गच्छेत्, अथ पुनः एवं जानीयात् पारगः स्यां उदकात् पारं प्राप्नोतुं, ततः संयतः एव उदकार्द्रेण वा, कायेन उदकतीरे तिष्ठेत् ।

सः भिक्षुः वा० उदकार्द्रं वा कायं सस्निग्धं वा कायं, न आमृज्यात् वा न प्रमृज्यात् वा० अथ पुनः० विगतोदकः मम कायः, छिन्नस्नेहः मम कायः, तथाप्रकारं कायं आमृज्यात् वा यावत् प्रतापयेत् वा, ततः संयतः एव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥ ४५८ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करते हुए यदि मार्ग में जंघा प्रमाण जल पड़ता हो तो उसे पार करने के लिए साधु सिर से लेकर पैर तक की प्रतिलेखना करके एक पैर जल में और एक पैर स्थल में रखकर, जैसे भगवान ने ईर्यासमिति का वर्णन किया है उसके अनुसार उस पानी के प्रवाह को पार करना चाहिए। उस नदी में चलते समय मुनि को हाथों और पैरों का परस्पर स्पर्श नहीं करना चाहिए। और शारीरिक शान्ति के लिए या द्वाह उपशान्त करने के लिए गहरे और विस्तार वाले जल में भी प्रवेश नहीं करना चाहिए और उसे यह अनुभव होने लगे कि मैं उपधि अर्थात् उपकरणादि के साथ जल से पार नहीं हो सकता तो उपकरणादि को छोड़ दे, और यदि यह जाने कि मैं उपकरणादि के साथ पार हो सकता हूँ तब उपकरण सहित पार हो जाए। परन्तु, पार पहुंचने के पश्चात् जब तक उसके शरीर से जल बिन्दु टपकते रहें और जब तक शरीर गीला रहे तब तक नदी के किनारे पर ही खड़ा रहे और तब तक अपने शरीर को हाथ से स्पर्श भी न करे यावत् आतापना भी न देवे। जब तक शरीर बिलकुल सूख न जाए अर्थात् उसको यह निश्चय हो जाए कि मेरा शरीर पूर्णतया सुख गया है, तब शरीर की प्रमार्जना करके ईर्यासमिति पूर्वक ग्रामानुग्राम विचरने का प्रयत्न करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. एक गांव से दुसरे गांव की ओर जावे तब जाने कि- मार्ग में जानु (द्विचण) प्रमाण जल वाली नदी आती है, तब नाभि से उपर का मस्तक पर्यंत का शरीर मुहपतीसे एवं नाभि से नीचे का पैर पर्यंत का शरीर रजोहरण (ओघा) से प्रमार्जन करके जल में प्रवेश करें... और जल में प्रवेश करके एक पैर जल में रखे और दुसरा पैर उपर आकाश में रखकर चलें किंतु जल को आलोडता हुआ न चलें... तथा जिस प्रकार सरलता होवे उस प्रकार चलें, किंतु बात-चित करता हुआ या विकार-चेष्टा करता हुआ न चलें...

वह साधु आर्य पुरुषों की तरह ग्रामानुग्राम जाता हुआ जब छाती प्रमाण उंडे (गहरे) जलवाले नदी या द्रह (सरोवर) आदि में प्रवेश करे तब भी पूर्व कही गई विधि से हि जल में प्रवेश करे... तथा जल में प्रवेश करने के बाद यदि दस्त्रादि उपकरणों को उठाने में समर्थ

न हो, तो सभी असार वस्त्रादि का त्याग करें... और जब ऐसा जाने कि- मैं यह वस्त्रादि उपकरणों को उठाने में समर्थ हूँ, तब वस्त्रादि उपकरणों के साथ हि नदी को पार करे और किनारे पे आकर पूर्व कही गइ विधि अनुसार इरियावही० का काउरसग्न करे... तथा प्रमार्जनादि की विधि पूर्व की तरह जानीयेगा...

जब जल से बाहार किनारे पर पहुंचने के बाद विहार (गमन) करने की विधि कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि विहार करते समय रास्ते में नदी आ जाए और उसमें जंघा प्रमाण पानी हो और उसके अतिरिक्त अन्य मार्ग न हो तो मुनि उसे पार करके जा सकता है। इसके लिए पहले वह सिर से पैर तक अपने शरीर का प्रमार्जन करे। इस प्रसंग में वृत्तिकार का कहना है कि नाभि से नीचे के भाग का रजोहरण से और उससे ऊपर के भाग का मुखवस्त्रिका से प्रमार्जन करे। मुखवस्त्रिका का प्रयोग भाषा की सावधता को रोकने एवं वायुकायिक जीवों की रक्षा की दृष्टि से किया जाता है और नाभि के उपर के भाग आदि पोंछने के लिए। तथा शरीर आदि का प्रमार्जन करने के लिए रजोहरण एवं भी प्रमार्जनिका रखने का विधान है। अतः प्रमार्जनिका शरीर के प्रमार्जन के लिए ही रखी गई है।

इस तरह शरीर का प्रमार्जन करके विवेक पूर्वक नौका पर सवार होने के प्रकरण में बताई गई विधि के अनुसार साधु एक पैर जल में और दूसरा पैर स्थल (पानी के ऊपर के आकाश प्रदेश) पर रखकर गति करे। परन्तु, भैसे की तरह पानी को रौंदता हुआ न चले और मन में यह भी कल्पना न करे कि मैं पानी में उतर तो गया हूँ अब कुछ गहराई में डुबकी लगाकर शरीर की द्वाह को शान्त कर लूं। उसे चाहिए कि वह अपने हाथ-पैरों को भी परस्पर स्पर्श न करता हुआ, अप्कायिक जीवों को विशेष पीड़ा न पहुंचाता हुआ नदी को पार करे। यदि नदी पार करते समय उसे अपने उपकरण बोझ रूप प्रतीत होते हों और उन्हें लेकर नदी से पार होना कठिन प्रतीत होता हो, तो वह उन्हें वहां छोड़ दे। यदि उपकरण लेकर पार होने में कठिनता का अनुभव न होता हो तो उन्हें लेकर पार हो जाए। परन्तु, नदी के किनारे पर पहुंचने के पश्चात् जब तक शरीर एवं वस्त्रों से पानी टपकता हो या वे गीले हों तब तक वह वहीं खड़ा रहे उस समय वह अपने हाथ से शरीर का स्पर्श न करे और न वस्त्रों को ही बिचोड़े। उनके सूख जाने पर अपने शरीर का प्रतिलेखन करके विहार करे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त जंघा का अर्थ पिंडी अर्थात् गोडे से नीचे के भाग तक पानी समझना चाहिए। क्योंकि, यदि जांघ-साथल या कमर तक पानी होगा तो ऐसी स्थिति में पैरों को उठाकर आकाश में रखना कठिन होगा। और कोष में भी जंघा का अर्थ गोडे से नीचे

का भाग ही किया है। वृत्तिकार ने भी इसी बात को पुष्ट किया है। अतः जानु का अर्थ जंघा या गोड़े तक पानी का होना ही युक्ति संगत प्रतीत होता है।

नदी पार करने के पश्चात् साधु को किस प्रकार चलना चाहिए, इस सम्बन्ध में सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ४५९ ॥

से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे नो मट्टियागएहिं पाएहिं हरियाणि छिंदिय, विकुज्जिय, विफालिय, उम्मग्गेण हरियवहाए गच्छिज्जा, जमेयं पाएहिं मट्टियं खिप्पमेव हरियाणि अवहरंतु, माइइहाणं संफासे, नो एवं करिज्जा, से पुत्त्वामेव अप्पहरियं मग्गं पडिलेहिज्जा, तओ संजयामेव गामा० ।

से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि वा फ० पा० तो० अ० अग्गलपासगाणि वा गइडाओ वा दरीओ वा सइ परक्कमे संजयामेव परियकमिज्जा, नो उज्जु० केवली०, से तत्थ परयकममाणे पयलिज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा, रुयखाणि वा गुच्छाणि वा गुम्माणि वा लयाओ वा वल्लीओ वा तणाणि वा गहणाणि वा हरियाणि वा अवलंबिय, उत्तरिज्जा, जे तत्थ पाडिपहिया उवागच्छंति ते पाणी जाइज्जा, तओ संजयामेव० अवलंबिय, उत्तरिज्जा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ।

से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से जवसाणि वा सगडाणि वा रहाणि वा स चयकाणि वा परचयकाणि वा, से णं वा विरूवरूवं संनिरुद्धं पेहाए सइ परयकमे सं, नो उ०, से णं परो सेणागओ वइज्जा- आउसंतो ! एस णं समणे सेणाए अभिनिवारियं करेइ, से णं बाहाए गहाय आगसह, से णं परो बाहाहिं गहाय आगसिज्जा, तं नो सुमणे सिया जाव समाहीए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ ४५९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् न मुत्तिकागतैः पादैः हरितानि छित्वा छित्वा विकुञ्ज्य विकुञ्ज्य पाटयित्वा पाटयित्वा उन्मार्गेण हरितवधाय गच्छेत्, यदेनां पादमृत्तिकां शीघ्रमेव हरितानि अपहरन्तु, मातृस्थानं संपृथेत्, न च एवं कुर्यात्, सः पूर्वमेव अल्पहरितं मार्गं प्रत्युपेक्ष्य, ततः संयतः एव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ।

सः भिक्षुः वा, ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा तस्य वप्पाणि वा० अर्गतानि वा

अर्गलापाशकानि वा गर्ताः वा दर्यः वा सति पराक्रमे संयतः एव पराक्रमेत्, न ऋजुना० केवली० सः तत्र पराक्रममाणः प्रचलेद् वा प्रपतेत् वा सः तत्र प्रचलन् वा प्रपतन् वा वृक्षान् वा गुच्छान् वा गुल्मान् वा लताः वा वल्लीः वा तृणानि वा, गहनानि वा हरितानि वा अवलम्ब्य अवलम्ब्य उत्तरेत्, ये तत्र प्रातिपथिकाः उपागच्छन्ति, तेषां हस्तं वा याचेत्, याचित्वा ततः संयतः एव० अवलम्ब्य अवलम्ब्य उत्तरेत्, ततः संयतः एव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ।

सः भिक्षुः वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अंतरा तस्य यदसानि वा शकटानि वा रथान् वा स्वचक्राणि वा परचक्राणि वा, सेनां वा विरूपरूपां संनिरुद्धां प्रेक्ष्य सति पराक्रमे सं० न उ०, सः परः सेनागतः वदेत्- हे आयुष्मन् ! एषः श्रमणः सेनायाः अभिनिवारकं करोति, तस्य बाहं गृहीत्वा आकर्षय, सः परः बाहं गृहीत्वा आकर्षयेत्, तं न सुमनाः स्यात् यावत् समाधिना० ततः संयतः एव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥ ४५९ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु अथवा साध्वी ग्रामानुग्राम विचरते हुए मिट्टी और कीचड़ से भरे हुए पैरों को, हरितकाय का छेदन कर, तथा हरे पत्तों को एकत्रित कर उनसे मसलता हुआ मिट्टी को न उतारे, और न हरितकाय का वध करता हुआ उन्मार्ग से गमन करे। जैसे कि- ये मिट्टी और कीचड़ से भरे हुए पैर हरी पर चलने से हरितकाय के स्पर्श से स्वतः ही मिट्टी रहित हो जाएंगे, ऐसा करने पर साधु को मातृस्थान (कपट) का स्पर्श होता है। अतः साधु को इस प्रकार नहीं करना चाहिए। किन्तु, पहले ही हरित से रहित मार्ग को देखकर यत्नापूर्वक गमन करना चाहिए। और यदि मार्ग के मध्य में खेतों के ब्यारे हों, खाई हो, कोट हो, तोरण हो, अर्गला और अर्गलापाश हो, गर्त हो तथा गुफाएं हों, तो अन्य मार्ग के होते हुए इस प्रकार के विषम मार्ग से गमन न करे। केवली भगवान कहते हैं कि यह मार्ग दोष युक्त होने से कर्म बन्धन का कारण है। जैसे कि- पैर आदि के फिसलने तथा गिर पडने से शरीर के किसी अंग-प्रत्यंग को आघात पहुंचेगा... तथा जो वृक्ष, गुच्छ-गुल्म और लतायें एवं तृण आदि हरित काय को पकड़ कर चलाना या उतरना है और वहां पर जो पथिक आते हैं उनसे हाथ मांगकर अर्थात् हाथ के सहारे की याचना करके और उसे पकड़कर उतरना है, ये सब दोष युक्त हैं, इसलिए उक्त सदोष मार्ग को छोड़कर अन्य निर्दोष मार्ग से एक ग्राम से दूसरे ग्राम की ओर प्रस्थान करे। तथा यदि मार्ग में यव और गोधूम आदि धान्य, शकट, रथ, स्वकीय राजा की या पर राजा की सेना चल रही हो, तब नाना प्रकार की सेना के समुदाय को देखकर, यदि अन्य गन्तव्य मार्ग हो तो उसी मार्ग से जाए किन्तु कष्टोत्पादक इस सदोष मार्ग से जाने का प्रयत्न न करे। इस मार्ग से जाने में कष्टोत्पत्ति की सम्भावना है। जैसे कि- जब उस मार्ग से साधु जाएगा तो सम्भव है उसे देखकर कोई सैनिक किसी दूसरे सैनिक को कहे कि आयुष्मन् !

यह श्रमण हमारी सेना का भेद लेने आया है। अतः इसे भुजाओं से पकड़कर खेंचो अर्थात् आगे-पीछे करो, और तदनुसार जब वह सैनिक साधु को पकड़ कर खेंचे, तब साधु को उस समय उस पर न प्रसन्न या न रुष्ट होना चाहिए, किन्तु निर्दोष मार्ग से उस साधु को समभाव एवं समाधि पूर्वक एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विहार करने का प्रयत्न करना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु जल-नदी तैरने के बाद किनारे पे आया हुआ, कादववाले पैरवाला हो, तब हरित-घास को तोड़-तोड़ कर या कुब्ज करके या मूल से उखेड़कर के या उन्मार्ग से हरित याने वनस्पति की विराधना हो ऐसा न चले... जैसे कि- साधु ऐसा सोचे कि- पैरकी इस मिट्टी को हरित याने घास साफ कर देगा... ऐसा करने से साधु माया (कषाय) के स्थान को सेवन करता है... किन्तु साधु ऐसा माया-स्थान का सेवन न करें... शेष सूत्र सुगम है...

वह साधु एक गांव से दूसरे गांव की ओर जा रहा हो, तब यदि मार्ग में वप्र याने किल्ला-गढ आदि देखें तब यदि अन्य मार्ग हो तो उस ऋजु मार्ग से न जावें... क्योंकि- वहां गर्ता-गड्डे आदि में गिर पडने से सचित ऐसे वृक्ष आदि का आलंबन लेना होता है... किन्तु ऐसा करना साधु के लिये उचित नहि है... यदि विशेष कारण-प्रयोजन हो तो उसी ऋजु मार्ग से हि जावें... और कभी चलते चलते गिर पडे तब गच्छगत याने स्थविर कल्पवाले साधु बल्ली-वेलडी आदि का आलंबन लें अथवा कोइक मुसाफिर जा रहा हो तो हाथ का सहारा मांगकर संयम में रहते हुए हि मार्ग में चलें...

तथा वह साधु यदि विहार मार्ग में देखे कि- गेहूं आदि धान्य या बैलगाडीओं का पडाव है तब वहां बहोत सारे अपाय याने उपद्रवों की संभावना होने से यदि दुसरा मार्ग हो तो वहां से न चलें... इत्यादि शेष सूत्र सुगम है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधु को तीन बातों को ध्यान में रखने का आदेश दिया है— १. नदी पार करके किनारे पर पहुंचने के बाद वह अपने पैरों में लगा हुआ कीचड़ हरित काय (हरी वनस्पति-घास आदि) से साफ न करे और न इस भावना से हरियाली पर चले कि इस पर चलने से मेरे पैर स्वतः ही साफ हो जाएंगे, २. यदि अन्य मार्ग हो तो जिस मार्ग में खेत की क्यारियां, खड्डे, कंदराएं-गुफाएं आदि पड़ती हों उस विषम मार्ग से भी न जाए, क्योंकि पैर फिसल जाने से वह गिर पड़ेगा और परिणाम स्वरूप शरीर में चोट आएगी या कभी बचाव के लिए वृक्ष आदि को पकड़ना पड़ेगा, इससे वनस्पति कायिक जीवों की हिंसा होगी और ३. जिस मार्ग पर सेना का पड़ाव हो या सैनिक घूम रहे हों तो अन्य मार्ग के होते हुए उस

मार्ग से भी न जाए। क्योंकि वे साधु को गुप्तचर समझकर उसे परेशान कर सकते हैं। एवं कष्ट भी दे सकते हैं। कभी अन्य मार्ग न होने पर जिस मार्ग पर सेना का पड़ाव हो उस मार्ग से जाते हुए साधु को यदि कोई सैनिक पकड़ कर कष्ट देने लगे तो उस समय उसे उस पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। ऐसे विकट समय में भी उसे समभाव पूर्वक उस वेदना को सहन करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि साधु को अपने पैरों में लगी हुई मिट्टी को साफ करने के लिए वनस्पति काय की हिंसा नहीं करनी चाहिए। जैसे अपवाद मार्ग में मास में एक बार महानदी पार करने का आदेश दिया गया है, वैसे वृक्ष का सहारा एवं हरितकाय को कुचलते हुए चलने का आदेश नहीं दिया गया है, अपितु उसका निषेध किया गया है और वृक्ष का सहारा लेनेवाले को प्रायश्चित्त का अधिकारी बताया है।

इस तरह साधु को वनस्पति काय की हिंसा न करते हुए एवं विषम मार्ग तथा सेना से युक्त रास्ते का त्याग करके सम मार्ग से विहार करना चाहिए। जिससे स्व एवं पर की विराधना न हो।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ४६० ॥

से भिक्षुः वा० ग्रामा० दूड्ज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडिवहिया एवं वड्ज्जा- आउसंतो ! समणा ! केवइए एस गामे वा जाव रायहाणी वा केवइया इत्थ आसा हत्थी गामपिंडोलगा मणुस्सा परिवसंति ? से बहुभत्ते बहुउदे बहुजणे बहुजवसे, से अप्पभत्ते अप्पुदए अप्पजणे अप्पजवसे ? एयप्पगाराणि पसिणाणि पुच्छिज्जा, एयप्प० पुट्ठो वा अपुट्ठो वा नो वागरिज्जा, एवं खलु० जं सव्वट्ठेहिं० ॥ ४६० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तेरा तस्य प्रातिपथिकाः उपागच्छेयुः, ते प्रातिपथिकाः एवं वदेयुः- हे आयुष्मन् ! श्रमण ! कीदृशः अयं ग्रामः वा यावत् राजधानी वा ? कीदृशाः अत्र अधाः हस्तिनः ग्राम० पिण्डोलकाः (भिक्षुकाः) मनुष्याः परिवसन्ति ? ते बहुभयताः बहुजलाः बहुजनाः बहुयवसाः ? ते अल्पभयताः अल्पजलाः अल्पजनाः अल्पयवसाः वा ? एतत्-प्रकारान् प्रश्नान् प्रच्छेयुः, एतत्-प्रकारान् प्रश्नान् पृष्टः वा अपृष्टः वा न व्याकुर्यात्, एवं खलु० यत् सव्वर्धिः० ॥ ४६० ॥

III सूत्रार्थ :

साधु अथवा साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ उसके मार्ग में यदि कोई सामने से पथिक आ जाए और साधु से पूछे कि— आयुष्मन् श्रमण ! यह ग्राम यावत् राजधानी कैसी है ? यहां पर कितने घोड़े, हाथी और ग्राम याचक हैं, तथा कितने मनुष्य निवास करते हैं ? क्या इस ग्राम यावत् राजधानी में अन्न, पानी, मनुष्य एवं धान्य बहुत है या थोड़ा है ? ऐसे प्रश्नों को पूछने पर साधु जवाब न देवे औ उसके बिना पूछे भी ऐसी बातें न करे। परन्तु, वह मौन भाव से विहार करता रहे और सदा संयम साधना में संलग्न रहे।

IV टीका-अनुवाद :

विहारानुक्रम से एक गांव से दूसरे गांव की ओर जाते हुए उन साधुओं को मार्ग में मुसाफिर सामने मिले और वे पूछे कि- हे श्रमण ! यह गांव कैसा है ? इत्यादि पुछने पर या बिना पुछे उन्हें कुछ भी न कहें... तथा साधु उन मुसाफरों को भी ऐसे प्रश्न न करें... यह इस सूत्र का पिंडार्थ (संक्षिप्त अर्थ) है... और यह हि साधु का संपूर्ण साधुपना है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- विहार करते समय रास्ते में यदि कोई पथिक मुनि से पूछे कि- जिस गांव या शहर से तुम आ रहे हो उसमें कितने हाथी-घोड़े हैं, कितना अन्न है, कितने मनुष्य हैं अर्थात् वह गांव धन-धान्य से सम्पन्न है या अभाव ग्रस्त है ? तब मुनि को इसका कोई उत्तर नहीं देना चाहिए। क्योंकि, इस चर्चा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और न यह चर्चा आत्म विकास में ही सहायक है। यह तो एक तरह की विकथा है, जो आध्यात्मिक प्रगति में बाधक मानी गई है। इसलिए साधु को उस समय मौन रहना चाहिए। यदि पूछने वाला कोई आध्यात्मिक साधक हो और उससे आध्यात्मिक विचारों के प्रसार होने की सम्भावना हो तो साधु के लिए उक्त प्रश्नों का उत्तर देने का निषेध नहीं है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह प्रतिबन्ध इस लिए लगाया गया है कि केवल व्यर्थ की बातों में साधक का समय नष्ट न हों।

कुछ हस्त लिखित प्रतियों में "अप्पजवसे" पद के आगे यह पाठ मिलता है—
"एयप्पगाराणि पसिणाणि पुट्ठो वा अपुट्ठो वा नो आइक्खेज्जा, एयप्पगाराणि पसिणाणि नो पुच्छेज्जा।"

प्रस्तुत सूत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि उस युग में हाथी-घोड़ों का अधिक उपयोग होता था और उन्हीं के आधार पर गांव के वैभव का अनुमान लगाया जाता था। इस कारण प्रश्नों की पंक्ति में सब से पहले उनका उल्लेख किया गया है।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'तिबेमि' पद भी मिलता है, जिसकी व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम चूलिकायां तृतीय-ईयाध्ययने द्वितीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. ९६.卐 विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - ३ उद्देशक - ३

卐 ईर्या 卐

दूसरा उद्देशक कहा, अब तीसरे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... यहां परस्पर यह संबंध है कि- दुसरे उद्देशक में गमन जाने (जाने की) विहार की विधि कही, अब यहां तीसरे उद्देशक में भी वह हि कहना है, अतः इस संबंध में आये हुए तीसरे उद्देशक का यह प्रथम सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४६१ ॥

से भिक्खु वा० ग्रामा० दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि वा जाव दरीओ वा जाव कूडागाराणि वा पासायाणि वा नूमगिहाणि वा रुक्खगिहाणि वा पव्वगिहाणि वा० रुक्खं वा चेइयकडं थुभं वा चेइयकडं आपसणाणि वा जाव भवणागिहाणि वा नो बाहाओ पगिज्झिय, अंगुलिआए उदिसिय, ओणमिय, उण्णमिय, निज्झाइज्जा, तओ संजयामेव० ग्रामा० ।

से भिक्खु वा० ग्रामा० दूइज्जमाणे अंतरा से कच्छाणि वा दवियाणि वा नूमाणि वा वलयाणि वा महणाणि वा गहणविदुग्गाणि वा वणाणि वा वणविदुग्गाणि वा, पव्वयाणि वा पव्वयविदुग्गाणि वा अगडाणि वा तलागाणि वा दहाणि वा नईओ वा वावीओ वा पुक्खरिणीओ दीहियाओ वा गुंजालियाओ वा सराणि वा सरपंतियाणि वा सरसरपंतियाणि वा नो बाहाओ पगिज्झिय, जाव निज्झाइज्जा, केवली० जे तत्थ मिगा वा पसू वा पंखी वा सरीसवा वा सीहा वा जलचरा वा थलचरा वा खहरा वा सत्ता, ते उत्तसिज्जा वा वित्तसिज्जा वा, वाडं वा सरणं वा कंखिज्जा, चारित्ति मे अयं समणे, अह भिक्खुणं पुव्वोव० जं नो बाहाओ पगिज्झिय, निज्झाइज्जा, तओ संजयमेव आयरिउवज्झाएहिं सद्धिं ग्रामाणुगामं दुइज्जिज्जा ॥ ४६१ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा तस्य वप्राणि वा यावत् दर्यः वा यावत् कूटागाराणि वा प्रासादाः भूमीगृहाणि वा वृक्षगृहाणि पर्वतगृहाणि वा वृक्षः वा चैत्यकृतं स्तूपं वा चैत्यकृतं आवेशनानि वा यावत् भवनगृहाणि वा न बाह्वं प्रगृह्य प्रगृह्य, अङ्गुल्या उद्दिश्य उद्दिश्य, अवनम्य अवनम्य उन्नम्य उन्नम्य निध्ययित्, ततः सं० ग्रामा० ।

सः भिक्षुः वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा तस्य कच्छाः वा द्रव्याणि वा निम्नानि

वा बलयानि वा गहनानि वा गहनविदुर्गाणि वा वनानि वा वनविदुर्गाणि वा, पर्वताः वा पर्वतविदुर्गाणि वा, अगडानि वा तडागानि वा द्रहाणि वा नद्यः वा वाप्यः वा पुष्करिण्यः वा दीर्घिकाः वा गुञ्जालिकाः वा सरांसि वा सरःपङ्क्तयः वा सरः सरः पङ्क्तयः वा न बाह् उत्क्षिप्य उत्क्षिप्य यावत् निध्ययित्, केवली०

ये तत्र मृगा वा पशवः वा पक्षिणः वा सरीसृपाः वा सिंहाः वा जलचराः वा स्थलचराः वा स्रचराः वा सत्त्वाः, ते उत्-असेत् वा विअसेत् वा, वृत्तिं वा शरणं वा काङ्क्षेत, "चारः" इति अयं श्रमणः । अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टां० यत् न बाह् उत्क्षिप्य उत्क्षिप्य निध्ययित्, ततः संयतः एव आचार्योपाध्यायादिभिः सार्द्धं ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥ ४६९ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु अथवा साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग में यदि खेत के क्यारे यावत् गुफाएं, पर्वत के ऊपर के घर, भूमि गृह, वृक्ष के नीचे या ऊपर का निवास स्थान, पर्वत-गुफा, वृक्ष के नीचे व्यन्तर का स्थान, व्यन्तर का स्तूप और व्यन्तरायतन, लोहकारशाला यावत् भवनगृह आवें तो इनको अपनी भुजा ऊपर उठाकर, अंगुलियों को फैला कर या शरीर को ऊंचा-नीच करके न देखे । किन्तु यत्नापूर्वक अपनी विहार यात्रा में प्रवृत्त रहे । यदि मार्ग में नदी के समीप निम्न-प्रदेश हो या खरबूजे आदि का खेत हो या अटवी में घोड़े आदि पशुओं के घास के लिए राजाज्ञा से छोड़ी हुई भूमी-बीहड़ एवं खड्डा आदि हो, नदी से वेष्टित भूमि हो, निर्जल प्रदेश और अटवी हो, अटवी में विषम स्थान हो, वन हो और वन में भी विषम स्थान हो, इसी प्रकार पर्वत, पर्वत पर का विषम स्थान, कूप, तालाब, झोलें, नदियों बावडी, और पुष्करिणी और दीर्घिका अर्थात् लम्बी बावडिएं गहरे एवं कुटिल जलाशय, बिना खोदे हुए तालाब, सरोवर, सरोवर की पंक्तियें और बहुत से मिले हुए तालाब हों तो इनको भी अपनी भुजा उपर उठाकर या अंगुली पसार कर, शरीर को ऊंचा नीचा करके न देखे, कारण यह है कि- केवली भगवान् इसे कर्मबन्धन का कारण बतलाते हैं, जैसे कि- उन स्थानों में मृग, पशु-पक्षी, सांप, सिंह, जलचर, स्थलचर और खेचर जीव होते हैं, वे साधु को देखकर त्रास पावेंगे वित्रास पावेंगे और किसी बाड़ की शरण चाहेंगे तथा वे सोचे कि यह साधु हमें हटा रहा है, इसलिए भुजाओं को उंची करके साधु न देखे किन्तु यत्ना पूर्वक आचार्य और उपाध्याय आदि के साथ ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ संयम का पालन करे ।

IV टीका-अनुवाद :

एक गांव से दूसरे गांव की ओर जा रहे साधु यदि मार्ग में देखे कि- परिखा याने गहरी खाइ (गर्ता) प्राकार याने गढ (किल्ले) कूटागार याने पर्वत के उपर के घर; भूमिघर

(भोंयरे) वृक्ष विशेषवाले घर या वृक्ष के उपर रहे हुए घर तथा पर्वत के गुफा स्वरूप घर, तथा वृक्ष के नीचे व्यंतर आदि देव के मंदिर या स्तूप, कि- जो व्यंतरादि देवों ने बनाये हुए हैं उनके प्रति हाथ उंचा करके या अंगुली लंबी करके न देखें और न अब्य को बतावें... तथा शरीर को नीचा करके या उंचा करके भी न देखें, न दिखलावें... क्योंकि- यहां दग्ध और मुषितादि दोष के प्रसंग में साधु के उपर आशंका होवे अथवा यह साधु जितेन्द्रिय नहि है इत्यादि शंका हो सकती है... अथवा वहां रहे हुए पशु-पक्षीओं का समूह संत्रास याने भयभीत होवें... इत्यादि दोषों के भय से साधु संयमी होकर हि विचरें... विहार करें...

तथा साधु जब भ्रामांतर जावे तब मार्ग में निम्न कच्छ याने नदी के पासवाले निम्न भूमी प्रदेश या मूले एवं रीगण आदि की वाडी, तथा अटवी में घास के लिये राजकुल ने अपने ताबे में रखी हुई भूमी, तथा गर्ता याने गड्डे... वलय याने नदी आदि से वेष्टित भूमी-प्रदेश... गहन याने निर्जल ऐसा वन प्रदेश... तथा गुंजालिका याने लंबे उंडे (गहरे) एवं टेढे-मेढे वांके जलाशय, सरोवर की पंक्ति, तथ परस्पर जुडे हुए अनेक सरोवरों की पंक्ति, इत्यादि को बाहु उंचा करके न दिखलावें और स्वयं भी न देखें... क्योंकि- केवली भगवान कहते हैं कि- ऐसा करने से कर्मबंध होता है... कारण कि- वहां रहे हुए पक्षी, पशु एवं सर्प-घो-नउले आदि भयभीत होते हैं, और वहां रहनेवाले लोगों को भी साधु के उपर शंका होवे... इसलिये साधुओं को पूर्व कही गइ प्रतिज्ञा है कि- साधु ऐसा अनुचित कार्य न करें... किंतु आचार्य उपाध्याय आदि गीतार्थ साधुओं के साथ विहार करें...

अब आचार्यादि के साथ जा रहे साधुओं को जो विधि होती है वह यहां कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को विहार करते समय रास्ते में पड़ने वाले दर्शनीय स्थलों को अपने हाथ ऊपर उठाकर या अंगुलियों को फैलाकर या कुछ उंचा होकर या झुक कर नहीं देखना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि- इससे वह अपने गन्तव्य स्थान पर कुछ देर से पहुंचेगा, जिससे उसकी स्वाध्याय एवं ध्यान साधना में अन्तराय पड़ेगी और किसी सुन्दर स्थल को देखकर साधु के मन में विकार भाव कुतूहल भी जाग सकता है और उसे इस तरह झुककर या ऊपर उठकर ध्यान से देखते हुए देखकर किसी के मन में साधु के प्रति सन्देह भी उत्पन्न हो सकता है। यदि संयोग से उस दिन या उस समय के आसपास उक्त स्थान में आग लग जाए या चोरी हो जाए तो वहां के अधिकारी लोग उस साधु पर दोषारोपण भी कर सकते हैं। अतः इन सब दोषों से बचने के लिए साधु को मार्ग में पड़ने वाले दर्शनीय स्थलों की ओर अपना ध्यान न लगाकर यत्नापूर्वक अपना रास्ता तय करना चाहिए।

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि- सूत्रकार ने दर्शनीय स्थलों को इस तरह से देखने के लिए इन्कार किया है, जिससे किसी के मन में साधु के प्रति सन्देह उत्पन्न होता हो या उसके मन में विकारी भाव जागृत होता हो। परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि साधु उस तरफ से निकलते हुए आंखों को मूंद कर चले। साधु अपनी गति से चलता है और आंखों के सामने आने वाले दृश्य उसके सामने आएँ तो वह आंखें बन्द नहीं करेगा, परन्तु उस तरफ विशेष गौर से न देखता हुआ स्वाभाविक गति से अपना विचरण करेगा।

इस सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय के राजा गांव या शहर के बाहर जङ्गल में गायों एवं घोड़े आदि पशुओं के चरने के लिए कुछ गोचर भूमि या चरागाह छोड़ते थे, जिन पर किसी तरह का कर नहीं लिया जाता था। इससे यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि उस समय पशुओं के चारा-पानी और रक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसके अतिरिक्त खेत, जलाशय, गुफाओं आदि का उल्लेख करके उस युग की वास्तु कला एवं संस्कृति पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

यदि साधु को आचार्य एवं उपाध्याय आदि के साथ विहार करना हो तो उन्हें किस तरह चलना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ४६२ ॥

से भियख् वा, आयरिउवज्जा० गामा० नो आयरिय-उवज्जायस्स हत्थेण वा हत्थं जाव अणासायमाणे तओ संजयामेव आयरिउ० सद्धिं जाव दूइज्जिज्जा। से भियख् वा आय० सद्धिं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडि० एवं वइज्जा- आउसंतो ! समणा ! के तुब्भे ? कओ वा एह ? कहिं वा गच्छिहिह ? जे तत्थ आयरिए वा उवज्जाए वा से भासिज्ज वा वियागरिज्ज वा आयरिउवज्जायस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा नो अंतरा भासं करिज्जा, तओ सं० अहाराइणिए वा० दूइज्जिज्जा।

से भियख् वा० अहाराइणियं गामाणुगामं दूइज्जमाणे नो राइणियस्स हत्थेण हत्थं जाव अणासायमाणे, तओ सं० अहाराइणियं गामा० दू०।

से भियख् वा, अहाराइणियं गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडिवहिया एवं वइज्जा- आउसंतो ! समणा ! के तुब्भे ? जे तत्थ सत्वराइणिए से भासिज्ज वा वागरिज्ज वा, राइणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा नो अंतरा भासं भासिज्जा, तओ संजयामेव अहाराइणियाए

ग्रामाणुग्रामं दुइजिज्जा ॥ ४६२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, आचार्योपाध्याय० ग्रामा० न आचार्योपाध्यायानां हस्तेन वा हस्तं यावत् अनाशायतन्, ततः संयतः एव आचार्योपा० सार्द्धं यावत् गच्छेत् । सः भिक्षुः वा आचा० सार्द्धं गच्छन् अन्तरा तस्य प्रातिपथिकाः उपागच्छेयुः, ते प्रातिपथिकाः एवं वदेयुः हे आयुष्मन् ! श्रमण ! के यूयं ? कुतः वा आगच्छत ? कुत्र वा गमिष्यथ ? यः तत्र आचार्यः वा उपाध्यायः वा सः भाषेत वा व्याकुर्यात् वा, आचार्योपाध्यायस्य भाषमाणस्य वा व्याकुर्वाणस्य वा न अन्तरा भाषां कुर्यात्, ततः सं० यथारात्निकः वा० गच्छेत् । सः भिक्षुः वा यथारात्निकं ग्रामा० गच्छन्तं न रात्निकस्य हस्तेन हस्तं यावत् अनाशायतन्, ततः सं० यथारात्निकं ग्रामानुग्रामं गच्छेत् । सः भिक्षुः वा यथारात्निकं ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा तस्य प्रातिपथिकाः उपागच्छेयुः, ते प्रातिपथिकाः एवं वदेयुः- हे आयुष्मन् ! श्रमण ! के यूयं ? यः तत्र सर्वरात्निकः, सः भाषेत वा व्याकुर्यात् वा, रात्निकस्य भाषमाणस्य वा व्याकुर्वाणस्य वा न अन्तरा भाषां भाषेत, ततः संयतः एव यथारात्निकेन ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥ ४६२ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु अथवा साध्वी आचार्य और उपाध्याय के साथ विहार करता हुआ, आचार्य और उपाध्याय के हाथ से अपने हाथ का स्पर्श न करे, और आशातना न करता हुआ ईयासिमिति पूर्वक उनके साथ विहार करे। उनके साथ विहार करते हुए मार्ग में यदि कोई व्यक्ति मिले और वह इस प्रकार कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! आप कौन हैं ? कहां से आये हैं ? और कहां जाएंगे ? तो आचार्य या उपाध्याय जो भी साथ में है वे उसे सामान्य अथवा विशेष रूप से उत्तर देवे। परन्तु, साधु को उनके बीच में नहीं बोलना चाहिए। किन्तु, ईयासिमिति का ध्यान रखता हुआ उनके साथ विहार चर्या में प्रवृत्त रहे। और यदि कभी साधु रत्नाधिक (अपने से दीक्षा में बड़े साधु) के साथ विहार करता हो तो उस रत्नाधिक के हाथ से अपने हाथ का स्पर्श न करे और यदि मार्ग में कोई पथिक सामने मिले और पूछे कि आयुष्मन् श्रमणो ! तुम कौन हो ? तब वहां पर जो सबसे बड़ा साधु हो वह उत्तर देवे उसके संभाषण में अर्थात् उत्तर देने के समय उसके बीच में अन्य कोई साधु न बोले किन्तु यत्नापूर्वक रत्नाधिक के साथ विहार में प्रवृत्त रहे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु आचार्यादि के साथ जाता हुआ इतनी दूरी से चले कि- आचार्यादि के हाथ

को अपने हाथ से स्पर्श न हो... तथा वह साधु आचार्यादि के साथ जा रहा हो तब मार्ग में कोइ मुसाफिर प्रश्न पूछे तब आचार्य आदि के अनुमति के बिना उत्तर न दें, तथा आचार्यादि जब जवाब देते हो तब बीच में कुछ भी न बोलें... इस प्रकार मार्ग में जाता हुआ वह साधु संयमी होकर युगप्रमाण (चार हाथ) भूमी पे नजर रखता हुआ रत्नाधिकों के अनुक्रम से चलें... यह यहां सारांश है... इसी प्रकार आगे के दो सूत्र भी आचार्य एवं उपाध्याय की तरह अन्य रत्नाधिक साधु के साथ चलते वरुत्त भी हाथ से हाथ का स्पर्श एवं वार्तालाप के बीच बात आदि न करें... इत्यादि स्वयं जानीयेगा...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु आचार्य, उपाध्याय एवं रत्नाधिक (अपने से दीक्षा में बड़े साधु) के साथ विहार करते समय अपने हाथ से उनके हाथ का स्पर्श करता हुआ न चले और यदि रास्ते में कोई व्यक्ति मिले और वह पूछे कि आप कौन हैं ? कहां से आ रहे हैं ? और कहां जाएंगे ? आदि प्रश्नों का उत्तर साथ में चलने वाले आचार्य, उपाध्याय या बड़े साधु दे, परन्तु छोटे साधु को न तो उत्तर देने का प्रयत्न करना चाहिए और न बीच में ही बोलना चाहिए। क्योंकि आचार्य आदि के हाथ एवं अन्य अङ्गोंपांग का अपने हाथ आदि से स्पर्श करने से तथा वे किसी के प्रश्नों का उत्तर दे रहे हों उस समय उनके बीच में बोलने से उनकी अशांतता होगी और वह साधु भी असभ्य सा प्रतीत होगा। अतः उनकी विनय एवं शिष्टता का ध्यान रखते हुए साधु को विवेक पूर्वक चलना चाहिए।

यदि कभी आचार्य, उपाध्याय या बड़े साधु छोटे साधु को प्रश्नों का उत्तर देने के लिए कहे तो वह उस व्यक्ति को उत्तर दे सकता है और इसी तरह यदि आचार्य आदि के शरीर में कोई वेदना हो गई हो या चलते समय उन्हें उसके हाथ के सहारे की आवश्यकता हो तो वह उस स्थिति में उनके हाथ को सहारा दे सकता है। यहां जो निषेध किया गया है, वह बिना किसी कारण से एवं उनकी आज्ञा के बिना उनके हाथ आदि का स्पर्श करने एवं उनके बीच में बोलने के लिए किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में आचार्य आदि के साथ विहार करने के प्रसंग में जो साधु-साध्वी का उल्लेख किया है, वह सूत्र शैली के अनुसार किया गया है। परन्तु, साधु-साध्वी एक साथ विहार नहीं करते हैं, अतः आचार्य आदि के साथ साधुओं का ही विहार होता है, साधिवियों का नहीं। उनका विहार महत्तरा (प्रवर्तिनी) आदि के साथ होता है। साधु और साध्वी दोनों के नियमों में समानता होने के कारण दोनों का एक साथ उल्लेख कर दिया गया है। अतः जहां साधुओं का प्रसंग हो वहां आचार्य आदि का और जहां साधिवियों का प्रसंग हो वहां प्रवर्तिनी आदि का प्रसंग समझना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ४६३ ॥

से भिक्खू वा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडि० एवं वइज्जा-आउसंतो ! समणा ! अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह- तं० मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा पसुं वा पविस्सं वा सरीसवं वा जलयरं वा से आइयस्सह दंसेह, तं नो आइयस्सज्जा नो दंसिज्जा, नो तस्स तं परिणं परिजाणिज्जा, तुसिणीए उवेहिज्जा, जाणं वा न जाणंति वइज्जा, तओ सं० गामा० दू० ।

से भिक्खू वा० गा० अंतरा से पाडि० उवा० ते णं पाडि० एवं वइज्जा- आउ० सं० ! अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह उदगपसूयाणि कंदाणि वा मूलाणि वा तथा पत्ता पुप्फा फला बीया हरिया उदगं वा संनिहियं अगणिं वा संनिविसत्तं से आइयस्सह जाव दूइज्जिज्जा । से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाडि० उवा० ते णं पाडि० व०- आउ० सं० ! अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह जवसाणि वा जाव से णं वा विरूवरूवं संनिविडुं, से आइयस्सह जाव दूइज्जिज्जा ।

से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा पाडि० जाव आउ० सं० ! केवइए इत्तो गामे वा जाव रायहाणिं वा से आइयस्सह जाव दूइज्जिज्जा । से भिक्खू वा, गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से पाडिपहिया० आउसंतो ! समणा ! केवइए इत्तो गामस्स नगरस्स वा जाव रायहाणीए वा मग्गे ? से आइयस्सह, तहेव जाव दूइज्जिज्जा ॥ ४६३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० गच्छन् अन्तरा तस्य प्रातिपथिकाः उपागच्छेयुः ते प्राति० एवं वदेयुः- हे आयुष्मन् ! श्रमण ! अपि च किं इतः प्रतिपथि पश्यत (दर्शयत) तद्यथा मनुष्यं वा गां वा महिषं वा पशुं वा पक्षिणं वा सरीसृपं वा जलचरं वा, तस्य आचक्षीत दर्शयत, तं न आचक्षीत न दर्शयेत्, न तस्य तां परिज्ञां परिजानीयात्, तूष्णीकः उपेक्षेत, ज्ञानं वा न ज्ञानं इति वदेत्, ततः संयतः एव ब्रामानुश्यामं गच्छेत् ।

सः भिक्षुः वा० गामा० गच्छतः अन्तरा तस्य प्रातिपथिकाः उपागच्छेयुः, ते प्राति० एवं वदेयुः- हे आयुष्मन् ! श्रमण ! अपि च किं इतः मार्गं (प्रतिपथि) पश्यत उदकं प्रसूतानि कन्दानि वा मूलानि वा त्वक्, पत्राणि पुष्पाणि फलानि बीजानि हरितानि उदकं वा संनिहितं, अग्निं वा संनिक्षिप्तं, तस्य आचक्षीत यावत् गच्छेत् । सः भिक्षुः वा गामा० गच्छन् अन्तरा तस्य प्राति० उपा० ते प्राति० वदेयुः- हे आयुष्मन् ! श्रमण ! अपि च

किं इतः प्रतिपथि पश्यत यवसानि वा यावत् तस्य वा विरूपरूपं संनिविष्टं, तस्य आचक्षीत यावत् गच्छेत् ।

सः भिक्षुः वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा प्राति० यावत् हे आयुष्मन् ! श्रमण ! कियन्तं इतः ग्रामं वा पावत् राजधानीं वा ? तस्य आचक्षीत यावत् गच्छेत् ।

सः भिक्षुः वा ग्रामा० गच्छन् अन्तरा प्रातिपथिकाः हे आयुष्मन् ! श्रमण ! कियान् इतः ग्रामस्य नगरस्य वा यावत् राजधान्याः वा मार्गः ? तस्य आचक्षीत, तथैव यावत् गच्छेत् ॥ ४६३ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु अथवा साध्वी को विहार करते हुए यदि मार्ग के मध्य में सामने से कोई पथिक मिले और वह साधु से कहें कि आयुष्मन् श्रमण ! क्या आपने मार्ग में मनुष्य को, मृग को, महिष को, पशु को, पक्षी को, सर्प को और जलचरो को जाते हुए देखा है ? यदि देखा हो तो बतलाओ वे किस ओर गए हैं ? साधु इन प्रश्नों का कोई उत्तर न दे और मौन भाव से रहे, तथा उसके उक्त वचन को स्वीकार न करे, तथा जानता हुआ भी यह न कहे कि मैं जानता हूँ। तथा ग्रामानुग्राम विचरते हुए साधु को मार्ग में वे पथिक यह पूछें कि आयुष्मन् श्रमण ! क्या आपने इस मार्ग में जल से उत्पन्न होने वाले कन्दमूल, त्वचा, पत्र, पुष्प, फल, बीज, हरित, एवं जल के स्थान और प्रज्वलित हुई अग्नि को देखा है तो बताओ कहां देखा है ? इसके उत्तर में भी साधु कुछ न कहे अर्थात् चुप रहे। तथा ईर्या समिति पूर्वक विहार चर्या में प्रवृत्त रहे और यदि यह पूछें कि इस मार्ग में धान्य और तृण-घांस कहां पर है ? तो इस प्रश्न के उत्तर में भी मौन रहे। यदि वे पूछें कि आयुष्मन् श्रमण ! यहां से ग्राम यावत् राजधानी कितनी दूर है ? तथा यहां से ग्राम नगर यावत् राजधानी का मार्ग कितना शेष रहा है ? इन का भी उत्तर न दे तथा जानता हुआ भी मैं जानता हूँ ऐसा न कहे, किन्तु मौन धारण करके ईर्यासमिति पूर्वक अपना रास्ता तय करे।

IV टीका-अनुवाद :

मार्ग में जाते हुए उस साधु को कोइक मुसाफिर ऐसा कहे कि- हे आयुष्मान् श्रमण ! क्या आपने मार्ग में आते हुए कोइ मनुष्य को देखा था ? इस प्रकार पुछते हुए उस मुसाफिर की मौन रहकर उपेक्षा करें... अथवा जानते हुए भी कहे कि- मैं नहि जानता... इत्यादि...

तथा ग्रामांतर जाते हुए उस साधु को मार्ग में सामने से आ रहा कोइक मुसाफिर पुछे तब जल में उत्पन्न हुए कंदमूलादि का स्वरूप न कहें... जानते हुए भी कहे कि- मैं नहि जानता हूँ... इसी प्रकार यवस-धान्यादि सूत्र में भी जानीयेगा... तथा गांव आदि कितने दूर

है ? इत्यादि प्रश्न-सूत्र भी पूर्ववत् जानीयेगा... इसी प्रकार- कितना मार्ग है ? इत्यादि भी पूर्ववत् स्वयं हि जानीयेगा...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि विहार करते समय कोई पथिक पूछे कि हे मुनि ! आपने इधर से किसी मृग, गाय आदि पशु-पक्षी या मनुष्य आदि को जाते हुए देखा है ? इसी तरह जलचर एवं वनस्पतिकाय या अग्नि आदि के सम्बन्ध में भी पूछे और कहे कि यदि आपने इन्हें देखा है तो बताइए वे कहां हैं या किस ओर गए हैं ? उसके ऐसा पूछने पर साधु को मौन रहना चाहिए। क्योंकि, यदि साधु उसे उनका सही पता बता देता है तो उसके द्वारा उन प्राणियों की हिंसा होना सम्भव है। अतः पूर्ण अहिंसक साधु को प्राणीमात्र के हित की भावना को ध्यान में रखते हुए उस समय मौन रहना चाहिए।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त 'जाणं वा नो जाणंति वइज्जा' के अर्थ में दो विचार-धाराएं हमारे सामने हैं। परन्तु, इस बात में सभी विचारक एकमत हैं कि साधु को ऐसी भाषा का बिल्कुल प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे अनेक प्राणियों की हिंसा होती हो। इस दया भावना को ध्यान में रखते हुए वृत्तिकार उक्त पदों का यह अर्थ करते हैं— साधु जानते हुए भी यह कहे कि मैं नहीं जानता। इसमें साधु की भावना असत्य बोलने की नहीं, प्रत्युत उसकी उपेक्षा करके जीवों की रक्षा करने की भावना है।

यह भी तो स्पष्ट है कि- प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त 'वा' शब्द अपि (भी) के अर्थ में व्यवहृत हुआ है और 'नो' शब्द 'वइज्जा' क्रिया से संबद्ध है। इस तरह इसका अर्थ हुआ कि साधु जानते हुए भी यह नहीं कहे कि मैं जानता हूँ।

आगमों में प्रायः 'नो' शब्द का क्रिया के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है— 'न सिणेहं कर्हिचि कुव्वेज्जा' अर्थात् कहीं पर भी स्नेह न करे। इस सूत्र में 'न' का क्रिया के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। इसके अतिरिक्त आगम में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमें 'नो' शब्द को क्रिया के साथ ही सम्बद्ध माना है। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में 'नो' शब्द को 'वइज्जा' क्रिया से सम्बद्ध मानना ही युचित-युक्त प्रतीत होता है। यदि इस तरह से 'नो' शब्द को क्रिया के साथ जोड़कर अर्थ नहीं करेंगे तो फिर मौन रखने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाएगा। फिर तो साधु सीधा ही यह कहकर आगे बढ़ जाएगा कि मैं नहीं जानता। परन्तु, आगम में जो मौन रखने को कहा गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को जानते हुए भी यह नहीं कहना चाहिए कि मैं नहीं जानता। साधु को जीवों की हिंसा एवं असत्य भाषा दोनों से बचना चाहिए।

आगम में कहा गया है कि जिस भाषा के प्रयोग से जीवों की हिंसा होती हो वैसी सत्य भाषा भी साधु को नहीं बोलनी चाहिए। और यह भी बताया गया है कि साधु को सत्य एवं व्यवहार भाषा बोलनी चाहिए और मिश्र एवं असत्य भाषा का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। साधु दूसरे महाव्रत में असत्य भाषण का सर्वथा त्याग करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को ऐसे प्रसंगों पर मौन रहना चाहिए। चाहे उस पर कितना भी कष्ट क्यों न आए, फिर भी जानते हुए भी उसे यह नहीं कहना चाहिए कि मैं जानता हूँ और झूठ भी नहीं बोलना चाहिए।

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ४६४ ॥

से भियस्सू वा० गामा० दू० अंतरा से गोणं वियालं पडिवहे पेहाए जाव चित्तचिल्लडं वियालं पडि० पेहाए नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छिज्जा, नो मग्गाओ उम्मग्गं संकमिज्जा, नो गहणं वा वणं वा दुग्गं वा अप्पुपविसिज्जा, नो रुक्खंसि वा दूरुहिज्जा, नो महइमहालयंसि उदयंसि कायं विउसिज्जा, नो वाडं वा सरणं वा सेणं वा सत्थं वा कंखिज्जा, अप्पुस्सुए जाव समाहीए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा।

से भियस्सू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिंया, से जं पुण विहं जाणिज्जा इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा उवगरणपडियाए संपिडिया गच्छिज्ज, नो तेसिं भीओ उम्मग्गेण गच्छिज्जा जाव समाहीए, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ ४६४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा तस्य गां वा व्यालं वा प्रतिपथि प्रेक्ष्य यावत् चित्तकं तदपत्यं वा व्यालं प्रेक्ष्य न तेभ्यः भीतः उन्मार्गेण गच्छेत्, न मार्गात् उन्मार्गं सङ्क्रामेत्, न गहनं वा वनं वा दुर्गं वा अनुप्रविशेत्, न वृक्षं दूरुहेत्, न महति-महालये उदके कायां प्रविशेत्, न वृत्तिं वा शरणं वा सेनां वा शस्त्रं वा काङ्क्षेत्, अल्पोत्सुकः यावत् समाधिना ततः संयतः एव ग्रामानुग्रामं गच्छेत्। सः भिक्षुः वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा तस्य अटवीप्रायः दीर्घोऽध्या स्यात् सः तं पुनः अध्वानं जानीयात्- अस्मिन् खलु अध्वनि बहवः आमोषकाः उपकरण-प्रतिज्ञया संपिण्डिताः गच्छेयुः, न तेभ्यः भीतः उन्मार्गेण गच्छेत् यावत् समाधिना, ततः संयतः एव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ॥ ४६४ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु अथवा साध्वी को ब्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग में यदि मदोन्मत्त वृषभ-बैल या विषैले सांप या चीते आदि हिंसक जीवों का साक्षात्कार हो तो उसे देखकर साधु को भयभीत नहीं होना चाहिए तथा उनसे डरकर उन्मार्ग में गमन नहीं करना चाहिए और मार्ग से उन्मार्ग का संक्रमण भी नहीं करना चाहिए। और गहन वन एवं विषम स्थान में भी साधु प्रवेश न करे, एवं न विस्तृत और गहरे जल में ही प्रवेश करे और न वृक्ष पर ही चढ़े। इसी प्रकार वह सेना और अन्य साधियों का आश्रय भी न ढूंढे, किन्तु राग-द्वेष से रहित होकर यावत् समाधिपूर्वक ब्रामानुग्राम विहार करे।

यदि साधु या साध्वी को विहार करते हुए मार्ग में अटवी आ जाए तो साधु उसको जानले, जैसे कि अटवी में चोर होते हैं और वे साधु के उपकरण लेने के लिए इकट्ठे होकर आते हैं, यदि अटवी में चोर एकत्रित होकर आए तो साधु उनसे भयभीत न हो तथा उनसे डरकर उन्मार्ग की ओर न जाए किन्तु राग-द्वेष से रहित होकर यावत् समाधिपूर्वक ब्रामानुग्राम विहार करने में प्रवृत्त रहे।

IV टीका-अनुवाद :

एक गांव से दूसरे गांव में जाते हुए साधु को जब मार्ग में मदोन्मत्त बैल देखने में आवे... या क्रूर सिंह, वाघ, चित्ता या उनके बच्चे देखे तब उनके भय से मार्ग को छोड़कर उन्मार्ग से न जावे... तथा गहन वनराजी में भी प्रवेश न करें... तथा वृक्ष आदि के उपर भी न चढ़ें और जल में भी प्रवेश न करें तथा अन्य कोई शरण याने आश्रय को भी न ढूंढें... न चाहें... किंतु उत्सुकता को छोड़कर शांत मनवाला होकर संयमी होकर हि मार्ग में चलें... यह बात गच्छ-निर्गत याने जिन-कल्पवालों के लिये है... और जो गच्छवास में रहते हैं वे स्थविर कल्पवाले तो मदोन्मत्त क्रूर बैल आदि का दूर से हि त्याग करें...

तथा ग्रामांतर की ओर जाते हुए उन साधुओं को मार्ग में यदि अटवी जैसा लंबा मार्ग आवे, और वहां लुंटेरे-चौर वस्त्रादि उपकरण लुंटेने के लिये आवें, तब उनके भय से साधु उन्मार्ग में न जावे... इत्यादि...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधु की निर्भयता के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि यदि साधु को रास्ते में उन्मत्त बैल, शेर आदि हिंसक प्राणी मिल जाएं या कभी मार्ग भूल जाने के कारण भयंकर अटवी में गए हुए साधु को चोर, डाकू आदि मिल जाएं तो मुनि को उनसे भयभीत होकर इधर-उधर उन्मार्ग पर नहीं जाना चाहिए, न वृक्ष पर

चढ़ना चाहिए और न विस्तृत एवं गहरे पानी में प्रवेश करना चाहिए, परन्तु सग-द्वेष से रहित होकर अपने मार्ग पर चलते रहना चाहिए।

प्रस्तुत प्रसंग साधु की साधुता की उत्कृष्ट साधना का परिचायक है। वह अभय का देवता न किसी को भय देता है और न किसी से भयभीत होता है। क्योंकि, प्राणी जगत को अभयदान देने वाला साधक कभी भय ग्रस्त नहीं होता। भय उसी प्राणी के मन में पनपता है, जो दूसरों को भय देता है या जिसकी साधना में, अहिंसा में अभी पूर्णता नहीं आई है। क्योंकि, भय एवं अहिंसा का परस्पर विरोध है। मानव जीवन में जितना-जितना अहिंसा का विकास होता है उतना ही भय का हास होता है और जब जीवन में पूर्ण अहिंसा साकार रूप में प्रकट हो जाती है तो भय का भी पूर्णतः नाश हो जाता है। अहिंसा निर्भयता की निशानी है।

यह वर्णन पूर्ण अहिंसक साधक को ध्यान में रखकर किया गया है। सामान्यतः सभी साधु हिंसा के त्यागी होते हैं, फिर भी सबकी साधना के स्तर में कुछ अन्तर रहता है। सब के जीवन का समान रूप से विकास नहीं होता। इसी अपेक्षा से वृत्तिकार ने प्रस्तुत सूत्र को जिनकल्पी मुनि की साधना के लिए बताया है। क्योंकि स्थविर कल्पी मुनि की यदि कभी समाधि भंग होती हो तो हिंसक जीवों से युक्त मार्ग का त्याग करके अन्य मार्ग से भी आ-जा सकता है। आगम में भी लिखा है कि यदि मार्ग में हिंसक प्राणी बैठे हों या घूम-फिर रहे हों तो मुनि को वह मार्ग छोड़ देना चाहिए।

वृत्तिकार ने प्रस्तुत सूत्र जो जिनकल्पी मुनि से सम्बद्ध बताया है। हिंसक प्राणियों से भयभीत न होने के प्रसंग में तो यह युक्ति संगत प्रतीत होता है। परन्तु, अटवी में चोरों द्वारा उपकरण छीनने के प्रसंग में जिनकल्पी की कल्पना कैसे घटित होगी? क्योंकि उनके पास वस्त्र एवं पात्र आदि तो होते ही नहीं, अतः उनके लूटने का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होगा। इसका समाधान यह है कि आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में सूत्रकार ने एक, दो और तीन चादर रखने वाले जिनकल्पी मुनि का भी वर्णन किया है, अतः कुछ जिनकल्पी मुनियों के उत्कृष्ट १२ उपकरण स्वीकार किए हैं। अतः इस दृष्टि से इस साधना को जिनकल्पी मुनि की साधना मानना युक्ति संगत ही प्रतीत होता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ४६५ ॥

से भियस्सु वा० गामा० दू० अंतरा से आमोसगा संपिडिया गच्छिज्जा, ते णं आमोसगा एवं इज्जा-आउसंतो ! समणा ! आहर एयं वत्थं वा, देहि निविस्सवाहि, तं

नो दिज्जा निविखविज्जा, नो वंदिय जाइज्जा, नो अंजलिं कट्टु जाइज्जा, नो कलुणपडियाए जाइज्जा, धम्मियाए जायणाए जाइज्जा, तुसिणीयभावेण वा ते णं आमोसगा सयं करणिज्जं ति कट्टु अयकोसंति वा जाव उद्वित्ति वा वत्थं वा, अच्चिंदिज्ज वा जाव परिइविज्ज वा, तं नो गामसंसारियं कुज्जा, नो रायसंसारियं कुज्जा, नो परं उवसंकमित्तु ब्या-आउसंतो ! गाहावई ! एए खलु आमोसगा उवगरण पडियाए सयं करणिज्जं ति कट्टु अयकोसंति वा जाव परिइवति वा, एयप्पगारं मणं वा वायं वा नो पुरओ कट्टु विहरिज्जा, अप्पुस्सुए जाव समाहीए, तओ संजयामेव गामा० दूइ० । एयं खलु० सया जइ० तिबेमि ॥ ४६५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा तस्य आमोषकाः संपिण्डिताः गच्छेयुः, ते एवं वदेयुः-- हे आयुष्मन् श्रमण ! आहर एतत् वस्त्रं वा, देहि, निक्षिप, तं न दद्यात्, निक्षिपेत्, न वन्दि त्वा (दीनं वा), याचेत्, न अञ्जलीं कृत्वा याचेत्, न करुण प्रतिज्ञया याचेत्, धार्मिकया याचनया याचेत् तूष्णीकभावेन वा ते आमोषकाः स्वयं करणीयं इति कृत्वा आक्रोशन्ति वा यावत् उपद्रवयन्ति, वा, वस्त्रं वा, आच्छिन्त्युः यावत् प्रतिष्ठापयेयुः वा, तं न ग्राम संसारणीयं कुर्यात्, न राजसंसारणीयं कुर्यात्, न परं उपसङ्कम्य ब्रूयात्- हे आयुष्मन् ! गृहपते ! एते खलु आमोषकाः उपकरणप्रतिज्ञया स्वकरणीयं इति कृत्वा आक्रोशन्ति वा यावत् अपद्रवयन्ति, वा, वस्त्रं वा, आच्छिन्त्यात् वा यावत् परिष्ठापयेत् वा, एतत् प्रकारं मनः वा वाचं वा न पुरतः कृत्वा विहरेत्, अल्पोत्सुकः यावत् समाधिना, ततः संयतः एव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् । एतत् खलु० सदा यतेत इति ब्रवीमि ॥ ४६५ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु अथवा साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करते हुए यदि मार्ग में बहुत से चोर मिलें और वे कहें कि- आयुष्मन् श्रमण ! यह वस्त्र, पात्र और कंबल आदि हमको दे दो या यहां पर रख दो । तो साधु वे वस्त्र, पात्रादि उनको न देवे, किन्तु भूमि पर रख दे, परन्तु उन्हें वापिस प्राप्त करने के लिए मुनि उनकी स्तुति करके, हाथ जोड़ कर या दीन वचन कह कर उन वस्त्रादि की याचना न करे अर्थात् उन्हें वापिस देने को न कहे । तथा यदि मांगना हो तो उन्हें धर्म का मार्ग समझाकर मांगे अथवा मौन रहे । वे चोर अपने चोर के कर्तव्य को जानकर साधु को मारे-पीटें या उसका वध करने का प्रयत्न करें और उसके वस्त्रादि को छीन लें, फाड़ डालें या फेंक दें तो भी वह भिक्षु ग्राम में जाकर लोगों से न कहे और न राजा से ही कहे एवं किसी अन्य गृहस्थ के पास जाकर भी यह न कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ ! इन चोरों ने मेरे उपकरणादि को छीनने के लिए मुझे मारा है और उपकरणादि को दूर फेंक दिया

है। ऐसे विचारों को साधु मन में भी न लाए और न वचन से उन्हें अभिव्यक्त करे। किन्तु राग-द्वेष से रहित हो कर समभाव से समाधि में रहकर ग्रामानुग्राम दिचरे। यही मुनि का यथार्थ साधुत्व-साधु भाव है। इस प्रकार में कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु जब एक गांव से दूसरे गांव में जा रहे हो तब मार्ग में यदि कोई चौर वस्त्रादि उपकरण मांगे, तब वे वस्त्रादि उन्हें न दें... यदि वे बल से लुटने की कोशीश करे तब साधु व वस्त्रादि भूमी के उपर फेंक दें... किन्तु इस परिस्थिति में लुटे हुए उपकरणों की याचना दीन भाव से न करें, किन्तु गच्छगत याने स्थविर कल्पवाला साधु चौरों को धर्मकथा कहने के द्वारा वस्त्रादि की याचना करें, या मौन रहकर हि उपेक्षा करें... तथा वे चौर यह अपना कर्तव्य है ऐसा मानकर इस प्रकार करे... जैसे कि- वाणी से आक्रोश करे... तथा दंड याने लकड़ी से ताडन (मार मारें) करें या इस जीवन का अंत करे याने मार डाले, अथवा वस्त्रादि लुट लेवें... इतने में साधु वहीं वस्त्रादि का त्याग करें... तथा उन लेंटेरों की वह लुटने की चेष्टा (बात) गांव में किसी को न कहें... तथा राजकुलादि में भी न कहें, तथा अन्य गृहस्थ के पास जाकर भी वह साधु चौरों की चेष्टा न कहें, एवं इस प्रकार का मन एवं वाणी का संकल्प भी न करें... किन्तु अन्य क्षेत्र की और विहार करें... क्योंकि- ऐसा आचरण करने में हि उस साधु का साधुपना है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में भी अनंतरोक्त सूत्र की तरह साधु की निर्भयता एवं सहिष्णुता पर प्रकाश डाला गया है। इसमें बताया गया है कि विहार करते समय यदि रास्ते में कोई चोर मिल जाए और वह मुनि से कहे कि तू अपने उपकरण हमें दे दे या जमीन पर रख दे। तो मुनि शम भाव से अपने वस्त्र पात्र आदि जमीन पर रख दे। परन्तु, उन्हें वापिस प्राप्त करने के लिए उन चोरों से याचना न करे, न उनके सामने दीन वचन ही बोले। यदि बोलना उचित समझे तो उन्हें धर्म का मार्ग दिखाकर उन्हें पापकर्मों से बचाए, अन्यथा मौन रहे। इसके अतिरिक्त यदि कोई चोर साधु से वस्त्र आदि ग्रहण करने के लिए उसे मारे-पीटे या उसका वध करने का प्रयत्न भी करे या उसके सभी उपकरण भी छीन ले या उन्हें तोड़-फोड़ कर दूर फेंक दे, तब भी मुनि उस पर राग-द्वेष न करता हुआ समभाव से गांव में आ जाए। गांव में आकर भी वह यह बात किसी भी गृहस्थ, अधिकारी या राजा आदि से न कहे। और न इस सम्बन्ध में किसी तरह का मानसिक चिन्तन ही करे। वह मुनि मन, वचन और काया से उस से (चोर से) किसी भी तरह का प्रतिशोध लेने का प्रयत्न न करे।

इस सूत्र में साधुता के महान् उज्ज्वल रूप को चित्रित किया गया है। अपना अपकार

करने वाले व्यक्ति का कभी बुरा नहीं चाहना एवं उसे कष्ट में डालने का प्रयत्न नहीं करना, यह आत्मा की महानता को प्रकट करता है। यह आत्मा के विकास की उत्कृष्ट श्रेणी है जहां पर पहुंच कर मानव अपने वधक-शत्रु के प्रति भी द्वेष भाव नहीं रखता। वह मुनि मारने एवं सेवा करने वाले दोनों पर समभाव रखता है, दोनों को मित्र समझता है और दोनों का हित चाहता है। यही साधुचर्या आत्मा से परमात्मा पद को प्राप्त करने की या साधक से सिद्ध बनने की श्रेणी है।

'तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथमचूलिकायां तृतीय-ईयाध्ययने तृतीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

॥ समाप्तं तृतीयमध्ययनम् ॥

卐卐卐

: प्रथमः :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्थामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिधरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिधरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. १६.卐 विक्रम सं. २०५८.

ॐ 卐 ॐ 卐 ॐ 卐

आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - ४ उद्देशक - १

卐 भाषा-जातम् 卐

तीसरा अध्ययन कहा, अब चौथे अध्ययन का प्रारंभ करते हैं... यहां परस्पर यह संबंध है कि- पिंड की विशुद्धि के लिये गमन (जाने की) विधि कही अब वहां मार्ग में चलते चलते कौन सी बातें बोलना और कौन सी बातें न बोलना इत्यादि कहेंगे... अतः इस प्रकार के संबंध से आये हुए इस चौथे अध्ययन का चार अनुयोग द्वारा होते हैं... उनमें निक्षेप नियुक्ति-अनुगम में भाषा-जात शब्दों का निक्षेपार्थ स्वयं नियुक्तिकार हि कहते हैं...

नि. ३१६

जिस प्रकार वाक्यशुद्धि अध्ययन में वाक्य के निक्षेप कीये है, उसी प्रकार भाषा के भी निक्षेप करने चाहिये... "जात" शब्द का छह निक्षेप इस प्रकार होते हैं... १. नाम जात, २. स्थापना जात, ३. द्रव्य जात, ४. क्षेत्र जात, ५. काल जात, ६. भाव जात... उनमें नाम एवं स्थापना सुगम है... तथा द्रव्य जात के दो भेद हैं... १. आगम से द्रव्य जात २. नो आगम से द्रव्य जात... उनमें तद्व्यतिरिक्त नो आगम से द्रव्य जात के चार भेद होते हैं १. उत्पत्ति द्रव्य जात, २. पर्यवजात, ३. अंतर जात, ४. ग्रहण जात... उनमें उत्पत्ति जात याने जो द्रव्य भाषा-वर्गणा के है, उन्हें काययोग के द्वारा ग्रहण करके वाणी-भाषा स्वरूप परिणाम उत्पन्न होना... अर्थात् जो द्रव्य भाषा स्वरूप उत्पन्न हुए वह उत्पत्ति-जात-द्रव्य नो आगम से... तथा (२) पर्यवजात याने वाणी-भाषा स्वरूप उत्पन्न हुए भाषा-द्रव्य से विश्रेणि में जो भाषा-वर्गणा के पुद्गल हैं, वे, उत्पन्न हुए भाषा-द्रव्य के पराघातसे भाषा-पर्यायत्व रूप उत्पन्न होते हैं... तथा (३) अंतरजात याने अंतराल मार्ग में हि समश्रेणि में रहे हुए भाषा-वर्गणा के पुद्गल उत्पन्न हुए भाषा द्रव्य से मिश्रित होकर भाषा-परिणाम को पाते हैं वे अंतरजात... तथा (४) ग्रहण जात याने समश्रेणि या विश्रेणिमें जो कोई भाषा-वर्गणा के पुद्गल हैं, वे भाषा-परिणाम पाकर कर्ण-कान के छिद्र में प्रवेश करते हैं और पंचेन्द्रिय जीव उन्हें ग्रहण करते हैं वे ग्रहणजात...

इस प्रकार द्रव्य जात कहा, अब क्षेत्रादि जात का प्रसंग है, किंतु सुगम होने के कारण से नियुक्तिकार ने उनकी व्याख्या नहि की है... किंतु टीकाकार संक्षेप में उनका स्वरूप कहते हैं... क्षेत्रजात याने जिस क्षेत्र में भाषा-जात का वर्णन किया जाय वह क्षेत्र या जितने प्रमाण क्षेत्र में भाषा-जात फैल कर रहे या स्पर्श करके रहे वह क्षेत्र जात... इसी प्रकार काल-जात जानीयेगा... तथा भावजात याने उत्पत्ति-पर्यव-अंतर एवं ग्रहण जात द्रव्य जब श्रोता (सुननेवाले)

के कर्ण याने कान में प्रवेश करके "यह शब्द है" ऐसी जो बुद्धि याने समझ (ज्ञान) उत्पन्न हो वह भाव जात... किंतु यहां इन छह में से द्रव्यभाषा-जात का अधिकार है... यहां द्रव्य की प्रधान विवक्षा के द्वारा हि भाव की सिद्धि होती है... क्योंकि- द्रव्य की विशिष्ट अवस्था हि भाव है... अतः भाव-भाषा-जात का भी यहां अधिकार है...

अब उद्देशार्थाधिकार के लिये कहते हैं

इस चौथे अध्ययन के दो उद्देशक हैं... यद्यपि दो उद्देशकों में वचन-भाषा को विशुद्धि करनेवाले हैं... तो भी परस्पर इतना विशेष है कि- पहले उद्देशक में वचन की विभक्ति याने एकवचन आदि सोलह प्रकार के वचन विभाग है, उनमें कैसे वचन बोलने चाहिये और कैसे वचन न बोलें इत्यादि वर्णन किया जाएगा... तथा दूसरे उद्देशक में कहेंगे कि- जिस वचन से क्रोध आदि की उत्पत्ति न हो ऐसे वचन (भाषा) बोलने चाहिये...

अब सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुण सहित सूत्र का उच्चार करना चाहिये और प्रथम उद्देशक का यह प्रथम सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४६६ ॥

से भिक्खू वा इमाइं वयायाराइं सुच्चा निसम्म इमाइं अणायाराइं अणारियपुष्वाइं जाणिज्जा- जे कोहा वा वायं विउंजंति, जे माणा वा० जे मायाए वा० जे लोभा वा वायं विउंजंति, जाणओ वा फरुसं वयंति, अजाणओ वा फ० सव्वं चेयं सावज्जं वज्जिज्जा विवेगमायाए, धुवं चेयं जाणिज्जा, अधुवं चेयं जाणिज्जा, असणं वा, लभिय नो लभिय, भुजिय नो भुजिय, अदुवा आगओ अदुवा नो आगओ, अदुवा एइ अदुवा नो एइ, अदुवा एहिइ अदुवा नो एहिइ, इत्थ वि आगए इत्थ वि नो आगए, इत्थ वि एइ, इत्थ वि नो एति, इत्थ वि एहिति इत्थ वि नो एहिति ।

अणुवीइ निट्ठाभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा, तं जहा- एगवयणं १. दुवयणं, २. ३. बहुवयणं, ४. इत्थिवयणं, ५. पुरिसवयणं, ६. नपुंसगवयणं, ७. अज्झत्थवयणं, ८. उवणीयवयणं, ९. अवणीयवयणं, १०. उवणीय-अवणीयवयणं, ११. अवणीय-उवणीयवयणं, १२. तीयवयणं, १३. पडुप्पणवयणं, १४. अणागयवयणं, १५. पच्चक्खवयणं, १६. परुक्खवयणं... से एवगयणं वइस्सामीति एगवयणं वइज्जा जाव परुक्खवयणं वइस्सामीति परुक्खवयणं वइज्जा, इत्थी वेस, पुरिसो वेस, नपुंसगं वेस, एयं वा चेयं अण्णं वा चेयं अणुवीइ निट्ठाभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा, इच्चेयाइं आययणाइं उवातिकम्म, इह भिक्खू जाणिज्जा चत्तारि भासज्जायाइं, तं जहा-१. सच्चमेगं पढमं भासज्जायं... २. बीयं मोसं, ३. तईयं सच्चामोसं... ४. जं नेव सच्चं नेव मोसं नेव

सच्चासोसं, असच्चासोसं नाम तं चउत्थं भासज्जायं । से बेमि जे अईया, जे य पडुप्पण्णा जे अणागया अरहंता भगवंतो सव्वे ते एयाणि चैव चत्तारि भासज्जायाइं भासिसु वा भासंति वा भासिरसंति वा, पण्णविंसु वा, सव्वाइं च णं एयाइं अचित्ताणि वण्णमंताणि गंधमंताणि रसमंताणि फासमंताणि चओवचइयाइं विप्परिणामधम्माइं भवंतीति अक्खायाइं ॥ ४६६ ॥

II संस्कृत-छांदा :

सः भिक्षुः या० इमान् वाग्-आचारान् श्रुत्वा निशम्य इमान् अनाचारान् अनाचीर्ण (अनार्य) पूर्वान् जानीयात्- ये क्रोधात् वा वाचं वियुञ्जन्ति, ये मानात् वा० ये मायया वा० लोभात् वा वाचं वियुञ्जन्ति (भाषन्ते) ये जानानाः वा परुषं वदन्ति, अजानानाः वा परुषं वदन्ति, सर्वं चैतत् सावद्यं वर्जयेत् विवेकं आदाय । ध्रुवं चैतत् जानीयात् अध्रुवं चैतत् जानीयात्, अशनं वा, लब्ध्वा, न लब्ध्वा, भुक्त्वा न भुक्त्वा, अथवा आगतः अथवा न आगतः, अथवा एति अथवा न एति, अथवा एष्यति अथवा न एष्यति, अत्र अपि आगतः, अत्रापि न आगतः, अत्रापि एति अत्रापि न एति, अत्रापि एष्यति अत्रापि न एष्यति ।

अनुविचिन्त्य निष्ठाभाषी समित्या संयतः भाषां भाषेत, तद्-यथा- १. एकवचनं, २. द्विवचनं, ३. बहुवचनं, ४. स्त्रीवचनं, ५. पुरुषवचनं, ६. नपुंसकवचनं, ७. अध्यात्मवचनं, ८. उपनीतवचनं, ९. अपनीतवचनं, १०. उपनीतअपनीतवचनं, ११. अपनीत-उपनीतवचनं, १२. अतीतवचनं, १३. प्रत्युत्पन्नवचनं, १४. अनागतवचनं, १५. प्रत्यक्षवचनं, १६. परोक्षवचनम् । सः एकवचनं वदिष्यामीति एकवचनं वदेत् यावत् परोक्षवचनं वदिष्यामीति परोक्षवचनं वदेत्, स्त्री वा एषा, पुरुषः वा एषः नपुंसकं वा एतत्, एवं वा च एतत्, अन्यं वा चैतत्, अनुविचिन्त्य निष्ठाभाषी समित्या संयतः भाषां भाषेत । इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य, अथ भिक्षुः जानीयात् चात्वारि भाषा-जातानि, तद्-यथा- १. सत्यं एकं प्रथमं भाषा-जातम् । २. द्वितीया मृषा... ३. तृतीया भाषा सत्यामृषा, ४. यत् नैव सत्यं नैव मृषा नैव सत्यामृषा, असत्यामृषा नाम सा चतुर्थी भाषा । सः अहं ब्रवीमि- ये अतीताः ये च प्रत्युत्पन्नाः ये च अनागताः अर्हन्तः भगवन्तः, सर्वे ते एतानि चैव चत्वारि भाषाजातानि भाषितानि वा भाषन्ते वा भाषिष्यन्ति वा, प्रज्ञापितानि वा प्रज्ञापयन्ति वा प्रज्ञापयिष्यन्ति वा, सर्वाणि च एतानि अचित्तानि वर्णयन्ति गन्धवन्ति रसवन्ति स्पर्शवन्ति चयोपचयिकानि विपरिणामधर्माणि भवन्तीति आख्यायानि ॥ ४६६ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु और साध्वी वचन के आचार को सुन कर और हृदय में धारण करके

वचन के अनाचार को (जिनका पूर्व के मुनियों ने आचरण नहीं किया) जानने का प्रयत्न करे। जो मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ से वचन बोलते हैं अर्थात् इनके वशीभूत, होकर भाषण करते हैं, तथा जो किसी के दोष को जानते हुए अथवा न जानते हुए भी उसके मर्म को उद्घाटन करने के लिए कठोर वचन बोलते हैं ऐसी भाषा सावध है अतः विवेकशील साधु इसे छोड़ दे। और वह साधु निश्चयात्मक भाषा भी न बोले, जैसे कि- कल अवश्य वर्षा होगी, अथवा नहीं होगी। यदि कोई साधु आहार के लिए मया हो, तब अन्य साधु उसके लिए ऐसा न कहे कि- वह साधु अशनादि चतुर्विध आहार अवश्य लेकर आएगा, अथवा बिना लिये ही आएगा। यदि किसी साधु को भिक्षार्थ गये हुए किसी कारण से कुछ विलम्ब हो गया हो, तो संयमशील साधु अन्य साधुओं के प्रति इस प्रकार भी न कहे कि वह साधु-जोकि भिक्षा के लिए गया हुआ है, वहां पर भोजन करके आएगा अथवा आहार किए बिना ही आएगा। इस तरह भूतकाल की किसी बात का जब तक निश्चय न हो जाए तब तक निश्चयात्मक वचन न बोले जैसे कि- राजा अवश्य आया था, अथवा (वर्तमानकाल में) आता है अथवा (भविष्यत् काल में) अवश्य आएगा, अथवा तीनों काल में न आया था, न आता है और न आएगा, इस प्रकार के निश्चयात्मक वचन भी न बोले। जिस प्रकार काल के विषय में कहा गया है उसी प्रकार क्षेत्र के विषय में भी समझना चाहिए। यथा भूतकाल में अमुक व्यक्ति नगरादि में आया था, अथवा नहीं आया था, इसी प्रकार अमुक व्यक्ति आता है या नहीं आता है, और अमुक व्यक्ति अमुक नगरादि में आएगा अथवा नहीं आएगा। तात्पर्य कि जिस विषय में वस्तु तत्त्व का पूर्णतया निश्चय न हो उसके विषय में निश्चयात्मक वचन साधु को नहीं बोलना चाहिए। अतः विचार पूर्वक निश्चय करके भाषा समिति से समित हुआ साधु, भाषा का व्यवहार करे अर्थात् भाषा समिति का ध्यान रखता हुआ संयत भाषा में बोले। एक वचन, द्विवचन और बहुवचन, तथा स्त्रीलिंग वचन, पुरुष लिंग वचन और नपुंसक लिंग वचन, एवं अध्यात्म वचन प्रशंसा युक्त वचन, निन्दायुक्त वचन, निन्दा और प्रशंसा युक्त वचन, भूतकाल सम्बन्धि वचन, वर्तमानकाल सम्बन्धि वचन और भविष्यत् काल सम्बन्धि वचन, तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष वचन आदि को भली भांति जानकर बोले। यदि उसे एक वचन बोलना हो तो वह एक वचन बोले यावत् परोक्ष वचन पर्यन्त जिस वचन को बोलना हो उसी को बोले। तथा स्त्रीवेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद अथवा स्त्रीपुरुष और नपुंसक वेद या जब तक निश्चय न हो, तब तक निश्चयात्मक वचन न बोले, जैसेकि— यह स्त्री ही है इत्यादि २. अतः विचार पूर्वक भाषा समिति से युक्त हुआ साधु भाषा के दोषों को त्यागकर संभाषण करे।

साधु को भाषा के चारों भेदों को भी जानना चाहिये, सत्य भाषा २. मृषा-असत्य भाषा, ३. मिश्र भाषा और ४. असत्यामृषा- जो न सत्य है, न असत्य और न सत्यासत्य किन्तु असत्यामृषा या व्यवहार भाषा के नाम से प्रसिद्ध है। जो कुछ मैं कहता हूँ— भूतकाल में जो अनन्त तीर्थकर हो चुके हैं और वर्तमान काल में जो तीर्थकर हैं, तथा भविष्यत् काल में

जो तीर्थकर होंगे, उन सब ने इसी प्रकार से चार तरह की भाषा का वर्णन किया है, करते हैं और करेंगे। तथा ये सब भाषा के पुद्गल अचित्त हैं, तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाले हैं, तथा उपचय और अपचय अर्थात् मिलने और विछुड़ने वाले एवं विविध प्रकार के परिणामों को धारण करने वाले होते हैं। ऐसा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तीर्थकर देवों ने प्रतिपादन किया है।

IV टीका-अनुवाद :

इदम्-सर्वनाम प्रत्यक्ष एवं समीप का वाचक होने से यह अंतःकरण (मन) से उत्पन्न हुए वाणी-उच्चार सुनकर एवं समझकर वह भावसाधु भाषा-समिति के द्वारा हि वचन बोलें... तथा पूर्व के साधुओं ने नहि बोले हुए ऐसे अनुचित वचन साधु कभी भी न बोलें... वे इस प्रकार- जैसे कि- कितनेक लोग क्रोध से बोलते हैं कि- "तु चोर है, तुं दास-नोकर है" इत्यादि... तथा कितनेक लोग मान-अभिमान से बोलते हैं कि- मैं उत्तम-जातिवाला हूं और तुं तो हीन-अधम जातिवाला है इत्यादि... तथा कितनेक लोग माया से बोलते हैं कि- आज मैं बहोत हि बिमार (अस्वस्थ) हूं, अथवा इस प्रकार या अन्य जुठा समाचार कोइ भी कपट-उपाय से कहते हैं, और बाद में क्षमा याचना करके कहते हैं कि- एका एक- सहसा यह ऐसा मुझ से बोला गया है... इत्यादि... तथा लोभ से कहे कि- "आज इन्हों ने मुझे कहा है, अतः मैं आज कुछ भी लाभ प्राप्त करुंगा" इत्यादि... तथा किसी के दोष-क्षति को जाननेवाले लोग उनके दोषों को प्रगट करते हुए कठोर-भाषा बोलते हैं... अथवा तो नहि जानते हुए भी जुठे आल (आरोप) चढाकर कठोर वचन बोलते हैं... यह सभी क्रोध आदि से बोले जानेवाले वचन सावध याने पाप या निंदा स्वरूप है अतः ऐसे सावध = पापवाले वचनों का साधु विवेक के साथ त्याग करें... अर्थात् साधु विवेकी बनकर सावध वचनों का त्याग करें...

तथा किसी के साथ वार्तालाप करते करते कभी भी सावधारण याने "जकार" वाले वचन न बोलें जैसे कि- आज निश्चित हि वृष्टि = बरसात इत्यादि होगा हि... या नहि होगा... इत्यादि... अथवा कोइक साधु भिक्षा के लिये गृहस्थों के घर में गये हो, और देर से भी नहि आने पर अन्य साधु ऐसा कहे कि- इस आहारादि को हम वापर लें वह साधु तो निश्चित हि आहारादि लेकर हि आएगा... अथवा ऐसा कहे कि- यदि आप उनके लिये कुछ आहारादि रखेंगे तो वह निश्चित हि आहारादि लेकर नहि आएगा... अथवा वहीं पर हि भोजन करके आएगा... या बिना भोजन किये हि आएगा... इत्यादि "निश्चित" प्रकार के वचन न बोलें... तथा और भी इस प्रकार की "जकार" वाली बात न कहें जैसे कि- कोइक राजा आदि आये हुए हैं... या... नहि आये हैं... तथा आ रहें हैं, या नहि आतें हैं... या आएंगे... या नहि आएंगे... इसी प्रकार नगर एवं मठ (वसति) आदि विषय में भी भूतकाल, वर्तमानकाल एवं भविष्यकाल संबंधित बात को स्वयं हि समझीयेगा... यहां सारांश यह है कि- जिस बात को जब तक अच्छी तरह से ठीक नहि जानतें तब तक- "यह ऐसा हि है" इत्यादि न बोलें...

अब समान्य से साधु सभी जगह इस प्रकार उपदेश दें अर्थात् बोलें... कि- साधु अच्छी तरह से विचार करके या शास्त्र के माध्यम से प्रयोजन (कारण) होने पर हि निष्ठाभाषी याने सावधारण (जकार) वाली भाषा भाषासमिति के माध्यम से या समभाव अर्थात् राग एवं द्वेष का त्याग करते हुए इस सोलह प्रकार की भाषा की विधि को जानकर उचित वचन बोलें... वह इस प्रकार- एक वृक्ष को कहे कि- वृक्षः दो वृक्ष को कहे कि- वृक्षौ और तीन या तीन से अधिक वृक्षों को कहे कि- वृक्षाः सन्ति... इत्यादि... तथा स्त्रीलिंग वाचक शब्द- कन्या, वीणा इत्यादि... पुल्लिंग वाचक शब्द- घटः पटः इत्यादि तथा नपुंसकलिंग वाचक शब्द- पीठं देवकुलं इत्यादि तथा अध्यात्मवचन- आत्मा के अंदर जो है वह अध्यात्म याने हृदयगत बात... यदि ऐसा न हो और अन्य कुछ बोले तब सहसा याने अनुपयोग से बोले हुए वचन जानीयेगा...

तथा उपनीत वचन याने प्रशंसा के वचन- जैसे कि- यह स्त्री रूपवती है, यह पुष्प सुंदर है... तथा अपनीत वचन याने- निंदा के वचन- जैसे कि- यह स्त्री रूपहीन याने कुरूप है इत्यादि... तथा उपनीत- अपनीत वचन याने कुछ प्रशंसा एवं कुछ निंदा- जैसे कि- यह स्त्री रूपवती है किंतु बुरे आचरणवाली है... तथा अपनीत-उपनीत वचन याने कुछ निंदा और कुछ प्रशंसा... जैसे कि- यह स्त्री कुरूप है किंतु अच्छे आचरणवाली है... तथा अतीत वचन याने भूतकाल... कृतवान्-कीया... तथा वर्तमान वचन- करोति- कार्य कर रहा है... तथा अनागत वचन याने भविष्यत्काल-कार्य करेगा... तथा प्रत्यक्षवचन- यह देवदत्त है... तथा परोक्ष वचन- वह देवदत्त है... इत्यादि यह भाषा के सोलह (१६) प्रकार हैं... अतः साधु इन भाषाओं के प्रकारों को जानकर एक की विवक्षा हो तब एकवचन का प्रयोग करें... यावत् परोक्ष वचन- की विवक्षा हो तब परोक्ष वचन का प्रयोग करें... तथा स्त्री को देखकर कहे कि- यह स्त्री है... पुरुष को देखकर कहे कि- यह पुरुष है इत्यादि सोच-विचार करके हि निष्ठाभाषी साधु भाषा-समिति के माध्यम से या समभाव से संयमी होकर हि भाषा बोलें... तथा पूर्व कहे गए और आगे कहेंगे ऐसे उन भाषा के दोषों का त्याग करके हि साधु भाषा बोलें...

वह भाव-साधु और भी भाषा के चार प्रकार जानें... वे इस प्रकार- १. सत्य भाषा... याने यथार्थ- जैसा है वैसा... जैसे कि- गाय को गाय कहें... घोड़े को घोड़ा कहें... इत्यादि... तथा- २. मृषा याने जुठी भाषा- जैसे कि- गाय को घोड़ा कहे और घोड़े को बैल कहे... तथा ३. सत्य-मृषा याने कुछ सत्य एवं कुछ जुठ... जैसे कि- घोड़े से जा रहे देवदत्त के लिये बोले कि- देवदत्त उंट के उपर बैठकर जाता है इत्यादि... तथा- ४. असत्य-अमृषा... याने सत्य भी नहीं और जुठी भी नहीं... और मिश्र भी नहीं... जैसे कि- हे देवदत्त ! यहां आइये... हे देवदत्त यज्ञदत्त को बुलाइये... इत्यादि...

अब सूत्रकार महर्षि अपनी यह बात, मनोगत विकल्पों से नहीं किंतु भूतकाल, वर्तमानकाल एवं भविष्यकाल के सभी तीर्थकरादि आप्तपुरुषों ने कही है, कह रहें हैं एवं

कहेंगे... वह हि में तुम्हें कहता हूँ... तथा यह भाषा द्रव्य अचित है एवं वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्शवाले हैं... तथा चय एवं उपचय इत्यादि विविध परिणामवाले भी होते हैं ऐसा तीर्थंकर परमात्माओं ने कहा है. यहां भाषा वर्णादि गुणधर्मवाली है ऐसा कहने से शब्द मूर्तद्रव्य है ऐसा कथन हुआ... और अमूर्त ऐसे आकाश का मूर्त स्वरूप शब्द गुण कैसे हो सकता है ? क्योंकि- आकाश को वर्णादि गुण नहीं है अतः आकाश नित्य है... जब कि- चय एवं उपचय धर्मवाले वर्णादि गुणवाले शब्द है अतः शब्द अनित्य है... तथा शब्द-द्रव्य के परिणाम भी विभिन्न प्रकार के होते हैं...

अब शब्द कृतक याने कृत्रिम है ऐसा कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- साधु को भाषा शास्त्र का पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसे व्याकरण का भली-भांति बोध होना चाहिए। जिससे वह बोलते समय विभक्ति, लिंग एवं वचन आदि की गलती न करे। इससे स्पष्ट होता है कि साधु को जीवन में आध्यात्मिक ज्ञान के साथ व्यवहारिक शिक्षा का भी महत्व है। साधक को जिस भाषा में अपने विचार अभिव्यक्त करने हैं, उसे उस भाषा का परिज्ञान होना जरूरी है। यदि उसे उस भाषा का ठीक तरह से बोध नहीं है तो वह बोलते समय अनेक गलतिएं कर सकता है और कभी-कभी उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा उसके अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ को भी प्रकट कर सकती है। इसलिए साधु को भाषा का इतना ज्ञान अवश्य होना चाहिए जिससे वह अपने भावों को स्पष्ट एवं शुद्ध रूप से अभिव्यक्त कर सके।

भाषा के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि साधु-साध्वी को निश्चयात्मक एवं संदिग्ध भाषा नहीं बोलनी चाहिए। इसका कारण यह है कि कभी परिस्थितिवश वह कार्य उसी रूप में नहीं हुआ तो साधु के दूसरे महाव्रत में दोष लगेगा। इसी तरह जिस बात के विषय में निश्चित ज्ञान नहीं है। उसे प्रकट करने से भी दूसरे महाव्रत में दोष लगता है। अतः साधु को बोलते समय पूर्णतया विवेक एवं सावधानी रखनी चाहिए।

तीसरी बात यह है कि मनुष्य क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकारों के वश भी झूठ बोलता है। जिस समय मनुष्य के मन में क्रोध की आग धधकती है उस समय वह यह भूल जाता है कि मुझे क्या बोलना चाहिए और क्या नहीं बोलना चाहिए। क्रोधादि कषायों के समय भाषा के दोष एवं गुणों का सही ज्ञान नहीं रख सकता और उन मनोविकारों के वश वह साधु असत्य भाषा का भी प्रयोग कर देता है। इसलिए साधु को सदा इन कषायों के ऊपर उठकर बोलना चाहिए।

भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में यहां कुछ बताना अनुचित एवं अप्रासंगिक नहीं होगा। साधारणतया मुंह द्वारा बोले जाने वाले शब्दों के समूह को भाषा कहते हैं। जैन आगमों में शब्द को पुद्गल माना गया है। कुछ भारतीय दर्शन शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। परन्तु यह मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती। क्योंकि आकाश अरूपी है, अतः उसका गुण भी अरूपी ही होगा। परन्तु, शब्द रूपी है, इस लिए वह अरूपी आकाश का गुण नहीं हो सकता। और आज वैज्ञानिक साधनों ने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं, किंतु स्वयं एक मूर्त पदार्थ है। वह पुद्गल के द्वारा रोका जाता है, ग्रहण किया जाता है और स्थानान्तर में भी भेजा जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शब्द आकाश का गुण नहीं, किंतु भाषा वर्णना के पुद्गलों का समूह है। तथा भाषा वर्णना के पुद्गल होते हैं, अचित एवं वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त हैं तथा परिवर्तनशील हैं।

व्यक्ति द्वारा बोली जाने वाली भाषा चार प्रकार की मानी गई है— १. सत्य भाषा, २. असत्य भाषा, ३. मिश्र भाषा (जिसमें सत्य और असत्य की मिलावट हो) और ४. असत्यामृषा (जिस भाषा में न झूठ है और न सत्य है, जिसे व्यवहार भाषा कहते हैं)। इसमें साधु पहली और चौथी अर्थात् सत्य एवं व्यवहार भाषा का प्रयोग कर सकता है। परन्तु, साधु को दूसरी और तीसरी अर्थात् असत्य एवं मिश्र भाषा का प्रयोग करना नहीं कल्पता।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को भाषा के दोषों का परित्याग करके विवेकपूर्वक बोलना चाहिए। भाषा के दोषों से बचने के लिए सूत्रकार ने १६ प्रकार के वचनों का उल्लेख किया है। इसमें प्रयुक्त द्विवचन संस्कृत व्याकरण के अनुसार रखा गया है। क्योंकि प्राकृत में एक वचन और बहुवचन ही होता है। द्विवचन का प्रयोग संस्कृत में होता है। अतः उक्त भाषा को ध्यान में रखकर ही सूत्रकार ने द्विवचन शब्द का उल्लेख किया हो ऐसा प्रतीत होता है। ये वचनों के १६ प्रकार इस प्रकार से हैं—

१. एक वचन-(संस्कृत भाषा में)- वृक्षः, घटः, पटः इत्यादि।
(प्राकृत भाषा में)-वच्छो-रुक्खो, घड़ो, पड़ो इत्यादि।
२. द्विवचन-वृक्षौ, घटौ, पटौ, इत्यादि, प्राकृत में द्विवचन होता ही नहीं।
३. बहुवचन-वृक्षाः, घटाः, पटाः इत्यादि।
(प्राकृत में)-वच्छा, रुक्खा, घड़ा, पड़ा इत्यादि।
४. स्त्रीलिंग वचन-(सं०) कन्या, वीणा, राजधानी इत्यादि। (प्रा०) कन्ना, वीणा, रायहाणी इत्यादि।
५. पुरुष वचन-(सं०) घटः, पटः, कृष्णः, साधुः इत्यादि।

(प्राकृत०) घड़ो, पड़ो, कण्हो, साहू इत्यादि ।

६. नपुंसक लिंग व०- पत्रम्, ज्ञानम्, चारित्रम्, दर्शनम् इत्यादि ।
पत्तं, नाणं, चरित्तं, दंसणं इत्यादि ।
७. अध्यात्म वचन- जिस वचन को बोलने का चित्त में निश्चय किया गया हो; फिर उसको छिपाने के लिए अन्य वचन के बोलने का विचार होने पर भी अकस्मात् वही वचन मुख से निकले उसे अध्यात्म वचन कहते हैं । जैसे कि- कोई वणिग रुई के व्यापार के लिए किसी अन्य ग्राम या नगर में गया, उसने अपने मन में निश्चय किया कि मैं किसी अन्य व्यक्ति के पास रुई का नाम नहीं लूंगा । परन्तु जब वह तृषातुर होकर किसी कूप पर पानी पीने के लिए गया तब उसने वहां पानी भरने वालों से कहा कि मुझे शीघ्र ही रुई पिलाओ ! इसी का नाम अध्यात्म वचन है । वृत्तिकार भी यही लिखते हैं- "अध्यात्मं-हृदयगतं-तत्परिहारेणान्यद् भविष्यतस्तदेव सहसा पतितम् ।"
८. उपनीत वचन- प्रशंसा युक्त वचन को उपनीत वचन कहते हैं, यथा-यह स्त्री रूपवती है इत्यादि ।
९. अपनीत व०- निन्दा युक्त वचन अपनीत वचन है, यथा-यह स्त्री कितनी कुरुपा-भई दिखाइ देती है ।
१०. उपनीतापनीत व०- पहले प्रशंसा करना और बाद में निन्दा करना इसे उपनीतापनीत वचन कहते हैं, यथा-यह स्त्री सुरुपा-रूपवती तो है परन्तु व्यभिचारिणी है ।
११. अपनीतोपनीत व०- पहले निन्दा और पीछे प्रशंसा युक्त वचन अपनीतोपनीत वचन है । यथा-यह स्त्री रूप हीन होने पर भी सदाचारिणी है ।
१२. अतीत काल वचन- भूतकाल के बोधक वचन को अतीतकाल वचन कहते हैं । यथा- (घटं कृतवान् देवदत्तः) देवदत्त ने घड़े को बनाया था ।
१३. वर्तमान काल वचन- वर्तमान काल का बोधक वचन, यथा-करोति, पठति-करता है, पढ़ता है इत्यादि ।
१४. अनागत काल वचन- भविष्यत् काल का बोधक वचन, यथा-करिष्यति, पठिष्यति, गमिष्यति-करेगा, पढ़ेगा और जावेगा इत्यादि ।
१५. प्रत्यक्ष वचन- प्रत्यक्ष के बोधक वचन को प्रत्यक्ष वचन कहते हैं, यथा- देवदत्तोऽयम्-यह देवदत्त है, इत्यादि ।

१६. परोक्ष वचन-परोक्ष का बोधक वचन यथा-स देवदत्तः-वह देवदत्त है ।

अब शब्द का कृतकत्व सिद्ध करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ४६७ ॥

से भियस्व वा० से जं पुण जाणिज्जा- पुविं भासा अभासा भासिज्जमाणी भासा भासा, भासा-समय वीडकंता च णं भासिया भासा अभासा ।

से भियस्व वा० से जं पुण जाणिज्जा- जा य भासा सच्चा १. जा य भासा मोसा, २. जा य भासा सच्चा मोसा, ३. जा य भासा असच्चा मोसा, ४. तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं कयकसं कडुयं निडुरं फरुसं अणहयकरिं छेयणकरिं भेयणकरिं परियावणकरिं उदवणकरिं भूओवधाइयं, अभिकंस्व नो भासिज्जा ।

से भियस्व वा भियस्वुणी वा से जं पुण जाणिज्जा, जा य भासा सच्चा सुहमा, जा य भासा असच्चा मोसा तहप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभूओवधाइयं अभिकंस्व भासं भासिज्जा ॥ ४६७ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत् पुनः जानीयात्- पूर्व भाषा अभाषा भाष्यमाणा भाषा भाषा, भाषा-समयव्यतिक्रान्ता च भाषिता भाषा अभाषा ।

सः भिक्षुः वा० सः यत् पुनः जानीयात्- या च भाषा सत्या १. या च भाषा मृषा, २. या च भाषा सत्या-मृषा, ३. या च भाषा असत्यामृषा, ४. तथाप्रकारां भाषां सावद्यां सक्रियां कर्कशां कटुकां निहुरां परुषां कर्माश्रवकरीं छेदकरीं भेदकरीं परितापनकरीं अपद्रावणकरीं भूतोपघातिकां अभिकाइक्ष्य न भाषेत ।

सः भिक्षुः वा भिक्षुणी वा सः यत् पुनः जानीयात्- या च भाषा सत्या सूक्ष्मा, या च भाषा असत्यामृषा, तथाप्रकारां भाषां असावद्यां यावत् अभूतोपघातिकां अभिकाइक्ष्य भाषां भाषेत ॥ ४६७ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी को भाषा के विषय में यह जानना चाहिए कि भाषावर्गणा के एकत्रित हुए पुद्गल बोलने से पहले अभाषा और भाषण करते समय भाषा कहलाते हैं, और भाषण करने के पश्चात् वह बोली हुई भाषा अभाषा हो जाती है। साधु या साध्वी को

भाषा के इन भेदों को भी जानना चाहिए कि- जो सत्य भाषा, असत्य भाषा, मिश्र भाषा और व्यवहार भाषा है, उन में असत्य और मिश्र भाषा का व्यवहार साधु साध्वी के लिए सर्वथा वर्जित है, केवल सत्य और व्यवहार भाषा ही उनके लिये आचरणीय है। उसमें भी यदि कभी सत्य भाषा भी सावध, सक्रिय, कर्कश, कटुक, निहुर और कर्मों का आश्रवण करने वाली, तथा छेदन, भेदन, परिताप और उपद्रव करने वाली एवं जीवों का घात करने वाली हो तो विचारशील साधु ऐसी सत्य भाषा का भी प्रयोग न करे, किन्तु संयमशील साधु या साध्वी उसी सत्य और व्यवहार भाषा-जो कि पापरहित हो यावत् जीवोपघातक नहीं है- का ही विवेक पूर्वक व्यवहार करे। अर्थात् वह निर्दोष भाषा बोले।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. शब्द को इस प्रकार जाने कि- भाषा-द्रव्य वर्गणा के पुद्गल भाषा बनने के पूर्व अभाषा याने भाषा नहि है, तथा जब भाषा बोली जाती है तब वाग्-योग से जो शब्द प्रगट होते हैं उन्हें भाषा कहते हैं... अर्थात् मनुष्य तालु-ओष्ठ आदि के व्यापार-क्रिया के द्वारा शब्द की उत्पत्ति होती है अतः यह शब्द याने भाषा कृतक याने कृत्रिम है... जैसे कि- मिट्टी के पिंड में से कुंभार दंड एवं चक्र आदि से घट याने घड़े को बनाता है... अतः भाषा कृत्रिम है... तथा उच्चार कीये हुए शब्द उच्चार करने के बाद तुरंत विनष्ट होते हैं अतः भाषा बोलने के बाद विनष्ट होने से वह अभाषा हि कही जाती है... जिस प्रकार- घट तुटने के बाद कपाल याने ठीकरे की अवस्था में उसे घट नहि कहते हैं... अतः इस प्रकार शब्द का प्राग्-अभाव एवं प्रध्वंसाभाव स्पष्ट किया...

अब इन चारों प्रकार की भाषाओं में से अभाषणीयता याने न बोलने योग्य का स्वरूप कहते हैं... वह इस प्रकार- वह साधु या साध्वीजी म. जब ऐसा जाने कि- सत्य, मृषा, सत्य-मृषा एवं असत्यामृषा भाषाओं में से मृषा एवं सत्यमृषा भाषा तो बोलना हि नहि चाहिये... और सत्य भाषा भी यदि कर्कश आदि दोषवाली हो तो नहि बोलनी चाहिये... क्योंकि- ऐसी कर्कशादि दोषवाली सत्य भाषा सावध याने पापवाली होती है तथा अनर्थदंड का कारण भी होती है... कर्कश याने चर्वित (कठोर) शब्दवाली... कटुक याने चित्त को उद्वेग करनेवाली... निहुर याने हक्का= धिक्कारवाली... परुष याने मर्म भेदी और कर्मों का आश्रवण करनेवाली भाषा नहि बोलनी चाहिये... तथा छेदन करनेवाली... भेदन करनेवाली यावत् प्राणों का विनाश करनेवाली... तथा जीवों को पीडा करनेवाली भाषा सत्य हो तो भी नहि बोलनी चाहिये... किन्तु जो भाषा सत्य है एवं कुशाग्र बुद्धी से शुभपरिणामवाली मृषा भाषा भी निर्दोष हो सकती है.. जैसे कि- हरिणों को देखने पर भी जब शिकारी लोग पुछे तब मुनी शुभपरिणामवाली मृषा भाषा बोलते हैं...

अन्यत्र भी कहा है कि- अलिक याने जुठ तो कभी भी बोलना नहि चाहिये और सत्य भी वह बोलना नहि चाहिये कि- जो वचन अन्य को पीडा देनेवाला हो... क्योंकि- पर-पीडा-कारक सत्य वचन भी सदोष कहा जाता है... तथा चौथी जो आमंत्रणी एवं आज्ञापनी असत्यामृषा भाषा है वह भी सावद्य न हो एवं कर्मबंध का कारण न हो तथा किसी भी जीव को पीडा कारक न हो उस प्रकार से सोच-विचारकर के साधु सदा निर्दोष भाषा बोले...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में भाषा के सम्बन्ध में दो बातें बताई गई हैं- १. भाषा की अनित्यता और २. कौन सी भाषा बोलने के योग्य या अयोग्य है। इसमें बताया गया है कि- भाषा वर्गणा के पुद्गल जब तक वाणी द्वारा मुखरित नहीं होते, तब तक उन्हें भाषा नहीं कहा जाता। और बोले जाने के बाद भी उन पुद्गलों की भाषा संज्ञा नहीं रह जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि जब तक उनका वाणी के द्वारा प्रयोग होता है तब तक भाषा वर्गणा के उन पुद्गलों को भाषा कहते हैं। अतः ताल्वादि व्यापार से वाणी के रूप में व्यवहृत होने से पहले और बाद में वे पुद्गल भाषा के नाम से जाने पहचाने नहीं जाते। जैसे दंड-चक्र आदि के सहयोग से घड़े के आकार को प्राप्त करने के पहले तथा घड़े के टूट जाने के बाद वह मिट्टी घड़ा नहीं कहलाती है। उसी तरह भाषा वर्गणा के पुद्गल वाणी के रूप में मुखरित होने से पहले और बाद में भाषा नहीं कहलाते हैं। इससे वह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भाषा नित्य नहीं, किंतु अनित्य है। क्योंकि ताल्वादि के सहयोग से भाषा वर्गणा के पुद्गलों को भाषा के आकार में प्रस्फुटित किया जाता है। इस लिए वह भाषा कृतक है और जो पदार्थ कृतक होते हैं, वे अनित्य होते हैं, जैसे घट। इससे यह स्पष्ट हुआ कि भाषा भाषावर्गणा के पुद्गलों का समूह है, वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श युक्त है, कृतक है और इस कारण से अनित्य है।

प्रस्तुत सूत्र में दूसरी बात यह कही गई है कि साधु असत्य एवं मिश्र भाषा का बिल्कुल प्रयोग न करे। सत्य एवं व्यवहार भाषा में भी जो भाषा सावद्य हो, सक्रिय हो, कर्कश-कठोर हो, कड़वी हो, कर्म बन्ध कराने वाली हो, मर्म का उद्घाटन करने वाली हो तो साधु को ऐसी सत्य भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि साधु को सदा ऐसी सत्य एवं व्यवहार भाषा का प्रयोग करना चाहिए, जो निरवद्य हो, अनर्थकारी न हो। कठोर एवं कड़वी न हो, दूसरे के मर्म का भेदन करने वाली न हो। अतः साधु को सदा मधुर, निर्दोष एवं निष्पापकारी सत्य एवं व्यवहार भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

इसके लिए सूत्रकार ने जो 'सुहृमा' शब्द का प्रयोग किया है, उसका यही अर्थ है कि मुनि को कुशाग्र एवं सूक्ष्म (गहरी) दृष्टि से विचार करके विवेक पूर्वक भाषा का प्रयोग करना चाहिए। परन्तु, वृत्तिकार ने इसका अर्थ यह किया है कि सूक्ष्म-कुशाग्र बुद्धि से सम्यक्

पर्यालोचन करने पर कभी-कभी असत्य भाषा भी निर्दोषता का स्थान ग्रहण कर लेती है। जैसे किसी शिकारी या हिंसक द्वारा मृग आदि के विषय में पूछने पर सत्य को प्रकट नहीं किया जाता। यह बात ठीक है कि झूठ नहीं बोलना चाहिए, परन्तु साथ में यह भी तो है कि ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए जो दूसरे प्राणी के लिए कष्टकर हो। इस तरह का सत्य भी सन्तोष हो जाता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ४६८ ॥

से भिक्खू वा० पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अप्पडिसुणेमाणे नो एवं वड्ज्जा-होलिति वा गोलिति वा वसुलेति वा कुपक्खेति वा घड दासिति वा साणेति वा तेणिति वा चारिएति वा माईति वा मुसावाइति वा, एयाइं तुमं ते जाणमा वा, एअप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं जाव भूओवघाइयं अभिकंख नो भासिज्जा ।

से भिक्खू वा० पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अप्पडिसुणेमाणे एवं वड्ज्जा-अमुगेइ वा आउसोति वा आउसंतारोति वा सावगेति वा उवासगेति वा धम्मिएति वा धम्मपिएति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासिज्जा ।

से भिक्खू वा० इत्थिं आमंतेमाणे आमंतिए य अप्पडिसुणेमाणे नो एवं वड्ज्जा-होलीइ वा, गोलीति वा इत्थीगमेणं नेयव्वं ।

से भिक्खू वा० इत्थिं आमंतेमाणे आमंतिए य अप्पडिसुणेमाणी एवं वड्ज्जा-आउसोति वा भइणिति वा भोईति वा भगवईति वा साविणेति वा, उवासिएति वा धम्मिएति वा धम्मपिएति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासिज्जा ॥ ४६८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा पुरुषं (पुमांसं) आमन्त्रयन् आमन्त्रितं वा अशृण्वन्तं वा एवं वदेत्-होल इति वा गोल इति वा वसुल इति वा कुपक्ष इति वा घटवास इति वा था इति वा, स्तेन इति वा चारिक इति वा मायी इति वा मृषावादी इति वा, इत्येतानि त्वं, तव जनकौ वा, एतत्प्रकारं भाषां सावद्यां सक्रियां यावत् भूतोपघातिकां अभिकाङ्क्ष्य न भाषेत ।

सः भिक्षुः वा० पुमांसं आमन्त्रयन् आमन्त्रितं वा अप्रतिशृण्वन्तं एवं वदेत्- अमुक इति वा, आयुष्मन् इति वा आयुष्मन्त इति वा श्रावक इति वा, उपासक इति वा धार्मिक

इति वा धर्मप्रिय इति वा एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् अभिकाङ्क्ष्य भाषेत ।

सः भिक्षुः वा, स्त्रीं आमन्त्रयन् आमन्त्रितां च अप्रतिशृण्वतीं न एवं वदेत्- हे होलि ! इति वा हे गोलि ! इति वा इत्यादि स्त्री-गमेन नेतव्यम् ।

सः भिक्षुः वा, स्त्रीं आमन्त्रयन् आमन्त्रितां च अप्रतिशृण्वतीं एवं वदेत्- हे आयुष्मति ! इति वा, हे भगिनि ! इति वा हे भोगिनि ! इति वा, हे भगवति ! इति वा, हे श्राविके ! इति वा, हे उपासिके ! इति वा, हे धार्मिके ! इति वा, हे धर्मप्रिये ! इति वा, एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् अभिकाङ्क्ष्य भाषेत ॥ ४६८ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी पुरुष को आमंत्रित करते हुए उसके न सुनने पर उसे हे होल ! हे गोल ! हे वृषल ! हे कुपक्ष ! हे घटदास ! हे श्वान ! हे चोर ! हे गुप्तचर ! हे कपटी ! हे मृषावादी ! तुम यहां हो क्या ? और तुम्हारे माता-पिता भी इसी प्रकार के हैं क्या ? तिवेक शील साधु इस तरह की सावद्य, सक्रिय यावत् जीवोपघातिनी भाषा को न बोले । किन्तु संयमशील साधु अथवा साध्वी कभी किसी व्यक्ति को आमंत्रित कर रहे हों और वह न सुने तो उसे इस प्रकार संबोधित करे- हे अमुक व्यक्ति ! हे आयुष्मन् ! हे आयुष्मानों ! हे श्रावक ! हे उपासक ! हे धार्मिक ! हे धर्मप्रिय ! आदि इस प्रकार की निरवद्य पापरहित भाषा को बोले... इसी तरह संयमशील साधु या साध्वी स्त्री को बुलाते समय उसके न सुनने पर उसे हे होली ! हे गोली ! इत्यादि जितने सम्बोधन पुरुष के प्रति ऊपर दिये गये हैं । उन नीच संबोधनों से संबोधित न करे किन्तु उस के न सुनने पर उसे हे आयुष्मति ! हे भगिनि ! हे बहिनि ! हे पूज्य ! हे भगवति ! हे श्राविके ! हे उपासिके ! हे धार्मिके और हे धर्मप्रिये ! इत्यादि पापरहित कोमल एवं मधुर शब्दों से संबोधित करे ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब कभी किसी पुरुष को अभिमुख (आमंत्रण) करना चाहे तब या बुलाने पर भी नहि सुन रहे हो तब इस प्रकार के वचन न बोलें... जैसे कि- हे होल ! गोल ! यह दोनों शब्द अन्य देश में अवज्ञा-तिरस्कार सूचक हैं... तथा वसुल याने वृषल... तथा कुपक्ष याने निंदनीय वंशवाले ! तथा हे घटदास... या हे कुत्ता ! या हे चौर ! या हे चारिक ! या हे मायावी ! या हे मृषावादी... इत्यादि प्रकार के वचनवाला तुं है या तेरे मा-बाप है इत्यादि इस प्रकार की कठोर भाषा साधु कभी भी न बोलें... किन्तु इससे भिन्न प्रकार से बोलना चाहिये... वह इस प्रकार- वह साधु किसी गृहस्थ (पुरुष) को अभिमुख कर रहे हो या, बुलाने पर भी सुनता न हो तब उसको इस प्रकार के वचन कहें... जैसे कि- हे अमुक ! हे आयुष्मान्

! हे श्रावक ! हे धर्मप्रिय ! इत्यादि वचन बोलें...

इसी प्रकार स्त्री के अधिकार में भी जानीयेगा... अर्थात् बाकी के दोनों सूत्र प्रतिषेध एवं विधि के स्वरूप से स्वयं हि जानीयेगा... सुगम होने से यहां टीकाकार आचार्यजी ने टीका नहि बनाइ है...

अब और भी "न बोलने योग्य" भाषा का स्वरूप कहतें हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधु को किसी भी गृहस्थ के प्रति हलके एवं अवज्ञापूर्ण शब्दों का प्रयोग करने का निषेध किया गया है। इसमें बताया गया है कि किसी पुरुष या स्त्री को पुकारने पर वह नहीं सुनता हो तो साधु उन्हें निम्न श्रेणी के सम्बोधनों से सम्बोधित न करे, उन्हें हे गोलक, मूर्ख आदि अलंकारों से विभूषित न करे। क्योंकि, इससे सुनने वाले के मन को आघात लगता है और साधु की असभ्यता एवं अधिष्टता प्रकट होती है। इसलिए साधु को ऐसी सद्बोध भाषा नहीं बोलनी चाहिए। यदि कभी कोई बुलाने पर नहीं सुन रहा हो तो उसे मधुर, कोमल एवं प्रियकारी सम्बोधनों से पुकारना चाहिए, उसे हे धर्मप्रिय, देवानुप्रिय, आर्य, श्रावक अथवा हे धर्मप्रिये, देवानुप्रिये, श्राविका आदि शब्दों से सम्बोधित करना चाहिए। इससे सुननेवाले मनुष्य के मन में हर्ष एवं उल्लास पैदा होता है और साधु के प्रति भी उसकी श्रद्धा बढ़ती है। अतः साधु-साध्वी को सदा मधुर, निर्दोष एवं कोमल भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहतें हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ४६९ ॥

से भिक्खू वा नो एवं वड्ज्जा- नभोदेविति वा गज्जदेविति वा, विज्जुदेविति वा, पवुड्देविति वा निवुड्देविति वा, पडउ वा वासं मा वा पडउ, निप्फज्जउ वा सस्सं, मा वा नि०, विभाउ वा स्यणी मा वा विभाउ, उदेउ वा सूरिण मा वा उदेउ, सो वा राया जयउ मा वा जयउ, नो एयप्पगारं भासं भासिज्जा ।

पण्णवं से भिक्खू वा, अंतलियखेति वा गुज्जाणुचरिणति वा संमुच्छिण वा निवड्ण वा, वओ वड्ज्जा वुड्ढबलाहगेति वा, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सत्त्वड्ढेहिं समिण सहिए सया जड्ज्जासि तिबेमि ॥ ४६९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, न एवं वदेत्- नभोदेव ! इति वा गर्जति, देव ! इति वा, विद्युत्- देव ! इति वा प्रवृष्टः देवः, निवृष्टः देव इति वा, पततु वा वर्षा मा वा पततु, निष्पद्यतां शस्यं मा वा निष्पद्यतां, विभातु रजनी मा वा विभातु, उदेतु सूर्यः, मा वा उदेतु, असौ राजा जयतु मा वा जयतु, न एतत्प्रकारं भाषां भाषेत ।

प्रज्ञावान् सः भिक्षुः वा, अन्तरिक्ष ! इति वा गृह्यानुचर ! इति वा समुत्थित ! इति वा, निपतित इति वा वाचो वदेत् वृष्टबलाहक ! इति वा, एतत् खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुण्याः वा सामग्यम्, यत् सवर्धिः समितः सहितः सदा यतेत इति ब्रवीमि ॥ ४६९ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु अथवा साध्वी इस प्रकार न कहे कि आकाश देव है, गर्ज (बादल) देव है, विद्युत् देव है, वे बरस रहा है, या निरन्तर बरस रहा है, एवं वर्षा बरसे या न बरसे। धान्य उत्पन्न हों या न हों। रात्रि व्यतिक्रान्त हो या न हो। सूर्य उदय हो या न हो। और यह भी न कहे कि इस राजा की विजय हो या इसकी विजय न हो। आवश्यकता पड़ने पर प्रज्ञावान् साधु अथवा साध्वी इस प्रकार बोले कि यह आकाश है, देवताओं के गमनागमन करने से इसका नाम गृह्यानुचरित भी है। यह पयोधर जल देने वाला है। चढ़े हुए बादल जल बरसाता है, या यह मेघ बरसता है, इत्यादि भाषा बोले। जो साधु या साध्वी साधना रूप पांच समिति तथा तीन गुप्ति से युक्त है उनका यह समग्र आचार है, अतः पंचाचार के परिपालन में वे सदा प्रयत्नशील रहते हैं इस प्रकार मैं कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु इस प्रकार की असंयत भाषा न बोले- वह इस प्रकार- जैसे कि- नभोदेव ! गर्जना करता हुआ देव ! तथा विद्युत् देव, देव बहोत बरसा, देव बरस गया, तथा बरसात पड़े... या बरसात न पड़े... धन्य का पाक हो, या न हो, रात्री पूर्ण हो, या पूर्ण न हो, तथा सूर्य उगे या न उगे... तथा यह राजा जय पावे या न पावे, इत्यादि प्रकार की देव आदि संबंधित भाषा न बोलें... किंतु यदि प्रयोजन याने कारण उपस्थित हो तब प्रज्ञावान् संयत साधु संयतभाषा

के द्वारा हि अंतरिक्ष... इत्यादि प्रकार से बोलें... क्योंकि- यह हि साधु का सच्चा साधुपना है... इति...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि संयमनिष्ठ एवं विवेकशील साधु-साध्वी को सदोष भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जैसे- आकाश, बादल, बिजली, वर्षा आदि को देव कहकर नहीं पुकारना चाहिए। प्राकृतिक दृश्यों में दैवी शक्ति की कल्पना करके उन्हें देवत्व के सिंहासन पर बैठाना यथार्थता से बहुत दूर है। क्यों कि- इसमें असत्यता का अंश रहता है। इस कारण साधु को उन्हें देवत्व के सम्बोधन से न पुकार कर व्यवहार में प्रचलित आकाश, बादल, बिजली या विद्युत आदि शब्दों से ही उनका संबोधन करना चाहिए।

इसी तरह साधु-साध्वी को यह भी नहीं कहना चाहिए कि वर्षा हो या न हो, धान्य एवं अन्न उत्पन्न हो या न हो, शीघ्रता से रात्रि व्यतीत होकर सूर्योदय हो या न हो, अमुक राजा विजयी हो या न हो। क्यों कि इस तरह की भाषा बोलने से संयम में अनेक दोष लगते हैं, अतः साधु को ऐसी सदोष भाषा का प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समुच्छिष्ट वा निवाइए' पाठ का यह अर्थ है- बादल सम्मूर्षित जल बरसाता है। अर्थात् सूर्य की किरणों के ताप से समुद्र, सरिता आदि में स्थित जल बाष्प रूप में ऊपर उठता है और ऊपर ठण्डी हवा आदि के निमित्त से फिर पानी के रूप को प्राप्त करके बादलों के रूप में आकाश में घूमता है और हवा पहाड़ एवं बादलों की पारस्परिक टक्कर से बरसने लगता है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को सदा मधुर, प्रिय, यथार्थ एवं निर्दोष भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए।

'तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

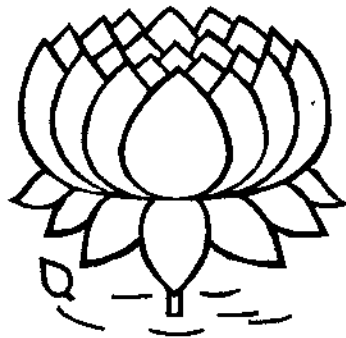
॥ प्रथम चूलिकायां चतुर्थ-भाषाजाताध्ययने प्रथमः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखोडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भद्ररकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान.वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे दिक्षके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. ९६.卐 विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - ४ उद्देशक - २

卐 भाषा-जातम् 卐

पहला उद्देशक कहा, अब दुसरे उद्देशक का प्रारंभ कहते हैं... इन दोनों में परस्पर इस प्रकार संबंध है कि- पहले उद्देशक में भाषा के वाच्य एवं अवाच्य का स्वरूप एवं विशेषता कही, और यहां दुसरे उद्देशक में भी वह हि वाच्य एवं अवाच्य संबंधित शेष बात कहना है... अतः इस संबंध से आये हुए दुसरे उद्देशक का यह प्रथम सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४७० ॥

से भियखू वा० जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा तहा वि ताइं नो एवं वइज्जा- तं जहा- गंडी, गंडीति वा, कुड्डी कुड्डीति वा, जाव महमेहुणीति वा, हत्थच्छिण्णं हत्थच्छिण्णेति वा एवं पायच्छिण्णेति वा नक्कच्छिण्णेइ वा कण्णच्छिण्णेइ वा उड्ढच्छिण्णेइ वा जे यावण्णे तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं बुइया, कुप्पंति माणवा ते यावि तहप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख नो भासिज्जा ।

से भियखू वा० जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा तहावि ताइं एवं वइज्जा- तं जहा- ओयंसी ओयंसिति वा तेयंसी तेयंसीति वा जसंसी जसंसीइ वा वच्चंसी वच्चंसीइ वा अभिरूवंसी, पडिरूवंसी, पासाइयं, दरिसणिज्जं दरिसणीयति वा जे यावण्णे तहप्पगारा तहप्पगाराहिं भासाइं बुइया, नो कुप्पंति माणवा ते यावि तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख भासिज्जा ।

से भियखू वा० जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा, तं जहा- वप्पाणि वा जाव गिहाणि वा, तहा वि ताइं नो एवं वइज्जा, तं जहा- सुयकडेइ वा सुड्ढकडेइ वा साहुकडेइ वा, कल्लाणेइ वा करणिज्जेइ वा एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा ।

से भियखू वा० जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा, तं जहा- वप्पाणि वा जाव गिहाणि वा तहा वि ताइं एवं वइज्जा, तं जहा- आरंभकडेइ वा सावज्जकडेइ वा पयत्तकडेइ वा पासाइयं पासाइए वा दरिसणीयं दरिसणीयति वा अभिरूवं अभिरूवंति वा, पडिरूवं पडिरूवंति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा ॥ ४७० ॥

II - संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० यथा वा कानिचित् रूपाणि पश्येत्, तथापि तानि न एवं वदेत्, तद्यथा- गण्डी गण्डी इति वा, कुष्ठी कुष्ठी इति वा, यावत् मधुमेहिनी इति वा, हस्तच्छिन्नं हस्तच्छिन्नः इति वा कर्णाच्छिन्नः इति वा ओष्ठच्छिन्न इति वा, ये च अन्ये तथाप्रकाराः, एतत्प्रकाराभिः भाषाभिः उच्यताः कुप्यन्ति मानवाः, ते च अपि तथाप्रकाराभिः भाषाभिः अभिकाङ्क्ष्य न भाषेत ।

सः भिक्षुः वा० यथा वा कानिचित् रूपाणि पश्येत्, तथापि तानि एवं वदेत्- तद्यथा-ओजस्वी ओजस्वी इति वा, तेजस्वी तेजस्वी इति वा, यशस्वी यशस्वी इति वा वर्चस्वी वर्चस्वी इति वा अभिरूपवान् अभिरूपवान् इति वा, प्रतिरूपवान् प्रतिरूपवान् इति वा, प्रासादिकः प्रासादिकः इति वा, दर्शनीयः दर्शनीयः इति वा ये चाऽन्ये तथाप्रकाराभिः भाषाभिः उच्यताः उच्यताः न कुप्यन्ति मानवाः, ते च अपि तथाप्रकाराभिः भाषाभिः अभिकाङ्क्ष्य भाषेत ।

सः भिक्षुः वा० यथा वा एकानि रूपाणि पश्येत्, तद्यथा- वप्राणि वा यावत् गृहाणि वा, तथापि तानि न एवं वदेत्, तद्यथा- सुकृतः इति वा, सुहृकृतः इति वा साधुकृतः इति वा कल्याणं इति वा, करणीयः इति वा, एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां यावत् न भाषेत ।

सः भिक्षुः वा० यथा वा एकानि रूपाणि पश्येत्, तद्यथा- वप्राणि वा यावत् गृहाणि वा, तथापि तानि एवं वदेत्, तद्यथा- आरम्भकृतः इति वा, सावद्यकृतः इति वा प्रयत्नकृतः इति वा प्रासादिकं प्रासादिकः इति वा दर्शनीयं दर्शनीयः इति वा अभिरूपं अभिरूपः इति वा प्रतिरूपं प्रतिरूपः इति वा, एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् भाषेत ॥ ४७० ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी किसी रोगी आदि को देखकर ऐसा न कहे कि- हे गंडी ! हे कुष्ठी ! हे मधुमेही ! इत्यादि । इसी प्रकार आमन्त्रित न करे । इसी प्रकार जिसका हाथ, पैर, कान, नाक, ओष्ठ आदि कटे हुए हों, उसे कटे हाथ वाला, लंगड़ा, कटे कानवाला, नकटा या कटे हुए ओष्ठ वाला आदि शब्दों से संबोधित न करे । इस प्रकार की भाषा के बोलने से लोग कुपित हो सकते हैं, उनके स्वाभिमान को आघात लगता है, अतः भाषा समिति का विवेक रखने वाला साधु ऐसी भाषा का प्रयोग न करे । परन्तु, यदि ऐसी किसी व्यक्ति में कोई गुण हो तो उसे उस गुण से सम्बोधित करके बुला सकता है । जैसे कि- हे ओजस्वी, हे तेजस्वी, हे यशस्वी, हे वर्चस्वी, हे अभिरूप, है प्रतिरूप, हे प्रेक्षणीय और हे दर्शनीय इत्यादि । इस प्रकार

की निरवध भाषा के प्रयोग से सुनने वाले मनुष्य के मन में क्रोध नहीं, किंतु हर्ष भाव पैदा होता है, अतः वह साधु ऐसी मधुर एवं निर्दोष भाषा बोल सकता है। इसी प्रकार साधु अथवा साध्वी बावड़ी, कुंए, खेतों के क्यारे यावत् महल-घरों को देखकर उनके सम्बन्ध में इस प्रकार न कहे कि यह अच्छा बना हुआ है, बहुत सुन्दर बना हुआ है, इस पर अच्छा कार्य किया गया है, यह कल्याणकारी है और यह कार्य करने योग्य है। इस प्रकार की भाषा से सावध क्रिया का अनुमोदन होता है। अतः साधु इस प्रकार की सावध भाषा न बोले। किन्तु उन बावड़ी यावत् मकान-घरों को देखकर इस प्रकार कहे कि यह आरम्भ कृत है, सावध है और यह प्रयत्न साध्य है, तथा यह देखने योग्य है, रूपसम्पन्न है और प्रतिरूप है। इस प्रकार की निरवध भाषा का प्रयोग करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. कभी कहें गंडीपद, कुछी आदि रूप देखे तब उन्हें गंडीपद आदि नाम से न बोलें... जैसे कि- गंडी याने गंडवाले, अथवा काटे हुए गुल्फ-पैरवाले... वह गंडी है... किंतु उन्हें गंडी कहकर बुलाना नहि चाहिये... इसी प्रकार कुछी को कुछी कहकर न बुलाइयेगा... इसी प्रकार अन्य रोग-व्याधिवाले मनुष्य को उन रोगों के नाम से न बुलाइयेगा... यावत् मधुमेही को मधुमेही न कहीयेगा... मधुमेही याने निरंतर मूत्र होने के रोगवाला...

यहां आठवे धूर्त्तधियन में रोग-विशेष का कथन किया गया है... अतः इस अपेक्षा से सूत्र में "यावत्" पद का कथन किया है... इसी प्रकार- कटे हुए हाथवाले, कटे हुए पैरवाले, कटी हुई नासिकावाले, कटे हुए कानवाले कटे हुए होठवाले इत्यादि... और भी इस प्रकार के काणे, कुंटे आदि... इन विशेषणोंवाले शब्द बोलने पर यदि वे मनुष्य कोप करते हैं, तब उन्हें ऐसे प्रकार के वचनों से न बुलाइयेगा...

अब जिस प्रकार से बोलना चाहिये वह कहते हैं... जैसे कि- वह साधु यदि गंडीपद आदि रोगवाले मनुष्य को देखे तब उनमें रहे हुए ओजः या तेजः आदि विशेष गुण को लेकर हि जरूरत होने पर उन्हें बुलाइयेगा... जैसे कि- केश के समान कृष्ण... कुत्ते के मृत शरीर में भी श्वेत दांत के गुण लेने की तरह विशिष्ट गुण को लेकर हि उन्हें बुलाइये... इस प्रकार साधु गुणग्राही बने...

तथा वह साधु यदि इस प्रकार के दृश्य-रूप देखें जैसे कि- वप्र याने किल्ला यावत् घर महल आदि तब साधु सदोष भाषा न बोलें... वह इस प्रकार- यह सुकृत है, यह अच्छा किया है, यह सुंदर है, यह कल्याणकारक है, यह ऐसा हि करने योग्य है, इत्यादि... यह और ऐसे अन्य प्रकार के पापाचरण के अनुमोदनवाले वचन साधु न बोलें...

अब साधु वप्र आदि को देखकर जो बोले वह कहते हैं... वह इस प्रकार- सामान्य से साधु वप्र आदि को देखकर उनके विषय में कुछ भी न बोलें... किंतु यदि प्रयोजन आ पड़े तो संयतभाषा से बोलें... वह इस प्रकार- महा आरंभ-समारंभ से यह वप्र कीया गया है, बहुत सारे कठोर आचरण से यह वप्र आदि बनाये गये हैं... बहुत सारे प्रयत्न से कीये गये हैं... इसी प्रकार यह वप्र आदि प्रसादनीय एवं दर्शनीय है इत्यादि प्रकार से निर्दोष भाषा बोलीयेगा...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि यदि कोई व्यक्ति गण्डी, कुष्ठ (कोढ़) और मधुमेह इत्यादि भयंकर रोगों से पीड़ित हो या उसका हाथ, पैर, नाक, कान, ओष्ठ आदि कोई अङ्ग कटा हुआ हो, तो साधु को उसे उस रोग एवं कटे हुए अङ्गों के नाम से सम्बोधित करके नहीं बुलाना चाहिए। जैसे कि- कोढ़ के रोगी को कोढ़ी, अन्धे को अन्धा या नाक कटे हुए व्यक्ति को नकटा कह कर पुकारना साधु को नहीं कल्पता। क्योंकि, पहले तो वह उक्त बीमारियों एवं अङ्गोपाङ्गों की हीनता के कारण परेशान, दुःखी एवं चिन्तित है। फिर उसे उस रूप में सम्बोधित करने से उसके मन को अवश्य ही आघात पहुंचेगा और उसके मन में साधु के प्रति दुर्भावना जागृत होगी। वह यह भी सोच सकता है कि यह साधु कितना असभ्य एवं असंस्कृत है कि साधना के पथ पर गतिशील होने के पश्चात् भी इसकी दूसरे व्यक्ति को चिढ़ाने, परेशान करने एवं उसका मजाक उड़ाने की दुष्ट मनोवृत्ति नहीं गई है। वस्तुतः वेश के साथ अभी इसके अन्तर जीवन का परिवर्तन नहीं हुआ है। इससे उसके मन में साधु से प्रतिशोध लेने की भावना भी जागृत हो सकती है। अतः साधु को किसी के मन को चुभने वाली भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए। इससे दूसरे व्यक्ति की मानसिक हिंसा होती है इसलिए साधु को प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह रोगी हो, अपंग हो, अंगहीन हो तो भी उनको सदा प्रिय एवं मधुर सम्बोधनों से सम्बोधित करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में गण्ड, कुष्ठ और मधुमेह तीन रोगों का नाम निर्देश किया गया है और 'कुदृतीति वा जाव' पद में यावत् शब्द से उन रोगों की ओर भी इशारा कर दिया है जिसका उल्लेख आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के धूताध्ययन में किया गया है। ये तीनों असाध्य रोग माने गए हैं। गण्ड- यह वात-प्रधान रोग होता है, इस रोग का आक्रमण होने पर मनुष्य के पैर एवं गिद्धे में सूजन आ जाता है और कोढ़ एवं मधुमेह का रोग तो असाध्य रोग के रूप में प्रसिद्ध ही है। अतः साधु को इन असाध्य रोगों से पीड़ित एवं अंगहीन व्यक्ति को आघात लगे ऐसे मर्म भेदी शब्दों से सम्बोधित नहीं करना चाहिए।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ४७१ ॥

से भिक्खू वा, असणं वा० उवक्खडियं तहाविहं नो एवं वइज्जा, तं सुकडेति वा सुहुकडेइ वा, साहुकडेइ वा, कल्लाणेइ वा करणिज्जेइ वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा ।

से भिक्खू वा, असणं वा, उवक्खडियं पेहाय एवं वइज्जा, तं आरंभकडेति वा, सावज्जकडेति वा पयत्तकडेइ वा, भद्दयं भद्देति वा, ऊसढं ऊसढेइ वा, रसियं, मणुण्णं, एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा ॥ ४७१ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, अशनं वा० उपस्कृतं तथाविधं न एवं वदेत्, तद्यथा-सुकृतं इति वा सुहुकृतं इति वा साधुकृतं इति वा, कल्याणं इति वा, करणीयं इति वा, एतत्-प्रकारां भाषां सावद्यां यावत् न भाषेत ।

सः भिक्षुः वा, अशनं वा, उपस्कृतं प्रेक्ष्य एवं वदेत्, तद्यथा- आरंभकृतं इति वा, सावद्यकृतं इति वा प्रयत्नकृतं इति वा, भद्रकं भद्रकं इति वा उच्छ्रितं उच्छ्रितं इति वा, रसितं रसितं इति वा मनोज्ञं मनोज्ञं इति वा, एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् भाषेत ॥ ४७१ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी उपस्कृत-तैयार हुए-अशनादि चतुर्विध आहार को देखकर इस प्रकार न कहे कि यह आहारादि पदार्थ सुकृत है, सुहुकृत है और साधुकृत है तथा कल्याणकारी और अवश्य करणीय है । साधु इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातिनी भाषा न बोले ।

किन्तु संयमशील साधु या साध्वी उपस्कृत अशनादि चतुर्विध आहार को देखकर इस प्रकार कहे कि यह आहारादि पदार्थ बड़े आरम्भ से बनाया गया है । यह सावद्य पापयुक्त कार्य है यह अत्यन्त यत्न से बनाया हुआ है, यह भद्र अर्थात् वर्णगंधरसादि से युक्त है, सरस है और मनोज्ञ है, साधु ऐसी निरवद्य एवं निष्पाप भाषा का प्रयोग करे ।

IV टीका-अनुवाद :

इसी प्रकार अशन आदि संबंधित एवं प्रतिषेध सूत्र दोनों जानीयेगा... किन्तु ऊसढं याने उच्छ्रित = श्रेष्ठ तथा वर्ण, गंध आदि सहित...

अब और भी अभाषणीय-वचन दिखलाते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु-साध्वी को आहार आदि के सम्बन्ध में यह नहीं कहना चाहिए कि यह आहार अच्छा बना है, स्वादिष्ट बना है, बहुत अच्छे ढंग से पकाया गया है। क्योंकि, आहार ६ काय से आरम्भ से बनता है, अतः उसकी प्रशंसा एवं सराहना करना ६ कायिक जीवों की हिंसा का अनुमोदन करना है और साधु हिंसा का पूर्णतया अर्थात् तीन करण और तीन योग से त्यागी होता है। अतः इस प्रकार की भाषा बोलने से उसके अहिंसा व्रत में दोष लगता है इसी कारण संयमनिष्ठ मुनि को ऐसी सावध भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि कभी प्रसंगवश कहना ही हो तो वह ऐसा कह सकता है कि यह आरम्भीय (आरम्भ से बना हुआ) है, सरस, वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श वाला है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साधु उसके यथार्थ रूप को प्रकट कर सकता है, परन्तु, सावध भाषा में आहार आदि की प्रशंसा एवं सराहना नहीं कर सकता।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ४७२ ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा मिगं वा पसुं वा पक्खिं वा सरीसिवं वा जलचरं वा से तं परिवूढकायं पेहाए नो एवं वडज्जा- थूलेइ वा पमेइलेइ वा वट्टेइ वा वज्जेइ वा पाइमेइ वा एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा जाव जलचरं वा, से तं परिवूढकायं पेहाए एवं वडज्जा- परिवूढकाएति वा उवचियकाएति वा थिरसंघयणेति वा चियमंससोणिएति वा बहुपडिपुण्णइदिइएति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा ।

से भिक्खू वा विरूवरूवाओ गाओ पेहाए नो एवं वडज्जा, तं जहा- गाओ दुज्जाओति वा दग्गेति वा गोरहति वा वाहिमति वा रहजोग्गति वा एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा ।

से भि० विरूवरूवाओ गाओ पेहाए एवं वडज्जा, तं जहा- जुवंगविति वा धेणुति वा रसवड्ढति वा हस्सेइ वा महल्लेइ वा महव्वएइ वा संवहणिति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासिज्जा ।

से भिक्खू वा० तहेव गंतुमुज्जाणाइं पव्वयाइं वणाणि वा रुक्खा महल्ले पेहाए

नो एवं वडज्जा, तं० पासायजोग्गाति वा तोरणजोग्गाइ वा गिहजोग्गाइ वा फलिहजो० अग्गलजो० नावाजो० उदग० दोणजो० पीढचंगबेरबंगलकुलियजंतलङ्गी नाभि गंडी आसणजो० सयणजाणउवस्सयजोग्गाइ वा, एयप्पगारं० नो भासिज्जा ।

से भियस्सू वा० बहुसंभूया वणफला अंबा पेहाए एवं वडज्जा, तं० असंधडाइ वा बहुविदष्टिमफलाइ वा बहुसंभूयाइ वा भूयरुचित्ति वा, एयप्पगारं भा० असा० ।

से० बहुसंभूया ओसही पेहाए तहावि ताओ न एवं वडज्जा, तं जहा- पयकाइ वा नीलीयाइ वा छवीइयाइ वा लाइमाइ वा भज्जिमाइ वा बहुखज्जाइ वा, एयप्पगा० नो भासिज्जा ।

से० बहु० पेहाए तहावि एवं वडज्जा, तं०- रूढाइ वा बहुसंभूयाइ वा थिराइ वा ऊसढाइ वा गम्भियाइ वा पसूयाइ वा ससाराइ वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासि० ॥ ४७२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा भिक्षुणी वा मनुष्यं वा गां वा महिषं वा मृगं वा पशुं वा पक्षिणं वा सरीसृपं वा जलचरं वा, सः तं परिवृद्धकायं प्रेक्ष्य न एवं वदेत्- स्थूलः इति वा प्रमेदुरः इति वा वृत्तः इति वा, वध्यः इति वा, पच्यः इति वा एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां यावत् न भाषेत ।

सः भिक्षुः वा भिक्षुणी वा मनुष्यं यावत् जलचरं वा, सः तं परिवृद्धकायं प्रेक्ष्य एवं वदेत्- परिवृद्धकायः इति वा उपचितकायः इति वा स्थिरसङ्घयणः इति वा चित्तमांसशोणितः इति वा बहुप्रतिपूर्ण-इन्द्रियकः इति वा, एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् भाषेत ।

सः भिक्षुः वा, विरूपरूपाः गाः प्रेक्ष्य न एवं वदेत्, - तद्यथा- गावः दोह्याः इति वा, दम्याः इति वा गोरहकाः इति वा वाह्याः इति वा स्थयोग्याः इति वा, एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां यावत् न भाषेत ।

सः भिक्षुः वा० विरूपरूपाः गाः प्रेक्ष्य एवं वदेत्, तद्यथा- अयं गौः युवा इति वा, धेनुः इति वा, रसवती इति वा, ह्रस्वः इति वा महान् इति वा महाव्ययः इति वा संवहनः इति वा, एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् अभिकाङ्क्ष्य भाषेत ।

सः भिक्षुः वा० तथैव गत्वा उद्यानानि वा पर्वतान् वा वनानि वा, वृक्षान् महान् प्रेक्ष्य न एवं वदेत्, तद्यथा- प्रासादयोग्यः इति वा तोरणयोग्यः इति वा गृहयोग्यः इति

वा फलकयोग्यः इति वा अर्गलायोग्यः इति वा, नौयोग्यः इति वा उदकयोग्यः इति वा द्रोणयोग्यः इति वा, पीठ-चङ्गबेर (काष्ठपात्र)- लाङ्गल - कुलिक - यन्त्रयष्टि - नाभि- गण्डी- आसनयोग्यः इति वा, शयन - यान - उपाश्रययोग्यः इति वा एतत्प्रकारां० न भाषेत ।

सः भिक्षुः वा० तथैव मत्वा० एवं वदेत्, तद्यथा - जातिमन्तः इति वा दीर्घवृत्ताः इति वा महालयाः इति वा, प्रजातथालाः इति वा विडिमशालाः इति वा, प्रसादिकाः इति वा यावत् प्रतिरूपाः इति वा एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् भाषेत ।

सः भिक्षुः वा० बहुसम्भूतानि वनफलानि प्रेक्ष्य तथापि तानि न एवं वदेत्, तद्यथा- पयवानि वा पाकस्त्राद्यानि वा वेलोचितानि वा टालानि वा द्वैधिकानि वा, एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां यावत् न भाषेत ।

सः भिक्षुः वा० बहुसम्भूतानि वनफलानि आज्ञान् प्रेक्ष्य एवं वदेत्, तद्यथा- असमर्थाः इति वा बहूनिवृत्तफलाः इति वा बहुसम्भूताः इति वा भूतरूपाः इति वा, एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् भाषेत ।

सः बहुसम्भूताः औषधीः प्रेक्ष्य तथापि ताः न एवं वदेत्, तद्यथा- पक्काः वा नीलाः वा छविमत्यः वा लाजायोग्याः वा पचनयोग्याः वा बहुभक्ष्याः वा, एतत्प्रकारां० नो भाषेत ।

सः बहू० प्रेक्ष्य तथापि एवं वदेत्, तद्यथा- रूढा वा बहुसम्भूताः वा स्थिराः वा, उच्छ्रिताः वा गर्भिताः वा प्रसूताः वा ससाराः वा एतत्प्रकारां भाषां असावद्यां यावत् भाषेत ॥ ४७२ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु अथवा साध्वी, मनुष्य, वृषभ (बैल), महिष (भैंस), मृग, पशु-पक्षी सर्प और जलचर आदि जीवों में किसी भारी शरीर वाले जीव को देखकर इस प्रकार न कहे कि यह स्थूल है, यह मेदा युक्त है, वृत्ताकार है, वध या वहन करने योग्य और पकाने योग्य है इत्यादि... किन्तु, उन्हें देखकर ऐसी भाषा का प्रयोग करे कि यह पुष्ट शरीर वाला है, उपचित काय है, वृद्ध संहननवाला है इसके शरीर में रूधिर और मांस का उपचय हो रहा है और इसकी सभी इन्द्रियं परिपूर्ण हैं ।

संयमशील साधु और साध्वी गाय आदि पशुओं को देख कर इस प्रकार न कहे कि यह गाय दोहने योग्य है अथवा इसके दोहने का समय हो रहा है तथा यह बैल दमन करने

योग्य है, यह वृषभ छोटा है, यह बैल वहन के योग्य है और यह बैल हल आदि चलाने के योग्य है, इस प्रकार की सावध यावत् जीवोपघातिनी भाषा का प्रयोग न करे। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर उनके लिए इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करे कि यह वृषभ जवान है, यह गाय प्रौढ़ है, दूध देने वाली है, यह बैल छोटा है, यह बड़ा है और यह शकट आदि को वहन कर सकता है इत्यादि...

संयमशील साधु अथवा साध्वी किसी उद्यान (बगीचे) पर्वत या वन आदि में कुछ विशाल वृक्षों को देख कर उनके सम्बन्ध में भी इस प्रकार न कहे कि यह वृक्ष मकान आदि में लगाने योग्य है, यह तोरण के योग्य है और यह गृह के योग्य है तथा इसका फलक बन सकता है, इसकी अर्गला बन सकती है और यह नौका के लिए भी अच्छा है। इसकी उदकद्रोणी (जल भरने की टोकणी) अच्छी बन सकती है और यह पिठ के योग्य है, इसकी चक्र नाभि अच्छी बनेगी, यह गंडी के लिए अच्छा है, इसका आसन अच्छा बन सकता है और यह पर्यक (पलंग) के योग्य है, इससे शकट आदि का निर्माण किया जा सकता है और यह वृक्ष उपाश्रय बनाने के लिए उपयुक्त है इत्यादि... साधु को इस प्रकार की सावध भाषा का व्यवहार नहीं करना चाहिए। किन्तु, उक्त स्थानों में अवस्थित विशाल वृक्षों को देख कर उनके सम्बन्ध में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करे कि ये वृक्ष अच्छी जाति के हैं, दीर्घ और वृत्त तथा बड़े विस्तार वाले हैं। इनकी शाखाएं चारों ओर फैली हुई है, ये वृक्ष मन को प्रसन्न करने वाले अभिरूप और नितान्त सुन्दर है। साधु इस प्रकार की असावध-निष्पाप भाषा का व्यवहार करे।

संयमशील साधु अथवा साध्वी वन में बहुत परिमाण में उत्पन्न हुए फलों को देख कर उनके संबन्ध में भी इस प्रकार न कहे कि ये फल पक गए हैं, अतः खाने योग्य हैं या ये फल पलाल आदि में रख कर पकाने के पश्चात् खाने योग्य हो सकते हैं। इनके तोड़ने का समय हो गया है। ये फल अभी बहुत कोमल हैं, क्योंकि इनमें अभी तक गुठली नहीं पड़ी है और ये फल खण्ड-खण्ड करके खाने योग्य हैं इत्यादि... विवेकशील साधु इस प्रकार की सावध भाषा न बोले। किन्तु, आवश्यकता पड़ने पर वह इस प्रकार कहे कि ये वृक्ष फलों के भार से नम हो रहे हैं। अर्थात् ये उनका भार सहन करने में असमर्थ प्रतीत हो रहे हैं। ये वृक्ष बहुत फल दे रहे हैं। ये फल बहुत कोमल हैं, क्योंकि अभी तक इनमें गुठली नहीं पड़ी है, इत्यादि। साधु इस प्रकार की पाप रहित संयत भाषा का व्यवहार करे।

संयमशील साधु अथवा साध्वी बहुत परिमाण में उत्पन्न हुई औषधियों को देख कर उनके सम्बन्ध में भी इस प्रकार न कहे कि यह औषधि (धान्य विशेष) पक गई है। यह अभी नौली अर्थात् कच्ची या हरी है। यह काटने योग्य या भूजने या खाने योग्य है इत्यादि... साधु इस प्रकार की सावध यावत् जीवोपघातिनी भाषा को न बोले। किन्तु, अधिक परिमाण में उत्पन्न हुई औषधियों को देख कर यदि उनके संबन्ध में बोलने की आवश्यकता हो तो साधु

इस प्रकार बोले कि- यह अभी अंकुरित हुई हैं। यह औषधि अधिक उत्पन्न हुई है। यह स्थिर है और यह बीजों से भरी हुई है, यह सरस है। यह अभी गर्भ में ही है या उत्पन्न हो गई है। साधु इस प्रकार की असावध-निष्पाप भाषा का व्यवहार करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. पुष्ट शरीरवाले गाय - बैल आदिको देखकर ऐसा कभी न बोलें कि- यह बैल बहुत बड़ा (स्थूल) है, या बहुत मेढ़ (चरबी) वाला है, तथा वृत्त याने गोल अल्लमस्त है, या वध योग्य है या भारको वहन करने योग्य है, इसी प्रकार पकाने योग्य है या देवतादिके सामने बली देने योग्य है... इत्यादि यह और ऐसी अन्य सावध भाषा साधु न बोलें...

अब भाषण-बोलनेकी विधि कहते हैं... वह साधु या साध्वीजी म. पुष्ट काय (शरीर) वाले बैल आदिको देखकर जरूरत होने पर इस प्रकार बोलें... जैसे कि- यह बैल पुष्ट शरीरवाला है इत्यादि सूत्र सुगम है...

वह साधु या साध्वीजी म. विभिन्न प्रकारके गाय - बैल आदिको देखकर के ऐसा न कहें कि- यह गाय (बैल) युवा है अथवा यह गाय दोहने योग्य है या इन गायोंको दोहनेका यह समय (काल) है इत्यादि... तथा यह बैल दमन के योग्य है... वाहनके योग्य है, रथके योग्य है इत्यादि ऐसी सावध भाषा साधु न बोलें...

अब कारण उपस्थित होने पर साधु इस प्रकारसे बोलें- जैसे कि- विभिन्न प्रकारके गाय या बैल आदिको देखकर साधु प्रयोजन होने पर कहे कि- यह बैल युवान है, अथवा यह गाय दुधवाली है, छोटी है, बडी है, बहुत खर्चवाली है इत्यादि प्रकारसे निर्दोष भाषा बोलें...

तथा उद्यान आदिमें गये हुए साधु बड़े बड़े वृक्षोंको देखकर ऐसा न कहे कि- यह वृक्ष महल आदि बनानेके लिये योग्य है इत्यादि प्रकारकी सावध (दोषवाली) भाषा साधु न बोलें... किंतु प्रयोजन होने पर कहे कि- यह वृक्ष उत्तम जातिके है इत्यादि प्रकारसे निर्दोष भाषा साधु बोलें...

तथा साधु वृक्षके फलोंको देखकर ऐसा न कहे कि- यह फल पक्के है, अथवा बीज - गोटली वाले यह फल गड्डेमें रखकर कोद्रव - पराल (घास) आदिसे पकाकर खाने योग्य हैं... अथवा पके हुए यह फल ग्रहण करने योग्य है क्योंकि- अब अधिक समय तक वृक्ष पर नहि रहेंगे... अथवा यह फल कोमल (कच्चे) है अथवा यह फल पेसी करनेके द्वारा दो फाडे करने योग्य है इत्यादि प्रकारकी दोषवाली-सावध भाषा साधु न बोलें... किंतु कारण होने पर ऐसा कहे कि- फलोंके अतिशय भारके कारणसे यह आमके पेड अब आमफलोंको धारण करने

के लिये असमर्थ हैं... इस वाक्यसे “फल पक्के हैं” ऐसा कहा है... तथा फल बहुत तैयार हो गये हैं... इस वाक्यसे पकाकर खाने योग्य है ऐसा कहा है... तथा अतिशय पकाके कारणसे यह फल ग्रहण करने योग्य है... इस वाक्यसे वेलोचित अर्थ कहा है... तथाभूतरूप याने बीज=गोटली बन्नी हुई नहि है अर्थात् अभी फल कोमल है... इस वाक्यसे टालादि अर्थ कहे गये हैं... यह आमके पैड उपर कहे गये स्वरूप वाले हैं... यहां फलोंमें आम मुख्य है, अतः उदाहरणमें आम-फलकी बात कही... इस कथनसे कोइ भी प्रकारके फलोंके संबंधमें उपरके वाक्य निर्दोष-भावसे साधु विशेष कारण उपस्थित होने पर कहें...

तथा बहुत सारे औषधि याने धान्य = अनाजको देखकर साधु ऐसा न कहे कि- यह धान्य पक्क गये है, या हरे है, या आर्द्र-भीगे है, अर्थात् छिलकेवाले है, या लाजा योग्य है या रोपण योग्य है, या पकाने योग्य है, या काटने योग्य हैं, या विभक्त (अलग) करने योग्य है इत्यादि प्रकारके दोषवाले (सावध) वचन न बोलें किंतु जरूरत (कारण) होने पर साधु ऐसा कहे कि- यह औषधि याने धान्य रूढ याने उगे हुए है इत्यादि निर्दोष वचन बोलें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में भाषा के प्रयोग में विशेष सावधानी रखने का आदेश दिया गया है। साधु चाहे सजीव पदार्थों के सम्बन्ध में कुछ कहे या निर्जीव पदार्थों के सम्बन्ध में कुछ बोलें, परन्तु, उसे इस बात का सदा ख्याल रखना चाहिए कि- उसके बोलने से किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। असत्य एवं मिश्र भाषा की तरह दूसरे जीवों की हिंसा का कारण बनने वाली भाषा भी, भले ही वह सत्य भी क्यों न हो साधु के बोलने योग्य नहीं है। अतः भाषा समिति में ऐसे सदोष-शब्द बोलने का भी निषेध किया गया है जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष में किसी जीव की हिंसा की प्रेरणा मिलती हो या हिंसा का समर्थन होता हो।

साधु प्राणी मात्र का रक्षक है। अतः बोलते समय उसे प्रत्येक प्राणी के हित का ध्यान रखना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र में इस बात का उल्लेख किया गया है कि साधु को किसी गाय-भैंस, मृग आदि पशु-पक्षी एवं जलचर तथा वनस्पति (पेड़-पौधों) आदि के सम्बन्ध में भी ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे उन जीवों को किसी तरह का कष्ट पहुंचे। किसी भी पशु-पक्षी के मोटापन को देख कर साधु को यह नहीं कहना चाहिए कि इस स्थूल काय जानवर में पर्याप्त चर्बी है, इसका मांस स्वादिष्ट होता है, यह पका कर खाने योग्य है या यह गाय दूहन करने योग्य है, यह बैल गाड़ी में जोतने या हल चलाने योग्य है और इसी तरह यह पक्के फल खाने योग्य हैं या इन्हें घास में रखकर पकाने के पश्चात् खाना चाहिए, या यह अनाज या औषधि पक गई है, काटने योग्य है या इन वृक्षों की लकड़ी महलों में स्तम्भ लगाने, द्वार बनाने, आर्गला बनाने के लिए उपयुक्त है या तोरण बनाने या कुंए से पानी

निकालने या पानी रखने का पात्र, तरल, नौका आदि बनाने योग्य है, इत्यादि सावध भाषा का कभी भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। साधु को भाषा के प्रयोग में सदा विवेक रखना चाहिए और सत्यता के साथ जीवों की दया का भी ध्यान रखना चाहिए। उसे सदा निष्पापकारी सत्य भाषाका का प्रयोग करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'उदगदोण जोगाईया' एक पद है और इसका अर्थ है— कुंए आदि से पानी निकालने या पानी रखने का काष्ठ-पात्र। दशवैकालिक सूत्र में भी इस का एक पद में ही प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत सूत्र में 'रूढाई वा, धिराई वा गब्भियाई वा' आदि पदों में जो बार-बार 'इ' का प्रयोग किया गया है, वह पाद पूर्ति के लिए ही किया गया है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ४७३ ॥

से भियख् वा० तहप्पगाराइं सदाइं सुणिज्जा, तहादि एयाइं नो एवं वडज्जा, तं जहा- सुसदेति वा दुसदेति वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं नो भासिज्जा।

से भियख् वा० तहावि ताइं एवं वडज्जा, तं जहा- सुसदं सुसदिति वा दुसदं दुसदिति वा, एयप्पगारं असावज्जं जाव भासिज्जा, एवं रूवाइं किण्हेति वा, गंधाइं सुरभिगंधिति वा, रसाइं तित्ताणि वा, फासाइं कयस्सडाणि वा ॥ ४७३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० तथाप्रकारान् शब्दान् शृणुयात् तथापि तान् न एवं वदेत्, तद्यथा- सुशब्दः इति वा, दुःशब्दः इति वा, एतत्प्रकारां भाषां सावद्यां न भाषेत।

सः भिक्षुः वा० तथापि तान् एवं वदेत्, तद्यथा-सुशब्दं सुशब्दः इति वा, दुःशब्दं दुःशब्दः इति वा, एतत्प्रकारां असावद्यां यावत् भाषेत, एवं रूपाणि कृष्णः इति वा, गन्धं सुरभिगन्धः इति वा, रसान् तियतानि वा, स्पर्शान् कर्कशानि वा ॥ ४७३ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु साध्वी किसी भी शब्द को सुनकर वह किसी भी सुशब्द को दुःशब्द अर्थात् शोभनीय शब्द को अशोभनीय एवं मांगलिक को अमांगलिक न कहे। किन्तु सुशब्द अच्छे शब्द को सुन्दर और दुःशब्द को दुःशब्द और असुन्दर शब्द को असुन्दर ही कहे। इसी

प्रकार रूपादि के संबन्ध में भी ऐसी ही भाषा का प्रयोग करना चाहिए। कुरूप को कुरूप और सुन्दर को सुन्दर तथा सुगन्धित एवं दुर्गन्धित पदार्थों को क्रमशः सुगन्ध एवं दुर्गन्ध युक्त तथा कटु को कटुक और कर्कश को कर्कश कहे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. कभी ऐसे वैसे विभिन्न प्रकार के शब्द सुने तो भी ऐसा न कहे कि- यह शब्द अच्छा है या बुरा है... तथा मांगलिक है या अमांगलिक है इत्यादि न कहे, किंतु जब कभी कारण उपस्थित हो तो जैसा हो वैसा कहे... जैसे कि- अच्छे शब्द को अच्छा शब्द है ऐसा कहे, एवं बुरे शब्द को बुरा शब्द है ऐसा कहे... इसी प्रकार रूप - गंध - रस एवं स्पर्श के विषय में भी स्वयं ही अपनी प्रज्ञा से जानीयेगा...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु को ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ८ स्पर्श के सम्बन्ध में कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए। सूत्रमें स्पष्ट बताया गया है कि साधु को पदार्थ के यथार्थ वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का कथन करना चाहिये किंतु पदार्थ के विपरीत नहीं कहना चाहिए अर्थात् राग-द्वेष के वश अच्छे पदार्थ हो उससे विपरीत बुरे नहीं कहना चाहिए। राग-द्वेष के वश अच्छे पदार्थ को बुरा और बुरे पदार्थ को अच्छा नहीं बताना चाहिए। कुछ व्यक्ति मोहांध होकर कुरूपवान व्यक्ति को सुन्दर एवं रूप सम्पन्न को कुरूप बताने का भी प्रयत्न करते हैं। परन्तु, राग-द्वेष से ऊपर उठे हुए साधु किसी भी पदार्थ का गलत रूप में वर्णन न करे। साधु को सदा सावधानी पूर्वक यथार्थ एवं निर्दोष वचन का ही प्रयोग करना चाहिए। काले गौरे आदि वर्ण की तरह गन्ध, रस एवं स्पर्श के सम्बन्ध में भी यथार्थ एवं निर्दोष भाषा का व्यवहार करना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ४७४ ॥

से भियखू वा० वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च अणुवीड निष्ठाभासी
निसम्भभासी अतुरियभासी विवेगभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा । एवं खलु सया
जइ० तिबेमि ॥ ४७४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० वान्त्वा क्रोधं च मानं च मायां च लोभं च अनुविचिन्त्य निष्ठाभासी

निशम्यभाषी अत्वरितभाषी विवेकभाषी समित्या संयतः भाषां भाषेत, एवं खलु० सदा यतेत इति ब्रवीमि ॥ ४७४ ॥

III सूत्रार्थ :

क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करने वाला, एकान्त निरवद्य भाषा बोलने वाला, विचार पूर्वक बोलने वाला शनैः २ बोलने वाला और विवेक पूर्वक बोलने वाला संयत साधु या साध्वी भाषा समिति से युक्त संयत भाषा का व्यवहार करे। यही साधु और साध्वी का समग्र आचार है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. क्रोधादि का त्याग करके इस प्रकार बोलें... जैसे कि- वह साधु सोच-विचार करके निष्ठाभाषी हो, निशम्यभाषी हो, तथा अत्वरित याने जल्दी जल्दी न बोलें किंतु स्पष्ट एवं धीरे धीरे से बोलें तथा विवेकभाषी हो... अर्थात् साधु भाषासमिति के उपयोग से बोलें क्योंकि- ऐसी स्थिति में ही साधु का सच्चा साधुपना है... और यह साधुपना ही साधु का सर्वस्व (संपत्ति) है... इति शब्द अधिकार की समाप्ति का सूचक है एवं ब्रवीमि याने तीर्थंकर प्रभु श्री वर्धमानस्वामीजी के मुख से जैसा सुना है वैसा मैं (सुधर्मस्वामी) हे जंबु ! तुम्हें कहता हूँ...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में भाषा अध्ययन का उपसंहार करते हुए बताया गया है कि साधु को क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करके भाषा का प्रयोग करना चाहिए और उसे बहुत शीघ्रता से भी नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि, वह क्रोधादि विकारों के वश झूठ भी बोल सकता है और अविवेक एवं शीघ्रता में भी असत्य भाषण का होना सम्भव है। अतः विवेकशील एवं संयम निष्ठ साधक को कषायों का त्याग करके, गम्भीरतापूर्वक विचार करके धीरे-धीरे बोलना चाहिए। इस तरह साधु को सोच विचार-पूर्वक निरवद्य, निष्पापकारी, मधुर, प्रिय एवं यथार्थ भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

'तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम धूलिकायां चतुर्थ-भाषाज्ञाताध्ययने द्वितीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

॥ समाप्तं च चतुर्थमध्ययनम् ॥

卐卐卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिन्धुचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडल श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे दिश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५५ राजेन्द्र सं. १६. ५५ विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - ५ उद्देशक - १

卐 वस्त्रैषणा 卐

चौथे अध्ययन के बाद अब पांचवे अध्ययन का प्रारंभ करते हैं... यहां परस्पर संबंध इस प्रकार है कि- चौथे अध्ययन में भाषा समिति कही, अब भाषा समिति के बाद एषणा समिति होती है, अतः वस्त्र संबंधित एषणा समिति यहां कहेंगे... इस संबंध से आये हुए इस पांचवे अध्ययन के उपक्रमादि चार अनुयोग द्वारा होते हैं, उनमें उपक्रम के अंतर्गत अध्ययनार्थाधिकार में वस्त्रैषणा कहना है... और उद्देशार्थाधिकार तो स्वयं नियुक्तिकार ही कहते हैं...

प्रथम उद्देशक में वस्त्र की ग्रहणविधि कही है, और दूसरे उद्देशक में वस्त्र पहनने की विधि है... नाम-निष्पन्न निक्षेप में वस्त्रैषणा नाम है... उनमें वस्त्र शब्द के नाम आदि चार निक्षेप होते हैं... उनमें भी नाम एवं स्थापना निक्षेप सुगम है... द्रव्य वस्त्र के तीन प्रकार है... १. एकेंद्रिय से बननेवाला कपास-रुइ आदि के सुती वस्त्र... तथा २. विकलेंद्रियों से बननेवाला चीनांशुकादि रेशमी वस्त्र... तथा ३. पंचेंद्रिय-प्राणी से बननेवाला कंबलरत्न (ऊनी साल-कंबल) आदि... तथा भाववस्त्र है अडारह हजार शीलांग... इन चारों में से यहां तो द्रव्यवस्त्र की तरह पात्र के भी चार निक्षेप होते हैं उनमें द्रव्यपात्र है एकेंद्रियादि से बननेवाले... तथा भावपात्र है गुणधारी साधु-साध्वीजी म...

अब सूत्रानुगम में अस्खलितादि गुण सहित सूत्र का उच्चार करें... और वह सूत्र यह है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४७५ ॥

से भिक्खु वा० अभिकंस्त्रिज्जा वत्थं एसित्तए, से जं पुण वत्थं जाणिज्जा, तं जहा- जंगियं वा, भंगियं वा, साणियं वा पोत्तमं वा खोमियं वा तुलकडं वा, तहप्पगारं वत्थं वा जे निग्गंधे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे से एणं वत्थं धारिज्जा वो बीयं, जा निग्गंधी सा चत्तारि संघाडीओ धारिज्जा, एणं दुहत्थवित्थारं दो तिहत्थवित्थाराओ एणं चउहत्थवित्थारं, तहप्पगारेहिं वत्थेहिं असांथिज्जमाणेहिं अह पच्छा एगमेणं संसिविज्जा ॥ ४७५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० अभिकाङ्क्षेत वस्त्रं अन्वेष्टुं, सः यत् पुनः वस्त्रं जानीयात्, तद्यथा- जङ्गमिकं वा भङ्गिकं वा साणिकं वा, पत्रकं वा, क्षौमिकं वा तूलकृतं वा, तथाप्रकारं

वस्त्रं वा यः निर्बन्धः तरुणः युगवान् बलवान् अल्पातङ्कः स्थिरसंहननः, सः एकं वस्त्रं धारयेत्, न द्वितीयं, या निर्बन्धी सा चतस्रः सङ्घाटिकाः धारयेत्, एकां द्विहस्तविस्तारां द्वे त्रिहस्तविस्तारे एकां चतुर्हस्तविस्तारां तथाप्रकारैः वस्त्रैः अलब्धैः, अथ पश्चात् एकमेकेन संसीद्वेत् ॥ ४७५ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु तथा साध्वी यदि वस्त्र की गवेषणा करने की अभिलाषा रखते हों तो वे वस्त्र के सम्बन्ध में इस प्रकार जाने कि- ऊन का ऊनी वस्त्र, विकलेन्द्रिय जीवों की लारों से बनाया गया रेशमी वस्त्र, सण तथा बल्कल का वस्त्र, ताड़ आदि के पत्तों से निष्पन्न वस्त्र और कपास एवं आक की तूली से बना हुआ सूती वस्त्र एवं इस तरह के अन्य वस्त्र को भी मुनि ग्रहण कर सकता है। जो साधु तरुण बलवान्, रोग रहित और दृढ शरीर वाला है वह एक ही वस्त्र धारण करे, दूसरा धारण न करे। परन्तु साध्वी चार वस्त्र-चादरें धारण करे। उसमें एक चादर दो हाथ प्रमाण चौड़ी, दो चादरें तीन हाथ प्रमाण और एक चार हाथ प्रमाण चौड़ी होनी चाहिए। इस प्रकार के वस्त्र न मिलने पर वह एक वस्त्र को दूसरे के साथ सी ले।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब वस्त्र की गवेषणा करना चाहै तब यह देखे कि- वह गरम ऊनी वस्त्र क्या उंट-भेड़ आदि के बालों से बना है ? या वह रेशमी वस्त्र क्या विभिन्न प्रकार के विकलेन्द्रियों की लाला से बना है ? या वह वस्त्र क्या शण-बल्कल (वृक्ष की छाल) से बना है ? या ताड़ आदि के पत्तोंसे बना है या कपास-रुड़ से बना है या आकडे आदि के तूल-रुड़ से बना है इत्यादि ऐसे और अन्य प्रकार के निर्दोष एवं कल्पनीय वस्त्रों को धारण करें...

अब कौन सा साधु कितने वस्त्र धारण करे, वह कहतें हैं... जो साधु तरुण याने युवा है बलवान् याने समर्थ है, अल्पातंक याने नीरोगी है तथा दृढ शरीर एवं दृढ धृतिवाला है वह साधु एक ही वस्त्र देह की रक्षा के लिये धारण करे, दूसरा वस्त्र न लें, यदि वह साधु अन्य आचार्यादि के लिये अन्य वस्त्र धारण (रखता) करता है, तब वह साधु उस वस्त्र का खुद उपभोग न करें... किंतु जो साधु बालक है या दुर्बल है या वृद्ध है या शरीर बल अल्प है वह साधु जिस प्रकार समाधि हो उस प्रकार दो, तीन आदि वस्त्र धारण करें... यह बात स्थविर कल्पवाले साधुओं के लिये कही है, जब कि- जो साधु जिनकल्पवाले हैं वे तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार ही वस्त्र धारण करें, उनमें अपवाद नहि है...

तथा जो साध्वीजी म. है वह चार संघाटिका धारण करें, जैसे कि- एक दो हाथ

प्रमाणवाली, कि जो उपाश्रय में रहते वस्त्र ओढने की है, तथा दो संघाटिका तीन हाथ वाली उनमें जो उज्ज्वल (सफेद) हो वह गोचरी (भिक्षा) के समय पहने और दूसरी जो है वह बहिर्भूमी याने स्थंडिलभूमी जाने के वस्त्र पहने... तथा जो संघाटिका चार हाथ प्रमाणवाली है वह समवसरण-प्रवचन-धर्मकथा सुनने के वस्त्र संपूर्ण शरीर को ढांककर बैठें... तथा वे संघाटिका यदि जैसी चाहिये वैसे प्रमाणवाली न मीले तब एक दूसरे के साथ सीव कर (जोड़ लगा कर) प्रमाणोपेत बनावें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु ६ तरह का वस्त्र ग्रहण कर सकता है—
१. जांगमिक-जंगम-चलने-फिरने वाले ऊंट, भेड़ आदि जानवरों के बालों से बनाए हुए ऊन के वस्त्र २. भंगिय-विभिन्न विकलेन्द्रिय जीवों की लार से, निर्मित तन्तुओं से निर्मित रेशमी वस्त्र, ३. साणिय-सण या वल्कल से बना हुआ वस्त्र, ४. पोतक-ताड़ पत्रों के रेशों से बनाया हुआ वस्त्र, ५. स्रोमिय-कपास से निष्पन्न वस्त्र और ६. तूलकड़े-आक के डोड़ों में से निकलने वाली रुई से बना हुआ वस्त्र। इस ६ तरह के वस्त्रों में सभी तरह के वस्त्रों का समावेश हो जाता है। अतः वह इनमें से किसी भी तरह का वस्त्र ग्रहण कर सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में साधु और साध्वी के लिए वस्त्रों का परिमाण भी निश्चित कर दिया गया है। यदि साधु युवक, निरोगी, शक्ति सम्पन्न एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला हो तो वह एक वस्त्र ही ग्रहण कर सकता है, दूसरा नहीं। इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि वृद्ध, कमजोर, रोगी एवं जर्जरित शरीर वाला साधु एक से अधिक वस्त्र भी रख सकता है।

साध्वी के लिए चार वस्त्रों (चादरों) का विधान किया गया है। उसमें एक चादर दो हाथ की हो, दो चादरें तीन-तीन हाथ की हों, और एक चार हाथ की हो। साध्वी को उपाश्रय में रहते समय दो हाथ वाली चादर का उपयोग करना चाहिए, गोचरी एवं स्थंडिलभूमी-जङ्गल आदि जाते समय तीन-तीन हाथ वाली चादरों को क्रमशः काम में लेना चाहिए और अवशिष्ट चौथी (चार हाथ वाली) जिनालय एवं समावसरण में चादर को व्याख्यान के समय ओढ़ना चाहिए। इसका तात्पर्य इतना ही है कि आहार आदि के लिए स्थान से बाहर निकलते समय एवं व्याख्यान में पर्वदा के समने बैठते समय साध्वी अपने अधिकांश अङ्गों पाङ्गों को आवृत करके बैठे, जिससे उन्हें देखकर किसी के मन में विकार भाव जागृत न हो।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि उस समय भारतीय शिल्पकला एवं वस्त्र उद्योग पर्याप्त उन्नति पर था। यन्त्रों के सहयोग के बिना ही विभिन्न तरह के सुन्दर, आकर्षक एवं मजबूत वस्त्र बनाए जाते थे। अंग्रेजों के भारत में आने के पूर्व ढाका में बनने वाली मलमल इतनी बारीक होती थी कि २० गज की मलमल का पूरा थान एक बांस की नली में समाविष्ट

किया जा सकता था। आगम में भी ऐसे वस्त्राभूषणों का उल्लेख मिलता है कि- जो वजन में हल्के और बहुमूल्य होते थे। इससे उस युग की शिल्प कला की उन्नति का स्पष्ट परिचय मिलता है।

इस (वस्त्र के) विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ४७६ ॥

से भि० परं अद्भजोयणमेराए वत्थ पडिया० नो अभिसंधारिज्जा ममणाए ॥ ४७६ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भि० परं अर्ध-योजनमर्यादायां वस्त्रप्रति० न अभिसन्धारयेत् गमनाय ॥ ४७६ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी को वस्त्र की याचना करने के लिए आधे योजन से आगे जाने का विचार नहीं करना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. वस्त्र की गवेषणा के लिये आधे योजन के उपर जाने का मन न करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र ग्रहण करने के लिए क्षेत्र मर्यादा का उल्लेख किया गया है। साधु या साध्वी को आधे योजन से आगे के क्षेत्र में जाकर वस्त्र लाने का संकल्प भी नहीं करना चाहिए। जैसे आगम में साधु-साध्वी को आधे योजन से आगे का लाया हुआ आहार-पानी करने का निषेध किया गया है, उसी तरह प्रस्तुत सूत्र में क्षेत्र का अतिक्रान्त करके वस्त्र ग्रहण करने का भी निषेध किया गया है।

वृत्तिकार ने केवल शब्दों का अर्थ मात्र किया है। यह नहीं बताया कि यह आदेश सामान्य सूत्र से सम्बन्ध है या अभिग्रह विशेष से।

इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र

कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ४७७ ॥

से भि० से जं० अस्सिपडियाए एगं साहम्मियं समुदिस्स पाणाइं जहा पिंडेसणाए भाणियव्वं । एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणि बहवे साहम्मिणीओ बहवे समण-माहण० तहेव पुरिसंतरकडा जहा पिंडेसणाए ॥ ४७७ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भि० सः यत्० अस्वप्रतिज्ञया एकं साधर्मिकं समुदिश्य प्राणिनः, यथा पिण्डैषणायां (तथा) भाणितव्यम्, एवं बहवः साधर्मिकाः एकां साधर्मिकां, बहवः साधर्मिण्यः बहून् श्रमण-ब्राह्मणं तथैव पुरुषान्तरकृता यथा पिण्डैषणायां ॥ ४७७ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी को वस्त्र के विषय में यह जानना चाहिए कि- जिसके पास धन नहीं है ऐसा गृहस्थ कोई साधु के निर्देश से एक या अनेक साधु या साध्वियों के लिए प्राण भूत आदि की हिंसा करके वस्त्र तैयार करे तो साधु-साध्वी को वह वस्त्र नहीं लेना चाहिए । यदि वह वस्त्र बहुत से शाक्य आदि श्रमण-ब्राह्मणों के लिए तैयार किया गया है और वह पुरुषान्तर हो गया हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है । यह सारा प्रकरण सद्बोध एवं निर्दोष के विषय में पिण्डैषणा के प्रकरण की तरह समझना चाहिए ।

IV टीका-अनुवाद :

यह दोनों सूत्र आधाकर्मिक-उद्देश से पिण्डैषणा के सूत्रों की तरह जानीयेगा...

अब उत्तरगुणों के विषय में कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु-साध्वी को आधाकर्म आदि दोष युक्त वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए । यदि किसी व्यक्ति ने एक या अनेक साधुओं या एक और अनेक साध्वियों को उद्देश्य करके वस्त्र बनाया हो तो साधु-साध्वी को वह वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए । यदि वह वस्त्र किसी शाक्य आदि श्रमण या ब्राह्मणों के लिए बनाया गया हो, परन्तु पुरुषान्तर कृत नहीं हुआ हो तो वह वस्त्र भी स्वीकर न करे । किंतु यदि वह वस्त्र पुरुषान्तर कृत हो गया है तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है । वस्त्र ग्रहण करने या न करने की सारी विधि आहार ग्रहण करने की विधि की तरह ही है । अतः सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया

हैं कि इस प्रकरण को पिंडैषणा के प्रकरण की तरह समझना चाहिए। अर्थात् साधु को सदा निर्दोष वस्त्र ही ग्रहण करना चाहिए।

अब उत्तर गुणों की शुद्धि को रखते हुए वस्त्र ग्रहण की मर्यादा का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ४७८ ॥

से भि० से जं० असंजए भिक्खुपडियाए कीयं वा धोयं वा रत्तं वा घट्टं वा मट्टं वा, संप्रधूमियं वा, तहप्पगारं वत्थं अपुरिसंतरकडं जाव नो० अह पु० पुरिसं० जाव पडिगाहिज्जा ॥ ४७८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भि० सः यत्० असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया कृतं वा धौतं वा रयतं वा घृष्टं वा मृष्टं वा संप्रधूमितं वा, तथाप्रकारं वस्त्रं अपुरुषान्तरकृतं यावत् न० अथ पुनः० पुरुषान्तर० यावत् प्रतिगृहीयात् ॥ ४७८ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी को वस्त्र के विषय में यह जानना चाहिए कि यदि किसी गृहस्थ ने साधु के लिए वस्त्र खरीदा हो, धोया हो, रंगा हो, घिस कर साफ किया हो, शृंगारित किया हो या धूप आदि से सुगन्धित किया हो और वह पुरुषान्तरकृत नहीं हुआ हो तो साधु साध्वी उसे ग्रहण न करे। यदि वह पुरुषान्तर कृत हो गया हो तो साधु-साध्वी उसे ग्रहण कर सकते हैं।

IV टीका-अनुवाद :

साधुओं के लिये यदि गृहस्थ वस्त्र खरीद कर लावे या धोकर लावे तो वे अपुरुषान्तर कृत होने से साधु उन वस्त्रादि को ग्रहण न करें... किंतु यदि वह गृहस्थ अन्य पुरुष के लिये स्वीकार करके साधु को दे तब साधु उन वस्त्रादि को ग्रहण करें यह यहां सारांश है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में उत्तर गुण में लगने वाले दोषों से बचने का आदेश दिया गया है इस में बताया गया है कि जो वस्त्र साधु के लिए खरीदा गया हो, धोया गया हो, रंगा गया हो, अच्छी तरह से रगड़ कर साफ किया गया हो, शृंगारित किया गया हो या धूप आदि से सुवासित बनाया गया हो तो साधु को वैसा वस्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि इस तरह का वस्त्र

पुरुषान्तर कृत हो गया हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि जो वस्त्र मूल से साधु के लिए ही तैयार किया गया हो उसे साधु किसी भी स्थिति-परिस्थिति में स्वीकार न करे—चाहे वह पुरुषान्तर कृत हो या न हो, हर हालत में वह अकल्पनीय है। परन्तु, जो वस्त्र मूल से साधु के लिए नहीं बनाया गया है, परन्तु उसके तैयार होने के बाद साधु के निमित्त उसमें कुछ विशेष क्रियाएं की गई हैं। ऐसी स्थिति में साधु उसे तब तक स्वीकृत नहीं कर सकता, जब तक कि वह पुरुषान्तरकृत नहीं हो गया हो। यदि किसी व्यक्ति ने उसे अपने उपयोग में ले लिया हो, तो फिर साधु उसे ले भी सकता है।

इस वस्त्र प्रकरण को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ४७९ ॥

से भिक्खु वा, से जाइं पुण वत्थाइं जाणिज्जा, विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं तं- आइण्णाणि वा सहिणाणि वा सहिणकल्लाणाणि वा आयाणि वा कायाणि वा खोमियाणि वा दुगुल्लाणि वा पट्टाणि वा मलयाणि वा पण्णुण्णाणि वा अंसुयाणि वा चीणंसुयाणि वा देसराणाणि वा अमिलाणि वा गज्जफलाणि वा फालियाणि वा कोयवाणि वा कंबलगाणि वा पावरणाणि वा अण्णयराणि वा तहं वत्थाइं महद्धणमुल्लाइं लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ।

से भि० आइण्णपाउरणाणि वत्थाणि जाणिज्जा, तं- उदाणि वा पेसाणि वा पेसलाणि वा किण्हमिगाईण्णाणि वा नीलमिगाईण्णाणि वा गोरमि० कण्णाणि वा कण्णकंताणि वा कण्णपट्टाणि वा कण्णख्रइयाणि वा कण्णफुसियाणि वा वग्घाणि वा विवग्घाणि वा आभरणाणि वा आभरणाविचित्ताणि वा अण्णयराणि तहं आईण्ण पाउरणाणि वत्थाणि लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ॥ ४७९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यानि पुनः वस्त्राणि जानीयात्- विरूपरूपाणि महाधनमूल्यानि तद्यथा आजिनानि वा शृङ्गानि वा शृङ्गकल्याणानि वा आजकानि वा कायकानि वा दौमिकानि वा दुकूलानि वा पट्टानि वा मलयानि वा वल्कलतन्तुनिष्पन्नानि प्रणुन्नानि वा अंशुकानि वा चीनांशुकानि वा देशराणाणि वा अमिलानि वा गज्जफलानि वा फालिकानि वा, कोयवानि वा, कम्बलकानि वा प्रावरणानि वा अन्यतराणि वा तथा० वस्त्राणि महाधनमूल्यानि लाभे सति न प्रतिगृहीयात् ।

सः भि० आजिनप्रावरणीयानि वस्त्राणि जानीयात्, तद्यथा- उद्राणि वा पेसानि

वा पेशलानि वा कृष्णमृगाजिनानि वा नीलमृगाजिनानि वा गौरमृगा० कनकानि वा, कनककान्तीनि वा कनकपट्टानि वा कनकखचितानि वा कनकस्पृष्टानि वा व्याघ्राणि वा विव्याघ्राणि वा आभरणानि वा आभरणविचित्राणि वा अन्यतराणि तथा० आजिन प्रावरणानि वस्त्राणि लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात् ॥ ४७९ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु अथवा साध्वी को महाधन से प्राप्त होने वाले नाना प्रकार के बहुमूल्य वस्त्रों के सम्बन्ध में परिज्ञान होना चाहिए जैसे कि- मूषकादि के चर्म से निष्पन्न, अत्यन्त सूक्ष्म, वर्ण और सौन्दर्य से सुशोभित वस्त्र तथा देशविशेषोत्पन्न बकरी या बकरे के रोमों से बनाए गए वस्त्र एवं देशविशेषोत्पन्न इन्द्रनील वर्ण कपास से निर्मित, समान कपास से बने हुए और गौड़ देश की विशिष्ट प्रकार की कपास से बने हुए वस्त्र, पट्ट सूत्र-रेशम से, मलय सूत्र से और वल्कल तन्तुओं से बनाए गए वस्त्र तथा अंशुक और चीनांशुक, देशराज नामक देश के, अमल देश के तथा गजफल देश के और फलक तथा कोयल देश के बने हुए प्रधान वस्त्र अथवा ऊर्ण कम्बल तथा अन्य बहुमूल्य वस्त्र-कम्बल विशेष और अन्य इसी प्रकार के अन्य भी बहुमूल्य वस्त्र, प्राप्त होने पर भी विचारशील साधु उन्हें ग्रहण न करे।

संयमशील साधु या साध्वी को चर्म एवं रोम से निष्पन्न वस्त्रों के सम्बन्ध में भी परिज्ञान करना चाहिए। जैसे कि- सिन्धुदेश के मत्स्य के चर्म और रोमों से बने हुए, सिन्धु देश के सूक्ष्मचर्म वाले पशुओं के चर्म एवं रोमों से बने हुए तथा उस चर्म पर स्थित सूक्ष्म रोमों से बने हुए एवं कृष्ण, नील और श्वेत मृग के चर्म और रोमों से बने हुए तथा स्वर्णजल से सुशोभित, स्वर्ण के समान कांति और स्वर्ण रस के स्तबकों से विभूषित, स्वर्ण तारों से खचित और स्वर्ण चन्द्रिकाओं से स्पर्शित बहुमूल्य वस्त्र अथवा व्याघ्र या बूक के चर्म से बने हुए, सामान्य और विशेष प्रकार के आभरणों से सुशोभित तथा अन्यप्रकार के चर्म एवं रोमों से निष्पन्न वस्त्रों को मिलने पर भी संयमशील मुनि स्वीकार न करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी न. जब जाने कि- यह वस्त्र बहुत सारे धन-मूल्यवाले है... जैसे कि- मूषक आदि के चर्म से बने आजिन... तथा ऋक्षण याने सूक्ष्म... तथा वर्ण एवं कांति से सुन्दर ऐसे ऋक्षणकल्याण... तथा सूक्ष्म रोमवाले भेड़-बकरीयां के पक्ष्म-रुआंटी से बने हुए वस्त्र-आजक... तथा कोइक देश में इन्द्रनील वर्णवाला कपास-रुइ होती है, अतः उन रुइ से बने हुए वस्त्र-कायक... तथा सामान्य कपास से बनाया हुआ वस्त्र-क्षौमिक... तथा गौड़ देश के विशेष प्रकार के कपास से बनाये हुए वस्त्र-दुकूल... तथा पट्ट-सूत्र से बने वस्त्र-पट्ट... और मलयज सूत्र से बने वस्त्र... मलय... तथा वल्कल याने वृक्ष की छाल से बने तंतुओं के वस्त्र...

तथा अंशुक, चीनांशुक इत्यादि भिन्न भिन्न देशों में प्रसिद्ध नामवाले वस्त्र... कि- जो वस्त्र बहोत सारे धन-मूल्यवाले प्राप्त हो तो भी ऐहिक याने इस जन्म के एवं आमुष्मिक याने जन्मांतर के अपाय याने दुःख-उपद्रवों के भयसे साधु ग्रहण न करें...

वह साधु या साध्वीजी म. जब जाने कि- यह वस्त्र अजिन याने चर्म से बने हुए है... जैसे कि- उद्र याने सिंधु देश की मच्छलीयां, उनके सूक्ष्म चर्म से बने वस्त्र... उद्र... तथा पेस याने सिंधु देश के हि सूक्ष्म चर्मवाले पशुओं के चर्म से बने हुए वस्त्र... तथा पेशल याने चर्म के सूक्ष्म पक्ष्म याने रुवांटी (रोम) से बने वस्त्र... तथा काले मृग के चर्म से बने हुए, नील मृग के चर्म से बने हुए, कौरमृग के चर्म से बने हुए वस्त्र, तथा कनक रसवाले, कनक की कांतिवाले तथा कनक याने सोने के पट्टेवाले तथा सुवर्णजडित चर्म- वस्त्र, तथा वाघ के चर्म से बने वस्त्र, तथा वाघ के चर्म के विभिन्न आभरणवाले वस्त्र तथा आभरणवाले वस्त्र, और आभरणो के विभिन्न प्रकार से विभूषित वस्त्र, ऐसे और भी चर्म से बने वस्त्र प्राप्त हो तो भी साधु ग्रहण न करें...

अब वस्त्र के ग्रहण करने के अभिग्रहों के विषय में कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को देश या विदेश में बने हुए विशिष्ट रेशम, सूत, चर्म एवं रोमों के बहुमूल्य वस्त्रों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। ऐसे कीमती वस्त्रों को देखकर चोरों के मन में दुर्भाव पैदा हो सकता है और साधु के मन में भी ममत्व भाव हो सकता है। चर्म एवं मुलायम रोमों के वस्त्र के लिए पशुओं की हिंसा भी होती है। अतः पूर्ण अहिंसक साधु के लिए ऐसे कीमती एवं महारम्भ से बने वस्त्र ग्राह्य नहीं हो सकते। इसलिए भगवान ने साधु के लिए ऐसे वस्त्र ग्रहण करने का निषेध किया है।

प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय एवं सीमा के निकट के देशों में वस्त्र उद्योग काफी उन्नति पर था और उस समय आज के युग से भी अधिक सुन्दर और टिकाऊ वस्त्र बनता था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उस युग में भारत आज से अधिक खुशहाल था। उसका व्यापारिक व्यवसाय अधिक व्यापक था। चीन एवं उसके निकटवर्ती देशों से वस्त्र का आयात एवं निर्यात होता रहता था। इससे यह स्पष्ट जानकारी मिलती है कि उस युग में शिल्पकला विकास की चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी और जनता का जीवनस्तर काफी उन्नत था। भारत में गरीबी, भुखमरी एवं वस्तुओं का अभाव कम था और अन्य देशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध भी काफी अच्छे थे। उस युग के भारतीय औद्योगिक, व्यवसायिक एवं व्यापारिक इतिहास की शोध करने वाले इतिहास वेत्ताओं के लिए प्रस्तुत सूत्र बहुत ही महत्वपूर्ण है।

वस्त्र ग्रहण करते समय किए जाने वाले अभिग्रहों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामीजी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ४८० ॥

इच्छेइयाइं आयतणाइं उवाइकम्म, अह भियखू जाणिज्जा चउहिं पडिमाहिं वत्थं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा, से भि० उद्देसिय वत्थं जाइज्जा, तं- जंगियं वा जाव तूलकडं वा, तह० वत्थं सयं वा न जाइज्जा, परो० फासुयं पडि० पढमा पडिमा ।

अहावरा दुच्चा पडिमा- से भि० पेहाए वत्थं जाइज्जा- गाहावई वा० कम्मकरी वा से पुव्वामेव आलोइज्जा- आउसोत्ति वा, दाहिसि मे इत्तो अण्णयरं वत्थं ? तहप्प० वत्थं सयं वा० परो० फासुयं एस० लाभे० पडि० दुच्चा पडिमा ।

अहावरा तच्चा पडिमा० से भियखू० से जं पुण० तं अंतरिज्जं वा उत्तरिज्जं वा तहप्पगारं वत्थं सयं० पडि० तच्चा पडिमा ।

अहावरा चउत्था पडिमा- से० उज्झियधम्मियं वत्थं जाइज्जा- जं चऽण्णे बहवे समण० वणीमगा वावकंखंति तहप्प० उज्झिय० वत्थं सयं० परो० फासुयं जाव प० चउत्थी पडिमा ।

इच्छेइयाणं चउण्हं पडिमाणं जहा पिंडेसणाए, सिया णं एताए एसणाए एसमाणं परो वइज्जा आउसंतो समणा ! इज्जाहि तुमं मासेण वा दसराएण वा पंचराएण वा सुते सुततरे वा तो ते वयं अण्णयरं वत्थं दाहामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा नि० से पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसोत्ति ! वा, नो खलु मे कप्पइ एयप्पगारं संगारं पडिसुणित्तए, अभिकंखसि मे दाउं इयाणिमेव दलयाहि, से नेवं वयंतं परो वइज्जा- आउ० स० ! अणुगच्छाहि तो ते वयं अण्ण० वत्थं दाहामो ।

से पुव्वामेव आलोइज्जा- आउसोत्ति ! वा, नो खलु मे कप्पइ संगारवयणे पडिसुणित्तए० से सेवं वयंतं परो नेवा वइज्जा- आउसोत्ति वा ! भइणित्ति वा ! आहरेयं वत्थं समणस्स दाहामो, अवियाइं वयं पच्छावि अप्पणौ सयद्वाए पाणाइं, समारंभ समुद्दिस्स जाव चेइस्सामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म तहप्पगारं वत्थं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा, सिया णं परो नेता वइज्जा- आउसोत्ति ! वा, आहर एयं वत्थं सिणाणे वा, आघंसित्ता वा प० समणस्स णं दाहामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा नि० से पुव्वामेव आउ० भ० ! मा एयं तुमं वत्थं सिणाणेण वा जाव पघंसाहि वा, अभि० एमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो सिणाणेण वा पघंसित्ता दलइज्जा, तहप्प० वत्थं अफा० नो पडिगाहिज्जा ।

से णं परो वेता वड्ज्जा० भ० ! आहर एयं वत्थं सीओदगवियडेण वा उच्छोलेता वा पहोलेता वा समणस्स णं दाहामो० एय० निग्घोसं तहेव नवरं मा एयं तुमं वत्थं सीओदग० उसि० उच्छोलेहि वा पहोलेहि वा, अभिकंखसि, सेसं तहेव जाव नो पडिगाहिज्जा, से णं परो ने० आ० भ० ! आहरेयं वत्थं कंदाणि वा जाव हरियाणि वा विसोहिता समणस्स णं दाहामो, एय० निग्घोसं तहेव, नवरं मा एयाणि तुमं कंदाणि वा जाव विसोहेहि, नो खलु मे कप्पइ एयप्पगारे वत्थे पडिग्गाहितए, से सेवं वयंतस्स परो जाव विसोहिता दलइज्जा, तहप्प० वत्थं अफासुयं नो प० ।

सिया से परो वेता वत्थं विसिरिज्जा, से पुव्वा० आ० भ० ! तुमं चेव णं संतियं वत्थं अंतेअंतेणं पडिलेहिज्जिस्सामि, केवली बूया आ०, वत्थंतेण बद्धे सिया कुंडले वा गुणे वा हिरण्णे वा सुवण्णे वा मणी वा जाव रयणावली वा पाणे वा बीए वा हरिए वा, अह भिक्खू णं पु० जं पुव्वामेव वत्थं अंतो अंतेण पडिलेहिज्जा ॥ ४८० ॥

II संस्कृत-छाया :

इत्येतानि आयतनानि उपातिकन्य अथ भिक्षुः जानीयात् चतसृभिः प्रतिमाभिः वस्त्रं अन्वेष्टुम्, तत्र खलु प्रथमा प्रतिमा, सः भिक्षुः वा, औद्देशिकं उद्दिष्टं वस्त्रं याचेत (याचिष्ये), तद्यथा- जङ्गमिकं वा यावत् तूलकृतं वा, तथाप्रकारं वस्त्रं स्वयं वा न याचेत, परः० प्रासुकं प्रति० प्रथमा प्रतिमा ।

अथ अपरा द्वितीया प्रतिमा- सः भिक्षुः वा, प्रेक्षितं वस्त्रं याचिष्ये, गृहपतिः वा कर्मकरी वा सः पूर्वमेव आलोकयेत्, हे आयुष्मन् ! वा, ददासि मह्यं इतः अन्यतरं वस्त्रम् ? तथाप्रकारं वस्त्रं स्वयं वा० परः० प्रासुकं एषः लाभे० प्रति० द्वितीया प्रतिमा ।

अथ अपरा तृतीया प्रतिमा- सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः० तं अन्तरीयं वा उत्तरीयं वा तथाप्रकारं वस्त्रं स्वयं० प्रति० तृतीया प्रतिमा ।

अथ अपरा चतुर्थी प्रतिमा- सः० उत्सृष्टधामिकं वस्त्रं याचिष्ये, यत् च अन्ये बहवः श्रमण० वनीपकाः न अवकाङ्क्षन्ते, तथाप्रकारं० उज्झितं० वस्त्रं स्वयं० परः० प्रासुकं यावत् प्रति० चतुर्थी प्रतिमा ।

इत्येतासां चतसृणां प्रतिमानां यथा पिण्डेषणायां स्यात् एतया एषणया अन्वेषयन्तं परः वदेत्- हे आयुष्मन् ! श्रमण ! समागच्छ त्वं मासेन वा, तुभ्यं वयं अन्यतरं वस्त्रं दास्यामः, एतत्प्रकारं निर्धोषं श्रुत्वा निशम्य सः पूर्वमेव आलोकयेत्- हे आयुष्मन् ! वा०, न खलु मह्यं कल्पते एतत्प्रकारं शृङ्गारं प्रतिश्रोतुम्, अभिकाङ्क्षसे मह्यं दातुं, इदानीमेव

देहि, तं एवं वदन्तं परः वदेत्- हे आयुष्मन् ! श्रमण ! अनुगच्छ, ततः तुभ्यं वयं अन्यतरं वा वस्त्रं दास्यामः ।

सः पूर्वमेव आलोकयेत्, हे आयुष्मन् ! वा, न खलु मह्यं कल्पते शृङ्गारवचनानि प्रतिश्रोतुम्० तं एवं वदन्तं परः नेता वदेत्, हे आयुष्मन् ! वा हे भगिनि ! वा आहर एतत् वस्त्रं श्रमणाय दास्यामः, अपि य वयं पश्चादपि आत्मनः स्वार्थाय प्राणिनः, समारम्भं समुद्दिश्य यावत् चेतयिष्यामः (करिष्यामः), एतत्प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य तथाप्रकारं वस्त्रं अप्राप्तुकं यावत् न प्रतिगृहीयात् ! स्यात् परः नेता वदेत्- हे आयुष्मन् ! वा, आहर एतत् वस्त्रं स्नानेन वा, आघर्षयित्वा वा प्रघर्षयित्वा वा श्रमणाय दास्यामः, एतत्प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य सः पूर्वमेव० हे आयुष्मन् ! हे भगिनि ! मा एतत् त्वं वस्त्रं स्नानेन वा यावत् प्रघर्षय वा, अभि० एवमेव देहि, तस्मै एवं वदते परः स्नाने वा प्रघर्षयित्वा दद्यात्, तथाप्रकारं० वस्त्रं अप्रा० न प्रति० ।

सः परः नेता वदेत्० हे भगिनि ! आहर एतत् वस्त्रं शीतोदकविकटेन वा, उत्क्षाल्य वा प्रक्षाल्य वा श्रमणाय दास्यामः, एतत्प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य० तथैव नवरं मा एतत् त्वं वस्त्रं शीतोदकं उष्णोदकं उत्क्षाल्य वा प्रक्षाल्य वा, अभिकाङ्क्षसे, शेषं तथैव यावत् न प्रतिगृहीयात् । सः परः नेता हे आयुष्मन् हे भगिनि ! आहर एतत् वस्त्रं कन्दानि वा यावत् हरितानि वा विशोधय श्रमणाय दास्यामः, एतत्० निर्घोषं तथैव, नवरं मा एतानि त्वं कन्दानि वा यावत् विशोधय, न खलु मह्यं कल्पते एतत्प्रकाराणि वस्त्राणि प्रतिग्रहीतुम्, तस्मै एवं वदते परः यावत् (विशोधयित्वा) विशोधय दद्यात्, तथाप्र० वस्त्रं अप्राप्तुकं न प्रतिगृहीयात् ।

स्यात् सः परः नेता वस्त्रं निसृजेत्, सः पूर्वमेव० हे आयुष्मन् ! हे भगिनि ! युष्माकं एव सत्कं वस्त्रं अन्तोपान्तेन प्रत्युपेक्षिष्ये, केवली ब्रूयात्-आदानमेतत्, वस्त्रान्तेन बद्धे स्यात् कुण्डलं वा गुणो वा हिरण्यं वा सुवर्णं वा मणी वा यावत् रत्नावली वा, प्राणिनः वा बीजानि वा हरितानि वा, अथ भिक्षुनां पूर्वोप० यत् पूर्वमेव वस्त्रं अन्तोपान्तेन प्रत्युपेक्षेत ॥ ४८० ॥

III सूत्रार्थ :

वस्त्रैषणा के इन पूर्वोक्त तथा वक्ष्यमाण दोषों को छोड़कर संयमशील साधु अथवा साध्वी इन चार प्रतिमाओं-अभिग्रह विशेषों से वस्त्र की गवेषणा करे, यथा—ऊन आदि के वस्त्रों का संकल्प कर उद्देश्य रख कर स्वयं वस्त्र की याचना करे या गृहस्थ ही बिना मांगे वस्त्र देवे तब यदि प्राप्तुक होगा तो लूंगा, यह प्रथम प्रतिमा है । दूसरी प्रतिमा- देख कर वस्त्र की

याचना करूंगा। तीसरी प्रतिमा-गृहस्थ का पहना हुआ वस्त्र लूंगा। चौथी प्रतिमा-उज्जित धर्मवाला वस्त्र लूंगा, जिसे अन्य शाक्यादि श्रमण न चाहते हों। इन प्रतिमाओं-अभिग्रहों को धारण करने वाला साधु अन्य साधुओं की निन्दा न करे तथा स्वयं अहंकार भी न करे, किन्तु जो जिनाज्ञा में चलने वाले हैं वे सब पूज्य हैं इस प्रकार की समाधि अर्थात् समभाव से विचरे। वस्त्र की गवेषणा करते हुए साधु को यदि कोई गृहस्थ कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! अब तो तुम चले जाओ। किन्तु मासादि के अन्तर से अर्थात् एक मास या दस दिन अथवा पांच दिन आदि के अनन्तर आप यहां आना तब साधु उस गृहस्थ के प्रति कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ ! मुझे यह प्रतिज्ञापूवक वचन सुनना नहीं कल्पता। अतः यदि तुम देना चाहते हो तो अभी दे दो। इस पर यदि गृहस्थ कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! अभी तुम जाओ, थोड़े समय के अनन्तर आकर वस्त्र ले जाना। तब भी मुनि यही कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ ! मुझे यह संकेत पूर्वक वचन स्वीकार करना नहीं कल्पता, यदि तुम देना चाहते हो तो इसी समय दे दो। तब गृहस्थ ने किसी निजी पुरुष या बहिन आदि को बुलाकर कहा कि यह वस्त्र इस साधु को दे दो। हम पीछे अपने लिए प्राणियों का समारम्भ करके और बना लेंगे। गृहस्थ के इस प्रकार के शब्दों को सुनकर पश्चात्कर्म लगने से उस वस्त्र को अप्राप्त्युक्त तथा अनेषणीय जान कर साधु ग्रहण न करे। और यदि घर का स्वामी अपने परिवार से कहे कि जाओ इस वस्त्र को जल से धोकर और सुगन्धित द्रव्यों से घर्षित करके साधु को दे दीजिए... तब साधु उसे ऐसा करने से मना करे। उसके मना करने-निषेध करने पर भी यदि गृहस्थ उक्त क्रिया करके वस्त्र देना चाहे तो साधु उस वस्त्र को कदापि ग्रहण न करे एवं यदि शीतल अथवा उष्ण जल से धोकर देना चाहे और रोकने पर भी न रूके तो साधु उस वस्त्र को भी स्वीकार न करे। इसी प्रकार यदि वस्त्र में कन्दमूल आदि वनस्पति बान्धी हुई हो या रखी पड़ी हो तब उन्हे अलग कर के देना चाहे तो भी न ले। और यदि गृहस्थ साधु को वस्त्र दे ही दे तो साधु बिना प्रतिलेखना किए, बिना अच्छी तरह देखे। उस वस्त्र को कदापि ग्रहण न करे, कारण कि केवली भगवान् कहते हैं कि बिना प्रतिलेखना के वस्त्र का ग्रहण कर्मबन्धन का हेतु होता है, सम्भव है वस्त्र के किसी किनारे में कुण्डल, हार, चान्दी, सोना, मणि यावत् रत्नावली आदि बंधे हुए हो अथवा प्राणी बीज और हरी सब्जी आदि बंधी हुई हों। इसलिए तीर्थकरादि ने पहले ही मुनियों को आज्ञा प्रदान की है कि साधु बिना प्रतिलेखना किए इन वस्त्रों को ग्रहण न करे।

IV टीका-अनुवाद :

इस प्रकार पूर्व कहे गये और आगे कहे जाएंगे ऐसे उन आयतनों का अतिक्रमण करके जब भिक्षु याने साधु चार प्रतिमाओं के द्वारा कहे जानेवाले अभिग्रहों के साथ वस्त्र की गवेषणा करना चाहे तब यह जाने कि- पूर्व से हि संकल्पित वस्त्र की याचना करूंगा... यह पहली प्रतिमा... तथा देखे गये वस्त्र की हि याचना करूंगा, अन्य की नहि, यह दुसरी प्रतिमा.... तथा

अंदर की और उपभोग किया हुआ या बाहार की और गृहस्थ ने उपभोग किया अर्थात् वापरे हुअे वस्त्र को हि ग्रहण करुंगा... यह तीसरी प्रतिमा... तथा गृहस्थ ने अंदर की और या बाहार की और वापरा हुआ, तथा त्याग करने के लिये निकाले हुए वस्त्र को हि ग्रहण करुंगा... यह चौथी प्रतिमा... यह चारों सूत्र का सारांश-अर्थ है... इन चार प्रतिमाओं का शेष विधि पिंडेषणा की तरह जानीयेगा...

अब सूत्रकार महर्षि कहते हैं कि- जब साधु पूर्व कही गइ चार प्रतिमा में से कोई भी एक वस्त्रेषणा से वस्त्र की गवेषणा करनेवाले साधु को गृहस्थ कहे कि- हे आयुष्मन् श्रमण ! आप एक महिने के बाद, या दश दिन के बाद या पांच दिन के बाद आइयेगा, तब मैं आपको वस्त्र आदि दुंगा... किंतु साधु उस गृहस्थ के उन वचनों का स्वीकार न करें... इत्यादि... शेष सुगम है... यावत् अभी इस वस्तु यदि देना चाहो तो दीजीयेगा... इस प्रकार कहनेवाले साधु को वह गृहस्थ कहे कि- हे श्रमण ! अभी आप जाइयेगा... और थोडे दिनों के बाद आप आओगे तब मैं आपको वस्त्र आदि दुंगा... साधु गृहस्थ के ऐसे इन वचनों का भी स्वीकार न करें... और कहे कि- यदि आप देना चाहो तो अभी दीजीयेगा... इस प्रकार फिर से बोलते हुए साधु को देखकर वह गृहस्थ घर का नायक अपने परिवार के बहिन आदि को बुलाकर कहे कि- वस्त्र लाओ, और कहे कि- अभी हि यह वस्त्र इन साधुओं को दे दीजीये... और हम अपने लिये अन्य वस्त्र प्राणीओं का उपमर्दन करके बनाएंगे... इत्यादि... किंतु ऐसे इस प्रकार के वस्त्र भी साधु पश्चात्कर्म दोष के भय से प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करें...

तथा कदाचित् वह गृहस्थ ऐसा कहे कि- स्नान आदि से सुगंधि द्रव्य के द्वारा स्नान आदि से घर्षण आदि क्रिया करके आपको वस्त्र आदि दुंगा... यह बात सुनकर साधु न निषेध करे और कहे कि- इस प्रकार के वस्त्र हमे नहि कल्पता... यदि निषेध करने पर भी उपरोक्त क्रिया करके वस्त्रादि दे तब साधु उन वस्त्रादि को ग्रहण न करें... इसी प्रकार जल आदि से वस्त्र धोना इत्यादि सूत्र भी स्वयं जानीयेगा...

तथा वस्त्रादि की याचना करने पर वह गृहस्थ कहे कि- कंदमूल-सब्जी आदि वस्त्र से दूर करके आपको वस्त्र दुंगा... इस स्थिति में भी साधु पूर्व की तरह निषेध करे और वस्त्रादि ग्रहण न करें...

तथा वस्त्र की यचना करने पर वह गृहस्थ कदाचित् देवे तब वस्त्र दे रहे ऐसे उस गृहस्थ को साधु कहे कि- आपके इस वस्त्र का मैं अंदर-बाहार प्रत्युपेक्षण याने अवलोकन करुंगा... बिना अवलोकन कीये उस वस्त्रादि को साधु ग्रहण न करें... क्योंकि- केवली परमात्मा कहते हैं कि- बिना प्रत्युपेक्षण कीये वस्त्रादि ग्रहण करने में कर्मबंध होता है... जैसे कि- उन वस्त्रादि में कभी (कदाचित्) कुंडल आदि सुवर्ण के आभूषण बंधे (रखे) हुए हो, या

कोई सचित वस्तु रखी हुई हो... इस कारण से साधुओं को पूर्व के सूत्रों में कही गई यह प्रतिज्ञा होती है कि- साधु वस्त्र की प्रत्युपेक्षा करके ही ग्रहण करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र ग्रहण करने की चार प्रतिज्ञाओं का वर्णन किया गया है- १. उद्दिष्ट, २. प्रेक्षित, ३. परिभुक्त और ४. उत्सृष्ट धार्मिक। १. अपने मन में पहले संकल्पित वस्त्र की याचना करना उद्दिष्ट प्रतिज्ञा है। २. किसी गृहस्थ के यहां वस्त्र देख कर उस देखे हुए वस्त्र की ही याचना करना प्रेक्षित प्रतिज्ञा है। ३. गृहस्थ के अन्तर परिभोग या उत्तरीय परिभोग या उसके पहने हुए वस्त्र की याचना करना परिभुक्त प्रतिज्ञा है। ४. मैं वही वस्त्र ग्रहण करूंगा कि जो उत्सृष्ट धर्मवाला- फैंकने योग्य है। इस तरह के अभिग्रहों को धारण करके वस्त्र की याचना करने की विधि ठीक उसी तरह से बताई गई है, जैसे पिडैषणा अध्ययन में आहार ग्रहण करने की विधि का उल्लेख किया गया है।

इसमें दूसरी बात यह बताई गई है कि यदि कोई गृहस्थ वस्त्र की याचना करते समय साधु से यह कहे कि आप मास या १०-१५ दिन के पश्चात आकर वस्त्र ले जाना, तो साधु उसकी इस बात को स्वीकार न करे। वह स्पष्ट कहे कि यदि आपकी वस्त्र देने की इच्छा हो तो अभी दे दो, अन्यथा कुछ दिन के बाद नहीं आऊंगा। इस निषेध के पीछे दो कारण हैं- एक तो यह है कि यदि उस समय गृहस्थ के पास वस्त्र नहीं है तो वह साधु के लिए नया वस्त्र खरीद कर ला सकता है या उसके लिए और कोई सावध किया कर सकता है। दूसरी बात यह है कि किसी कारणवश साधु निश्चित समय पर नहीं पहुंच सके तो उसे मृषावाद का दोष लगेगा।

यदि किसी गृहस्थ के घर कुछ दिन में वस्त्र आने वाला हो तो साधु कुछ समय के बाद भी वहां जाकर वस्त्र ला सकता है। क्योंकि, उसमें उसके लिए कोई क्रिया नहीं की गई है। परन्तु, इस कार्य के लिए साधु को निश्चित समय के लिए बन्धना नहीं चाहिए। यदि उसे यह ज्ञात हो जाए कि कुछ समय बाद आने वाला वस्त्र निर्दोष है तो वह गृहस्थ से इतना ही कहे कि जैसा अवसर होगा देखा जाएगा। परन्तु, यह न कहे कि मैं अमुक समय पर आकर ले जाऊंगा। वह इतना कह सकता है कि यदि सम्भव हो सका तो मैं अमुक समय पर आने का प्रयत्न करूंगा।

इस तरह साधु को सभी दोषों से रहित निर्दोष वस्त्र को अच्छी तरह देखकर ग्रहण करना चाहिए। ऐसा न हो कि उसके किसी कोने में कोई सचित या अचित वस्तु बन्धी हो या उस पर कोई सचित वस्तु लगी हो। अतः वस्त्र ग्रहण करने के पूर्व साधु को उसका सम्यक्तया अवलोकन कर लेना चाहिए।

इस विषय पर और अधिक विस्तार से विचार करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ४८९ ॥

से भि० से जं० असंडं० ससंताणं तहप्पं वत्थं अफा० नो पडि० । से भि० से जं० अप्पंडं जाव असंताणं अनलं अथिरं अधुवं आधारणिज्जं रोइज्जंतं न रुच्चइ, तहं अफा० नो पडि० । से भि० से जं० अप्पंडं जाव असंताणं अलं थिरं धुवं धारणिज्जं रोइज्जंतं रुच्चइ, तहं वत्थं फासु० पडि० ।

से भि० नो नवए मे वत्थेति कट्टु नो बहुदेसिएण सिणाणेण वा जाव पघंसिज्जा । से भि० नो नवए मे वत्थेति कट्टु नो बहुदे० सीओदगवियडेण वा, जाव पघोइज्जा । से भियखू वा, दुब्भिगंधे मे वत्थेति कट्टु नो बहु० सिणाणेण तहैव बहुसीओ० उस्सिं० आलावओ ॥ ४८९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, सः यत् स-अण्डं० यावत् ससन्तानकं तथाप्रकारं० वस्त्रं अप्रासुकं न प्रतिगृह्णीयात् । सः भिक्षुः वा, सः यत् अल्पाण्डं यावत् असन्तानकं अनलं अस्थिरं अस्थिरं अधुवं आधारणीयं रोच्यमानं न रोचते, तथा० अप्रासुकं न प्रति० । सः भिक्षुः वा, सः यत् अल्पाण्डं यावत् असन्तानकं अलं स्थिरं ध्रुवं धारणीयं रोच्यमानं रोचते, तथा० वस्त्रं प्रासुकं प्रति० ।

सः भिक्षुः वा, न नवं मम वस्त्रं इति कृत्वा न बहुदेश्येन स्नानेन वा यावत् प्रघर्षयेत् । सः भिक्षुः वा, न नवं मम वस्त्रं इति कृत्वा न बहुदेश्येन शीतोदकविकटेन वा, यावत् प्रक्षाल्येत । सः भिक्षुः वा, दुरभिगन्धं मम वस्त्रं इति कृत्वा न बहुदेश्येन० स्नानेन तथैव बहुशीतोदकविकटेन वा उत्सिच्य० आलापकः ॥ ४८९ ॥

III सूत्रार्थ :

यदि कोई वस्त्र अण्डों एवं मकड़ी के जालों आदि से युक्त हो तो संयमनिष्ठ साधु-साध्वी को ऐसा अप्रासुक वस्त्र मिलने पर भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि कोई वस्त्र अण्डों और मकड़ी से रहित है, परन्तु, जीर्ण-शीर्ण होने के कारण अभीष्ट कार्य की सिद्धि में असमर्थ है, या गृहस्थ ने उस वस्त्र को थोड़े काल के लिए देना स्वीकार किया है, अतः ऐसा वस्त्र जो पहनने के अयोग्य है और दाता उसे देने की पूरी अभिलाषा भी नहीं रखता और साधु को भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता हो तो साधु को ऐसे वस्त्र को अप्रासुक एवं अनेषणीय जानकर छोड़ देना

चाहिए। यदि वस्त्र अण्डादि से रहित, मजबूत और धारण करने के योग्य है, दाता की देने की पूरी अभिलाषा है और साधु को भी अनुकूल प्रतीत होता है तो ऐसे वस्त्र को साधु प्रासुक जानकर ले सकता है। मेरे पास नवीन वस्त्र नहीं है, इस विचार से कोई साधु-साध्वी पुरातन वस्त्र को कुछ सुगन्धित द्रव्यों से आघर्षण-प्रघर्षण करके उसमें सुन्दरता लाने का प्रयत्न न करे। इस भावना को लेकर वे ठंडे (धोवन) या उष्ण पानी से विभूषा के लिए मलिन वस्त्र को धोने का प्रयत्न भी न करे। इसी प्रकार दुर्गन्धमय वस्त्र को भी सुगन्धयुक्त बनाने के लिए सुगन्धित द्रव्यों और जल आदि से धोने का प्रयत्न भी न करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब देखे कि- यह वस्त्र अण्डे आदि से युक्त है तब उन वस्त्र आदि को ग्रहण न करें... तथा वह साधु या साध्वीजी म. जब जाने कि- यह वस्त्र अंडे से रहित है यावत् संतानक याने मकड़ी के जाले आदि से रहित है, किंतु हीन याने न्यून आदि कारण से अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिये समर्थ (उपयुक्त) नहि है, तथा अस्थिर याने जीर्ण-शीर्ण है तथा अधुव याने थोडे समय के लिये वापरने की अनुज्ञा दी है, तथा अशुभ ऐसे काजल आदि के डाय से कलंकित है... इत्यादि... अन्यत्र भी कहा है कि- वस्त्र में चार भाग देव संबंधित होते हैं, दो भाग मनुष्य संबंधित होते हैं तथा दो भाग असुर संबंधित होते हैं और वस्त्र के मध्य भाग में राक्षस का वास होता है...

अतः देव संबंधित भाग में उत्तम लाभ होता है, मनुष्य के भाग में मध्यम लाभ होता है, तथा असुर के भाग में ग्लानि-शोक होता है, और राक्षस के भाग में मरण कहा गया है ऐसा जानो... तथा लक्षण रहित उपधि (वस्त्रादि उपकरण) से ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र्य का विनाश होता है... इत्यादि... इस प्रकार ऐसे अयोग्य वस्त्र प्रशस्त याने सुंदर हो और गृहस्थ दे रहा हो तो भी वह वस्त्र साधु को कल्पता नहि है...

अब अनल आदि चार पदों के सोलह भांगे-विकल्प होते हैं...

१.	अनलम्	अस्थिरं	अधुवं	अधारणीयम्
२.	अनलम्	अस्थिरं	अधुवं	धारणीयम्
३.	अनलम्	अस्थिरं	धुवं	अधारणीयम्
४.	अनलम्	अस्थिरं	धुवं	धारणीयम्
५.	अनलम्	स्थिरं	अधुवं	अधारणीयम्
६.	अनलम्	स्थिरं	अधुवं	धारणीयम्
७.	अनलम्	स्थिरं	धुवं	अधारणीयम्
८.	अनलम्	स्थिरं	धुवं	धारणीयम्

१.	अलम्	अस्थिरं	अधुवं	अधारणीयम्
१०.	अलम्	अस्थिरं	अधुवं	धारणीयम्
११.	अलम्	अस्थिरं	धुवं	अधारणीयम्
१२.	अलम्	अस्थिरं	धुवं	धारणीयम्
१३.	अलम्	स्थिरं	अधुवं	अधारणीयम्
१४.	अलम्	स्थिरं	अधुवं	धारणीयम्
१५.	अलम्	स्थिरं	धुवं	अधारणीयम्
१६.	अलम्	स्थिरं	धुवं	धारणीयम्

अब इन सोलह (१६) विकल्पों में से पंद्रह (१५) विकल्प अशुद्ध हैं, मात्र एक ही सोलहवा विकल्प शुद्ध कहा गया है... अतः इस सोलहवे विकल्प के अधिकार में यह सूत्र कहा गया है... वह इस प्रकार- वह साधु या साध्वीजी म. जब इस प्रकार के चार पदों से विशुद्ध वस्त्र है ऐसा जाने तब यदि वह वस्त्र प्राप्त हो तो उसे ग्रहण करें...

तथा वह साधु या साध्वीजी म. जब ऐसा देखें कि- "मेरी पास नया वस्त्र नहि है" अतः यदि वह साधु उस अपने पुराने वस्त्र को जल से धोकर एवं सुगंधि द्रव्यों से सुवासित करने का प्रयत्न करे वह उचित नहि है... अतः पुराने वस्त्र को सुंदर बनाने का प्रयास न करें...

तथा वह साधु एवं साध्वीजी म. जब देखे कि- मेरी पास नया वस्त्र नहि है, तब उस पुराने वस्त्र को शीत जल से बार बार न धोवें... यदि वह साधु गच्छनिर्गत (जिनकल्पवाले) है, तब वह साधु मल से मलीन वस्त्र को जल से धोवे नहि एवं सुगंधि द्रव्यों से उस वस्त्र को सुगंधित भी न करें... किंतु यदि वह साधु स्थविर कल्पवाला है तो लोकोपघात के भय से जयणा के साथ अचित्त जल से वस्त्र के मैल को दूर करे... इत्यादि...

अब धोये हुए वस्त्र को सुखाने की विधि का अधिकार कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को ऐसा वस्त्र स्वीकार नहीं करना चाहिए, जो अण्डे एवं मकड़ी के जालों या अन्य जीव-जन्तुओं से युक्त हो। इसके अतिरिक्त वह वस्त्र भी साधु के लिए अग्राह्य है, जो अण्डों आदि से युक्त तो नहीं है, परन्तु जीर्ण-शीर्ण होने के कारण पहनने के अयोग्य है और गृहस्थ भी उसे कुछ दिन के लिए ही देना चाहता है और साधु को भी वह पसन्द नहीं है। अतः जो वस्त्र अण्डों आदि से रहित हो, मजबूत हो, गृहस्थ पूरी अभिलाषा के साथ देना चाहता हो और साधु को भी पसन्द हो तो ऐसा कल्पनीय वस्त्र साधु ले सकता है।

इसमें दूसरी बात यह बताई गई है कि यदि कोई वस्त्र मैला हो गया हो या दुर्गन्धमय हो तो साधु को विभूषा के लिए उसे पानी एवं सुगन्धित द्रव्यों से रगड़ कर सुन्दर एवं सुवासित बनाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। वृत्तिकार ने इस पाठ को जिनकल्पी मुनि से सम्बन्ध माना है। उनका कहना है कि यदि जिनकल्पी मुनि के वस्त्र मैले होने के कारण दुर्गन्धमय हो गए हों तब भी उन्हें उस वस्त्र को पानी एवं सुगन्धित द्रव्यों से धोकर साफ एवं सुवासित नहीं करना चाहिए।

'अधारणिज्जं' पद की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार का कहना है कि लक्षणहीन उपाधि को धारण करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का उपघात होता है। और 'अनलं अस्थिरं अधुवं और अधारणीयं' इन चार पदों के १६ भंग बनते हैं, उनमें १५ भंग अशुद्ध माने गए हैं और अन्तिम भंग शुद्ध माना गया है। कुछ प्रतियों में 'रोइज्जंत' के स्थान पर 'देइज्जंत' और कुछ प्रतियों में 'वइज्जंत' पाठ भी उपलब्ध होता है।

वस्त्र प्रक्षालन करने के बाद उसे धूप में रखने के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ ४८२ ॥

से भियस्सु वा० अभिकंखिज्ज वत्थं आयावित्तए वा पयावित्तए वा० तहप्पगारं वत्थं नो अवंतरहियाए जाव पुढवीए संताणए आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा०।

से भियस्सु वा० अभिकंखिज्ज वत्थं आया० पया० तहप्प० वत्थं धूणंसि वा गिहेलुगंसि वा उसुयालंसि वा कामजलंसि वा अण्णयरे तहप्पगारे अंतलियस्सजाए दुब्बद्धे दुण्णिविस्सत्ते अनिकंपे चलाचले नो आ० नो प०।

से भियस्सु वा० अभि० आयावित्तए वा तह० वत्थं कुकियंसि वा भित्तंसि वा सिलंसि वा लेलुंसि वा अण्णयरे वा तह० अंतलि० जाव नो आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा०।

से भियस्सु० वत्थं आया० पया० तह० वत्थं खंधंसि वा मंचंसि वा पासायंसि वा अण्णयरे वा तह० अंतलि० नो आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा०।

से तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा, अहे झामथंडिल्लंसि वा जाव अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि वा थंडिल्लंसि पडिलेहिय, पमज्जिय, तओ संजयामेव वत्थं आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा० एयं खलु० सया जइज्जासि तिबेमि ॥ ४८२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० अभिकाङ्क्षेत वस्त्रं आतापयितुं वा प्रतापयितुं वा० तथाप्रकारं वस्त्रं न अनन्तरहितायां यावत् पृथिव्यां सन्तानके आतापयेत् वा प्रतापयेत् वा० । सः भिक्षुः अभिकाङ्क्षेत० वस्त्रं आतापयितुं वा प्रतापयितुं वा तथाप्रकारं वस्त्रं स्थूणे वा उम्बरे वा उद्वखले वा कामजले (स्नानपीठे) वा अन्यतरे तथाप्रकारे अन्तरिक्षजाते दुर्बद्धे दुर्निक्षिप्ते अनिकम्पे चलाचले न आतापयेत् वा न प्रतापयेत् वा ।

सः भिक्षुः वा० अभिकाङ्क्षेत० आतापयितुं वा प्रतापयितुं वा तथाप्रकारं वस्त्रं भित्तौ वा शिलायां वा लेष्ठौ वा अन्यतरे वा तथाप्रकारे० अन्तरिक्षजाते० यावत् न आतापयेत् वा प्रतापयेत् वा० । सः भिक्षुः० वस्त्रं आतापयितुं वा प्रतापयितुं वा तथाप्रकारं वस्त्रं स्कन्धे वा मञ्चे वा प्रासादे वा अन्यतरे वा तथाप्रकारे अन्तरिक्षजाते न आतापयेत् वा न प्रतापयेत् वा ।

सः तं आदाय एकान्तं अपक्रामेत् अपक्रम्य अथः दग्धस्थण्डिले वा यावत् अन्यतरे वा तथाप्रकारे स्थण्डिले प्रत्युपेक्ष्य, प्रमृज्य, ततः संयतः एव वस्त्रं आतापयेत् वा प्रतापयेत् वा एतत् स्वतु० सदा यतेथाः इति ब्रवीमि ॥ ४८२ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी यदि वस्त्र को धूप में सुखाना चाहे तो वह गीली जमीन पर यावत् अण्डों और जालों से युक्त जमीन पर न सुखावे तथा न वस्त्र को स्तम्भ पर, घर के दरवाजे पर, ऊखल और स्नान पीठ (चौकी) पर सुखाए एवं इसी प्रकार के अन्य, भूमि से ऊंचे स्थान पर कि- जो दुर्बद्ध, दुर्निक्षिप्त कंपनशील तथा चलाचल हों उन पर और घर की दीवार पर, नदी के तट पर, शिला और शिलाखण्ड पर, स्तम्भ पर, मंच पर, माल पर, तथा प्रासाद और हर्म्य-प्रासाद विशेष पर वस्त्र को न सुखावे। यदि सुखाना हो तो एकान्त स्थान में जाकर वहां अग्निदग्ध स्थण्डिल यावत् इसी प्रकार के अन्य निर्दोष स्थान का प्रतिलेखन और प्रमार्जना करके यत्न पूर्वक सुखाए। यही साधु का समग्र-सम्पूर्ण आचार है, इस प्रकार मैं कहता हूं।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. अव्यवहित याने अंतर रहित भूमी पे वस्त्र न सुखावें... तथा यदि वह साधु वस्त्र को सुखाना चाहे तब चलित याने चलायमान हो ऐसे स्थूण आदि पे वस्त्र न सुखावें क्योंकि- वहां से वस्त्रों का गिरना संभवित है... तथा गिहेलुक याने उंबर, उसूयाल

याने उदंखल, कामजल याने स्नानपीठ... इत्यादि... तथा द्विवार आदि पर भी गिरने-पडने के भय से साधु वस्त्र न सुखायें... इसी प्रकार थंभा, मंच, महल आदि अंतरिक्ष में भी वस्त्र न सुखावें... किंतु निर्जीव-स्थंडिल भूमि की प्रमार्जना पडिलेहणा करके वस्त्र सुखावें... यह हि साधु का समग्र साधुपना है... यह बात पंचम गणधर श्री सुधर्मस्वामीजी अपने अंतेवासी शिष्य जंबू को कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जो स्थान गीला हो, बीज, हरियाली एवं अण्डों आदि से युक्त हो तो साधु ऐसे स्थान पर वस्त्र न सुखाए। तथा स्तम्भ पर घर के दरवाजे पर एवं ऐसे अन्य ऊंचे स्थानों पर भी वस्त्र न सुखाए। क्योंकि हवा के झोंकों से ऐसे स्थानों पर से वस्त्र के गिरने से या उसके हिलने से वायुकायिक एवं अन्य जीवों की विराधना होने की सम्भावना है। इसलिए साधु को ऐसे ऊंचे स्थानों पर वस्त्र नहीं सुखाना चाहिए कि- जो अच्छी तरह बन्धा हुआ नहीं है, भली-भांति आरोपित नहीं है, निश्चल नहीं है, तथा चलायमान है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो अन्तरिक्ष का स्थान सम्यक्तया बन्धा हुआ, आरोपित, स्थिर एवं अचलायमान हो तो अपवाद मार्ग में वहां पर साधु वस्त्र सुखा भी सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में मंच आदि स्थानों पर भी वस्त्र सुखाने का निषेध किया है। इसका उद्देश्य आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पहले अध्ययन के ७वें उद्देशक में आहार विधि के प्रकरण में दिया गया उद्देश्य ही है। यदि मञ्च एवं मकान आदि की छत पर जाने का मार्ग प्रशस्त है और वहां किसी भी जीव की विराधना होने की सम्भावना नहीं है तो साधु मञ्च एवं मकान आदि की छत पर भी वस्त्र सुखा सकता है। वस्तुतः सूत्रकार का उद्देश्य यह है कि साधु को प्रासुक एवं निर्दोष भूमि पर ही वस्त्र सुखाने चाहिए, जिससे किसी भी प्राणी की हिंसा न हो।

‘तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम चूलिकायां पद्मवस्त्रैषणाध्ययने प्रथमः उद्देशकः समाप्तः ॥

ॐ ॐ ॐ

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर

परमात्मा श्री यर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम ममंज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५५ राजेन्द्र सं. १६. ५५ विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - ५ उद्देशक - २

卐 वस्त्रैषणा 卐

पहेला उद्देशक कहा अब दुसरे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं यह इन दोनों में परस्पर इस प्रकार संबंध है कि- पहले उद्देशक में वस्त्र ग्रहण की विधि कही, अब यहां दुसरे उद्देशक में वस्त्र धारण करने की विधि कहेंगे... इस संबंध में आये हुए इस दुसरे उद्देशक का यह प्रथम सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४८३ ॥

से भिद्यस्व वा० अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा, नो धोइज्जा नो रएज्जा नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा, अपलिउंचमाणो गामंतरेसु० ओमचेलिए, एयं खलु वत्थधारिस्स सामग्गियं ॥

से भिद्यस्व वा० गाहावइकुलं पविसिउकामे सत्वं चीवरमायाए गाहावइकुलं निवस्वमिज्ज वा पविसिज्ज वा, एवं बहिय विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा गामानुगामं वा दूइज्जिज्जा, अह पुण० तिव्वदेसियं वा वासं वासमाणं पेहाए जहा पिंडेसणाए, नवरं सत्वं चीवरमायाए ॥ ४८३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० अथ एषणीयानि वस्त्राणि याचेत्, यथापरिगृहीतानि वस्त्राणि धारयेत्, न प्रक्षालयेत् न रज्जयेत्, न धौतरयतानि वस्त्राणि धारयेत्, अगोपयन् ग्रामान्तरेषु० अवमचेलिकः एतत् खलु वस्त्रधारिणः सामग्यम् ।

सः भिक्षुः वा० गृहपतिकुलं प्रविष्टुकामः सर्वं चीवरं (वस्त्रं) आदाय गृहपतिकुलं निष्क्रामेत् वा प्रविशेत् वा, एवं बहिः विहारभूमिं वा विचारभूमिं वा गामानुगामं वा गच्छेत्, अथ पुनः० तीव्रदेशिकां वा वर्षा वर्षन्तं प्रेक्ष्य यथा पिण्डैषणायां, नवरं सर्वं चीवरमादाय ॥ ४८३ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी भगवान द्वारा दी गई आज्ञा के अनुरूप एषणीय और निर्दोष वस्त्र की याचना करे और मिलने पर उन्हें धारण करे। परन्तु, विभूषा के लिए वे उन्हें न धोए

और न रंगे तथा धोए हुए और रंगे हुए वस्त्रों को पहने भी नहीं। किन्तु, अल्प और असार (साधारण) वस्त्रों को धारण करके ग्राम आदि में सुख पूर्वक विचरण करे। वस्त्रधारी मुनि का वस्त्र धारण करने सम्बन्धी यह सम्पूर्ण आचार है अर्थात् यही उसका भिक्षुभाव है।

आहारादि के लिए जाने वाले संयमनिष्ठ साधु-साध्वी गृहस्थ के घर में जाते समय अपने सभी वस्त्र साथ में लेकर उपाश्रय से निकलें और गृहस्थ के घर में प्रवेश करें। इसी प्रकार वस्ती से बाहर, स्वाध्याय भूमि एवं जंगल आदि जाते समय तथा ग्रामानुग्राम विहार करते समय भी वे सभी वस्त्र लेकर विचरें। इसी प्रकार थोड़ी या अधिक वर्षा बरसती हुई देखकर साधु वैसा ही आचरण करे जैसा पिडिषणा अध्ययन में वर्णन किया गया है। केवल इतनी ही विशेषता है कि वह अपने सभी वस्त्र साथ लेकर जाए।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. परिकर्म याने संस्कार न करना पड़े जैसे एषणीय वस्त्रों की याचना करे... और जैसे ग्रहण कीये हो जैसे हि पहनें... किंतु उन वस्त्रों में कुछ भी संस्कार न करें... जैसे कि- ग्रहण कीये हुए उन वस्त्रों को न धोवें... तथा रंगे भी नहि, तथा बकुश भाव से उन धोये एवं रंगे हुए वस्त्रों को न पहनें... यहां सारांश यह है कि- ऐसे अनेषणीय वस्त्रों को ग्रहण न करें... अतः प्रमाणोपेत सफेद वस्त्रों को पहनकर, हि एक गांव से अन्य गांव की और विहार करे... इस स्थिति में साधु को कुछ भी वस्त्रादि छुपाने की आवश्यकता नहि होती इस प्रकार साधु सुख-समाधि से विहार करे...

तथा अवमचेलिक याने असार वस्त्रों को धारण करनेवाले उस साधु का यह हि साधुपना है... यह सूत्र जिनकल्पवाले साधुओं के लिये कहा है... तथा वस्त्रधारित्व विशेषण को लेकर गच्छवासी स्थविरकल्पवाले साधुओं के लिये भी यह सूत्र अविरुद्ध याने समुचित हि है और यह बात पिडिषणा अध्ययन में कहे गये विधान मुताबिक जानीयेगा... किंतु वह जिनकल्पिक साधु सर्व उपधि-उपकरण वस्त्रादि लेकर हि विहार करे... इतना यहां विशेष जानीयेगा...

अब प्रातिहारिक से उपहत वस्त्र की विधि कहतें हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि आगम में वर्जित विधि के अनुसार साधु को निर्दोष एवं एषणीय वस्त्र जिस रूप में प्राप्त हुआ हो वह उसे उसी रूप में धारण करे। विभूषा की वृष्टि से साधु न तो उस वस्त्र को स्वयं धोए और न रंगे और यदि कोई गृहस्थ उसे धोकर या रंगकर दे तब भी वह उसे स्वीकार न करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को विभूषा के लिए वस्त्र को धोना या रंगना नहीं चाहिए। क्योंकि, वह वस्त्र का उपयोग केवल लज्जा ढकने

एवं शीतादि से बचने के लिए करता है, न कि शारीरिक विभूषा के लिए। परन्तु, यदि वस्त्र पर गन्दगी लगी है या उसे देखकर किसी के मन में घृणा उत्पन्न होती है तो ऐसी स्थिति में वह उसे विवेक पूर्वक साफ करता है तो उसके लिए शास्त्रकार का निषेध नहीं है क्योंकि, अशुचियुक्त वस्त्र के कारण वह स्वाध्याय भी नहीं कर सकेगा। अतः उसका निवारण करना आवश्यक है। विभूषा के लिए वस्त्र धोने का निषेध करने के पीछे मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि साधु स्वाध्याय एवं ध्यान के समय को वस्त्र धोने में समाप्त न करे। क्योंकि, साधु की साधना शरीर एवं वस्त्रों को सुन्दर बनाने के लिए नहीं, किंतु आत्मा को स्वच्छ एवं पूर्ण स्वतंत्र बनाने के लिए है। अतः उसे अपना पूरा समय आत्म साधना में ही लगाना चाहिए।

इस सूत्र में साधु को यह आदेश भी दिया गया है कि वह आहार के लिए गृहस्थ के घर में जाते हुए या स्वाध्याय भूमि में तथा जंगल के लिए जाते समय अपने सभी वस्त्र साथ लेकर जाए। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु के पास आवश्यकता के अनुसार बहुत ही थोड़े वस्त्र होते थे। और आगम में भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु को स्वल्प एवं साधारण (असार) वस्त्र रखने चाहिए।

इस पाठ से, यह भी ध्वनित होता है कि उस युग में शहर या गांव से बाहर एकान्त में स्वाध्याय करने की प्रणाली थी। क्योंकि एकान्त स्थान में ही चित्त की एकाग्रता बनी रहती है। यह भी बताया गया है कि साधु को शौच के लिए भी गांव या शहर से बाहर जाने का प्रयत्न करना चाहिए। बिना किसी विशेष कारण के उपाश्रय में शौच नहीं जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध में कुछ और विशेष बातें बताते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ४८४ ॥

से एगइओ मुहत्तगं, पाडिहारियं वत्थं जाइज्जा जाव एगाहेण वा दु० ति० चउ० पंचाहेण वा विप्पवसिय्, उवागच्छिज्जा, नो तह वत्थं अप्पणो गिण्हज्जा नो अण्णमण्णस्स दिज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा, नो वत्थेण वत्थपरिणामं करिज्जा, नो परं उवसंक्रमित्ता एवं वइज्जा- आउ० समणा ! अभिकंखसि वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ? थिरं वा संतं नो पलिच्छिंदिय्, परिड्ढविज्जा, तहप्पगारं वत्थं ससंधियं वत्थं तस्स चेव निसिरिज्जा, नो णं साइज्जिज्जा ।

से एगइओ एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा वि० जे भयंतारो तहप्पगाराणि वत्थाणि ससंधियाणि मुहत्तगं, जाव एगाहेण वा, विप्पवसिय्, उवागच्छति, तह० वत्थाणि नो अप्पणा गिण्हंति, नो अण्णमण्णस्स दलयंति, तं चेव जाव नो साइज्जति, बहुवयणेण

भाणियत्वं, से हंता ! अहमवि मुहुत्तगं पाडिहारियं वत्थं जाइत्ता जाव एगाहेण वा, विप्पवासिय, उवागच्छिस्सामि अविद्याइं एयं ममेव सिया, माइड्ढाणं संपासे, नो एवं करिज्जा ॥ ४८४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः एकाकिकः मुहूर्तकं प्रातिहारिकं वस्त्रं याचेत यावत् एकाहेन वा द्वि० त्रि० चतु० पश्चाहेन वा उषित्वा, उपागच्छेत्, न तथा वस्त्रं आत्मना गृह्णीयात्, न अन्योऽन्यस्मै दद्यात्, न प्रामित्यं कुर्यात्, न वस्त्रेण वस्त्रपरिणामं कुर्यात्, न परं उपसङ्क्रम्य एवं वदेत्-हे आयुष्मन् ! श्रमण ! अभिकाङ्क्षसि वस्त्रं धारयितुं वा परिहर्तुं वा ? स्थिरं वा सत् न परिच्छन्द्य, परिष्ठापयेत्, तथाप्रकारं वस्त्रं ससन्धितं वस्त्रं तस्मै एव निसृजेत्, न स्वादयेत् ।

सः एकाकिकः एतत्प्रकारं निर्घोषं श्रुत्वा निशम्य ये भगवन्तः तथाप्रकाराणि वस्त्राणि ससन्धितानि मुहूर्तकं, यावत् एकाहेन वा०, उषित्वा, उपागच्छन्ति, तथा० वस्त्राणि न आत्मना गृह्णन्ति, न अन्योऽन्यस्मै ददते, तत् चैव यावत् न स्वादन्ते, बहुवचनेन प्रातिहारिकं वस्त्रं याचित्वा यावत् एकाहेन वा, उषित्वा, उपागमिष्यामि, अपि च एतत् मम एव स्यात्, मातृस्थानं संस्पृशेत्, न एवं कुर्यात् ॥ ४८४ ॥

III सूत्रार्थ :

कोई एक साधु मुहूर्त आदि काल का उद्देश्य रख कर किसी अन्य साधु से प्रातिहारिक वस्त्र की याचना करके एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन या पांच दिन तक किसी ग्रामादि में निवास कर वापिस आ जाए, और वह वस्त्र उपहत हो गया हो तो वह साधु ग्रहण न करे, न परस्पर देवे, न उधार करे और न अदला-बदली करे तथा न अन्य किसी के पास जाकर यह कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! तुम इस वस्त्र को ले लो, तथा वस्त्र के दृढ़ होने पर उसे छिन्नभिन्न करके परठे भी नहीं, किन्तु उपहत वस्त्र उसी साधु को दे दे ।

कोई साधु इस प्रकार के समाचार को सुन कर-अर्थात् अमुक साधु अमुक साधु से कुछ समय के लिए वस्त्र मांग कर ले गया था और वह वस्त्र उपहत हो जाने पर उसने नहीं लिया अपितु उसी को दे दिया ऐसा सुनकर वह यह विचार करे कि यदि मैं भी मुहूर्त आदि का उद्देश्य रख कर प्रातिहारिक वस्त्र की याचना कर यावत् पांच दिन पर्यन्त किसी अन्य ग्रामादि में निवास कर फिर वहां पर आ जाऊंगा तो वह वस्त्र उपहत हो जाने से मेरा ही हो जाएगा, इस प्रकार के विचार के अनुसार यदि साधु प्रातिहारिक वस्त्र का ग्रहण करे तो उसे मातृस्थान का स्पर्श होता है अर्थात् माया के सथन का दोष लगता है । इसलिए साधु ऐसा न करे स्था... बहुत से साधुओं के सम्बन्ध में भी इसी तरह समझना चाहिए ।

IV टीका-अनुवाद :

वह जो कोई साधु अन्य साधु के पास एक मुहूर्त आदि समय के लिये वापस देने के हिसाब से वस्त्र की याचना करे, और याचना करके अकेला हि ग्रामांतर जावे, वहां वह साधु एक दिन यावत् पांच दिन तक रहकर वापस आवे तब वह वस्त्र उपहत याने दूषित हुआ या कुछ फट गया... अब वह वस्त्र पुनः वस्त्र के स्वामी साधु को दे, तब वह साधु उस वस्त्र का स्वीकार न करे, तथैव वह वस्त्र अन्य साधु को भी न दे, तथा उधार भी न करें... किंतु कहे कि- यह वस्त्र आप हि रखो, और कितनेक दिनों के बाद आप अन्य वस्त्र मुझे दीजीये... तब वह साधु उस वस्त्र को लेकर अदला-बदली न करे, और अन्य साधु को ऐसा भी न कहे कि- हे श्रमण ! आप इस वस्त्र को लेना या वापरना चाहते हो क्या ?

यदि कोई साधु एकेला हि जावे, उसको वह उपहत (फटा हुआ) वस्त्र दे तब यदि वह वस्त्र अच्छा (पहनने योग्य) हो तो टुकड़े टुकड़े करके परठे नहिं...

तथाप्रकार के फटे हुए या तो सूड़-धागे से सांधे हुअे उस वस्त्र को यदि वस्त्र का स्वामी साधु स्वीकार न करे, किंतु वह फटा हुआ वस्त्र उसीको हि दे, या अन्य कोई एकाकी जानेवाले अन्य साधु को दे.. इत्यादि...

यदि वह कोई एकाकी साधु उपर कहे गये साधु के आचार को जानकर ऐसा सोचे कि- मैं भी वापस देने के हिसाब से मुहूर्त आदि समय के लिये वस्त्र की याचना करके अन्य जगह (गांव) एक दिन यावत् पांच दिन आदि के निवास के द्वारा वस्त्र को उपहत करुंगा, बाद में वह वस्त्र मुझे हि मिलेगा... इत्यादि... ऐसा करने पर वह साधु माया-स्थान के दोष को पाता है, अतः साधु को ऐसा माया-स्थान का सेवन नहि करना चाहिये...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि किसी साधु ने अपने अन्य किसी साधु से कुछ समय का निश्चय करके वस्त्र लिया हो और उतने समय तक वह ग्रामादि में विचरण करके वापिस लौट आया हो और उसका वह वस्त्र कहीं से फट गया हो या दूषित-मैला हो गया हो, जिसके कारण वह स्वीकार न कर रहा हो तो उस मुनि को वह वस्त्र अपने पास रख लेना चाहिए। और जिस मुनि ने वस्त्र दिया था उसे चाहिए कि वह या तो उस उपहत (फटे हुए या दूषित-मैले हुए) वस्त्र को ग्रहण कर ले। यदि वह उसे नहीं लेना चाहे तो फिर वह उसे अपने दूसरे साधुओं को न बांटे और मजबूत वस्त्र हो तो फाड़ कर परठे (पैके) भी नहीं और उसके बदले में उससे वैसे ही नए वस्त्र को प्राप्त करने की अभिलाषा भी नहीं रखे। और उस लेने वाले मुनि को भी चाहिए कि यदि वह दाता मुनि उसे वापिस न ले तो वह वस्त्र किसी

अन्य मुनि को यदि उस वस्त्र की आवश्यकता हो तो उसे दे दे। अन्यथा स्वयं उसका उपभोग करे। यह नियम जैसे एक साधु के लिए है उसी तरह अनेक साधुओं के लिए भी यही विधि समझनी चाहिए।

किसी साधु से ऐसा जानकर कि प्रातिहारिक रूप लिया हुआ वस्त्र थोड़ा सा फट जाने पर या दूषित होने पर देने वाला मुनि वापिस नहीं लेता है, इस तरह वह वस्त्र लेने वाले मुनि का ही हो जाता है। इस भावना को मन में रख कर कोई भी साधु प्रातिहारिक वस्त्र ग्रहण न करे। यदि कोई साधु इस भावना से वस्त्र ग्रहण करता है, तो उसे माया का दोष लगता है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ४८५ ॥

से भि० नो वण्णमंताइं वत्थाइं विवण्णाइं करिज्जा विवण्णाइं न वण्णमंताइं करिज्जा, अण्णं वा वत्थं लभिससामिति कट्ठं नो अण्णमण्णस्स दिज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा, नो वत्थेण वत्थपरिणामं कुज्जा, नो परं उवसंक्रमित्तु एवं वदेज्जा- आउसो ! समभिकंखसि मे वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ? थिरं वा संतं नो पलिच्छिंदियं, परिद्धविज्जा, जहा मेयं वत्थं पावगं परो मण्णइ, परं च णं अदत्तहारी पडिपहे पेहाए तस्स वत्थस्स नियाणाय नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छिज्जा, जाव अप्पुस्सुए, तओ संजय मेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ।

से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा वत्थपडियाए संपिडिया गच्छेज्जा, नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छिज्जा जाव गामा० दूइज्जिज्जा ।

से भि० दूइज्जमाणे अंतरा से आमोसगा पडियागच्छेज्जा, ते णं आमोसगा एवं वदेज्जा- आउसं० ! आहरेयं वत्थं देहि विविख्खाहि जहे रियाए नाणत्तं वत्थपडियाए, एवं खलु० सया जइज्जासि तिबेमि ॥ ४८५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० न वर्णवन्ति वस्त्राणि विवर्णानि कुर्यात्, विवर्णानि च न वर्णवन्ति कुर्यात्, अन्यं वा वस्त्रं लप्स्ये इति कृत्वा न अन्योऽन्यस्मै दद्यात्, न प्रामित्यं कुर्यात्, न वस्त्रेण वस्त्रपरिणामं कुर्यात्, न परं उपसङ्क्रम्य एवं वदेत्- हे आयुष्मन् श्रमण !

समभिकाङ्क्षसि मम वस्त्रं धारयितुं वा परिहर्तुं वा ? स्थिरं वा सत् न परिच्छिन्य, परिष्ठापयेत्, यथा मम इदं वस्त्रं पापकं परः मन्यते, परं च अदत्तहारी प्रतिपथि प्रेक्ष्य तस्य वस्त्रस्य निदानाय न तेभ्यः भीतः उन्मार्गेण गच्छेत्, यावत् अल्पोत्सुकः ततः संयतः एव ग्रामानुग्रामं गच्छेत् ।

सः भिक्षुः वा० ग्रामानुग्रामं गच्छन् अन्तरा तस्य अरण्यं स्यात्, सः यत् पुनः अरण्यं जानीयात्, अस्मिन् खलु अरण्ये बहवः आमोषकाः वस्त्र-प्रतिज्ञया संपिण्डिताः गच्छेयुः, न तेभ्यः भीतः उन्मार्गेण गच्छेत् यावत् ग्रामा० गच्छेत् । सः भिक्षुः० गच्छन् अन्तरा तस्य आमोषकाः प्रत्यागच्छेयुः, ते आमोषकाः एवं वदेयुः- हे आयुष्मन् श्रमण ! आहर इदं वस्त्रं देहि, निक्षिप, यथा ईर्यायां नानात्वं वस्त्र-प्रतिज्ञया, एतत् खलु० सदा यतेत इति ब्रवीमि ॥ ४८५ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु और साध्वी सुन्दरवर्णवाले वस्त्रों को विवर्ण—विगत वर्ण न करे तथा विवर्ण को वर्ण युक्त न करे । तथा मुझे अन्य सुन्दर वस्त्र मिल जाएँगा ऐसा विचार कर के अपना पुराना वस्त्र किसी और को न दे । और न किसी से उधार वस्त्र लेवे एवं अपने वस्त्र की परस्पर अदला-बदली भी न करे । तथा अन्य श्रमण के पास आकर इस प्रकार भी न कहे कि आयुष्मन् ! श्रमण ! तुम मेरे वस्त्र को ले लो, मेरे इस वस्त्र को जनता अच्छा नहीं समझती है तथैव उस दृढ़ वस्त्र को फाड़ करके फेंके भी नहीं तथा मार्ग में आते हुए चोरों को देख कर उस वस्त्र की रक्षा के लिए चोरों से डरता हुआ उन्मार्ग से गमन न करे, किन्तु राग-द्वेष से रहित होकर साधु ग्रामानुग्राम विहार करे-विचरे । यदि कभी विहार करते हुए मार्ग में अटवी आ जाए तो उसको उल्लंघन करते समय यदि बहुत से चोर एकत्र होकर सामने आ जाए तब भी उनसे डरता हुआ उन्मार्ग में न जाए । यदि वे चोर कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! यह वस्त्र उतार कर हमें दे दो, यहाँ रख दो ? तब साधु वस्त्र को भूमि पर रख दे, किन्तु उनके हाथ में न दे और उनसे करुणा पूर्वक उसकी याचना भी न करे । यदि याचना करनी हो तो धर्मोपदेश के द्वारा करे । यदि वे वस्त्र न दें तो नगरादि में जाकर उनके संबन्ध में किसी से कुछ न कहे । यही वस्त्रौषणा विषयक साधु और साध्वी का सम्पूर्ण आचार है, अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य तथा पांच समितियों से युक्त मुनि विवेकपूर्वक आत्म-साधना में संलग्न रहे । इस प्रकार में कहता हूँ ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. चोर आदि के भय से अच्छे वस्त्रों को गंदे (मलीन) न करे... उत्सर्ग नियम से ऐसे वस्त्रों का स्वीकार हि न करें... अथवा तो स्वीकार कीये हुए उन वस्त्रों

में कोई संस्कार न करें यह यहां सारांश है... तथा गंदे वस्त्रों को अच्छे (साफ) न करें... इत्यादि सूत्र सुगम है... किंतु यहां विह पद से-अरण्य अटवी का मार्ग जानीयेगा...

तथा मार्ग में यदि उस साधु को वस्त्र लेने की इच्छावाले चौर मीले... इत्यादि पूर्ववत् जानीयेगा... यावत् उस साधु का निर्दोष आचरण ही सच्चा साधुपना है... इति...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु उज्ज्वल या मलीन जैसा भी वस्त्र मिला है वह उसे उसी रूप में धारण करे। किन्तु, वह न तो चोर आदि के भय से उज्ज्वल वस्त्र को मलीन करे और न विभूषा के लिए मलीन वस्त्र को साफ करे। और नए वस्त्र को प्राप्त करने की अभिलाषा से साधु अपने पहले के वस्त्र को किसी अन्य साधु को न दे और न किसी से अदला-बदली करे तथा उस दृढ़-मजबूत वस्त्र को फाड़ कर भी न फेंके।

सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि साधु को सदा निर्भय होकर विचरना चाहिए। यदि कभी अटवी पार करते समय चौर मिल जाएं तो उनसे अपने वस्त्र को बचाने की दृष्टि से साधु रास्ता छोड़ कर उन्मार्ग की ओर न जाए। यदि वे चोर साधु से वस्त्र मांगे तो साधु उस वस्त्र को जमीन पर रख दे, परन्तु उनके हाथ में न दे और उसे वापिस लेने के लिए उनके सामने गिड़गिड़ाहट भी न करे और न उसकी खुशामद ही करे। यदि अवसर देखे तो उन्हें धर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि वस्त्र केवल संयम साधना के लिए है, न कि ममत्व के रूप में है। अतः साधु को किसी भी स्थिति में उस वस्त्र पर ममत्वभाव नहीं रखना चाहिए। इससे साधु जीवन के निर्ममत्व एवं निर्भयत्व का स्पष्ट परिचय मिलता है।

'तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

॥ प्रथमचतिकायां पञ्चमवस्त्रैषणाध्ययने द्वितीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

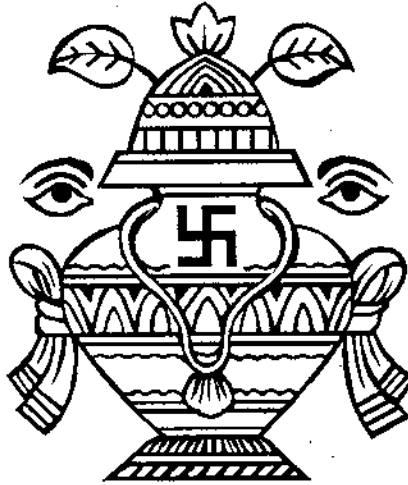
॥ समाप्तं च पञ्चममध्ययनम् ॥

ॐ ॐ ॐ

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिन्धुचल तीर्थ तुल्य शशुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सान्निध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५५ राजेन्द्र सं. १६. ५५ विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - ६ उद्देशक - १

卐 पात्रैषणा 卐

पांचवा अध्ययन कहने के बाद अब छठे अध्ययन का प्रारंभ करते हैं... इसका यहां यह संबंध है कि- यहां प्रथम अध्ययन में पिंड की विधि कही... वह आहारादि पिंड वसति (उपाश्रय) में आकर हि विधि पूर्वक वापरना चाहिये... ऐसी बात दूसरे अध्ययन में कही है... तथा आहारादि की गवेषणा के लिये ईर्यासमिति की बात तीसरे अध्ययन में कही... तथा आहारादि पिंड की एषणा के लिये निकले हुए साधु को चाहिये कि भाषा-समिति से बात करें... यह बात चौथे अध्ययन में कही है... तथा आहारादि पिंड की गवेषणा पटल (पल्ले) के विना न करें, अतः पांचवे अध्ययन में वस्त्र की एषणा कही है... अब आहारादि पिंड ग्रहण हेतु पात्र चाहिये, अतः इस संबंध से आये हुए छठे अध्ययन में पात्र की एषणा कहते हैं...

पात्रैषणा अध्ययन के चार अनुयोग द्वार हैं उनमें नाम निष्पन्न निक्षेप में पिंडैषणा अध्ययन है... इस नाम का निक्षेप और अर्थाधिकार पांचवे अध्ययन के प्रारंभ में हि नियुक्तिकार ने कहा है...

अब सूत्रानुगम में अस्त्रलितादि गुण सहित सूत्र का उच्चार करें... वह सूत्र इस प्रकार है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४८६ ॥

से भिवस्त्रु वा० अभिकंस्त्रज्जा पायं एसित्तए, से जं पुण पायं जाणिज्जा, तं जहा- अत्ताउयपायं वा दारुपायं वा मट्टियापायं वा तहप्पगारं पायं जे निग्गंथे तरुणे जाव थिरसंघयणे से एगं पायं धारिज्जा, नो बिइयं । से भि० परं अद्दजोयणमेराए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ।

से भि० से जं० अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुदिरस्स पाणाइं, जहा पिंडेसणाए चत्तारि आलावगा, पंचमे बहवे समण० पगणिय, तहेव । से भिवस्त्रु वा० अस्संजए भिवस्त्रु पडियाए बहवे समणमाहणे० वत्थेसणालावओ । से भिवस्त्रु वा० से जाइं पुण पायाइं जाणिज्जा विरूवरूवाइं महद्दणमुल्लाइं, तं०- अयपायाणि वा तउया० तंबपाया० सीसगपा० हिरण्णपा० सुवण्णपा० रीरिअपाया० हारपुडपा० मणिकायकंसपाया० संखसिंगपा० दंतपा० चेलपा० सेलपा० चम्मपा० अण्णयराइं वा

तह० विरूवरूवाइं महद्वणमुल्लाइं पायाइं अफासुयाइं नो० । से भि० से जाइं पुण पाया०
विरूव० महद्वणबंधणाइं, तं०- अयबंधणाणि वा जाव चम्मबंधणाणि वा, अण्णयराइं
तहप्प० महद्वणबंधणाइं अफा० नो प० । इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइयकम्म अह भियखू
जाणिज्जा चउहिं पडिमाहिं पायं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा ।

से भियखू उदिसिय, पायं जाएज्जा, तं जहा- अलाउयपायं वा, तह० पायं सयं
वा णं जाइज्जा जाव पडि० पढमा पडिमा ।

अहावरा० से० पेहाए पायं जाइज्जा, तं०- गाहावइं वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव
आलोइज्जा आउ० भ० ! दाहिसि मे इत्तो अण्णयरं पायं तं०- लाउयपायं वा, तह० पायं
सयं वा जाव पडि० दुच्चा पडिमा ।

अहा० से भि० से जं पुण पायं जाणिज्जा संगइयं वा वेइयंतियं वा तहप्प० पायं
सयं वा जाव पडि० तच्चा पडिमा ।

अहावरा चउत्था पडिमा- से भि० उज्झियधम्मियं जाएज्जा जावऽण्णे बहवे
समणा जाव नावकंखंति तह० जाएज्जा जाव पडि० चउत्था पडिमा ।

इच्चेइयाणं चउण्हं पडिमाणं अण्णयरं पडिमं जहा पिंडेसणाए । से णं एयाए
एसणाए एसमाणं पासित्ता परो वइज्जा, आउ० स० ! मुहुत्तगं, जाव अच्छाहि ताव अग्हे
असणं वा उवकरेसु वा उवक्खडेसु वा, तो ते वयं आउसो० ! सपाणं सभोयणं पडिग्गहं
दाहामो, तुच्छए पडिग्गहे दिण्णे समणस्स नो सुद्ध साह भवइ, से पुव्वामेव आलोइज्जा-
आउ० भइ० ! नो खलु मे कप्पइ आहाकम्मिए असणे वा, भुत्तए वा०, मा उवकरेहि
मा उवक्खडेहि, अभिकंखसि मे दाउं एमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो असणं वा,
उवकरित्ता उवक्खडित्ता सपाणं सभोयणं पडिग्गहणं दलइज्जा तह० पडिग्गहणं अफासुयं
जाव नो पडिमाहिज्जा ।

सिया से परो उवणित्ता पडिग्गहणं विसिरिज्जा, से पुव्वामेव० आउ० भ० ! तुमं
चेव णं संतियं पडिग्गहणं अंतोअंतेण पडिलेहिरुसामि, केवली आयाण०, अंतो
पडिग्गहणंसि पाणाणि वा बीया० हरि०, अह भियखूणं पु० जं पुव्वामेव पडिग्गहणं
अंतोअंतेणं पडि० सअंडाइं सव्वे आलावगा भाणियव्वा जहा वत्थेसणाए, णाणत्तं तिल्लेण
वा घय० नव० वसाए वा सिणाणादि जाव अण्णयरं वा तहप्पणा० थंडिलंसि पडिलेहिय,
पमज्जिय, तओ० संज० आमज्जिज्जा, एवं खलु० सया जएज्जा तिबेमि ॥ ४८६ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा अभिकाङ्क्षेत पात्रं एषितुम्, सः यत् पुनः पात्रं जानीयात्, तद्यथा- अलाबुपात्रं वा दासुपात्रं वा मृत्तिकापात्रं वा तथाप्रकारं पात्रं यः निर्गन्धः तरुणः यावत् स्थिरसङ्घयणः सः एकं पात्रं धारयेत् न द्वितीयं । सः भिक्षुः० परं अर्धयोजनमर्यादायां पात्रप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय ।

सः भिक्षुः० सः यत् एष्यत्-प्रतिज्ञया एकं साधर्मिकं समुद्दिश्य प्राणिनः वा, यथा पिण्डैषणायां चत्वारः आलापकाः, पञ्चमे बहवः श्रमण० प्रगण्य, तथैव । सः भिक्षुः वा० असंयतः भिक्षुप्रतिज्ञया बहवः श्रमण-ब्राह्मण० वस्त्रैषणालापकः । सः भिक्षुः वा० सः यानि पुनः पात्राणि जानीयात् विरूपरूपाणि महद्दधनमूल्यानि तद्यथा- अयःपात्राणि वा त्रपुःपात्राणि वा ताम्र-पात्राणि वा सीसकपात्राणि वा हिरण्यपात्राणि वा सुवर्णपात्राणि वा रीरिकपात्राणि वा हारपुटपात्राणि वा मणिकाचकांस्यपात्राणि वा शङ्खचूडपात्राणि वा दन्तपात्राणि वा चेलपात्राणि वा शैलपात्राणि वा चर्मपात्राणि वा अन्यतराणि वा तथाप्रकाराणि विरूपरूपाणि महद्दधनमूल्यानि पात्राणि अप्रासुकानि न० । सः भिक्षुः० सः यानि पुनः पात्राणि० विरूपरूपाणि० महद्दधनमूल्यानि, तद्यथा- आयोबन्धनानि वा यावत् चर्मबन्धनानि वा अन्यतराणि तथाप्रकाराणि० महद्दधनबन्धनानि अप्रासुकानि न प्रतिगृह्णीयात्० । इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य अथ भिक्षुः जानीयात् चतसृभिः प्रतिमाभिः पात्रं एषितुम्, तत्र स्वतु इयं प्रथमा प्रतिमा ।

सः भिक्षुः० उद्दिश्य, पात्रं याचेत, तद्यथा- अलाबुपात्रं वा, तथाप्रकारं पात्रं स्वयं वा याचेत यावत् प्रतिगृह्णीयात्० प्रथमा प्रतिमा ।

अथाऽपरा० सः० प्रेक्ष्य पात्रं याचेत, तद्यथागृहपतिं वा कर्मकर्त्रीं वा, सः पूर्वमेव आलोकयेत्, आयुष्यमति ! भगिनि ! दास्यसि मह्यं इतः अन्यतरत् पात्रं ? तद्यथा- अलाबुपात्रं वा, तथाप्रकारं पात्रं स्वयं वा यावत् प्रति० द्वितीया प्रतिमा ।

अथाऽपरा० सः भिक्षुः० सः यत् पुनः पात्रं जानीयात्- स्वाङ्गिकं वा वैजयन्तिकं वा तथाप्रकारं पात्रं स्वयं वा यावत् प्रतिगृह्णीयात्०, तृतीया प्रतिमा ।

अथाऽपरा चतुर्थी प्रतिमा- सः भिक्षुः० उज्झितधर्मिकं याचेत, यावत् अन्ये बहवः श्रमणाः यावत् न आकाङ्क्षन्ते, तथा० याचेत, यावत् प्रतिगृह्णीयात्० चतुर्थी प्रतिमा ।

इत्येतासां चतसृणां प्रतिमानां अन्यतरां प्रतिमां यथा पिण्डैषणायाम् । सः एतया

एषणया एष्यन्तं दृष्ट्वा परः वदेत्, आयुष्मन् ! श्रमण ! मुहूर्त्तकं यावत् आस्व, तावत् वयं अशनं वा उपकुर्मः वा उपस्कुर्मः, ततः तुभ्यं वयं हे आयुष्मन् ! सपानं सभोजनं पतद्ग्रहं दास्यामः, तुच्छके पतद्ग्रहे दत्ते श्रमणस्य न सुष्ठु साधु भवति, सः पूर्वमेव आलोकयेत्, हे आयुष्मति ! भगिनि ! न खलु मह्यं कल्पते आधाकर्मिकं अशनं वा, भोयतुं वा०, मा उपकुरु मा उपस्कुरु, अभिकाङ्क्षसे मह्यं दातुं, एवमेव ददस्व, तस्मै सा एवं वदते परः अशनं वा, उपकृत्य उपस्कृत्य सपानं सभोजनं पतद्ग्रहं दद्यात् तथाप्रकारं० पतद्ग्रहं अप्रासुकं यावत् न प्रतिगृहीयात् ।

स्यात् सः परः उपनीय पतद्ग्रहं निसृजेत्, सः पूर्वमेव० हे आयुष्मति ! भगिनि ! तव एव सत्कं पतद्ग्रहं अन्तःबहिः प्रतिलेखिष्यामि, केवली ब्रूयात्- आदानमेतत्० अन्तः पतद्ग्रहे प्राणिनः वा बीजानि वा हरितानि वा० अथ भिक्षुणां पूर्वोप० यत् पूर्वमेव पतद्ग्रहं अन्तःबहिः पतद्ग्रहं० स-अण्डानि... सर्वे आलापकाः भणितव्याः यथा वस्त्रैषणायाम् । नानात्वं तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा स्वानादि यावत् अव्यतरत् वा तथाप्रकारं० स्थण्डिले प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य, ततः संयतः एव० आमृज्यात्, एवं खलु० सदा यतेन इति ब्रवीमि ॥ ४८६ ॥

III सूत्रार्थ :

संयम शील साधु या साध्वी जब कभी पात्र की गवेषणा करनी चाहें तो सब से पहले उन्हें यह जानना चाहिए कि तूंबे का पात्र, काष्ठ का पात्र, और मिट्टी का पात्र साधु ग्रहण कर सकता है। और उक्त प्रकार के पात्र को ग्रहण करने वाला साधु यदि तरुण है स्वस्थ है स्थिर संहनन वाला है तो वह एक ही पात्र धारण करे, दूसरा नहीं और वह साधु अर्द्धयोजन के उपरान्त पात्र लेने के लिए जाने का मन में संकल्प भी न करे।

यदि किसी गृहस्थ ने एक साधु के लिए प्राणियों कि हिंसा करके पात्र बनाया हो तो साधु उसे ग्रहण न करे। इसी तरह अनेक साधु, एक साध्वी एवं अनेक साध्वियों के सम्बन्ध में उसी तरह जानना चाहिए जैसे कि पिण्डैषणा अध्ययन में वर्णन किया गया है। और शाक्यादि भिक्षुओं के लिए बनाए गए पात्र के सम्बन्ध में भी पिण्डैषणा अध्ययन के वर्णन की तरह समझना चाहिए। शेष वर्णन वस्त्रैषणा के आलापकों के समान समझना। अपितु जो पात्र नाना प्रकार के तथा बहुत मूल्य के हों-यथा लोहपात्र, त्रपुपात्र-कली का पात्र, ताम्रपात्र, सीसे, चान्दी और सोने का पात्र, पीतल का पात्र, लोह विशेष का पात्र, मणि, कांच और कांसे का पात्र एवं शंख और शृंग से बना हुआ पात्र, दांत का बना हुआ पात्र, पत्थर और चर्म का पात्र और इसी प्रकार के अधिक मूल्यवान अन्य पात्र को भी अप्रासुक तथा अनेषणीय जान कर साधु

ग्रहण न करे। और यदि लकड़ी आदि के कल्पनीय पात्र पर लोह, स्वर्ण आदि के बहुमूल्य बन्धन लगे हों तब भी साधु उस पात्र को ग्रहण न करे। अतः साधु उक्त दोषों से रहित निर्दोष पात्र ही ग्रहण करे।

इसके अतिरिक्त चार प्रतिज्ञाओं के अनुसार पात्र ग्रहण करना चाहिए। १. पात्र देख कर स्वयमेव याचना करूंगा। २. साधु पात्र को देख कर गृहस्थ से कहे-आयुष्मन् गृहस्थ ! क्या तुम इन पात्रों में से अमुक पात्र मुझे दोगे। या वैसे पात्र बिना मांगे ही गृहस्थ दे दे तो मैं ग्रहण करूंगा। ३. जो पात्र गृहस्थ ने उपभोग में लिया हुआ है, वह ऐसे दो-तीन पात्र जिन में गृहस्थ ने खाद्यादि पदार्थ रखे हों वह पात्र ग्रहण करूंगा। ४. जिस पात्र को कोई भी नहीं चाहता, ऐसे उज्जितधर्मवाले पात्र को ग्रहण करूंगा।

इन प्रतिज्ञाओं में से किसी एक का धारक मुनि किसी अन्य मुनि की निन्दा न करे। किन्तु यह विचार करता हुआ विचरे कि जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन करने वाले सभी मुनि आराधक हैं।

पात्र की गवेषणा करते हुए साधु को देख कर यदि कोई गृहस्थ उसे कहे कि आयुष्मन् श्रमण। इस समय तो तुम जाओ। एक मास के बाद आकर पात्र ले जाना, इत्यादि। इस विषय में शेष वर्णन वस्त्रेषणा के समान जानना।

यदि कोई गृहस्थ साधु को देख कर अपने कौटुम्बिक जनों में से किसी पुरुष या स्त्री को बुलाकर यह कहे कि यह पात्र लाओ उस पर तेल, घृत, नवनीत या वसा आदि लगाकर साधु को देवें। शेष स्नानादि शीत उदक तथा कन्द-मूल विषयक वर्णन वस्त्रेषणा अध्ययन के समान जानीयेगा।

यदि कोई गृहस्थ साधु से इस प्रकार कहे कि आयुष्मन् श्रमण ! आप मुहूर्त पर्यन्त ठहरें। हम अभी अशनादि चतुर्विध आहार को उपस्कृत करके आपको जल और भोजन से पात्र भर कर देंगे। क्योंकि साधु को खाली पात्र देना अच्छा नहीं रहता। तब साधु उनसे इस प्रकार कहे कि आयुष्मन् गृहस्थ ! या भगिनि-बहिन ! मुझे आधाकर्मिक आहार-पानी ग्रहण करना नहीं कल्पता। अतः मेरे लिए आहारादि सामग्री को एकत्र और उपसंस्कृत मत करो। यदि तुम मुझे पात्र देने की अभिलाषा रखते हो तो उसे ऐसे ही दे दो। साधु के इस प्रकार कहने पर भी यदि गृहस्थ भोजन आदि बना कर उससे पात्र को भर कर दे तो साधु उसे अप्राप्त्युक्त जानकर स्वीकार न करे।

यदि कोई गृहस्थ उस पात्र पर नई क्रिया किए बिना ही लाकर दे तो साधु उसे कहे कि मैं तुम्हारे इस पात्र को चारों तरफ से भली-भांति प्रतिलेखना करके लूंगा। क्योंकि बिना प्रतिलेखना किए ही पात्र ग्रहण करने का केवली भगवान ने कर्मबंध का कारण बताया है। हो सकता है कि उस पात्र में पाणी बीज और हरी आदि हो, जिस से वह कर्मबंध का हेतु बन जाए। शेष वर्णन वस्त्रेषणा के समान जानना। केवल इतनी ही विशेषता है कि यदि वह पात्र तैल से, घृत से, नवनीत से और वसा या ऐसे ही किसी अन्य पदार्थ से स्निग्ध किया हुआ हो तो साधु स्थंडिल भूमि में जाकर वहां भूमि की प्रतिलेखना और प्रमार्जना करे। और तत्पश्चात् पात्र को धूली आदि से प्रमार्जित कर-मसल कर रूक्ष बना ले। यही साधु का समग्र आचार है। जो साधु ज्ञान दर्शन चारित्र्य से युक्त एवं पांच समितियों से समित है वह साधु के शुद्ध आचार को पालन करने का प्रयत्न करे। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. पात्रकी गवेषणा करना चाहे तब वह यह जाने- देखे कि- तुंबड़ेके पात्र इत्यादि... तब जो साधु मजबूत-दृढ संघयण बलवाला हो वह उनमेंसे एक हि पात्र ग्रहण करे, एकसे अधिक नहि... यह बात (नियम) जिनकल्पवाले साधुओंके लिये है, और स्थविरकल्पवाले साधु तो मात्रक पात्रके सहित दो पात्र ग्रहण करें... यदि वह संघाटक साधु-युगल हो तब एक पात्रमें भोजन एवं दुसरे पात्रमें जल ग्रहण करें... और मात्रक पात्रमें तो आचार्य आदिके प्रायोग्य आहारादि हि ग्रहण करें... अथवा अशुद्ध आहारादि...

वह भिक्षु... इत्यादि सूत्र सुगम है... यावत् अधिक मूल्यवाले पात्र निर्दोष हो तो भी ग्रहण न करें... तथा अयोबंधनादि सूत्र भी सुगम है... तथा चार प्रतिमाओंके सूत्र भी वस्त्रेषणा की तरह जानीयेगा किंतु तीसरी प्रतिमामें दाताके खुदके पात्र कि- जो उपयोग किया हुआ हो, या दो-तीन पात्रोंमें अनुक्रमसे उपयोग किये हुए पात्रकी याचना करे...

उपर कही गइ पात्रेषणाकी विधिसे पात्रकी गवेषणा करते हुए साधुको देखकर यदि कोई गृहस्थ घरके महिला-बहिन आदिको कहे कि- इन पात्रोंको तैल आदिसे साफ करके साधुको दीजीये... इत्यादि सूत्र सुगम है... तथा वह गृहस्थ साधुको कहे कि- आपको देनेके लिये पात्र खाली नहि है अतः आप मुहूर्त (दो घडी) तक ठहरीये, तब तक मैं आहारादि बना करके पात्रमें भरकर देता हूँ... इस प्रकार रसोइ (आहारादि) बनानेवाले उस गृहस्थको साधु मना करे... यदि ना कहने पर भी वह गृहस्थ आहारादि बनावे तब साधु उस पात्रको ग्रहण न करे...

अब कल्पनीय बात कहते हैं कि- वह गृहस्थ किस प्रकारसे पात्र दे तो साधु ग्रहण करे... जैसे कि- उस गृहस्थके द्वारा दीये जा रहे पात्रको साधु अंदर और बाहिर चक्षुसे देखे... इत्यादि सभी बातें वस्त्रकी तरह जानीयेगा... क्योंकि- उस साधुका साधुपना इस प्रकारसे ही सिद्ध होता है... इति...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को तूम्बे, काष्ठ एवं मिट्टी का पात्र ही ग्रहण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त साधु को लोह, ताम्र, स्वर्ण-चान्दी आदि धातु के तथा कांच के पात्र स्वीकार नहीं करने चाहिए। और साधु को अधिक मूल्यवान् पात्र एवं काष्ठ आदि के पात्र भी जो कि धातु से संवेष्टित हों तो उन्हें भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि काष्ठ आदि के पात्र पर कोई गृहस्थ तैल, घृत आदि स्निग्ध पदार्थ लगाकर दे या साधु के लिए आहार आदि तैयार करके उस आहार से पात्र भर कर देवे तब भी साधु को उस सद्दोष आहार आदि से युक्त पात्र को ग्रहण नहीं करना चाहिए। साधु को सब तरह से निर्दोष एवं एषणीय पात्र को चारों ओर से भली-भांति देख कर ही ग्रहण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में शेष वर्णन पिडैषणा प्रकरण की तरह समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यदि साधु तरुण, नीरोग, वृद्ध संहनन वाला हो तो उसे एक ही पात्र रखना चाहिए। वृत्तिकारने प्रस्तुत पाठ को जिनकल्प से सम्बन्ध माना है। क्योंकि, स्थविरकल्प साधु के लिए तीन पात्र रखने का विधान है। हां, अभिग्रहनिष्ठ साधु अपनी शक्ति के अनुरूप अभिग्रह धारण कर सकता है।

इसमें यह भी बताया गया है कि साधु पात्र ग्रहण करने के लिए आधे योजन से ऊपर न जाए। इसका तात्पर्य यह है कि साधु जिस स्थान में ठहरा हुआ हो उस समय वह पात्र लेने के लिए आधे योजन से ऊपर जाने का संकल्प न करे।

आहार, वस्त्र आदि की तरह साधु-साध्वी को वह पात्र भी ग्रहण नहीं करना चाहिए जो उन साधु के लिए बनाया गया है। साधु को आधाकर्म आदि दोषों से रहित पात्र को स्वीकार करना चाहिए।

‘तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

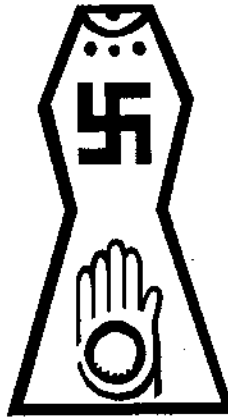
॥ प्रथमचूलिकायां षष्ठ-पात्रैषणाध्ययने प्रथमः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रथमः :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री दिवाचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भद्ररकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. १६.卐 विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - ६ उद्देशक - २

卐 पात्रैषणा 卐

इस दुसरे उद्देशक का अभिसंबंध इस प्रकार है कि- पहले उद्देशक में पात्र का निरीक्षण करने की बात कही है, अब यहां दुसरे उद्देशक में उस पात्र ग्रहण की शेष विधि कहते हैं... इस संबंध से आये हुए दुसरे उद्देशक का यह पहला सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४८७ ॥

से भियस्व वा, गाहावडुकुलं पिंडं पविट्टे समाणे पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहणं अवहट्ट पाणे पमज्जिय रयं तओ संजयामेव० गाहावडं० पिंडं नियस्व० प० केवली० आउ० ! अंतो पडिग्गहणंसि पाणे वा बीए वा हरि० परियावज्जिज्जा, अह भियस्वणं पुव्वोव० अं पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहं अवहट्ट पाणे पमज्जिय रयं, तओ संजयामेव० गाहावडं० निक्खमिज्ज वा ॥ ४८७ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविष्टः सन् पूर्वमेव प्रेक्ष्य पतद्ग्रहं अपहृत्य प्राणिनः प्रमृज्य रजः ततः संयतः एव गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया निष्क्रामेत् वा प्रविशेत् वा, केवली ब्रूयात्- आदानमेतत् । हे आयुष्मन् ! अन्तः पतद्ग्रहे प्राणिनः वा बीजानि वा हरितानि वा पर्यापयेत्, अथ भिक्षुणां पूर्वोपदिष्टा० यत् पूर्वमेव प्रेक्ष्य पतद्ग्रहं अपहृत्य प्राणिनः प्रमृज्य रजः, ततः संयतः एव गृहपतिकुलं निष्क्रामेत् वा प्रविशेद् वा ॥ ४८७ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के घर में आहार पानी के लिए जाने से पहले संयमनिष्ठ साधु साध्वी अपने पात्र का प्रतिलेखन करे। यदि उसमें क्षुद्र जीव-जंतु आदि हों तो उन्हें बाहर निकाल कर एकान्त में छोड़ दे और रज आदि को प्रमार्जित कर दे। उसके बाद साधु आहार आदि के लिए उपाश्रय से बाहर निकले और गृहस्थ के घर में प्रवेश करे। क्योंकि भगवान का कहना है कि बिना प्रतिलेखना किए हुए पात्र को लेकर जाने से उसमें रहे हुए क्षुद्र जीव जन्तु एवं बीज आदि की विराधना हो सकती है। अतः साधु को आहार पानी के लिए जाने से पूर्व पात्र का

सम्यक्तया प्रतिलेखन करके आहार हेतु जाना चाहिए, यही भगवान् की आज्ञा है।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आहारादि पिंड के लिये गृहस्थों के घर में प्रवेश करने के पहले हि पात्र की प्रतिलेखना करे... यदि उस पात्र में कोई जीव जंतु हो या रजःकण हो तो दूर करे... और संयमी होकर हि गृहस्थ के घर में प्रवेश करे और बाहार निकले... यह पात्र की विधि है...

प्रश्न- यहां आहारादि ग्रहण करने के पूर्व हि पात्र की पडिलेहणा और प्रमार्जना करना ऐसी पात्र संबंधित विचारणा क्यों कही ?

उत्तर- पात्रकी पडिलेहणा कीये बिना हि आहारादि पिंड ग्रहण करने में कर्मबंध होता है... क्योंकि- केवलज्ञानी परमात्मा ने कहा है कि- पडिलेहण कीये बिना पात्र में आहारादि पिंड ग्रहण करने में बर्मबंध स्वरूप आश्रव है... जैसे कि- उस पात्र में बेइन्द्रियादि जीवजंतु हो, या गेहूं बाजरी आदि बीज हो, या धूली रजःकण हो, और ऐसे पात्र में आहारादि पिंड ग्रहण करने में कर्मबंध की पूर्णतया संभावना है... इसीलिये साधुओं की पूर्व कही गइ प्रतिज्ञा है कि- पात्र की पडिलेहणा-प्रमार्जना करके जीवजंतु एवं धूली-रजःकण को दूर करके हि गृहस्थ के घर में प्रवेशादि करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु-साध्वी को आहार-पानी के लिए जाने से पहले अपने पात्र का सम्यक्तया प्रतिलेखन करना चाहिए। यद्यपि साधु सायंकाल में पात्र प्रमार्जित करके बांधता है और प्रातः उक्तका पुनः प्रतिलेखन कर लेता है, फिर भी आहार-पानी को जाते समय पुनः प्रतिलेखन करना अत्यावश्यक है। क्योंकि कभी-कभी कोई क्षुद्र जन्तु या रज (धूल) आदि पात्र में प्रविष्ट हो जाते हैं। अतः जीवों की रक्षा के लिए उसका प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करना जरूरी है। यदि पात्र को न देखा जाए और वे क्षुद्र जन्तु उसमें रह जाएं तो उनकी विराधना हो सकती है। इस लिए बिना प्रमार्जन किए पात्र लेकर आहार को जाना कर्मबंध का कारण बताया गया है। अतः साधु को सदा विवेक पूर्वक पात्र का प्रतिलेखन करके ही गोचरी को जाना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ४८८ ॥

से भि० जाव समाणे सिया से परो आहट्ट अंतो पडिग्गहगंसि सीओदगं परिभाइता नीहट्ट दलइज्जा, तहप्प० पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं जाव नो पडि०, से य आहच्च पडिग्गहिए सिया खिप्पामेव उदगंसि साहरिज्जा, से पडिग्गहमायाए पाणं परिइविज्जा, ससिणिद्धाए वा भूमिए नियमिज्जा ।

से० उदउल्लं वा ससिणिद्धं वा पडिग्गहं नो आमज्जिज्ज वा, अह पुण खिगओदए मे पडिग्गहए छिण्णसिणेहे तह० पडिग्गहं तओ० संजयामेव० आमज्जिज्ज वा जाव पयाविज्ज वा ।

से भि० गाहा० पविसिउकामे पडिग्गहमायाए गाहा० पिंड० पविसिज्ज वा नि०, एवं बहिया विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा गामा० दुइज्जिज्जा, तिव्वदेसियाए जहा बिइयाए वत्थेसणाए, नवरं इत्थ पडिग्गहे, एयं जलु तस्स० जं सव्वट्ठेहिं सहिए सया जइज्जासि तिबेमि ॥ ४८८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, यावत् सन्, तस्य परः आहत्य अन्तः पतद्ग्रहं शीतोदकं परिभाज्य निसार्य दद्यात्, तथाप्रकारं० पतद्ग्रहं परहस्ते वा परपात्रे वा अप्राप्तुकं यावत् न प्रतिगृह्णीयात् । सः च आहत्य प्रतिगृहीतं स्यात्, क्षिप्रमेव उदके प्रक्षिपेत् । सः पतद्ग्रहं आदाय पानं परिष्ठापयेत्, सस्निग्धायां वा भूमौ नियच्छेत्- प्रक्षिपेत् ।

सः भिक्षुः वा० उदकार्द्रं वा सस्निग्धं वा पतद्ग्रहं न आमृज्यात् वा न प्रमृज्यात् वा० अथ पुनः विगतोदकं मम पात्रं छिन्नस्नेहं तथाप्रकारं० पतद्ग्रहं, ततः संयतः एव० अमृज्यात् वा यावत् प्रतापयेत् वा ।

से भिक्षुः वा० गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः पतद्ग्रहं आदाय गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविशेत् वा निष्क्रामेत् वा, एवं बहिः विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा ग्रामानुग्रामं गच्छेत् । तीव्रदेशीया यथा द्वितीयायां वस्त्रेषणायां, नवरं अत्र पतद्ग्रहे, एतत् खलु तस्य० यत् सवार्थिः सहितः सदा यतेत इति ब्रवीमि ॥ ४८८ ॥

III सूत्रार्थ :

गृहस्थ के घर में गए हुए साधु या साध्वी ने जब पानी की याचना की और गृहस्थ

घर के भीतर से संचित जल को किसी अन्य भाजन में डाल कर साधु को देने लगा हो तो इस प्रकार के जल को अप्रासुक जानकर साधु ग्रहण न करे। कदाचित्-असावधानी से वह जल ले लिया गया हो तो शीघ्र ही उस जल को वापिस कर दे। यदि गृहस्थ उसे वापिस न ले तो फिर वह उस जल युक्त पात्र को लेकर स्निग्ध भूमि में अथवा अन्य किसी योग्य स्थान में जल को परठ दे और पात्र को एकान्त स्थान में रख दे, किन्तु जब तक उस पात्र से जल के बिन्दु टपकते रहें या वह पात्र गीला रहे तब तक उसे धूप में न सुखावे। जब यह जान ले कि मेरा यह पात्र अब विगत जल और स्नेह से रहित हो गया है तब उसे पोंछ सकता है और धूप में भी सुखा सकता है।

संयमशील साधु या साध्वी जब आहार लेने के लिए गृहस्थ के घर में जाए तो अपने पात्र साथ लेकर जाए। इसी तरह स्थंडिल भूमि और स्वाध्याय भूमि में जाते समय भी पात्र को साथ लेकर जाए और ग्रामानुग्राम विहार करते समय भी पात्र को साथ में ही रखे। और न्यूनाधिक वर्षा के समय की विधि का वर्णन वसुदेवनाथ अध्येयन के दूसरे उद्देशक के अनुसार समझना चाहिए। यही साधु या साध्वी का समग्र आचार है। प्रत्येक साधु साध्वी को इसके परिपालन करने का सदा प्रयत्न करना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आहारादि पिंड के लिये गृहस्थ के घर में प्रवेश कर जल की याचना करे... उस वरत कभी ऐसा हो कि- कोई गृहस्थ अनजान में या दुश्मनता के कारण से तथा अनुकंपा से या बिना सोचे समझे अपने घर के बरतन में रहा हुआ संचित जल उस साधु को देवे... तब वह साधु ऐसे उस संचित जल को अप्रासुक जानकर ग्रहण न करे... अथवा अनिच्छा से या अनुपयोग से संचित जलका ग्रहण हो गया हो, तो तत्काल उस गृहस्थ-दाता के बरतन में वापस लौटा दे... यदि वह गृहस्थ साधु को दे दीये गये उस जल को वापस लेना न चाहे तब वह साधु उस संचित जल को उस जल के समान जाति के जलवाले कुवे आदि में परिष्ठापन की विधि से परठ देवे... यदि वैसे जलवाले कुवे आदि प्राप्त न हो तब उस संचित जल को अन्य छायावाले गर्ता (खड्डे) आदि में परठ देवे... और यदि उस साधु के पास अन्य पात्र हो तो उस संचित जलवाले पात्र को निर्जन स्थान में छोड़ देवे...

तथा वह साधु उस संचित जलवाले पात्र को मांजे नहि याने साफ न करें, कपड़े से पोंछे नहि... किन्तु यदि वह पात्र सुख जावे तब पोंछ दे...

तथा वह साधु किसी गृहस्थ के घर में आहार आदि के लिये जावे तो अपने पात्र को

लेकर हि जावे... इत्यादि शेष सूत्र के पद सुगम है... यावत् साधु का साधुपना जैसे हो वैसा हि मुनि आचरण करे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- गृहस्थ के घर में पानी के लिए गए हुए साधु-साध्वी को कोई गृहस्थ सचित पानी देने का प्रयत्न करे तो वह उसे स्वीकार न करे। और यदि कभी असावधानी से ग्रहण कर लिया हो तो उसे अपने उपयोग में न ले किंतु वह उसे उसी समय वापिस कर दे, यदि गृहस्थ वापिस लेना स्वीकार न करे तो एकान्त स्थान में स्निग्ध भूमि पर परठ दे और उस पात्र को तब तक न पोंछे एवं न धूप में सुरवाए जब तक उसमें पानी की बुन्दें टपकती हों या वह गीला हो।

सचित पानी देने के सम्बन्ध में वृत्तिकार ने चार कारण बताए हैं- १. गृहस्थ की अनभिज्ञता-वह यह न जानता हो कि साधु सचित पानी लेते हैं या नहीं, २. शत्रुता- साधु को बदनाम करके उसे लोगों के सामने सद्गुण पानी ग्रहण करने वाला बताने की दृष्टि से, ३. अनुकम्पा- साधु को प्यास से व्याकुल देखकर दया भाव से और ४. विमर्षता- किसी अन्य जटिल विचार के कारण उसे ऐसा करने को विवश होना पड़ा हो। अतः यहां यह स्पष्ट है कि गृहस्थ चाहे जिस परिस्थिति एवं भावनावश सचित जल दे, परन्तु साधु को किसी भी परिस्थिति में सचित जल का उपयोग नहीं करना चाहिए।

सचित जल को परठने के सम्बन्ध में वृत्तिकार का कहना है कि- यदि गृहस्थ उस सचित जल को वापिस लेना स्वीकार न करे तो साधु को उसे कूप आदि में समान जातीय जल में परठ देना चाहिए। यदि साधु के पास दूसरा पात्र हो तो उसे उस सचित जल युक्त पात्र को एकान्त में परठ (छोड़) देना चाहिए अथवा छाया युक्त स्निग्ध स्थान में विवेक पूर्वक परठ दे...

वस्त्र आदि की तरह पात्र के सम्बन्ध में भी यह बताया गया है कि साधु जब भी आहार-पानी के लिए गृहस्थ के घर में जाए या शौच के लिए बाहर जाए या स्वाध्याय भूमि में जाए तो अपने पात्र को साथ लेकर जाए। इससे स्पष्ट होता है कि साधु को बिना पात्र के कहीं नहीं जाना चाहिए। इसका कारण यह है कि पात्र किसी भी समय काम में आ सकता है। अतः उपाश्रय से बाहर जाते समय पात्र को साथ रखना उपयुक्त प्रतीत होता है।

॥ प्रथमपूलिकायां षष्ठ-पात्रैषणाध्ययने द्वितीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

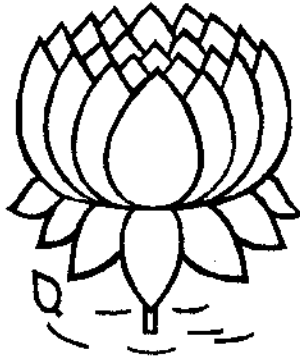
॥ समाप्तं च षष्ठमध्ययनम् ॥

ॐ ॐ ॐ

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिन्धुचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडल श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भद्रारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यांन वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभवेजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ॐ राजेन्द्र सं. ९६. ॐ विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - ७ उद्देशक - १

卐 अवग्रह प्रतिमा 卐

छद्दा अध्ययन कहा, अब सातवे अध्ययन का प्रारंभ कहते हैं... यहां इसका यह अभिसंबंध है कि- पिंड, शय्या, वस्त्र एवं पात्र आदि अवग्रह याने वसति- उपाश्रय के होने पर हि होते हैं... अतः वह वसति का अवग्रह कितने प्रकार का होता है ? इस संबंध से आये हुए इस सातवे अध्ययन के चार अनुयोग द्वार कहते हैं... उनमें उपक्रम के अंतर्गत अर्थाधिकार इस प्रकार है... जैसे कि- साधु विशुद्ध याने निर्दोष वसति के अवग्रह का ग्रहण करे... अब नामनिष्पन्न निक्षेप के अधिकार में अवग्रहप्रतिमा यह नाम है... यहां अवग्रह पद के नाम - स्थापना - द्रव्य - क्षेत्र - काल एवं भाव निक्षेप होते हैं... इन छह (६) निक्षेपों में से नाम एवं स्थापना निक्षेप जुगम है... अतः अब शेष द्रव्य आदि चार निक्षेपों का स्वरूप विर्युक्ति की गाथा के द्वारा कहते हैं...

नि. ३१९

१. द्रव्य अवग्रह, २. क्षेत्र अवग्रह, ३. काल अवग्रह, और ४. भाव-अवग्रह... अथवा सामान्य से अवग्रह के पांच प्रकार हैं... वे इस प्रकार- (१) लोक के मध्यभाग में रहे हुए आठ रुचक प्रदेश से दक्षिण दिशा के अवग्रह का स्वामी सौधर्मेन्द्र है... तथा (२) राजा का अवग्रह... जैसे कि- भरत क्षेत्र के स्वामी चक्रवर्ती आदि राजा का राज्य संबंधित अवग्रह... तथा (३) गांव-नगर के स्वामी (मुखी) का अवग्रह... जैसे कि- गांव या नगर के विभिन्न पाटक याने महोल्ला आदि सहित गांव-नगर का अवग्रह... तथा (४) शय्यातर याने घर-मकान का स्वामी-गृहस्थ का अवग्रह... तथा (५) साधर्मिक याने उस वसति-मकान या उपाश्रय में मासकल्प आदि कल्प से रहे हुए साधु का अवग्रह... और वह सवा योजन पर्यंत का होता है... इस प्रकार अवग्रह के पांच प्रकार हैं... अतः साधु वसति याने उपाश्रय का अवग्रह ग्रहण करने के वर्यत उपरोक्त पांचों अवग्रह के नायक की अनुज्ञा प्राप्त करनी चाहिये...

अब द्रव्यादि अवग्रह का स्वरूप कहते हैं...

नि. ३२०

द्रव्य अवग्रह के तीन प्रकार हैं... (१) सचित... जैसे कि- शिष्य आदि... (२) अचित द्रव्य

अवग्रह जैसे कि- रजोहरणादि उपकरण... तथा (३) मिश्र याने रजोहरणादि सहित शिष्य आदि...

तथा क्षेत्र अवग्रह भी सचितादि तीन प्रकार से है... अथवा (१) गांव, (२) नगर, (३) अरण्य...

तथा काल अवग्रह के दो भेद हैं... (१) ऋतुबन्ध याने चतुर्मास को छोड़कर शेष काल... एवं (२) वर्षाकाल याने चतुर्मास काल...

अब भाव-अवग्रह का स्वरूप कहते हैं...

बि. ३२१

भाव-अवग्रह के दो प्रकार हैं... १. मति अवग्रह.. और २. ग्रहण अवग्रह... अब मति अवग्रह के भी दो भेद हैं... १. अर्थावग्रह, २. व्यंजन अवग्रह... उनमें अर्थावग्रह के छह (६) प्रकार हैं... पांच इंद्रियां एवं मन... तथा व्यंजनावग्रह के चार प्रकार हैं... जैसे कि- चक्षु एवं मन के सिवाय शेष चार इंद्रियो का व्यंजनावग्रह... इस प्रकार मति-भावावग्रह के कुल दश (१०) भेद हुए...

अब ग्रहण-भाव-अवग्रह का स्वरूप कहते हैं...

बि. ३२२

परिग्रह के त्यागी ऐसे साधु को जब आहारादि पिंड, वसति-उपाश्रय, वस्त्र तथा पात्र ग्रहण करने का विचार-परिणाम हो तब ग्रहण भावावग्रह होता है... इस स्थिति में साधु विचार करे कि- हमें शुद्ध वसति आदि दीर्घकाल के लिये या अल्प काल के लिये किस प्रकार से प्राप्त हो... इस प्रकार सोच-विचार करके साधु अवग्रह हेतु यत्न करे... और पूर्व कहे गये देवेन्द्र आदि के पांच प्रकार के अवग्रह को भी इस ग्रहण भावावग्रह में भी समाविष्ट किया गया है...

इस प्रकार नाम निष्पन्न निक्षेप की बात कही, अब सूत्रानुगाम में सूत्र का शुद्ध उच्चार करें...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४८९ ॥

समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसू परदत्तभोई पावं कम्मं नो करिस्सामिति समुट्ठाए सव्वं भंते ! अदिण्णादाणं पच्चवस्सामि, से अणुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा नेव सयं अदिण्णं गिण्हज्जा, नेवऽण्णेहिं अदिण्णं गिण्हाविज्जा,

अदिष्णं गिण्हंते वि अण्णे न समणुजाणिज्जा, जेहिं वि सद्धिं संपव्वइए तेसिं पि जाइं छत्तं वा जाव चम्मछेयणं वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुण्णविय अपडिलेहिय, अपमज्जिय, वो उग्गिण्हिज्जा वा परिगिण्हिज्जा वा० ॥ ४८९ ॥

II संस्कृत-छाया :

श्रमणः भविष्यामि अनगरः अकिञ्चन अपुत्रः अपशुः परदत्तभोजी पापं कर्म न करिष्यामि इति समुत्थाय सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, सः अतः नुप्रविश्य ग्रामं वा यावत् राजधानीं वा नैव स्वयं अदत्तं गृह्णामि, नैवाऽन्यैः अदत्तं ग्राह्यामि, अदत्तं गृह्यतः अपि अन्यान् न समनुजानामि यैः अपि सार्द्धं संप्रव्रजितः, तेषां यानि छत्रं वा यावत् चर्मच्छेदनकं वा तेषां पूर्वमेव अवग्रहं अननुज्ञाप्य अप्रत्युपेक्ष्य, अप्रमृज्य, न अवग्राहिष्यामि वा परिग्राहिष्यामि वा, तेषां पूर्वमेव अवग्रहं याचित्वा अनुज्ञाप्य प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य ततः संयतः एव अवगृह्णीयात् वा परिगृह्णीयात् वा ॥ ४८९ ॥

III सूत्रार्थ :

दीक्षित होते समय दीक्षार्थी सोच-विचार पूर्वक कहता है कि मैं श्रमण-तपस्वी-तप करने वाला बनूंगा, जो घर से, परिवार से, पुत्रादि सम्बन्धियों से और द्विपद-चतुष्पद आदि पशुओं से रहित होकर गोचरी (भिक्षा) लाकर संयम का पालन करने वाला साधक बनूंगा, परन्तु कभी भी पापकर्म का आचरण नहीं करूंगा ! हे भदन्त ! इस प्रकार की प्रतिज्ञा में आरूढ़ होकर आज मैं सर्वप्रकार के अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ।

ग्राम, नगर, यावत् राजधानी में प्रविष्ट संयमशील साधु स्वयं अदत्त—बिना दिए हुए पदार्थों को ग्रहण न करे, न दूसरों से ग्रहण कराए और जो अदत्त ग्रहण करता है उसकी अनुमोदना (प्रशंसा) भी न करे। एवं वह मुनि जिनके पास दीक्षित हुआ है, या जिनके पास रह रहा है उनके छत्र यावत् चर्म छेदक आदि जो कोई उपकरण विशेष हैं, उनको बिना आज्ञा लिए तथा बिना प्रतिलेखन और प्रमार्जन किए ग्रहण न करे। किन्तु पहले उनसे आज्ञा लेकर और उसके बाद उनका प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके उन पदार्थों को स्वीकार करे। अर्थात् बिना आज्ञा से वह कोई भी वस्तु ग्रहण न करे।

IV टीका-अनुवाद :

जो श्रम करे वह श्रमण... तपस्वी... साधु यह सन्मति से विचार करे कि- मैं श्रम करूँ, कि- जिससे मैं श्रमण-तपस्वी हो सकूँ... तथा अग याने वृक्ष उन वृक्ष से जो बने वह

अगार याने घर... यह अगार जिन्हें नहि हैं वे अनगार... अर्थात् घर की मायाजाल के त्यागी... तथा जिनके पास कुछ भी नहि है वे अकिंचन अर्थात् परिग्रह के त्यागी... तथा अपुत्र याने स्वजन-बंधु परिवार से रहित अर्थात् निर्मम = ममता रहित... तथा अपशु याने दो पाउंवाले दास-दासी एवं चार पैरवाले गाय-घोडे आदि के त्यागी... इत्यादि विशेषणवाला जो साधु है वह परदत्तभोजी याने गृहस्थों के द्वारा दीये गये आहार आदि को वापरनेवाला वह साधु ऐसा सोचता है कि- मैं अब पाप-कर्म नहि करुंगा... इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके वह मनुष्य श्रमण-साधु होता है... वह इस प्रकार- हे भगवन् ! मैं सभी प्रकार के अदत्त को ग्रहण करने का त्याग करता हूं अर्थात् अदत्तादान का पचचक्रवाण करता हूं... त्याग करता हूं... याने अन्य गृहस्थ आदि ने नहि दीये हुए तृण-तिनके मात्र का भी ग्रहण नहि करुंगा... इस विशेषण के द्वारा शाक्य, सरजरक आदि अन्य मतवालों में सच्चा साधुपना है कि- क्या ? यह प्रश्न है... अब उपर कहे गये विशेषणवाला अकिंचन साधु गांव, नगर या राजधानी में प्रवेश करके स्वयं हि अदत्त ग्रहण न करे, तथा अन्य के द्वारा भी अदत्त का ग्रहण न करवाये... तथा इसी हि प्रकार यदि कोई अदत्त ग्रहण करता हो तो उसकी अनुमोदना-प्रशंसा न करें... तथैव जिस साधुओं के साथ प्रव्रजित हुआ है अर्थात् श्रमणत्व का स्वीकार कीया है उनके जो जो उपकरण-वस्तुएं हैं उन वस्तुओं को भी उनकी रजा-अनुमति के सिवा ग्रहण न करें... जैसे कि- छत्र याने वर्षाकल्पादि अथवा कुंकण देश आदि में अतिवृष्टि की संभावना से छत्र याने छत्री (बरसाती) आदि से लेकर यावत् चर्म छेदनक याने चप्पु-कैंची आदि कोई भी वस्तु उन साधुओं की अनुमति-रजा के बिना एवं पडिलेहण किये बिना एक बार या बार बार ग्रहण न करें... किंतु यदि ऐसी कोई वस्तु की आवश्यकता हो तब ग्रहण करने के पूर्व हि उनकी अनुमति प्राप्त करें तथा चक्षु से पडिलेहण एवं रजोहरणादि से प्रमार्जना करके एक बार या बार बार ग्रहण करें इत्यादि...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधु के अस्तेय महाव्रत का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि साधु किसी व्यक्ति की आज्ञा के बिना सामान्य एवं विशिष्ट कोई भी पदार्थ स्वीकार न करे। वह दीक्षित होते समय यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं घर, परिवार, धन-धान्य आदि का त्याग करके तप-साधना के तेजस्वी पथ पर आगे बढ़ूंगा और साध्य-सिद्धि तक पहुंचने में सहायक होने वाले आवश्यक पदार्थों एवं उपकरणों को बिना आज्ञा के ग्रहण नहीं करूंगा। इस तरह साधक जीवन पर्यन्त के लिए चोरी का सर्वथा त्याग करके साधना पथ पर कदम रखता है। यहां तक कि वह अपने कुल-गण के साधुओं की कोई भी वस्तु को उनकी आज्ञा

के बिना ग्रहण नहीं करता। यदि किसी साधु के छत्र, चर्मछेदनी आदि पदार्थ रखे हुए हैं और अन्य साधु को उनकी आवश्यकता है; तो वह उस साधु की आज्ञा के बिना उन्हें ग्रहण नहीं करेगा। प्रस्तुत अधिकार में छत्र का अर्थ है—वर्षा के समय सिर पर लिया जाने वाला ऊन का कम्बल। और स्थविरकल्पी मुनि विशेष कारण उपस्थित होने पर छत्र भी रख सकते हैं। वृत्तिकार ने भी अपवाद मार्ग में छत्र-छाता रखने की बात कही है। अतः छत्र शब्द से कम्बल और छत्र दोनों में से कोई भी वस्तु हो सकता है। इसी तरह साधु किसी कार्य के लिए गृहस्थ के घर से चर्मछेदनी या असिपुत्र (चाकू) आदि लाया हो और दूसरे साधु को इन वस्तुओं की या उसके पास में स्थित अन्य वस्तुओं में से किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो वह उक्त मुनि की आज्ञा लेकर उस वस्तु को ग्रहण कर सकता है। इस तरह साधु स्तेय कर्म से पूर्णतः निवृत्त होकर साधना पथ में गति-प्रगति करता हुआ अपने लक्ष्य पर पहुंचने का प्रयत्न करता है।

इस विषय को आगे बढ़ाते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ४९० ॥

से भियस्मू० आगंतारेसु वा अणुवीड उग्गहं जाइज्जा, जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समहिइए, ते उग्गहं अणुण्णविज्जा- कामं खलु आउसो० ! अहालंदं अहापरिण्णायं वसामो जाव आउसो जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मिया एइ तावं उग्गहं उग्गिण्हस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो ।

से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ साहम्मिया संभोइया समणुण्णा उवागच्छिज्जा, जे तेण सयमेसित्तए असणे वा, तेण ते सहम्मिया, उवनिमंतिज्जा, नो घेव णं परवडियाए ओगिज्झिय, उवनि० ॥ ४९० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः० आगन्तागारेषु वा, अनुविचिन्त्य अवग्रहं याचेत, ये तत्र ईश्वराः, ये तत्र समधिष्ठातारः तेभ्यः अवग्रहं अनुज्ञापयेत्- कामं खलु हे आयुष्मन् ! यथालन्दं यथापरिज्ञातं वसामः, यावत् हे आयुष्मन् ! आयुष्मतः अवग्रहे यावन्तः साधर्मिकाः एष्यन्ति तावन्तं अवग्रहं अवग्रहिष्यामः, तेन परं विहरिष्यामः ।

सः किं पुनः तत्र अवग्रहे एव अवगृहीते ? ये तत्र साम्भोगिकाः समनोज्ञाः उपागच्छेयुः, ये तेन स्वयं एषितुं अशक्यं वा, तेन ते साधर्मिकाः, उपनिमन्त्येरन्, न च

एवं परानीतं अवगृह्य उपनिमन्त्रयेत्० ॥ ४९० ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी धर्मशाला आदि में जाकर उसे सोच-विचार कर उचित स्थान की आज्ञा मांगें। उस स्थान का जो स्वामी या अधिष्ठाता उसे उससे आज्ञा मांगते हुए कहे- आयुष्मन् गृहस्थ ! जिस प्रकार तुम्हारी इच्छा हो अर्थात् जितने समय के लिए जितने क्षेत्र में निवास करने की तुम आज्ञा दोगे उतने काल तक उतने ही क्षेत्र में हम निवास करेंगे, अन्य जितने भी साधर्मिक साधु आएंगे वे भी उतने काल तक उतने क्षेत्र में ठहरेंगे। उक्तकाल के बाद वे और हम विहार कर जाएंगे।

इस प्रकार गृहस्थ की आज्ञा के अनुसार वहां निवसित साधु के पास यदि अन्य साधु कि- जो साधर्मिक हैं, समग्र सामाचारी वाले हैं और उद्यत विहार करने वाले हैं, वे यदि अतिथि के रूप में आजाएं तो वह साधु अपने द्वारा लाए हुए आहारादि ग्रहण हेतु उसे आमंत्रण करे, परन्तु अन्य के लिए लाए हुए आहारादि के लिए उन्हें निमंत्रित न करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. धर्मशाला आदि में प्रवेश करके देखे कि- यह क्षेत्र साधुओं के वसति (निवास) के लिये योग्य है, तब उस क्षेत्र-वसति की याचना करे... वह इस प्रकार- उस घर का जो स्वामी हो या उस घर का जो देखभाल करनेवाला हो उससे उस घर में रहने के लिये याचना करे... वह इस प्रकार- हे आयुष्मन् ! गृहपति ! आप जितने समय-काल के लिये एवं जितने क्षेत्र की अनुमति-आज्ञा दोगे उतने समय तक उतने क्षेत्र में हम रहेंगे... हे आयुष्मान् ! जितने समय के लिये आपके दीये हुए इस घर में हमारे जितने भी साधु आएंगे उतना हम अवग्रह करेंगे याने आपके घर में रहेंगे... बाद में हम सभी विहार करेंगे...

अब अवग्रह ग्रहण करने के बाद की विधि कहते हैं... वह इस प्रकार-वहां पर जो कोई प्राधूर्णक साधु कि जो एक सामाचारी वाले हो, समनोद्ध हो, उद्यतविहारी हो, ऐसे साधुजन विहार करते हुए पधारे तब वह साधु या साध्वीजी म. परलोक की शुभ कामना से उनके आहारादि हेतु स्वयं हि गवेषणा-शोध करे... यदि वे स्वयं हि आहारादि को गवेषणा हेतु साथ में आये हुए हों, तो वह साधु स्वयं हि जो आहारादि गवेषणा करके लाये हुए हों, उन आहारादि को ग्रहण करने के लिये उन साधुओं को निमंत्रण करे... जैसे कि- हे साधुजन ! मैंने लाये हुए इस आहारादि को आप ग्रहण करके मेरे उपर उपकार कीजिये... किंतु अन्य साधुने लाये हुए आहारादि के लिये वह साधु उनको निमंत्रण न करे, किंतु स्वयं खुदने हि लाये हुए आहारादि

के लिये हि निमंत्रण करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में मकान ग्रहण करने सम्बन्धी अवग्रह का उल्लेख किया गया है। इसमें बताया गया है कि साधु अपने ठहरने योग्य निर्दोष एवं प्रासुक स्थान को देखकर उसके स्वामी या अधिष्ठाता से उस मकान में ठहरने की आज्ञा मांगे। आज्ञा मांगते समय साधु यह स्पष्ट कर दे कि आप जितने समय के लिए जितने क्षेत्र में ठहरने एवं उपयोग करने की आज्ञा देंगे उतने समय तक हम उतने ही क्षेत्र में ठहरेंगे। और यदि हमारे अन्य साधर्मिक साधु आएं तो वे भी उस अवधि तक उतने ही क्षेत्र में ठहरेंगे जितने क्षेत्र की आपने आज्ञा दी है। इससे स्पष्ट है कि कोई भी साधु बिना आज्ञा लिए किसी भी मकान में नहीं ठहरता है।

उक्त मकान में स्थित साधु के पास यदि कोई साधर्मिक और समान सामाचारी वाला अन्य साधु अतिथि रूप में आ जाए तो वह अपने लिए हुए आहार-पानी का आमन्त्रण करके उनकी सेवा करे, परन्तु अन्य द्वारा लिए हुए आहार-पानी का आमन्त्रण न करे। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं— एक तो यह है कि साधु को अपने अतिथि साधु की स्वयं सेवा करनी चाहिए। इससे पारस्परिक प्रेम-स्नेह में अभिवृद्धि होती है। दूसरी बात यह है कि- साधु का परस्पर एक माण्डले में बैठकर आहार-पानी करने का सम्बन्ध उसी साधु के साथ होता है कि- जो परस्पर साधर्मिक, साम्भोगिक और समान आचार-विचार वाला है।

अब असांभोगिक साधु के साथ कैसा व्यवहार रखना चाहिए इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ४९१ ॥

से आगंतारेसु वा, जाव से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ साहम्मिया अण्णसंभोइआ समणुण्णा उवागच्छिज्जा जे तेण सयमेसित्ते पीढे वा फलए वा सिज्जा वा संथारए वा तेण ते साहम्मिए अण्णसंभोइए समणुण्णे उवनिमंतिज्जा नो चेव णं परवडियाए ओगिज्झिय उवनिमंतिज्जा ।

से आगंतारेसु वा, जाव से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहा० पुत्ताण वा सूई वा पिप्पलए वा कण्हसोहणए वा नहच्छेयणए वा तं अप्पणो एगस्स अट्ठाए पाडिहारियं जाइत्ता नो अण्णमण्णस्स दिज्ज वा अप्पुपइज्ज वा सयं करणिज्जंति कट्ठ, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा, पुत्त्वामेव उत्ताणए हत्थे कट्ठ

भूमि ए वा ठवित्ता इमं खलु, ति आलोइज्जा, नो चैव णं सयं पाणिणा परपाणिंसि पच्चप्पिणिज्जा ॥ ४९१ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः आगन्तागारेषु वा, यावत् सः किं तत्र अवग्रहे एव अवगृहीते ये तत्र साधर्मिका अन्यसाम्भोगिकाः समनोज्ञाः उपागच्छेयुः ये तेन स्वयं एषितुं पीठः वा फलकः वा शय्या वा संस्तारकः वा तेन ते साधर्मिकाः अन्यसाम्भोगिकाः समनोज्ञाः उपनिमन्त्रयेन्, न च एव परानीतं अवगृह्य उपनिमन्त्रयेत् ।

सः आगन्तागारेषु वा, यावत् सः किं पुनः तत्र अवग्रहे एव अवगृहीते ये तत्र गृहपतीनां वा गृहपतिपुत्राणां वा सूची वा पिष्पलकः वा कर्णशोधनकः वा नखच्छेदनकः वा तं आत्मनः एकस्य अर्थाय प्रातिहारिकं याचित्वा न अन्यान्यस्मै दद्यात् वा अनुप्रदद्यात् वा, स्वयं करणीयं इति कृत्वा, सः तं आदाय तत्र गच्छेत्, गत्वा पूर्वमेव उत्तानके हस्ते कृत्वा भूमौ वा स्थाप्य इमं खलु, इति आलोकयेत्, न च एव स्वयं पाणिना परपाणौ प्रत्यर्पयेत् ॥ ४९१ ॥

III सूत्रार्थ :

आज्ञा प्राप्त कर धर्मशाला आदि में ठहरे हुए साधु के पास यदि उत्तम आचार वाले असंभोगी साधर्मि-साधु अतिथिरूप में आजाएं तो वह स्थानीय साधु अपने गवेषणा किए हुए पीठ, फलक, शय्या-संस्तारक आदि के द्वारा असांभोगिक साधुओं को निमंत्रित करे, परन्तु दूसरे द्वारा गवेषित पीठ, फलकादि द्वारा निमंत्रित न करे ।

यदि कोई अन्य साधु गृहस्थ के पास से सूई, कैंची, कर्णशोधनिका और नखछेदक आदि उपकरण अपने प्रयोजन के लिये मांग कर लाया हो तो वह उन उपकरणों को अन्य भिक्षुओं को न दे । किन्तु अपना कार्य करके गृहस्थ के पास जाए और लम्बा हाथ करके उन उपकरणों को भूमि पर रख कर गृहस्थ से कहे कि यह तुम्हारा पदार्थ है, इसे संभाल लो, देख लो... परन्तु उन सूई आदि वस्तुओं को साधु अपने हाथ से गृहस्थ के हाथ में न रखे ।

IV टीका-अनुवाद :

पूर्व के सूत्र की तरह यहां जानीयेगा, किंतु जो साधु असांभोगिक हैं उन्हें पीठ, फलक आदि के लिये निमंत्रण करें... क्योंकि- उन्हें यह पीठ आदि हि उपभोग में आ सकते हैं... आहारादि नहीं... तथा वहां उस मकान में गृहस्थ से अवग्रह की अनुमति लेने के बाद जो मनुष्य

उस घर के मालिक के संबंधित नहि है उसके पास से कभी सूइ आदि की आवश्यकता होने पर मात्र अपने खुद के लिये हि लेवे, वह सूइ आदि वस्तु अन्य साधुओं को न दे... किंतु कार्य पूर्ण होने पर उसी मनुष्य को वह सूई आदि वस्तु सूत्रोक्त विधि से वापस लौटा दे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गत सूत्र में कथित विधि से आज्ञा लेकर ठहरे हुए साधु के पास कोई असम्भोगिक एवं अन्य सामाचारी का पालन करने वाले साधु आ जाएं तो वह अपने लिए हुए शय्या-संधारे या पाट-तख्त आदि से उसका सत्कार-सन्मान करे अर्थात् उसे उनका आमन्त्रण करे, परन्तु अन्य के लिए हुए पाट आदि का उसे निमन्त्रण न करे। इससे स्पष्ट होता है कि- ऐसे उन यहां आए हुए साधुओं के चारित्रिक एवं चारित्रिक साधक का- जिसके साथ आहार-पानी का संभोग नहीं है और जिसकी सामाचारी भी अपने समान नहीं है, शय्या-संस्कारक आदि से सम्मान करना चाहिए... आगम में बताया गया है कि भगवान पार्श्वनाथ एवं भगवान महावीर के साधुओं की सामाचारी भिन्न थी, उनका परस्पर साम्भोगिक सम्बन्ध भी नहीं था। फिर भी जब गौतमस्वामी केशी श्रमण के स्थान पर पहुंचे तब केशी श्रमण ने गौतमस्वामी का स्वागत किया और उन्हें निर्दोष एवं प्रासुक पत्ताल (घास) आदि का आसन लेने की प्रार्थना की। इससे पारस्परिक धर्म-स्नेह में अभिवृद्धि होती है और पारस्परिक मेल-मिलाप एवं विचारों के आदान-प्रदान से चारित्र-जीवन का भी विकास होता है। अतः असम्भोगी साधु का शय्या आदि से सम्मान करना प्रत्येक साधु का कर्तव्य है।

प्रस्तुत सूत्र के उत्तरार्ध में बताया गया है कि यदि साधु अपने प्रयोजन (कार्य) के लिए किसी गृहस्थ से सूई, कैंची, कान साफ करने का शस्त्र आदि लाया हो तो वह उसे अपने काम में ले, किन्तु अन्य साधु को न दे। और अपना कार्य पूरा होने पर उन वस्तुओं को गृहस्थ के घर जाकर हाथ लम्बा करके भूमि पर रख दे और उसे कहे कि यह अपने पदार्थ सम्भाल लो। परन्तु, वह साधु उन पदार्थों को उसके हाथ में न दे।

इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ४९२ ॥

से भि० से जं० उग्गहं जाणिज्जा अनंतरहियाए पुढवीए जाव स संसंताणए तह० उग्गहं नो गिणिहज्जा वा, । से भि० से जं पुण उग्गहं धूणंसि वा, तह० अंतलियस्सजाए दुब्बद्धे जाव नो उगिणिहज्जा वा, ।

से भि० से जं कुलियंसि वा, जाव नो उगिण्हिज्जा वा, । से भि० खंधंसि वा, अण्णयरे वा तहं जाव नो उग्गहं उगिण्हिज्जा वा, ।

से भि० से जं० पुण० सत्तागारियं० सखुडुपसुभत्तपाणं नो पण्णस्स नियस्समणपवेसे जाव धम्माणुओगचिंताए, सेवं नच्चा, तह उवस्साए सत्तागारिए० नो उवग्गहं उगिण्हिज्जा वा, ।

से भि० से जं० गाहावडकुलस्स मज्झमज्झेण गंतुं पंथे पडिबद्धं वा नो पण्णस्स जाव सेवं नच्चा० ।

से भि० से जं० इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णं अयकोसंति वा तहेव तिल्लादि सिणाणादि सीओदग-वियडादि निगिणाइ वा जहा सिज्जाए आलावगा, नवरं उग्गहवत्तव्वया । से भि० से जं० आइण्णसंतियस्से नो पण्णस्स० उगिण्हिज्ज वा, एयं खलु० ॥ ४९२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० सः यत्० अवग्रहं जानीयात्- अनन्तरहितायां पृथिव्यां यावत् ससन्तानके तथा० अवग्रहं न गृहीयात् वा, । सः भिक्षुः० सः यत् पुनः अवग्रहं स्थाणायां वा, तथा० अन्तरिक्षजाते दुर्बद्धे यावत् न अवगृहीयात् वा, ॥

सः भिक्षुः० सः यत्० कुल्यके वा, यावत् न अवगृहीयात् वा, । सः भिक्षुः० स्कन्धे वा, अन्यतरे वा तथा० यावत् न अवग्रहं अवगृहीयात् वा, ।

सः भिक्षुः० सः यत्० पुनः० सत्तागारिकं० सक्षुद्रपशुभयतपाणं न प्राज्ञस्य निष्क्रमण-प्रवेशे यावत् धर्मानुयोगचिन्तायां, सः एवं ज्ञात्वा तथा० उपाश्रये सत्तागारिके० न अवग्रहं अवगृहीयात् वा, । सः भिक्षुः सः यत् गृहपतिकुलस्य मध्य-मध्येन गन्तुं पथि प्रतिबद्धं वा न प्राज्ञस्य यावत्० सः एवं ज्ञात्वा० ।

सः भिक्षुः० सः यत्० इह खलु गृहपतिः वा यावत् कर्मकर्यः वा अन्योऽन्यं आक्रोशन्ति वा तथैव तैलादि स्नानादि शीतोदक-विकटादि नग्नादि वा यथा शय्यायां आलापकाः, नवरं अवग्रहवयतव्यता... सः भिक्षुः० सः यत्० आकीर्णसंलिरुये न प्राज्ञस्य० अवगृहीयात् वा, एतत् खलु० ॥ ४९२ ॥

III सूत्रार्थ :

संयम निष्ठ साधु-साध्वी को सचित पृथ्वी या जीव जन्तु युक्त स्थान में नहि ठहरना चाहिए और जो उपाश्रय भूमि से ऊंचा, स्तम्भ आदि के ऊपर एवं विषम हो उसमें भी नहि ठहरना चाहिये और जो उपाश्रय कच्ची भीत पर स्थित हो और अस्थिर हो उसकी भी साधु याचना न करे। जो उपाश्रय स्तम्भ आदि पर अवस्थित और इसी प्रकार के अन्य किसी विषम स्थान में हो तो उसकी आज्ञा भी नहीं लेनी चाहिये। जो उपाश्रय गृहस्थों से युक्त हो, अग्नि और जल से युक्त हो, एवं स्त्री, बालक और पशुओं से युक्त हो तथा उनके योग्य खान-पान की सामग्री से भरा हुआ हो तो बुद्धिमान साधु को ऐसे उपाश्रय में भी नहीं ठहरना चाहिए जिस उपाश्रय में जाने के मार्ग में स्त्रियों बैठी रहती हों या वे नाना प्रकार की शारीरिक चेष्टायें करती हों, ऐसे उपाश्रय में भी बुद्धिमान साधु ठहरने की आज्ञा न मांगे। जिस उपाश्रय में गृहपति यावत् उनकी दासियों परस्पर आक्रोश करती हों, या तैलादि की मालिश करती हों, स्नानादि करती हों या नग्न होकर बैठती हो इस प्रकार के उपाश्रय की भी साधु याचना न करे। और जो उपाश्रय चित्रों से आकीर्ण हो, वहां भी साधु न ठहरें... यह साधु और साध्वी का समग्र आचार है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

IV टीका-अनुवाद :

अवग्रहके विषयमें कि- जो अवग्रह सचित पृथ्वीकाय संबंधित हो, उस वसति के अवग्रहका ग्रहण न करें, तथा अंतरिक्ष याने आकाशमें रहे हुए उपाश्रय के अवग्रहका भी ग्रहण न करें इत्यादि... यहां यह सभी बातें इस उद्देशककी समाप्ति पर्यंत शय्या की तरह जानीयेगा... किंतु अवग्रहके नामसे कहीयेगा...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधु को कैसे मकान में ठहरना चाहिए इसका उल्लेख करते हुए शय्या अध्ययन में वर्णित बातों को दोहराया है। जैसे- जो उपाश्रय अस्थिर दीवार एवं स्तम्भ पर बना हुआ हो, विषम स्थान पर हो, स्त्रियों से व्याप्त हो, जिसके आने-जाने के मार्ग में स्त्रियां बैठी हों, परस्पर तैल की मालिश कर रही हों, या अस्त-व्यस्त ढङ्ग से बैठी हों, तो ऐसे स्थान में साधु को नहीं ठहरना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि साधु को ऐसे स्थान में ठहरने का संकल्प नहीं करना चाहिए, कि- जहां जीवों की हिंसा एवं संयम की विराधना होती हो, तथैव मन में विकार उत्पन्न होता हो और स्वाध्याय एवं ध्यान में विघ्न पड़ता हो।

यह साधु का उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु, यदि किसी गांव में संयम साधना के अनुकूल

मकान नहीं मिल रहा हो तब साधु एक-दो दिन के लिए परिवार वाले मकान आदि में भी ठहर सकता है। यह अपवाद मार्ग है और ऐसी स्थिति में साधु को एक-दो दिन से अधिक ऐसे मकान में ठहरना नहीं कल्पता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'कुलियंसि एवं थूणंसि' का अर्थ कोष में कुड़य दीवार एवं स्तम्भ किया है। और 'धम्माणुओगचिंताए' का अर्थ है— साधु को उसी स्थान की याचना करनी चाहिए जिसमें धर्मानुयोग की भली-भांति आराधना हो सके अर्थात् जहां संयम में बिल्कुल दोष न लगे ऐसे स्थान में ठहरना चाहिए।

॥ प्रथमचूलिकायां सप्तम-अवग्रहैषणाध्ययने प्रथमः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐 卐 卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनस्वेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिवेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. १६. 卐 विक्रम सं. २०५८.

卐 卐 卐

आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - १

अध्ययन - ७ उद्देशक - २

卐 अवग्रह प्रतिमा 卐

पहला उद्देशक कहा, अब दुसरे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं, यहां परस्पर यह संबंध है कि- प्रथम उद्देशक में अवग्रह का स्वरूप कहा, अब इस दुसरे उद्देशक में अवग्रह संबंधित शेष विधि कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४९३ ॥

से आगंतारेसु वा, अणुवीड उग्गहं जाइज्जा, जे तत्थ ईसरे० ते उग्गहं अणुणविज्जा कामं खलु आउसो ! अहालंदं अहापरिण्णायं वसामो जाव आउसो ! जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मिआए ताव उग्गहं उग्गिण्हिस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो० ।

से किं पुण तत्थ उग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ समणाय वा माहणाय वा० छत्तए जाव धम्म-च्छेदणए वा तं नो अंतोहितो बाहिं नीणिज्जा बहियाओ वा नो अंतो पविसिज्जा, सुत्तं वा नो पडिबोहिज्जा, नो तेसिं किञ्चिदि अप्पत्तियं पडिणीयं करिज्जा ॥ ४९३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः आगन्तागारेषु वा, अनुविचिन्त्य अवग्रहं याचेत्, यः तत्र ईधरः, तस्य अवग्रहं अनुज्ञापयेत्- कामं खलु आयुष्मन् ! यथालन्दं यथापरिज्ञातं वसामः यावत् हे आयुष्मन् ! यावत् आयुष्मतः अवग्रहे यावत् साधर्मिकाः तावत् अवग्रहं अवग्रहीष्यामः, तेन परं विहरिष्यामः ।

सः किं पुनः तत्र अवग्रहे एव अवगृहीते, यः तत्र श्रमणानां ब्राह्मणानां० छत्रकः वा यावत् धर्मच्छेदनकः वा, तं न अन्तर्गतात् बहिः नयेत्, बहिर्गतात् वा न अन्तः प्रविश्येत्, सुप्तं वा न प्रतिबोधयेत्, न तेषां किञ्चिदपि अप्रीतिकं प्रत्यनीकतां कुर्यात् ॥ ४९३ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु धर्मशाला आदि स्थानों में जाकर सोच-विचार कर अवग्रह की याचना करे ।

उक्त स्थानों के स्वामी या अधिष्ठाता से याचना करते हुए कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ ! हम यहां पर ठहरने की आज्ञा चाहते हैं आप हमें जितने समय तक और जितने क्षेत्र में ठहरने की आज्ञा देंगे उतने समय और उतने ही क्षेत्र में ठहरेंगे। हमारे जितने भी साधर्मि साधु यहां आएंगे वे भी इसी नियम का अनुसरण करेंगे। तुम्हारे द्वारा नियत की गई अवधि के बाद विहार कर जाएंगे। उक्त स्थान में ठहरने के लिए गृहस्थ की आज्ञा प्राप्त हो जाने पर साधु उस स्थान में प्रवेश करते समय यह ध्यान रखे कि यदि उन स्थानों में शाक्यादि श्रमण तथा ब्राह्मणों के छत्र यावत् चमछेदक आदि उपकरण पड़े हों तो वह उनको भीतर से बाहर न निकाले और बाहर से भीतर न रखे तथा सोये हुए किसी भी श्रमण आदि को जागृत न करे और उनके साथ किंचिन्मात्र भी अप्रीतिजनक कार्य न करे कि- जिस से उनके मन को आघात पहुंचे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आगन्तागारादि याने धर्मशाला आदि स्थान में कि- जहां अन्य ब्राह्मण-श्रमण आदि भी निवास करते हो, ऐसे सर्व सामान्य धर्मशालादि में कोई विशेष कारण होने पर यदि वहां कुछ समय रहने की आवश्यकता हो तब उस स्थान के स्वामी या रक्षक से पूर्व कहीं गइ विधि से अवग्रह की याचना करें... और वहां अवग्रह ग्रहण करने के बाद उस अवग्रह में यदि श्रमण या ब्राह्मण आदि के छत्र आदि उपकरण हो, एवं यदि वे उपकरण अंदर हो तो उन्हें बाहर न निकालें, और यदि बाहर हो तो उनको अंदर न रखें... तथा सोये हुए श्रमण-ब्राह्मण आदि को जगावें भी नहि... और उनको मानसिक अप्रीति हो, मन:दु:ख हो ऐसा कुछ भी न करें... यावत् उन श्रमण-ब्राह्मणों से प्रतिकूलता का त्याग करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि गृहस्थ की आज्ञा प्राप्त करके उसके मकान में ठहरते समय साधु को कोई ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए जिससे उस गृहस्थ या उसके मकान में ठहरे हुए अन्य शाक्यादि मत के भिक्षुओं के मन को किसी तरह का आघात पहुंचे या उनके मन में साधु के प्रति दुर्भाव एवं अप्रीति पैदा हो। यदि उस मकान में पहले कोई श्रमण-ब्राह्मण ठहरे हुए हों और वहां उनके छत्र, चामर आदि उपकरण पड़े हों तो साधु उन उपकरणों को बाहर से भीतर या भीतर से बाहर न रखे और यदि वे सोये हुए हों तो साधु उन्हें जागृत न करे और उनके साथ किसी तरह का असभ्य एवं अशिष्ट व्यवहार न करे। क्योंकि साधु का जीवन स्व और पर के कल्याण के लिए है। वह अपने हित के साथ-साथ अन्य प्राणियों को भी सन्मार्ग दिखाकर उनकी आत्मा का हित करने का प्रयत्न करता है। अतः उसे प्रत्येक मानव एवं प्राणी के साथ बर्ताव करते समय अपनी साधुता को नहीं छोड़ना

चाहिए। उसकी साधुता प्रत्येक मानव एवं जीवजंतु के साथ- चाहे वह किसी भी देश, जाति एवं धर्म का क्यों न हो, आत्मीयता का, शिष्टता का एवं मधुरता का व्यवहार करने में हैं। इस लिए साधु को वसति-स्थान में ठहरते समय इस बात की ओर विशेष लक्ष्य रखना चाहिए कि अपने जीवन-व्यवहार से मकान मालिक एवं वहां स्थित या अन्य आने-जाने वाले श्रमण-ब्राह्मणादि व्यक्तियों के मन को किसी तरह का संयत्तेश न पहुंचे।

यदि आम्र के बगीचे में ठहरे हुए साधु को आम्र आदि ग्रहण करना हो तो वह उन्हें कैसे ग्रहण करे, इसका उल्लेख सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ४९४ ॥

से भिक्खू० अभिकंखिज्जा अंबवणं उवागच्छित्तए जे तत्थ ईसरे, उग्गहं अणुजाणाविज्जा- कामं खतु जाव० विहरिस्सामो, से किं पुण० एवोग्गहियंसि अह भिक्खू इच्छिज्जा अंबं भुत्तए वा, से जं पुण अंबं जाणिज्जा सअंडं ससंताणं तह० अंबं अफा० नो पडिगिण्हिज्जा०।

से भि० से जं० अप्पंडं अप्पसंताणं अतिरिच्छिण्णं अव्वोच्छिण्णं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा। से भि० से जं० अप्पंडं वा जाव असंताणं तिरिच्छिण्णं बुच्छिण्णं फा० पडि०। से भि० अंबभित्तं वा अंबपेसियं वा अंबचोयं वा अंब-सालं वा अंबडालं वा भुत्तए वा पायए वा, से जं० अंबभित्तं वा, सअंडं अफा० नो पडिगिण्हिज्जा।

से भिक्खू वा, से जं० अंबं वा अंबभित्तं वा, अप्पंडं० अतिरिच्छिण्णं, अफा० नो पडिगिण्हिज्जा। से जं० अंबडालं वा अप्पंडं, तिरिच्छिण्णं बुच्छिण्णं फासुयं पडिगिण्हिज्जा।

से भि० अभिकंखिज्जा उच्चुवणं उवागच्छित्तए, जे तत्थ ईसरे जाव उग्गहंसि। अह भिक्खू इच्छिज्जा उच्चुं भुत्तए वा पायए वा०, से जं० उच्चुं जाणिज्जा सअंडं जाव नो पडि० अतिरिच्छिण्णं, तहेव तिरिच्छिण्णे वि तहेव०। से भि० अभिकंखि० अंतरुच्चुयं वा जाव डालं वा सअंडं० नो पडि०।

से भि० से जं० अंतरुच्चुयं वा० अप्पंडं वा० जाव पडि० अतिरिच्छिण्णं तहेव। से भि० ल्हसणवणं उवागच्छित्तए, तहेव तिण्णि वि आलावगा, नवरं ल्हसुणं। से भि० ल्हसुणं वा ल्हसुणकंदं वा ल्हसुणचोयं वा ल्हसुणनालं वा भुत्तए वा, से जं० लसुणं वा जाव लसुणबीयं वा सअंडं जाव नो पडि०। एवं अतिरिच्छिण्णे वि, तिरिच्छिण्णे जाव पडि० ॥ ४९४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः० अभिकाङ्क्षेत आम्रवनं उपागन्तुं, यः तत्र ईश्वरः, अवग्रहं अनुज्ञापयेत्- कामं खलु यावत् विहरिष्यामः। से किं पुनः० एव अवगृहीते ? अथ भिक्षुः इच्छेत् आम्रं भोयतुं वा पातुं वा, सः यत् पुनः आम्रं जानीयात् स-अण्डं वा जाव ससन्तानकं तथा० आम्रं अप्रासुकं न प्रतिगृहीयात्।

सः भिक्षुः० सः यत्० अल्पाण्डं अल्पसन्तानकं अतिर्यग्-छिन्नं अत्युच्छिन्नं अप्रासुकं यावत् न प्रतिगृहीयात्। सः भिक्षुः० सः यत्० अल्पाण्डं वा यावत् असन्तानकं तिर्यग्-छिन्नं व्युच्छिन्नं प्रासुकं प्रतिगृहीयात्। सः भिक्षुः० आम्राद्धं वा आम्रफालीं वा आम्रछल्लीं वा आम्ररसं वा आम्रश्लक्ष्णखण्डानि वा भोयतुं वा पातुं वा, सः यत्० आम्राद्धं वा स-अण्डं (साण्डं) अप्रासुकं न प्रति०।

सः भिक्षुः वा, सः यत्० आम्रं वा आम्राद्धं वा अल्पाण्डं अतिर्यग्-छिन्नं, अप्रासुकं न प्रति०। सः यत्० आम्रश्लक्ष्णखण्डानि वा अल्पाण्डं, तिर्यग्छिन्नं व्युच्छिन्नं प्रासुकं प्रतिगृहीयात्।

सः भिक्षुः० अभिकाङ्क्षेत इक्षुवनं उपागन्तुं, यः तत्र ईश्वरः यावत् अवग्रहे। अथ भिक्षुः इच्छेत् इक्षुं भोयतुं वा पातुं वा०, सः यत्० इक्षुं जानीयात् स-अण्डं यावत् न प्रतिगृहीयात्। अतिर्यग्-छिन्नं तथैव, तिर्यग्-छिन्नेऽपि तथैव,। सः भिक्षुः० अभिकाङ्क्षेत इक्षुपर्वमध्यं वा इक्षुगण्डिकां वा इक्षुछल्लीं वा इक्षुरसं वा इक्षुश्लक्ष्णखण्डानि वा भोयतुं वा पातुं वा० सः यत् पुनः० इक्षुपर्वमध्यं वा यावत् श्लक्ष्णखण्डानि वा स-अण्डं० न प्रतिगृहीयात्।

सः भिक्षुः० सः यत्० इक्षुपर्वमध्यं वा० अल्पाण्डं वा० यावत् प्रतिगृहीयात्० अतिर्यक्छिन्नं तथैव।

सः भिक्षुः० लशुनवनं उपागन्तुं, तथैव त्रयः अपि आलापकाः, नवरं लशुनम्।

सः भिक्षुः० लशुनं वा लशुनकन्दं वा लशुनछल्लीं वा लशुननालकं वा भोयतुं वा पातुं वा, सः यत्० लशुनं वा यावत् लशुनबीजं वा स-अण्डं यावत् न प्रतिगृहीयात्। एवं अतिर्यग्छिन्नेऽपि, तिर्यग्-छिन्ने यावत् प्रतिगृहीयात् ॥ ४९४ ॥

III सूत्रार्थ :

यदि कोई संयम निष्ठ साधु या साध्वी आम्र के वन में ठहरना चाहे तो वह उस बगीचे के स्वामी या अधिष्ठाता से उसके लिए याचना करते हुए कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ ! मैं यहां

पर ठहरना चाहता हूँ। जितने समय के लिए आप आज्ञा देंगे उतने समय ठहर कर बाद में विहार कर दूंगा। इस तरह बागवान की आज्ञा प्राप्त होने पर वह वहाँ ठहरे। यदि वहाँ स्थित साधु को आम्रफल खाने की इच्छा हो कैसे आम्रफल को ग्रहण करना चाहिए? इसके सम्बन्ध में बताया गया है कि वह आम्रफल अंडादि से युक्त हो तो वह साधु उसे ग्रहण न करे। अंडादि से रहित होने—परन्तु यदि उसका तिरछा छेदन न हुआ हो तथा उसके अनेक खण्ड भी न किए गए हों तो भी उसे साधु स्वीकार न करे। परन्तु यदि वह आम्रफल अंडादि से रहित हो, तिरछा छेदन किया हुआ हो और खंड २ किया हुआ हो तो अचित्त एवं प्रासुक होने से साधु उसे ग्रहण कर सकता है। परन्तु आम्र का आधा भाग, उसकी फाड़ी, उसकी छाल और उसका रस एवं उसके किए गए सूक्ष्म खंड यदि अंडादि से युक्त हों या अंडादि से रहित होने पर भी तिरछे कटे हुए न हों और खंड २ न किए गए हों तो साधु उसे भी ग्रहण न करे। यदि उनका तिरछा छेदन किया गया है, और अनेक खंड किए गए हैं तब उसे अचित्त और प्रासुक जानकर साधु ग्रहण कर ले।

यदि कोई साधु या साध्वी इक्षु वन में ठहरना चाहे और वन पालक की आज्ञा लेकर वहाँ ठहरने पर यदि वह इक्षु (गन्ना) खाना चाहे तो पहले यह देख ले कि जो इक्षु अंडादि से युक्त है और तिरछा कटा हुआ नहीं है तो वह उसे ग्रहण करना न चाहे। यदि अंडादि से रहित और तिरछा छेदन किया हुआ हो तब उन्हे अचित्त और प्रासुक जानकर प्राप्त होने पर ग्रहण कर ले। इसका शेष वर्णन आम्र के समान ही जानना चाहिए। यदि साधु इक्षु के पर्व का मध्य भाग, इक्षुगंडिका, इक्षुत्वचा-छाल, इक्षुरस और इक्षु के सूक्ष्म खंड आदि को खाना-पीना चाहे तो वह अंडादि से युक्त या अंडादि से रहित होने पर भी तिरछा कटा हुआ न हो तथा वह खंड-खंड भी न किया गया हो तो साधु उसे ग्रहण न करे। इसी प्रकार लशुन के सम्बन्ध में भी तीनों आलापक समझने चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. कभी आम्र (आम) के बगीचे में उसके स्वामी या रक्षक आदि के पास अवग्रह की याचना करके ठहरे, तब वहाँ यदि होने पर कारण (प्रयोजन) उपस्थित आम-फल खाने-पीने की इच्छा करे... किंतु यदि वे आम्रफल अंडे (जीव-जंतु) सहित या मकड़ी के जाले सहित हो तो अप्रासुक (अकल्पनीय) जानकर उन आम्रफलों को ग्रहण न करें...

किंतु यदि वह साधु देखे कि- यह आम्रफल अंडे रहित हैं या मकड़ी के जाले से रहित है, परंतु तिरछे छेदे (काटे) हुए नहीं है, तथा अखंडित हैं अतः अप्रासुक हैं ऐसा जानने पर उन आम्रफलों को ग्रहण न करें... और यदि वह साधु देखे कि- यह आम्रफल अंडे रहित हैं

यावत् मकड़ी के जाले से रहित है और तिरछे छेदे हुए हैं तथा बीज-गोटली नीकाली हुए है, अतः प्रासुक-कल्पनीय हैं इस स्थिति में यदि कारण उपस्थित हो तो उन आमफलों को प्राप्त होने पर ग्रहण करें... इसी प्रकार आमफल के अवयव संबंधित तीन सूत्रका भावार्थ जानीयेगा... किंतु- आमभित्तयं याने आम का आधा टुकड़ा, आमपेशी याने आम के छोटे टुकड़े, आमचोयग याने आम की छाल, आमसालग याने आम का रस, और आमडालग याने आम के छोटे छोटे (बहोत हि छोटे) टुकड़े इत्यादि... इसी प्रकार इक्षु याने सेलडी (गन्ने) के भी तीनों सूत्र के भावार्थ जानीयेगा... किंतु अंतरुच्छुर्यं का अर्थ है सेलडी के पर्वमध्य भाग...

इसी प्रकार लशुन के भी तीनों सूत्र के भावार्थ को जानीयेगा...

आमफल आदि सूत्र के विशेष भावार्थ के लिये नीशीथ सूत्र के सोलहवा (१६) उद्देशक का भावार्थ जानना आवश्यक है...

अब अवग्रह के विशेष अभिग्रह कहतें हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में आम फल, इक्षु खण्ड आदि के ग्रहण एवं त्याग करने के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। आम आदि पदार्थ किस रूप में साधु के लिए ग्राह्य एवं अग्राह्य हैं, इसका नयसापेक्ष वर्णन किया गया है। और इसका सम्बन्ध केवल पक्व आम आदि से है, न कि अर्थ पक्व या अपक्व फलों से। पक्व आम आदि फल भी यदि अण्डों आदि से युक्त हों, तिरछे एवं खण्ड-खण्ड में कटे हुए न हों तो साधु उन्हें ग्रहण न करे और यदि वे अण्डे आदि से रहित हों, तिरछे एवं खण्ड-खण्ड में कटे हुए हों तो साधु उन्हें ग्रहण कर सकता है। उस पक्व आम-फल के तिर्यक् एवं खण्ड-खण्ड में कटे हुए होने का उल्लेख उसे अचित्त एवं प्रासुक सिद्धि करने के लिए है। निशीथ सूत्र में यह भी स्पष्ट किया गया है कि यदि साधु सचित्त आम एवं सचित्त इक्षु ग्रहण करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। इससे स्पष्ट होता है कि साधु अचित्त एवं प्रासुक आम आदि ग्रहण कर सकता है। यदि वह पक्व आम-फल जीव-जन्तु से रहित हो और तिर्यक् कटा हुआ हो तो साधु के लिए अग्राह्य नहीं है...

अब अवग्रह के अभिग्रह के सम्बन्ध में सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहतें हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ४९५ ॥

से भियस्व० आगंतारेसु वा, जावोग्गहियंसि जे तत्थ ग्राहावईण वा ग्राहा० पुत्ताण वा इच्चेताइं आयत्तणाइं उवाइयकम्म अह भियस्व जाणिज्जा, इमाहिं सत्तहिं

पडिमाहिं उग्गहं उग्गिण्हित्तए, तत्थ खलु इमा पडिमा ।

से आगंतारेसु वा, अणुवीइ उग्गहं जाइज्जा, जाव विहरिस्सामो, पडिमा पडिमा ।

अहावरा० जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं उग्गिण्हिस्सामि, अण्णेसिं भिक्खूणं उग्गहे उग्गहिए उवल्लिस्सामि, दुच्चा पडिमा ।

अहावरा० जस्स णं भि० अहं च उग्गिण्हिस्सामि, अण्णेसिं च उग्गहे उग्गहिए नो उवल्लिस्सामि, तच्चा पडिमा ।

अहावरा० जस्स णं भि० अहं च० नो उग्गहं उग्गिण्हिस्सामि, अण्णेसिं च उग्गहे उग्गहिए उवल्लिस्सामि, चउत्था पडिमा ।

अहावरा० जस्स णं अहं च खलु अप्पणो अट्ठाए उग्गहं च उग्गिण्हिस्सामि, नो दुण्हं, नो तिण्हं, नो चउण्हं नो पंचण्हं, पंचमा पडिमा ।

अहावरा० से भिक्खू० जस्स एव उग्गहे उवल्लिइज्जा से तत्थ अहासमण्णाए इक्कडे वा जाव पलाले, तस्स लाभे संवसिज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुओ वा नेसज्जिओ वा विहरिज्जा, छट्ठा पडिमा ।

अहावरा० सो जे भिक्खू० अहासंधमेव उग्गहं जाइज्जा, तं जहा- पुढविसिलं वा कडुसिलं वा, अहासंधमेव, तस्स लाभे संते० तस्स अलाभे उक्कुडुओ वा नेसज्जिओ वा विहरिज्जा, सत्तमा पडिमा ।

इच्चेयासिं सत्तण्हं पडिमाणं अण्णयरं जहा पिंडेसणाए ॥ ४९५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः० आगन्तागारेषु वा यावत् अवगृहीते ये तत्र गृहस्थानां वा गृहस्थपुत्राणां वा इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य अथ भिक्षुः जानीयात्, आभिः सप्तभिः प्रतिमाभिः अवग्रहं अवग्रहीतुं, तत्र खलु इयं प्रथमा प्रतिमा ।

सः आगन्तागारेषु वा, अनुविचिन्त्य अवग्रहं याचेत्, यावत् विहरिष्यामः प्रथमा प्रतिमा । अथाऽपरा० यस्य भिक्षोः एवं भवति- अहं च खलु अन्येषां भिक्षूणां अर्थाय अवग्रहं अवग्रहीष्ये अन्येषां भिक्षूणां अवग्रहे अवगृहीते सति उपालयिष्ये, द्वितीया प्रतिमा ।

अथाऽपरा० यस्य भिक्षोः० अहं च० अवगृहीष्यामि, अन्येषां च अवग्रहे अवगृहीते

सति न उपालयिष्ये, तृतीया प्रतिमा ।

अथापरा० यस्य भिक्षोः० अहं च० अवग्रहं अवगृहीष्यामि, अन्येषां च अवग्रहे अवगृहीते सति उपालयिष्ये, चतुर्थी प्रतिमा ।

अथापरा० यस्य० अहं च खलु आत्मनः अर्थाय अवग्रहं च अवगृहीष्यामि० नो द्वयोः, न त्रयाणां, न चतुर्णां न पञ्चानां, पञ्चमी प्रतिमा ।

अथाऽपरा० सः भिक्षुः० यस्य एष अवग्रहे उपालीनीयात्, सः तत्र यथासमन्वागते इयकडः उत्कटः वा पलालः वा, तस्य लाभे संवसेत्, तस्य अलाभे उत्कुटुकः वा (नैषधिकः) निषण्णः वा विहरेत्, षष्ठी प्रतिमा ।

अथाऽपरा० सप्तमी० सः भिक्षुः० यथासंस्तुतमेव अवग्रहं याचेत, तद्-यथा-पृथिवीशिलां वा काष्ठशिलां वा यथासंस्तुतामेव, तस्याः लाभे सति० तस्याः अलाभे सति उत्कुटुकः वा निषण्णः वा विहरेत्, सप्तमी प्रतिमा ।

इत्येतासां सप्तानां प्रतिमानां अन्यतरां यथा पिण्डैषणायाम् ॥ ४९५ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी धर्मशाला आदि में गृहस्थ और गृहस्थों के पुत्र आदि से प्राप्त निर्दोष स्थान में भी वक्ष्यमाण सात प्रतिमाओं के द्वारा अवग्रह की याचना करके वहां पर ठहरे।

१. धर्मशाला आदि स्थानों की परिस्थिति को देख कर यावन्मात्र काल के लिए वहां के स्वामी की आज्ञा हो तावन्मात्र काल वहां ठहरूंगा, यह पहली प्रतिमा है।
२. मैं अन्य भिक्षुओं के लिए उपाश्रय की आज्ञा मागूंगा और उनके लिए याचना किए गए उपाश्रय में ठहरूंगा यह दूसरी प्रतिमा है।
३. कोई साधु इस प्रकार से अभिग्रह करता है कि मैं अन्य भिक्षुओं के लिए तो अवग्रह की याचना करूंगा, परन्तु उनके याचना किए गए स्थानों में नहीं ठहरूंगा। यह तीसरी प्रतिमा का स्वरूप है।
४. कोई साधु इस प्रकार से अभिग्रह करता है— मैं अन्य भिक्षुओं के लिए अवग्रह की याचना कहीं करूंगा, परन्तु उनके याचना किए हुए स्थानों में ठहरूंगा। यह चौथी प्रतिमा है।

५. कोई साधु यह अभिग्रह धारण करता है कि मैं केवल अपने लिए ही अवग्रह की याचना करूंगा, किन्तु अन्य दो, तीन, चार और पांच साधुओं के लिए याचना नहीं करूंगा। यह पांचवीं प्रतिमा है।
६. कोई साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं जिस स्थान की याचना करूंगा उस स्थान पर यदि तृण विशेष-संस्कारक आदि मिल जायेंगे तो उन पर आसन करूंगा, अन्यथा उत्कटुक आसन आदि के द्वारा रात्रि व्यतीत करूंगा यह छठी प्रतिमा है।
७. जिस स्थान की आज्ञा ली हो यदि उसी स्थान पर पृथ्वी शिला, काष्ठ शिला तथा पलाल आदि बिछा हुआ हो तब वहां आसन करूंगा, अन्यथा उत्कटुक आदि आसन द्वारा रात्रि व्यतीत करूंगा, यह सातवीं प्रतिमा है।

इन सात प्रतिमाओं में से यदि कोई साधु कोई एक स्वीकार करे तब वह साधु अन्य प्रतिमाधारी साधुओं की निन्दा न करे। अभिमान एवं गर्व को छोड़कर अन्य साधुओं को भी समभाव से देखे। शेष वर्णनपिडिषणा अध्ययनवत् जानना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. आगंतागार या नै धर्मशाला आदि में अवग्रह ग्रहण करने के बाद वहां जो घर के स्वामी या उनके पुत्र आदि के घर हो, और अधिक अवग्रह की आवश्यकता हो, तो साधु उनसे अन्य अवग्रह की याचना करे... साधु सात भिक्षु-अवग्रह-प्रतिमाओं के द्वारा अवग्रह की याचना करे... उनमें प्रथमा प्रतिमा इस प्रकार है...

१. वह साधु पहले से ही सोच-विचारकर निश्चित करे कि- मुझे इस प्रकार का उपाश्रय-वसति धर्मशालादि में अवग्रह प्राप्त होगा तो ग्रहण करूंगा, किन्तु अन्य प्रकार की वसति को ग्रहण नहि करूंगा... यह प्रथम अवग्रह प्रतिमा हुई...
२. अन्य साधुओं के लिये अवग्रह की याचना करूंगा, और उन साधुओं के लिये ग्रहण कीये हुए अवग्रह में ही निवास करूंगा... यह दुसरी अवग्रह प्रतिमा...

यहां पहली अवग्रह-प्रतिमा सामान्य से कही गई है, जब कि- यह दुसरी अवग्रह प्रतिमा गच्छ में रहे हुए सांभोगिक और असांभोगिक उद्युवत विहारी साधुओं के लिये कही गई है, क्योंकि- वे एक-दुसरो के लिये अवग्रह की याचना करते हैं...

3. अब तीसरी अवग्रह-प्रतिमा इस प्रकार है कि- यथालंरिक-साधु जो होते हैं वे अन्य के लिये अवग्रहकी याचना करते हैं, किन्तु अन्य साधुओं ने ग्रहण कीये हुए अवग्रह में वे नहि निवास करते... क्योंकि- वे यथालंरिक साधु आचार्य से सूत्र एवं अर्थ की

- इच्छा रखते हैं, अतः आचार्यजी के लिये अवग्रह की याचना करते हैं...
४. अब चौथी अवग्रह-प्रतिमा- जो साधु गच्छमें रहकर उद्यत विहारी हैं वे जिनकल्प आदि के लिये परिकर्म करते हैं वे अन्य साधुओं के लिये अवग्रह की याचना नहि करते किंतु अन्य साधुओं ने ग्रहण कीये हुए अवग्रह-वसति में उनके साथ निवास करते हैं...
५. अब पांचवी अवग्रह-प्रतिमा जिनकल्पवाले साधुओं के लिये कही है, वह इस प्रकार- वे जिनकल्पवाले साधु अपने खुद के लिये अवग्रह की याचना करते हैं किंतु अन्य दो, तीन, चार, पांच साधुओं के लिये नहीं...
६. अब छठी अवग्रह-प्रतिमा जिनकल्पवाले आदि साधुओं के लिये होती है... वह इस प्रकार जिनकल्पवाले साधु जिस गृहस्थ से अवग्रह ग्रहण करते हैं उनके पास से हि सादडी, संधारा आदि ग्रहण करते हैं... यदि उसी गृहस्थ के पास से सादडी-संधारा आदि प्राप्त न हो, तब उत्कट आसन से हि बैठे या खड़े खड़े हि रात्री बीतावे...
७. अब सातवी अवग्रह प्रतिमा... यह पूर्व की तरह है, किंतु जैसे भी हो जैसे हि संधारा-शिला- पाट आदि ग्रहण करते हैं... अन्य प्रकार के नहीं... शेष आत्मोत्कर्ष आदि का त्याग इत्यादि सभी बात पिंडेषणा की तरह जानीयेगा...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में अवग्रह से सम्बद्ध सात प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है। पहली प्रतिमा में बताया गया है कि साधु सूत्र में वर्णित विधि के अनुसार मकान की याचना करे और वह गृहस्थ जितने काल तक जितने क्षेत्र में ठहरने की आज्ञा दे तब तक उतने ही क्षेत्र में ठहरे। दूसरी प्रतिमा यह है कि मैं अन्य साधुओं के लिए मकान की याचना करूंगा तथा उनके लिये याचना किए गए मकान में ठहरूंगा। तीसरी प्रतिमा में वह यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं अन्य साधु के लिए मकान की याचना करूंगा, परन्तु अन्य के याचना किये हुए अवग्रह में नहि रहूंगा... पांचवी प्रतिमा में वह केवल अपने लिए ही मकान की याचना करता है, अन्य के लिए नहीं। छठी प्रतिमा में वह यह प्रतिज्ञा करता है कि जिसके मकान में ठहरूंगा उससे हि घास आदि संस्तारक ग्रहण करूंगा, अन्यथा उकड़ू आदि आसन करके रात व्यतीत करूंगा और सातवी प्रतिमा में वह साधु उन्हीं तख्त; शिलापट एवं घास आदि को काम में लेता है, जो पहले से उस मकान में बिछे हुए हों।

इसमें प्रथम प्रतिमा सामान्य साधुओं के लिए हैं। दूसरी प्रतिमा का अधिकारी मुनि

गच्छ में रहने वाले साम्भोगिक एवं उत्कट संयम निष्ठ असाम्भोगिक साधुओं के साथ प्रेम भाव रखने वाला होता है। तीसरी प्रतिमा उन साधुओं के लिए है जो आचार्य आदि के पास रहकर अध्ययन करना चाहते हैं। चौथी प्रतिमा उनके लिए है, जो गच्छ में रहते हुए जिनकल्पी बनने का अभ्यास कर रहे हैं। पांचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमा केवल जिनकल्पी मुनि से सम्बन्ध हैं। ये भेद वृत्तिकार ने किए हैं। मूलपाठ में किसी कल्प विशेष का स्पष्ट संकेत नहीं किया गया है। वहां तो इतना ही उल्लेख किया गया है कि मुनि इन सात प्रतिमाओं को ग्रहण करते हैं, सामान्य रूप से प्रत्येक साधु अपनी शक्ति सामर्थ्य एवं मर्यादानुसार अभिग्रह ग्रहण कर सकता है। सूत्रकार का सारांश उल्लेख यह है कि स्थान सम्बन्धी समस्त दोषों का त्याग करके साधु को निर्दोष अवग्रह की याचना करनी चाहिए।

पिण्डैषणा आदि अध्ययनों की तरह इसमें भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अभिग्रह ग्रहण करने वाले मुनि को अन्य साधुओं को घृणा एवं तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। परन्तु सब का समान रूप से आदर करते हुए यह कहना चाहिए कि भगवान की आज्ञा के अनुरूप आचरण करने वाले सभी साधु मोक्ष मार्ग के पथिक हैं।

अब अवग्रह के भेदों का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ४९६ ॥

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमयस्त्रायं- इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं पंचविहे उग्गहे पण्णत्ते, तं जहा० देविंद-उग्गहे १, रायउग्गहे २, गाहावड उग्गहे ३, सागारिय उग्गहे ४, साहम्मिय० ५, एवं खलु तस्स भियखुस्स भियखुणीए वा सामग्गियं ॥ ४९६ ॥

II संस्कृत-छाया :

श्रुतं मया आयुष्मता भगवता एवं आख्यातम्- इह खलु स्थविरैः भगवद्भिः पञ्चविधः अवग्रहः प्रज्ञाप्तः, तद्यथा- देवेन्द्र-अवग्रहः १, राज-अवग्रहः २, ग्रहपति-अवग्रहः ३, सागारिक-अवग्रहः ४, साधर्मिक-अवग्रहः ५, एवं खलु तस्य भिक्षोः भिक्षुण्याः वा सामग्र्यम् ॥ ४९६ ॥

III सूत्रार्थ :

हे आयुष्मन्-शिष्य ! मैंने भगवान से इस प्रकार सुना है कि इस जिन प्रवचन में पूज्य स्थविरों ने पांच प्रकार का अवग्रह प्रतिपादन किया है १. देवेन्द्र अवग्रह, २. राज अवग्रह, ३. गृहपति अवग्रह, ४. सागारिक अवग्रह और ५. साधर्मिक अवग्रह। इस प्रकार यह साधु

और साध्वी का समग्र-संपूर्ण पंचाचार है।

IV टीका-अनुवाद :

आयुष्मान् भगवान्ने जो कहा है वह मैंने (सुधर्मस्वामी ने) सुना है, वइ इस प्रकार-स्थविर साधु-भगवतोंने पांच प्रकारका अवग्रह कहा है... वह इस प्रकार- देवेन्द्रका अवग्रह, राजाका अवग्रह, गृहपतिक (गांवके मुखीका) अवग्रह, गृहस्थ (घरके मालिक) का अवग्रह और साधर्मिक-साधुओंका अवग्रह... इत्यादि... और यह हि उन साधु और साध्वीजीओंका सच्चा साधुपना (साधुत्व) है इत्यादि...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में पांच प्रकार के अवग्रह का वर्णन किया गया है— १. देवेन्द्र अवग्रह, २. राज अवग्रह, ३. गृहपति अवग्रह, ४. सागारिक अवग्रह और ५. साधर्मिक अवग्रह। दक्षिण भरत क्षेत्र में विचरने वाले मुनियों को प्रथम देवलोक के सुधर्मेन्द्र की आज्ञा ग्रहण करना देवेन्द्र अवग्रह कहलाता है। इससे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि तिर्यक् लोक पर भी देवों का आधिपत्य है। आगम में बताया गया है कि साधु जङ्गल में या अन्य स्थान में जहां कोई व्यक्ति न हो वहां देवेन्द्र की आज्ञा लेकर तृण, काष्ठ आदि ग्रहण कर सकता है। आज भी साधु बाहर शौच के लिए बैठते समय या विहार के समय में रास्ते में किसी वृक्ष के नीचे विश्राम करना हो तो देवेन्द्र (शकेन्द्र) की आज्ञा लेकर बैठते हैं। इस तरह साधु कोई भी वस्तु बिना आज्ञा के ग्रहण नहीं करते।

भरत क्षेत्र के ६ खण्डों पर चक्रवर्ती का शासन होता है। अतः उसकी आज्ञा से उन देशों में विचरना यह राज अवग्रह कहलाता है... तथा उस युग में एक देश अनेक भागों में विभक्त था, जैसे आज भारत कई प्रान्तों में बँटा हुआ है, परन्तु, इस समय सब प्रान्त केन्द्र से सम्बन्ध होने से वह अखण्ड कहलाता है। परन्तु, उस समय उन दिभागों के स्वतन्त्र शासक थे, अतः उन विभिन्न देशों में विचरते समय उनकी आज्ञा लेना गृहपति अवग्रह कहलाता है।

जिस व्यक्ति के मकान में ठहरना हो उसकी आज्ञा ग्रहण करना सागारिक अवग्रह कहलाता है। अगार का अर्थ है— घर, अतः अपने घर या मकान पर आधिपत्य रखने वाले को सागारिक कहते हैं। और इसे शय्यातर अवग्रह भी कहते हैं। क्योंकि, साधु जिससे मकान की आज्ञा ग्रहण करता है, उसे आगमिक भाषा में शय्यातर भी कहते हैं।

जिस मकान में पहले से साधु ठहरे हों तब आगंतुक साधु उनकी आज्ञा से वहां ठहरता है, यह साधर्मिक अवग्रह है। अपने साम्भोगिक साधुओं की किसी वस्तु को ग्रहण करना हो तो भी साधु को उनकी आज्ञा लेकर ही ग्रहण करना चाहिए। इस तरह साधु को बिना

आज्ञा के सामान्य एवं विशेष कोई भी पदार्थ ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'थेरेहिं भगवंतेहि' पद में भगवान को ज्ञान स्वरूप मानकर उनके लिए स्थविर शब्द का प्रयोग किया गया है, जो सर्वथा उपयुक्त है। और 'सामगिगयं' शब्द से साधु के समग्र आचार की ओर निर्देश किया गया है।

'तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथमचूलिकायां सप्तम-अवग्रहप्रतिमाध्ययने द्वितीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

॥ समाप्तं सप्तममध्ययनम् ॥

आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे समाप्ता चेयं प्रथमा चूलिका ॥

卐卐卐

: प्रथमः :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाठ-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भद्रकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिधरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यात वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिधरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. ९६. 卐 विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - २

卐 सप्त-सप्तिका 卐

अध्ययन - १ सप्तैककः प्रथमः

卐 स्थानम् 卐

सातवां अध्ययन कहा, और इस सातवे अध्ययन के सूत्रार्थ कहने के साथ ही प्रथम चूडा = चूलिका समाप्त हुई... अब दूसरी चूडा-चूलिका कहते हैं... यहां परस्पर यह अभिसंबंध है... यहां पहली चूलिका में वसति का अवग्रह कहा, अब किस प्रकार के उपाश्रय-स्थान में कहां काउस्सग्न करना, कहां स्वाध्याय करना, एवं कहां स्थंडिल-मात्रा (वडीनीति-लघुनीति) आदि करना... इत्यादि बातें कहने के लिये यह दूसरी चूलिका कहते हैं... और इस दूसरी चूलिका में भी सात अध्ययन हैं, वह इस प्रकार...

इस द्वितीय चूलिका में उद्देशक रहित ही सात अध्ययन हैं और उनमें पहला स्थान नाम का अध्ययन है अतः इस संबंध से आये हुए इस प्रथम अध्ययन के उपक्रमादि चार अनुयोग द्वार होते हैं, उनमें उपक्रम के अंतर्गत अर्थाधिकार इस प्रकार है... कि- साधु किस प्रकार के स्थान-वसति में निवास करें... और नाम निष्पन्न निक्षेप में "स्थान" यह नाम है... और उसके नामादि भेद से चार निक्षेप होते हैं... १. नाम स्थान, २. स्थापना स्थान, ३. द्रव्य स्थान, एवं ४. भाव स्थान... इन चारों में से यहां द्रव्य स्थान का अधिकार है... अतः साधु उर्ध्व याने उंचे स्थान में निवास करें... और दूसरे अध्ययन का नाम निशीधिका है, उसके छह (६) निक्षेप होते हैं किंतु वे छह निक्षेप दूसरे अध्ययन के अवसर में ही कहेंगे... अभी शुद्ध उच्चारण के साथ सूत्र उच्चारण करने के लिये यह पहला सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४९७ ॥

से भिवस्त्रु वा० अभिकंस्त्रेज्जा ठाणं ठाइत्तए, से अणुपविसिज्जा गामं वा जाव रायहारिणं वा, से जं पुण ठाणं जाणिज्जा, सअंडं वा जाव० मयकडासंताणयं, तं तह० ठाणं अफासुयं अणेसणिज्जं० लाभे संते नो पडि०, एवं सिज्जागमेण नेयत्वं जाव उदयपसूयाइंति । इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइयकम्म, अह भिवस्त्रु इच्छिज्जा चउहिं पडिमाहिं ठाणं ठाइत्तए, तत्थिमा पढमा पडिमा अचित्तं खलु उवसज्जिज्जा अवलंबिज्जा काएण विप्परिकग्गाइं सवियारं ठाणं ठाइस्सामि, पढमा पडिमा ।

अहावरा दुच्चा पडिमा- अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा अवलंबिज्जा काएण विप्परिकग्गाइ नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि, दुच्चा पडिमा ।

अहावरा तच्चा पडिमा- अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा अवलंबिज्जा नो काएण विपरिकम्माइ, नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामिति, तच्चा पडिमा ।

अहावरा चउत्था पडिमा- अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा नो अवलंबिज्जा काएण नो परिकम्माइ, नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामिति वोसड्डकाए वोसड्डकेसमंसुलोमनहे संनिरुद्धं वा ठाणं ठाइस्सामिति चउत्था पडिमा ।

इच्चेयासिं चउण्हं पडिमाणं जाव पग्गहियतरायं विहरिज्जा, नो किंचिदि वइज्जा, एयं खलु तस्स जाव जइज्जासि तिबेमि ॥ ४९७ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० अभिकाङ्क्षेत स्थानं स्थातुम्, सः अनुप्रविशेत् ग्रामं वा यावत् राजधानीं वा, सः यत् पुनः स्थानं जानीयात्- स-अण्डं वा जाव मर्कटसन्तानकं वा, तत् तथा० स्थानं अप्राप्तुं अनेषणीयं० लाभे सति न प्रति० एवं शय्यागमेन नेतव्यम् यावत् उदकप्रसूतानि इति । इत्येतानि आयतनानि उपातिक्रम्य, अथ भिक्षुः इच्छेत् चतसृभिः प्रतिमाभिः स्थानं स्थातुम् । तत्र इयं प्रथमा प्रतिमा- अचित्तं खलु उपाश्रयिष्यामि अवलम्बयिष्यामि, कायेन विपरिक्रमिष्यामि सविचारं स्थानं स्थास्यामि इति प्रथमा प्रतिमा ।

अथाऽपरा द्वितीया प्रतिमा- अचित्तं खलु उपाश्रयिष्यामि अवलम्बयिष्ये कायेन विपरिक्रमिष्यामि, न सविचारं स्थानं स्थास्यामि इति द्वितीया प्रतिमा ।

अथाऽपरा तृतीया प्रतिमा- अचित्तं खलु उपाश्रयिष्यामि अवलम्बयिष्ये न कायेन विपरिक्रमिष्यामि न सविचारं स्थानं स्थास्यामि इति तृतीया प्रतिमा ।

अथाऽपरा चतुर्थी प्रतिमा- अचित्तं खलु उपाश्रयिष्यामि न अवलम्बयिष्ये कायेन न परिक्रमिष्यामि, न सविचारं स्थानं स्थास्यामि इति व्युत्सृष्टकायः व्युत्सृष्टकेशश्मश्रुलोमनखः सन्निरुद्धं वा स्थानं स्थास्यामि इति चतुर्थी प्रतिमा ।

इत्येतासां चतसृणां प्रतिमानां यावत् प्रगृहीताऽन्यतरां विहरेत्, न किञ्चिदपि वदेत्, एतत् खलु तस्य० यावत् यतेत इति ब्रवीमि ॥ ४९७ ॥

III सूत्रार्थ :

किस्सी गांव या शहर में ठहरने का इच्छुक साधु या साध्वी पहले ग्रामादि में जाकर उस स्थान को देखे, यदि वह स्थान मकड़ी आदि के जालों से या अण्डे आदि से युक्त हो

तब उसके मिलने पर भी उसे अप्रासुक और अनेषणीय जान कर ग्रहण न करे। शेष वर्णन शय्या अध्ययन के समान जानना चाहिए।

साधु को सदोष स्थान का छोड़ कर स्थान की गवेषणा करनी चाहिये और उसे उक्त स्थान में चार प्रतिमाओं के द्वारा बैठे बैठे या खड़े होकर कायोत्सर्गादि क्रियाएं करनी चाहिए।

१. मैं अपने कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में रहूंगा, और अचित्त भीत आदि का सहारा लूंगा, तथा हस्त पादादि का संकोचन प्रसारण भी करूंगा एवं थोड़े पगले चलने रूप मर्यादित भूमि में भ्रमण भी करूंगा।
२. मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में ठहरूंगा, अचित्त भीत आदि का आश्रय भी लूंगा, तथा हस्त पाद आदि का संकोचन प्रसारण भी करूंगा किन्तु आसपास कहीं भी भ्रमण नहीं करूंगा।
३. मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में रहूंगा, अचित्त भीत आदि का सहारा भी लूंगा, परन्तु हस्तपादादि का संकोच प्रसारण एवं भ्रमण नहीं करूंगा।
४. मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में ठहरूंगा, परन्तु भीत आदि का अवलम्बन नहीं लूंगा तथा हस्त पाद आदि का संचालन और भ्रमण आदि कार्य भी नहीं करूंगा, परन्तु एक स्थान में स्थित होकर कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर का सम्यक्तया निरोध करूंगा और अभी मैं परिमित काल के लिये शरीर के ममत्व का परित्याग कर चुका हूँ अतः उक्त समय में यदि कोई मेरे केश, श्मश्रु और नख आदिका उत्पादन करेगा तब भी मैं अपने ध्यान को नहीं तोड़ूंगा।

इन पूर्वोक्त चार प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा का धारक साधु अन्य किसी भी साधु की-अवहेलना न करे किन्तु सभी साधुओं के प्रति सौम्य-भाव रखता हुआ विचरे। यही संयमशील साधु का समग्र आचार है, इस प्रकार मैं कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

वह पूर्व कहा गया साधु जब स्थान याने वसति में रहना चाहे तब वह साधु गांव-नगर आदि में प्रवेश करके ठहरने के स्थान की गवेषणा-शोध करे... यदि वह स्थान (मकान) अंडे से युक्त हो यावत् मकड़ी के जाले से युक्त हो तब ऐसा स्थान अप्रासुक मानकर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करें... इसी प्रकार अन्य सूत्रों का भावार्थ शय्या की तरह जानियेगा... यावत् जल से अंकुरित हुए कंद हो तो भी ऐसे स्थान का ग्रहण न करें...

अब अवग्रह-प्रतिमा के विषय में कहते हैं... पूर्व कहे गये एवं अब कहे जानेवाले जो

भवन-वसति कर्मबंध के कारण हो ऐसे उन स्थानों का त्याग करके साधु अभिग्रह स्वरूप चार प्रतिमाओं के द्वारा प्राप्त निर्दोष स्थान में रहना चाहे... उनमें पहली प्रतिमा इस प्रकार है... जैसे कि- कोइ साधु ऐसा अभिग्रह करे कि- में अचित्त स्थान में ही निवास करुंगा तथा अचित्त कुड्यादि (दिवारादि) का शरीर से अवलंबन करुंगा... तथा हाथ एवं पैर आदि का आकुंचन एवं प्रसारण स्वरूप स्पंदन याने हिलचाल करुंगा तथा उसी स्थान में ही सविचार याने मर्यादित जगह में पैर आदिसे आवागमन करुंगा... यह पहली प्रतिमा है...

दूसरी अवग्रह प्रतिमा... हाथ एवं पैर आदि का थोडा आकुंचन एवं प्रसारण आदि क्रिया करुंगा किंतु आवागमन नहीं करुंगा...

तीसरी प्रतिमा- हाथ-पैर आदि का संकोचन एवं प्रसारण करुंगा किंतु दीवार का आलंबन नहीं तुंगा एवं पैर से आवागमन नहीं करुंगा...

चौथी अवग्रह प्रतिमा- हाथ-पैर का संकोचन, प्रसारण तथा दीवार का आलंबन एवं पैर आदि से आवागमन इत्यादि कुछ भी नहीं करुंगा...

इसी प्रकार परिमित-मर्यादित समय पर्यंत काया का व्युत्सर्ग (त्याग) करनेवाला वह साधु केश श्मश्रु लोम एवं नख का विसर्जन (त्याग) करके अवग्रह किये हुए स्थान में रहूंगा... इत्यादि प्रतिज्ञा करके कायोत्सर्ग में रहा हुआ वह साधु मेरु पर्वत की तरह निष्प्रकंप याने स्थिर खडा रहे... तथा यदि कोई प्राणी केश आदि को उखड़े (खींचे) तो भी उसी स्थान से ध्यान भंग करके अन्य जगह नहीं जाऊंगा किंतु उसी स्थान में मेरुपर्वत की तरह निश्चल खडा रहूंगा... ऐसी प्रतिज्ञा करके वह साधु काउस्सग्न ध्यान करे और वहां यदि कोइ केश आदि खींचे तो भी उस स्थान से चलायमान न होवे...

इन चारों प्रतिमा में से कोई भी एक प्रतिमा का अभिग्रह करके काउस्सग्न ध्यान में रहा हुआ साधु उसी स्थान में रहे हुए किंतु अवग्रह प्रतिमा की प्रतिज्ञा नहीं किये हुए अन्य साधु की निंदा न करें तथा अपने आपका उत्कर्ष (अभिमान) भी करें तथा इस विषय में ऐसा अन्य भी कुछ भी न बोलें... इति याने इस प्रकार हे जंबू ! मैं (सुधर्मस्वामी) तुम्हें कहता हूं... कि- जो मैंने श्री वर्धमान स्वामीजी के मुखारविंद से सुना है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में कायोत्सर्ग की विधि का उल्लेख किया गया है स्थान के संबन्ध में पूर्व सूत्रों में बताई गई विधि को फिर से दुहराया गया है कि साधु को अण्डे एवं जालों आदि से रहित निर्दोष स्थान में ठहरना चाहिए और उसके साथ वसति-अवग्रह ग्रहण के चार अभिग्रहों का भी वर्णन किया गया है।

यह स्पष्ट है कि साधु की साधना मन, वचन और काया योग का सर्वथा निरोध करने के लिए है। परन्तु, यह कार्य इतना सुगम नहीं है कि साधु शीघ्रता से इसे सिद्ध कर सके। अतः उस स्थिति तक पहुंचने के लिए कायोत्सर्ग एक महत्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा साधक सीमित समय के लिए अपने योगों को रोकने का प्रयास करता है। इसमें भी सभी साधकों की शक्ति का ध्यान रखा गया है, जिससे प्रत्येक साधक सुगमता के साथ अपने लक्ष्य स्थान तक पहुंचने में सफल हो सके। इसके लिए कायोत्सर्ग करने वाले साधकों के लिए वसति के चार अभिग्रह बताए गए हैं।

पहले अभिग्रह में साधक अचित्त भूमि पर खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है, आवश्यकता पड़ने पर वह अचित्त दीवार का सहारा भी ले सकता है, हाथ-पैर आदिका संकुचन एवं प्रसारण भी कर सकता है और थोड़ी देर के लिए कुछ कदम चल भी सकता है।

दूसरे अभिग्रह में साधक अचित्त भूमि पर खड़ा हुआ साधक आवश्यकता पड़ने पर अचित्त दीवार का सहारा लेता है, हाथ-पैर आदि का संकुचन-प्रसारण भी कर लेता है, परन्तु वह अपने स्थान से क्षण मात्र के लिए भी चलता नहीं है। वह अपनी शारीरिक गति को रोक लेता है।

तीसरे अभिग्रह में वह हाथ-पैर आदि के संकुचन-प्रसारण आदि को रोक कर स्थिर मन से खड़े रहने का प्रयत्न करता है और आवश्यकता पड़ने पर केवल अचित्त दीवार का सहारा लेता है।

चौथे अभिग्रह में साधक अपनी कायोत्सर्ग साधना की चरम-सीम पर पहुंच जाता है। वह सीमित काल के लिए बिना किसी सहारे के एवं बिना हाथ-पैर आदि का संचालन किए अचित्त भूमि पर स्थिर मन से खड़ा रहता है। वह इस क्रिया के समय अपने शरीर से सर्वथा ममत्व हटा लेता है। यदि कोई डांस-मच्छर उसे काटता है या कोई कुत्त व्यक्त उसके बाल, दाढ़ी नख आदि उखाड़ता है या उसे किसी तरह का कष्ट देता है, तब भी वह अपने कायोत्सर्ग से, आत्म चिन्तन से विचलित नहीं होता है। उस समय उसके योग आत्म-चिन्तन में इतने मग्न हो जाते हैं कि उसे अपने शरीर पर होने वाली क्रियाओं का पता भी नहीं चलता है। वह उस समय अपने ध्यान को, चिन्तन को, अध्यवसाय को बाहर से हटा कर आत्मा के अन्दर केन्द्रित कर लेता है। अतः उस समय उसकी समस्त साधना आत्म हित के लिए होती है और निश्चय दृष्टि से उतने समय के लिए वह एक तरह से संसार से मुक्त होकर आत्म सुखों में रमण करने लगता है और अनन्त आत्म आनन्द का अनुभव करने लगता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'संनिरुद्धं' और 'वोसङ्काए' दो पद योग साधना के मूल हैं। जिनके आधार पर उत्तर काल में अनेक योग ग्रन्थों का निर्माण हुआ है।

'तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिए।

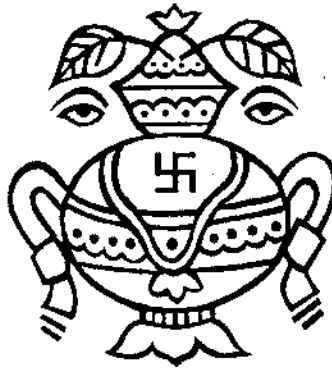
॥ द्वितीयश्रुतस्कन्धे सप्तसप्तिकामिध द्वितीय चूलिकायां प्रथमः सप्तैककः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिन्धुचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सानिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाठ-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निमाता भद्रारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाद्गुष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययन से विश्व के सभी जीव पंचाचार की दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपद की पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. १६.卐 विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - २

अध्ययन - २ सप्तैककः - २

卐 निषीधिका 卐

प्रथम सप्तैकक (अध्ययन) के बाद अब दूसरा अध्ययन कहते हैं... यहां परस्पर यह अभिसंबंध है कि- प्रथम अध्ययन में स्थान की बात कही, अब वह स्थान कैसा हो तो स्वाध्याय के योग्य हो ? और उस स्वाध्याय-भूमि में क्या करना चाहिये और क्या न करें इत्यादि बात के संबंध से यह दूसरा निषीधिका नाम का अध्ययन आया है... इसके उपक्रमादि चार अनुयोग द्वार है... उनमें भी नाम निष्पन्न निक्षेप में निषीधिका यह नाम है, उसके नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव ऐसे छह (६) निक्षेप होते हैं... उनमें नाम एवं स्थापना निक्षेप सुगम है...

अब नोआगम से द्रव्य निषीधिका के तीन भेद हैं १. ज्ञ शरीर, २. भव्य शरीर, ३. तद्व्यतिरिक्त... उनमें भी जो प्रच्छन्न द्रव्य वह नोआगम से तद्व्यतिरिक्त द्रव्य निषीधिका है...

तथा क्षेत्र निषीधिका-ब्रह्मदेवलोक के रिष्ट नाम के विमान के पास में रही हुई कृष्णराजी... या जिस क्षेत्र में निषीधिका का व्याख्यान किया जाय वह क्षेत्रनिषीधिका है...

तथा कृष्णराजी जिस काल में हो या जिस काल में निषीधिका का व्याख्यान किया जाय वह काल निषीधिका है...

तथा नोआगम से भाव निषीधिका यह निषीधिका नाम का अध्ययन ही है, क्योंकि- यह अध्ययन आगम-ग्रंथ के एक भाग स्वरूप है...

नाम निष्पन्न निक्षेप पूर्ण हुआ, अब सूत्रानुगम में आये हुए सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना चाहिये- और वह सूत्र इस प्रकार है...

I सूत्र ॥ ९ ॥ ॥ ४९८ ॥

से भिक्खू वा, अभिकंखिज्जा० निसीहियं फासुयं गमणाए, से पुण निसीहियं जाणिज्जा- सअंडं तह० अफासुयं० नो चेइस्सामि ।

से भिक्खू० अभिकंखेज्जा निसीहियं गमणाए, से पुण निसीहियं० अप्पपाणं

अप्पबीयं जाव संताणयं तह निसीहियं फासुयं चेइस्सामि, एवं सिज्जागमेणं नेयव्वं जाव उदयप्पसूयाइं ।

जे तत्थ दुवग्गा तिवग्गा चउवग्गा पंचवग्गा वा अभिसंधारिंति निसीहियं गमणाए, ते नो अण्णमण्णस्स कायं आलिंजिज्ज वा विलिंजिज्ज वा चुंबिज्ज वा दंतेहिं वा नहेहिं वा अचिंदिज्ज वा वुचिंदिज्ज वा० एयं खलु० जं सव्वट्ठेहिं सहिए समिए सया जएज्जा, सेयमिणं मण्णिज्जासि तिबेमि ॥ ४९८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० अभिकाङ्क्षेत निषीधिकां प्रासुकां गन्तुम्, सः पुनः निषीधिकां जानीयात्- स- अण्डां तथा० अप्रासुकां० न चेतयिष्यामि ।

सः भिक्षुः० अभिकाङ्क्षेत निषीधिकां गन्तुम्, सः पुनः निषीधिकां अल्पप्राणां अल्पबीजां यावत् अल्पसन्तानकां, तथा० निषीधिकां प्रासुकां चेतयिष्यामि, एवं शय्या-गमेन नेतव्यं, यावत् उदकप्रसूतानि ।

ये तत्र द्विवर्गाः त्रिवर्गाः चतुर्वर्गाः पञ्चवर्गाः वा अभिसन्धारयन्ति निषीधिकां गन्तुम्, ते न अन्योऽन्यस्य कायं अलिङ्गयेयुः वा विलिङ्गयेयुः चुम्बयेयुः वा दन्तैः वा नखैः वा आच्छिन्दयेयुः वा विच्छिन्दयेयुः वा० एतत् खलु० यत् सवार्थैः सहितः समितः सदा यतेत, श्रेयः इदं मन्येत इति ब्रवीमि ॥ ४९८ ॥

III सूत्रार्थ :

जो साधु या साध्वी प्रासुक अर्थात् निर्दोष स्वाध्याय भूमि में जाना चाहे तब वह स्वाध्याय भूमि को देखे और स्वाध्याय भूमि अण्डे आदि से युक्त हो तो इस प्रकार की अप्रासुक, अन्वेषणीय स्वाध्याय भूमि को जान कर कहे कि मैं इसमें नहीं ठहरूंगा । यदि स्वाध्याय भूमि में प्राणी, बीज यावत् जाला आदि नहीं है तो उसे प्रासुक एवं एषणीय जान कर कहे कि मैं यहां पर ठहरूंगा । शेष वर्णन शय्या अध्ययन के अनुसार जानना चाहिए । जैसे जहां पर उदक से उत्पन्न हुए कन्दादिक हों वहां पर भी न ठहरे ।

उस स्वाध्याय भूमि में गए हुए दो, तीन, चार, पांच साधु परस्पर शरीर का आलिंगन न करें, न विशेष रूप से शरीर का आलिंगन करे, न मुख चुम्बन करें, दान्तों से या नखों

से शरीर का छेदन भी न करें, और जिस क्रिया या चेष्टा से मोह उत्पन्न होता हो इस तरह की क्रियाएं भी न करें। यही साधु और साध्वी का समग्र आचार है। जो साधु साधना के यथार्थ स्वरूप को जानता है, पांच समितियों से युक्त है और इस का पालन करने में सदा प्रयत्नशील है, वह यह माने कि इस आचार का पालन करना ही मेरे लिए कल्याण प्रद है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

वह भाव साधु यदि उपहत याने अकल्पनीय वसति से अन्य वसति याने स्वाध्याय भूमि में जाना चाहे, और यदि वह स्वाध्याय भूमि भी अंडों से युक्त हो यावत् मकड़ी के जाले से युक्त हो तो वह स्वाध्यायभूमि अप्रासुक जानकर ग्रहण न करें...

किंतु वह साधु अंडों से रहित हो ऐसी स्वाध्याय भूमि का ग्रहण करें... इसी प्रकार अन्य सूत्रों का भावार्थ शय्या-सूत्रकी तरह जानीयेगा... यावत् जहां जल से उत्पन्न हुए कंद आदि हो ऐसी स्वाध्याय भूमि का ग्रहण न करें...

अब स्वाध्याय भूमि में गये हुए साधुओं के विषय में कहते हैं... कि- स्वाध्याय भूमि में गये हुए साधु दो या तीन या चार या पांच हो तो वे साधु परस्पर एक-दूसरे के शरीर का स्पर्श न करें तथा अनेक प्रकार से मोह का उदय हो ऐसे प्रकार से बार बार एक-दूसरे के शरीर को न छुए... तथा कंदर्प याने काम विकारवाली विविध क्रियाएं भी न करें, क्योंकि- इस प्रकार के पंचाचार के नियमों के पालन से ही तो साधु का साधुपना होता है... और वह साधु भवांतर में सद्गति के सभी साधनों से युक्त है, तथा पांच समितिवाला वह साधु जीवन पर्यंत संयमानुष्ठान में प्रयत्न करता रहता है, और यह साधुपना ही श्रेयः याने कल्याणक है ऐसा उस साधु का मानना-समझना है... इति-ब्रवीमि पूर्ववत्...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में स्वाध्याय के स्थान एवं स्वाध्याय के समय चित्तवृत्ति को संयत रखने का वर्णन किया गया है। यह हम देख चुके हैं कि आत्मा को सर्व बन्धनों से मुक्त करने के लिए कायोत्सर्ग एक महान् साधन है। परन्तु, उस साधन को स्वीकार करने के लिए आत्मा एवं शरीर के स्वरूप तथा सम्बन्ध को जानना भी आवश्यक है और उसके लिए सर्वोत्तम साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय शब्द स्व+अध्याय के संयोग से बना है। स्व का अर्थ आत्मा और

अध्याय का अर्थ है अध्ययन या बोध करना। अतः स्वाध्याय का अर्थ हुआ अपनी आत्मा का अध्ययन करना या आत्मा के स्वरूप को पहचानना। अर्थात्, जो ज्ञान, जो चिन्तन-मनन आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक होता है, उसे स्वाध्याय कहते हैं।

यह स्पष्ट है कि चिन्तन के लिए एकान्त एवं निर्दोष स्थान चाहिए। क्योंकि यदि स्थान सन्दोष है, उसमें कई प्राणियों को पीड़ा पहुंचने की संभावना है तो चित्तवृत्ति शान्त नहीं रह सकती। जहां दूसरे प्राणियों को कष्ट होता हो वहां आत्मा पूर्ण शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता है। इसलिए हिंसा को शान्ति के लिए बाधक माना गया है और साधक को हिंसा से सर्वथा बचकर रहने का आदेश दिया गया है। हिंसा की तरह बाह्य कोलाहल भी मन को एकाग्र नहीं रहने देता। इसलिए तत्त्ववेत्ताओं ने साधक को निर्दोष एवं शान्त एकान्त स्थान में स्वाध्याय करने का आदेश दिया गया है।

एकान्तता जैसे योगों का निरोध करने के लिए सहायक है, वैसे भोगों की वृत्ति को उच्छृंखल बनाने में भी उसका सहयोग करता है। योगी और भोगी, वैरागी और रागी दोनों को एकान्त स्थान की आवश्यकता रहती है। एकान्त स्थान में ही मन साधना की ओर भली-भांति प्रवृत्त हो सकता है और विषय विकारों की अभिलाषाओं को पूरा करने के लिए भी मनुष्य एकान्त स्थान दृढ़ता है। क्योंकि लोगों के सामने उसे अपनी वासना को तृप्त करने में लज्जा अनुभव होती है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र में साधक को यह शिक्षा दी गई है कि वह उस एकान्त-शांत स्थान का उपयोग मोह कर्म को बढ़ाने में न करे। उसे अपने साथी साधकों के साथ पारस्परिक शारीरिक आलिंगन आदि कुचेष्टाएं नहीं करनी चाहिए। और न अपने नाखून एवं दान्तों से किसी के शरीर का स्पर्श करना चाहिए जिससे कि वासना की जागृति हो। साधु को उस एकान्त स्थान में योगों की प्रवृत्ति को उच्छृंखल बनाने की चेष्टा न करते हुए योगों को अन्य समस्त प्रवृत्तियों से हटा कर आत्मा की ओर मोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन मुनियों के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधक को अपने योगों को अन्य प्रवृत्तियों से हटाकर आत्म साधना की ओर लगाना चाहिए, और इसके लिए उसे सर्वथा निर्दोष, प्रासुक एवं शान्त-एकान्त स्थान में स्वाध्याय करना चाहिए।

‘तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयवृत्तिकायां द्वितीयसप्तैकः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका-ग्रंथ के अध्ययन से विश्व के सभी जीव पंचाचार की दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपद की पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. ९६.卐 विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - २

अध्ययन - ३ सप्तैककः - ३

ॐ उच्चार-प्रस्रवण ॐ

अब तृतीय सप्तैकक स्वरूप अध्ययन करते हैं, यहां परस्पर इस प्रकार अभिसंबंध है कि- दूसरे अध्ययन में निषीधिका का स्वरूप कहा, अब उस निषीधिका में किस प्रकार की भूमि के उपर उच्चारदि याने स्थंडिल-मात्रा करें इत्यादि अधिकार इस तृतीय सप्तैकक अध्ययन में कहेंगे... अब इस अध्ययन के नाम निष्पन्न निक्षेप के अधिकार में उच्चार-प्रस्रवण यह नाम है... अतः इस नाम की निरुचित स्वरूप अर्थ नियुचितकार श्री भद्रबाहुस्वामीजी नियुचित की गाथा के द्वारा कहते हैं।

शरीर में से जो विष्ठा-मल उत् याने प्रबलता के साथ चार याने बाहर निकलता है वह उच्चार याने मल-विष्ठा विसर्जन... तथा प्रकर्ष से जो टपकता है, झरता है वह प्रस्रवण याने माश्रु = लघुनीति (पेसाब)... तो अब साधु किस प्रकार से उच्चार एवं प्रस्रवण का त्याग करे कि- जिस क्रिया से साधु की शुद्धि हो, और अतिचार-दोष भी न हो... ? यह बात आगे की गाथा से कहते हैं...

छह (६) जीवनिकाय की रक्षा करने में उद्युक्त याने तत्पर ऐसा अप्रमत्त साधु आगे कहे जानेवाले सूत्र के अनुसार स्थंडिल याने निर्जीव भूमि के ऊपर उच्चार एवं प्रस्रवण याने मल-मूत्र का त्याग करे...

अब नियुचित-अनुगम के बाद सूत्रानुगम में सूत्र का उच्चार शुद्ध प्रकार से करना चाहिये... और वह सूत्र यह रहा...

I सूत्र ॥ ९ ॥ ॥ ४९९ ॥

से भियस्सु० उच्चार-पासवण किरियाए उब्बाहिज्जमाणे सयस्स पायपुंछणस्स असईए तओ पच्छा साहम्मियं जाइज्जा । से भियस्सु० से जं पुण थंडिल्लं जाणेज्जा सअंडं तहं थंडिल्लंसि नो उच्चार-पासवणं वोसिरिज्जा ।

से भि० जं पुण थंडिल्लं० अप्पपाणं जाव संताणयं, तहं थंडिं० उच्चां वोसिरिज्जा । से भियस्सु० से जं० अस्सिंपडियाए एणं साहम्मियं समुद्दिस्स वा अस्सिं० बहवे साहम्मिया समु० अस्सिं० एणं साहम्मिणिं समु० अस्सिंपडियाए० बहवे साहम्मिणीओ समु० अस्सिं० बहवे समणं० पणणियं, समु० पाणाइं, जाव उद्देसियं चेएइ,

तहं थंडिल्ले पुरिसंतरगडं जाव बहियानीहडं वा अनीहडं वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडि० उच्चारं नो वोसिरिज्जा० ।

से भियखू० से जं० बहवे समणमाहण० किं वणी० अतिही समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं जाव उदेसियं चेएइ, तहं थंडिल्लं पुरिसंतरगडं जाव बहिया अनीहडं अण्णयरंसि वा तहं थंडिल्लंसि नो उच्चार-पासवण० अह पुण एवं जाणिज्जा-अपुरिसंतरगडं जाव बहिया नीहडं अण्णयरंसि वा तहप्पगारं० थंडिल्लंसि उच्चार० वोसिरिज्जा । से० जं० अस्सिंपडियाए कयं वा कारियं वा पामिच्चियं वा छण्णं वा घट्टं वा मड्डं वा लित्तं वा संमड्डं वा संपधूवियं वा अण्णयरंसि वा तहं थंडिल्लंसि० नो उच्चार० ।

से भि० से जं पुण थंडि० जाणिज्जा, इह खलु गाहावई वा गाहा० पुत्ता वा कंदाणि वा जाव हरियाणि वा अंतराओ वा बाहिं नीहरंति, बहियाओ वा अंतो साहरंति अण्णयरंसि वा तहं थंडिल्लंसि नो उच्चार० । से भि० से जं पुण० जाणेज्जा-खंधंसि वा पीढंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा अट्टंसि वा पासायंसि वा अण्णयरंसि वा० थंडि० नो उच्चा० ।

से भि० से जं पुण० अणंतरहियाए पुढवीए, ससिद्धिआए पुढवीए, ससरयखाए पुढवीए, मट्टियाए मक्कडाए चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुयाए कोलावासंसि वा दारुयंसि वा जीवपड्डियंसि वा जाव मक्कडासंताणयंसि अण्ण० तहं थंडि० नो उच्चा० ॥ ४९९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० उच्चार-प्रश्रवण-क्रियायां उद्बाध्यमानः स्वकीयस्य पादपुञ्जस्य असतः, ततः तथात् साधर्मिकं याचेत् । सः भिक्षुः० सः यत् पुनः० स्थण्डिलं जानीयात्-स-अण्डं तथा० स्थण्डिले न उच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृजेत् ।

सः भिक्षुः० यत् पुनः स्थण्डिलं अल्पप्राणिनं ? यावत् अल्पसन्तानकं तथा० स्थण्डिले उच्चार० व्युत्सृजेत् । सः भिक्षुः० सः यत् अस्वप्रतिज्ञया एकं साधर्मिकं समुद्दिश्य वा अस्वप्रतिज्ञया बहून् साधर्मिकान् समुद्दिश्य, अस्वप्रतिज्ञया एकां साधर्मिकां समुद्दिश्य, अस्वप्रतिज्ञया बहूः साधर्मिकाः समुद्दिश्य, अस्वप्रतिज्ञया बहून् श्रमण-ब्राह्मण० प्रगणय्य प्रगणय्य समुद्दिश्य, प्राणिनः, यावत् औद्देशिकं चेतयति, तथा० स्थण्डिलं पुरुषान्तरकृतं यावत् बहिः नीतं वा अनीतं वा० अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले उच्चारं न व्युत्सृजेत् ।

सः भिक्षुः० सः यत्० बहून् श्रमण-ब्राह्मण-कृपण-वनीपक-अतिथीन् समुद्दिश्य प्राणिनः भूतानि जीवान् सत्त्वान् यावत् औद्देशिकं चेतयति, तथा० स्थण्डिलं पुरुषान्तरकृतं यावत् बहिः नीतः अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले न उच्चारप्रश्रवण० । अथ पुनः एवं जानीयात्- अपुरुषान्तरकृतं यावत् बहिः नीतं अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले उच्चार० व्युत्सृजेत् । सः० यत्० अस्वप्रतिज्ञया कृतं वा कारितं वा प्रामित्यं वा छन्नं वा घृष्टं वा मृष्टं वा लिप्तं वा संमृष्टं वा समप्रधूपितं वा अन्यतरस्मिन् तथा० स्थण्डिले० न उच्चारप्रश्रवण०

सः भिक्षुः० सः यत् पुनः स्थण्डिलं जानीयात्- इह खलु गृहपतिः वा गृहपतिपुत्राः वा कन्दानि वा यावत् हरितानि वा अभ्यन्तरतः वा बहिः निष्काशयन्ति, बहिः वा अभ्यन्तरे समाहरन्ति अन्यतरस्मिन् वा तथा० स्थण्डिले न उच्चार० । सः भिक्षुः० सः यत् पुनः० जानीयात्- स्कन्धे वा पीठे वा मञ्चे वा माले वा अष्ट्रे वा प्रासादे वा अन्यतरे वा० स्थण्डिले० न उच्चार० ।

सः भिक्षुः० सः यत् पुनः० अबन्तरहितायां पृथिव्यां सस्निग्धायां पृथिव्यां सरजस्कायां पृथिव्यां मृत्तिकायां मर्कटायां चित्तवत्यां शिलायां चित्तवति लेश्यै घुणावासे वा दारुके वा जीवप्रतिष्ठिते वा यावत् मर्कट-सन्तानके अन्य० तथा० स्थण्डिले न उच्चार० ॥ ४९९ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी उच्चार प्रश्रवण मलमूत्र की बाधा हो तो स्वकीय पात्र में उससे निवृत्त होकर मूत्रादि को परठ दे । यदि स्वकीय पात्र न हो तो अन्य साधुमी साधु से पात्र की याचना करके उसमें अपनी बाधा का निवारण करके परठ दे, किंतु मल-मूत्र का कभी भी निरोध न करे । परन्तु अण्डादि जीवों से युक्त स्थान पर मल मूत्रादि न परठे न त्यागे । जो भूमि द्वीन्द्रियादि जीवों से रहित है, उस भूमि पर मल-मूत्र का त्याग करे ।

यदि किसी गृहस्थ ने एक साधु या बहुत से साधुओं का उद्देश रखकर स्थण्डिल बनाया हो अथवा एक साध्वी या बहुत सी साध्वियों का उद्देश्य रखकर स्थण्डिल बनाया हो अथवा बहुत से श्रमण ब्राह्मण, कृपण, भिखारी एवं गरीबों को गिन गिन कर उनके लिए प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों की हिंसा करके स्थण्डिल भूमि को तैयार किया हो तो इस प्रकार का स्थण्डिल पुरुषान्तर कृत हो या अपुरुषान्तर कृत हो किसी अन्य के द्वारा भोगा गया हो या न भोगा गया हो, उसमें साधु-साध्वी मलमूत्र का परित्याग न करे ।

यदि किसी गृहस्थ ने श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, वनीपक-भिखारी, अतिथियों का निमित्त

रखकर प्राणी, भूत, जीव, सत्त्वों की हिंसा करके स्थण्डिल बनाया हो तो इस प्रकार का स्थण्डिल, जब तक वह अपुरुषान्तर कृत है अर्थात् किसी के भोगने में नहीं आया है तब तक इस प्रकार के स्थण्डिल में मल मूत्र का परित्याग न करे। यदि इस प्रकार जान ले कि यह पुरुषान्तर कृत है या अन्य के द्वारा भोगा हुआ है तो इस प्रकार के स्थण्डिल में मल मूत्र का त्याग कर सकता है।

यदि साधु या साध्वी इस प्रकार जान ले कि गृहस्थ ने साधु की प्रतिज्ञा से स्थण्डिल बनाया या बनवाया है, उधार लिया है, उस पर छत डाली है- उसे सभ किया है और संवारा है तथा धूप से सुगंधित किया है तो इस प्रकार के स्थण्डिल में मल मूत्र का त्याग न करे।

यदि साधु इस प्रकार जाने कि गृहपति या उसके पुत्र कन्द मूल और हरि आदि पदार्थों को भीतर से बाहर और बाहर से भीतर ले जाते या रखते हैं, तो इस प्रकार के स्थण्डिल में मल मूत्रादि न परठे।

यदि साधु इसप्रकार जाने कि यह स्थण्डिल भूमि स्तम्भ पर है, पीठ पर है, मंच पर है, ऊपरी मंजिल पर है तथा अटारी और प्रासाद पर है अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य विषम स्थान पर है तो इस प्रकार की स्थण्डिल भूमि पर मल मूत्र का परित्याग न करे। तथा सचित पृथ्वी पर, स्निग्ध-गीली पृथ्वी पर, सचित रज से युक्त पृथ्वी पर, जहां पर सचित मिट्टी मसली गई हो ऐसी पृथ्वी पर, सचित शिला पर, सचितशिला खंड पर, घुग युक्त काष्ठ पर, द्वीन्द्रियादि जीव युक्त काष्ठ पर, यावत् मकड़ी के जाला आदि से युक्त भूमि पर मल मूत्रादि न परठे।

IV. टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब कभी उच्चार एवं प्रश्रवण याने मल-मूत्र विसर्जन करने के लिये अतिशय पीडित हो तब अपने मात्रक आदि में उच्चारादि करें... यदि अपने आपके मात्रक आदि न हो तब अपने साधर्मिक- साधु के पास पडिलेहण किये हुए मात्रक आदि की याचना करें... इस बात से यह सायांश प्राप्त हुआ कि- साधु मल-मूत्र के वेग को रोके नहीं... इत्यादि...

किंतु बात यह है कि- साधु उच्चार एवं प्रश्रवण याने मल-मूत्र की शंका (बाधा) होने के पहले ही स्थंडिल भूमि में जावे... किंतु यदि वह स्थंडिल भूमि अंडों आदि से युक्त हो तो अप्रासुक ऐसी उस स्थंडिलभूमि में उच्चारादि न करें... यदि वह स्थंडिल भूमि अंडों आदि से रहित प्रासुक हो तो वहां उच्चारादि करें...

तथा वह साधु जब जाने कि- यह स्थंडिल-भूमि एक या अनेक साधुओं के लिये है,

तब श्रमण आदि की गिनती करके स्थंडिल करें... किंतु यदि वह स्थंडिलभूमि अन्य पुरुष ने स्वीकृत की हो या स्वीकृत न की हो तब यदि मूलगुण को दूषित करनेवाला औद्देशिक दोष हो तो उच्चारादि न करें...

तथा वह साधु अन्य पुरुष ने स्वीकृत न की हो ऐसी स्थंडिल भूमि में उच्चारादि न करें किंतु यदि अन्य पुरुष ने स्वीकृत की हो तब उस स्थंडिलभूमि में उच्चारादि मल-मूत्र का त्याग करें...

तथा वह साधु, साधु के लिये क्रीत (खरीदी) इत्यादि उत्तरगुण से अशुद्ध स्थंडिलभूमि में मल-मूत्र का त्याग न करें... तथा वह साधु यदि उस स्थंडिलभूमि से गृहस्थ-लोग कंद आदि बाहर निकालते हो या उस स्थंडिल भूमि में कंद आदि लाकर रखते हो तब उस स्थंडिल भूमि में साधु उच्चारादि याने मल-मूत्र का त्याग न करें...

तथा वह साधु स्कंध आदि स्वरूप स्थंडिलभूमि में उच्चारादि न करें, यदि वह साधु ऐसा जाने कि- यह स्थंडिल भूमि उपर से संचित है, तब उस स्थंडिलभूमि में साधु उच्चारादि याने मल-मूत्र का त्याग न करें... शेष सुगम है... कोलावास का अर्थ है घुणावास...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में उच्चार-प्रश्रवण का त्याग करने की विधि बताई गई है। मल और मूत्र को क्रमशः उच्चार और प्रश्रवण कहते हैं। साधु को कभी भी इनका निरोध नहीं करना चाहिए। क्योंकि इनके निरोध से शरीर में अनेक व्याधिया एवं भयंकर रोग उत्पन्न हो सकते हैं, जिनके कारण आध्यात्मिक साधना में रुकावट पड़ सकती है। इसलिए साधु को यह आदेश दिया गया है कि वह अपने मल मूत्र का त्याग करने के पात्र में उसकी बाधा को निवारण करले। यदि किसी समय उसके पास अपना पात्र नहीं है तो उसे चाहिए कि अपने साधर्मिक साधु से उसकी याचना करले। परन्तु, मल-मूत्र को रोक कर न रखे। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि साधु को मल-मूत्र का त्याग करने के लिए एक अलग पात्र रखना चाहिए, जिसे मात्रक या समाधि भी कहते हैं।

साधु को ऐसे स्थान पर मल मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए, जो हरियाली से, बीजों से, निगोद काय से, क्षुद्र जीव-जन्तुओं से युक्त हो या संचित हो, गीला हो, संचित मिट्टी वाला हो तथा संचित शिला एवं शिला खण्ड पर हो। इसके अतिरिक्त साधु को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जो मल-मूत्र त्यागने का स्थान एक या अनेक साधु-साधिवियों को उद्देश्य में रखकर तथा श्रमण-ब्राह्मणों के साथ भी जैन श्रमणों को लक्ष्य में रखकर बनाया गया हो तो उस स्थान में भी मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए—चाहे वह स्थान पुरुषान्तरकृत भी क्यों न हो।

यदि वह स्थान केवल अन्य मत के श्रमण-ब्राह्मणों के लिए बनाया गया है तो पुरुषान्तरकृत होने पर साधु उस स्थान में मल-मूत्र का त्याग कर सकता है।

जो स्थान अन्तरिक्ष में हो अर्थात् मंच, स्तंभ आदि पर हो तो ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। मार्ग की विषमता के कारण ही ऐसे स्थानों पर परठने का निषेध किया गया है, जैसे कि पूर्व अध्ययनों में ऐसे स्थानों पर हाथ-पैर आदि धोने एवं वस्त्र आदि सुखाने का निषेध किया गया है। किंतु यदि ऊपर के स्थानों पर जाने का मार्ग प्रशस्त हो, जीवों की विराधना न होती हो तो साधु उन स्थानों का उपभोग भी कर सकता है।

जिस स्थान से कन्द-मूल आदि भीतर से बाहर एवं बाहर से भीतर लाए जा रहे हों तो ऐसे स्थान पर भी साधु को मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि संभवतः यह क्रिया भूमि को परठने योग्य बनाने के लिए की जा रही हो, अतः साधु को ऐसे स्थान का भी परठने के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए।

जिस स्थान पर साधु के उद्देश्य से कोई विशेष क्रियाएं की गई हों, जैसे— स्थान को सम बनाया गया हो, छायादार बनाया गया हो, सुवासित बनाया गया हो, तो जब तक यह भूमि पुरुषान्तर न हो जाए तब तक साधु को उनका उपयोग नहीं करना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को अचित्त, जीव जन्तु एवं हरियाली युक्त तथा सन्निवेश भूमि पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। उसे सदा अचित्त जीव जन्तु आदि से रहित, निर्दोष एवं प्राप्तुक भूमि पर ही मल-मूत्र का त्याग करना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ५०० ॥

से भियस्त्रुं से जं० जाणेज्जा- इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्ता वा कंदाणि वा जाव बीयाणि वा परिसाडिसु वा परिसाडिंति वा परिसाडिस्संति वा अण्ण० तह० नो उच्चार० ।

से भि० से जं० इह खलु गाहावई वा गा० पुत्ता वा सालीणि वा वीहीणि वा मुग्गाणि वा मासाणि वा कुलत्थाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा पइरिंसु वा पइरिंति वा पइरिस्संति वा अण्णयरंसि वा तह० थंडि० नो उच्चार० ।

से भि०, जं० आमोयाणि वा घासाणि वा भिलुयाणि वा विज्जलयाणि वा

स्त्राणुयाणि वा कडयाणि वा पगडाणि वा दरीणि वा पदुग्गाणि वा समाणि वा
अण्णयरंसि तहं नो उच्चारं

से भिवखू० से जं० पुण थंडिल्ले जाणिउजा- माणुसरंधणाणि वा
महिसकरणाणि वा वसहक० वा अस्सक० कुयकुडक० मयकडक० गयक० लावयक०
घडयक० तित्तिरक० कवोयक० कविजलकरणाणि वा अण्णयरंसि वा तहं नो
उच्चारं ।

से भि० से जं० जाणे० वेहाणसडाणेसु वा गिद्धपड्डा० वा तरुपडणडाणेसु वा
मेरुपडणडा० विसभयखणयडा० अगणिपडणडा० अण्णयरंसि वा तहं नो उच्चारं ।

से भि० से जं० आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणखंडाणि वा
देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अण्ण० तहं नो उच्चारं । से भिवखू० से जं०
पुण जा० अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अण्णयरंसि वा तहं
थंडि० नो उच्चारं ।

से भि० से जं० जाणे० तिगाणि वा चउयकाणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि
वा अण्णयरंसि वा तहं नो उच्चारं ।

से भि० से जं० जाणे० इंगालदाहेसु वा खारदाहेसु वा मडयदाहेसु वा
मडयधूमियासु वा मडयचेइएसु वा अण्णयरंसि वा तहं थंडि० नो उच्चारं ।

से जं० जाणे० नडयायतणेसु वा पंकाययणेसु वा ओघाययणेसु वा सेयणवहंसि
वा अण्णयरंसि वा तहं थंडि० नो उच्चारं ।

से भि० से जं० जाणे० नवियासु वा मट्टियखाणिआसु नवियासु गोप्पहेलियासु वा
गवाणीसु वा खाणीसु वा अण्णयरंसि वा तहं थंडि० नो उच्चारं

से जं० जा० डागवच्चंसि वा सागव० मूलग० हत्थंकरवच्चंसि वा अण्णयरंसि वा
तहं नो उ० वो० ।

से भि० से जं० असणवणंसि वा सणव० धायइव० केयइवणंसि वा अंबव०
असोगव० नागव० पुण्णागव० चुल्लगव० अण्णयरसेसु तहं पत्तोवेएसु वा पुप्फोवेएसु
फलोवेएसु वा बीओवेएसु वा हरिओवेएसु वा नो उच्चारं वोसिरिज्जा ॥ ५०० ॥

II संस्कृत-छाया :

से भिक्षुः० सः यत्० जानीयात्- इह खलु गृहपतिः वा गृहपतिपुत्राः वा कन्दानि

वा यांवत् बीजानि वा परिशाटितवन्तः वा परिशाटयन्ति वा परिशाटयिष्यन्ति वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले न उच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृजेत् ।

सः भिक्षुः० सः यत्० इह खलु गृहपतिः वा गृहपतिपुत्रा वा शालीन् वा व्रीहीन् वा मुद्गान् वा माषान् वा कुलत्थानि वा यवान् वा यवयवान् वा उप्तवन्तः वा वपन्ति वा वपिष्यन्ति वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले न उच्चार० ।

सः भिक्षुः वा, यत्० आमोकानि वा घासाः वा भिलुकानि वा विजलानि वा स्थाणवः वा कडवाणि वा प्रगर्ताः वा दरी वा प्रदुर्गाणि वा समानि वा विषमाणि वा अन्यतरस्मिन् तथाप्रकारे न उच्चार-प्रश्रवणं व्युत्सृजेत् ।

सः भिक्षुः० सः यत्० पुनः स्थण्डिलं जानीयात्- मानुषरन्ध्रानि वा महिषकरणानि वा वृषभकरणानि वा अश्वकरणानि वा कुर्कुटकरणानि वा मर्कटकरणानि वा गजकरणानि वा लावककरणानि वा घटककरणानि वा तित्तरिककरणानि वा कपोत-करणानि वा कपिञ्जलकरणानि वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले न उच्चार० ।

सः भिक्षुः वा, सः यत् पुनः जानीयात्- वैहानसस्थानेषु वा गृहपृष्ठस्थानेषु वा तरुपतनस्थानेषु वा मेरुपतनस्थानेषु वा विषभक्षणस्थानेषु वा अग्निपतनस्थानेषु वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले न उच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृजेत् ।

सः भिक्षुः० सः यत्० आरामेषु वा उद्यानेषु वा वनेषु वा वनखण्डेषु वा देवकुलेषु वा सभासु वा प्रपासु वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले न उच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृजेत् । सः भिक्षुः वा० सः यत् पुनः जानीयात्- अट्टालिकेषु वा चरिकेषु वा द्वारेषु वा गोपुरेषु वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले न उच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृजेत् ।

सः भिक्षुः वा० सः यत्० जानीयात्- त्रिकेषु वा चतुष्केषु वा चत्वरेषु वा चतुर्मुखेषु वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले न उच्चार० ।

सः भिक्षुः वा० सः यत्० जानीयात्- अङ्गारदाहेषु वा क्षारदाहेषु वा मृतकदाहेषु वा मृतकस्तूपिकासु वा मृतकधैत्येषु वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले न उच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृजेत् ।

सः यत् पुनः जानीयात्- नदी-आयतनेषु वा पङ्कायतनेषु वा ओघायतनेषु वा सेचनपथि वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले न उच्चार० ।

सः भिक्षुः वा० सः यत् पुनः जानीयात्- नवासु वा मृत्तिकास्त्रनिषु वा नवासु

वा गोप्रहेत्यासु वा गवादनीषु वा सनीषु वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले न उच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृजेत् ।

सः यत् पुनः जानीयात्- डालवर्चसि वा शाकवर्चसि वा मूलकवर्चसि वा हस्तङ्करवर्चसि वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले न उच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृजेत् ।

सः भिक्षुः वा० सः यत्० अशनवने वा शणवने वा धातकीवने वा केतकीवने वा आम्रवणे वा अशोकवने वा नागवने वा पुन्नागवने वा चुल्लगवने वा अन्यतरेषु वा तथाप्रकारेषु स्थण्डिलेषु वा पत्रोपेतेषु वा पुष्पोपेतेषु वा फलोपेतेषु वा बीजोपेतेषु वा हरितोपेतेषु वा न उच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृजेत् ॥ १०० ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी स्थण्डिल के सम्बन्ध में यह जाने कि जिस स्थान पर गृहस्थ और गृहस्थ के पुत्रों ने कन्दमूल यावत् बीज आदि रखे हुए हैं, या रख रहे हैं या रखेंगे । तो साधु इस प्रकार के स्थानों में मल-मूत्रादि का त्याग न करे । इसीप्रकार गृहस्थ लोगों ने जिस स्थान पर शाली, ब्रीही, मूंग, उड़द, कुलत्थ, यव और जवार आदि बीजे हुए हैं, बीज रहे हैं और बीजेंगे, ऐसे स्थानों पर भी साधु मल-मूत्रादि का त्याग न करे ।

जहां कहीं कचरे के ढेर हों, भूमि फटी हुई हो, भूमि पर रेखाएं पड़ी हुई हो, कीचड़ हो, इक्षु के दण्ड हों, खड़े हों, गुफायें हों, कोट की भित्ति आदि हो, सम-विषम स्थान हो तो ऐसे स्थानों पर भी साधु मलमूत्र का त्याग न करे ।

इसी प्रकार जहां पर चूल्हे हों तथा भैंस, बैल, घोड़ा, कुक्कुड़, बन्दर, हाथी, लावक (पक्षी), चटक, तितर, कपोत और कर्पिजल (पक्षी विशेष) आदि के रहने के स्थान हों या इनके लिए जहां पर कोई क्रियाएं या कुछ कार्य किए जाते हों ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्र का त्याग न करे । फांसी देने के स्थान, गीध पक्षी के समक्ष पड़कर मरने के स्थान, वृक्ष पर से गिर कर मरने के स्थान, पर्वत पर चढ़कर वहां से गिर कर मरने के स्थान, विष भक्षण करने के स्थान, अग्नि में जल कर मरने के स्थान, इस प्रकार के स्थानों पर भी मल-मूत्र का त्याग न करे । तथा जहां पर बाग-उद्यान, वन, वनखंड, देवकुल, सभा और प्रपा-पानी पिलाने के स्थान 'परब' आदि हों तो ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्रादि न परठे ।

कोट की अटारी, राजमार्ग, द्वार, नगर का बड़ा द्वार इन स्थानों पर मल-मूत्रादि का विसर्जन न करे । नगर में जहां पर तीन मार्ग मिलते हों या बहुत से मार्ग मिलते हों, या जो स्थान चतुर्मुख हों ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्र का त्याग न करे ।

इसीप्रकार जहां काष्ठ जलाकर कोयले बनाए जाते हों, क्षार बनाई जाती हो, मृतक जलाए जाते हों, एवं मृतक स्तूप और मृतक चैत्य मृतक मन्दिर हों, ऐसे स्थानों पर भी मल मूत्र को न परठे। नदी के तीर्थ स्थानों (तट) पर, नदी के तीर्थ रूप कर्म स्थानों पर एवं जल के प्रवाह रूप पूज्य स्थानों में तथा खेत और उद्यान को जल देने वाली नालियों में मल मूत्र का परित्याग न करे।

मिट्टी की नई खदानों में, नई गोचर भूमि में, सामान्य गौओं के चरने के स्थानों और खदानों में, मल मूत्रादि का परित्याग न करें। डाल प्रधान शाक के खेतों में, पत्र प्रधान शाक के खेतों में, और मूली गाजर आदि के खेतों में तथा हस्तंकर नामक वनस्पति के क्षेत्र में, इस प्रकार के स्थानों में भी मल-मूत्र को न त्यागे। बीयक के वन में, शणी के वन में, धातकी (वृक्ष विशेष) के वन में, केतकी के वन में, आम्र वृक्ष के वन में, अशोक वृक्ष के वन में, नाग और पुन्नाग वृक्ष के वन में, चूलक वृक्ष के वन में और इसी प्रकार के अन्य पत्र, पुष्प, फलों, तथा बीज और हरी वनस्पति से युक्त वन में मल मूत्र को न त्यागे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब जाने कि- इस स्थंडिल-भूमि में गृहपति या गृहपति के पुत्र आदि कंद, बीज आदि रखते थे, रख रहे हैं, और रखते रहेंगे तब ऐसी उस स्थंडिलभूमि में साधु इहलोक के एवं परलोक के अपाय के भय से उच्चारदि याने मल-मूत्रादि न करें...

तथा जिस स्थंडिल भूमि में गृहपति आदि लोग शाली (चावल) आदि बोते थे, बो रहे हैं, और बोते रहेंगे तब ऐसी उस स्थंडिल भूमि में साधु उच्चारदि याने मल-मूत्रादि न करें...

तथा वह साधु म. जब ऐसा जाने कि- इस स्थंडिलभूमि में कचरे का ढेर या तृण-घास या छोटे छोटे तृण या कादव-कीचड या लकड़ी के खीले, गन्ने के डंडे, या गहरे खड़े, या गुफाएं या किल्ले की दीवार इत्यादि स्वरूप वह स्थंडिल भूमि समतल हो या विषमतल हो तब आत्मविराधना एवं संयम विराधना के भय से साधु उस स्थंडिल भूमि में उच्चारदि (मल-मूत्र) न करें...

तथा वह साधु या साध्वीजी म. जब जाने कि- इस स्थंडिल भूमि में मनुष्यों के रसोई बनाने के चूल्हे हैं या भेंस आदि को बांधने के खीले हैं, तब ऐसी स्थंडिल भूमि में लोक विरुद्ध एवं जिनशासन की हीलना-निंदा का दोष न हो इस कारण से वहां उच्चारदि (मल-मूत्र) न करें...

तथा वह साधु देखे-जाने कि- इस स्थंडिल भूमि में मनुष्य को लटकाने का स्थान है, या गीध आदि के भक्षण के लिये लोही-खून आदि से शरीर के उपर विलेपन करके मरने

के इच्छावाले मनुष्य जहां गृहपृष्ठ मरण की भांति रहते हो, या तो जहां मरने के इच्छावाले मनुष्य वृक्ष के उपर चढ़कर गिर पड़ते हैं, या तो पर्वत के शिखर उपर चढ़कर आत्मघात स्वरूप स्त्रीण में कूद पड़ते हैं अथवा विष का भक्षण करे या अग्निस्नान करते हैं ऐसे स्थान में साधु उच्चारदि न करें... तथा जहां देवमंदिर आदि हो वहां भी साधु उच्चारदि (मल-मूत्र) न करें... एवं देवमंदिर संबंधित अड्डालक याने ओटले जहां हो, ऐसी भूमि में भी साधु उच्चारदि न करें... तथा त्रिक याने तीन रास्ते, चतुष्क याने चार रास्ते और चत्वर याने चोराहा इत्यादि स्थानों में भी उच्चारदि (मल-मूत्र आदि) का विसर्जन न करें...

तथा वह साधु या साध्वीजी म. जहां अंगारे जलाये जाते हो या मृतकों का दाह स्थान-श्मशान आदि भूमि में भी उच्चारदि मल-मूत्र न करें... तथा नदी के तीर्थस्थानों में कि- जहां लोग पुण्य के लिये स्नान करते हैं... तथा पंक याने कादव के स्थान में कि- जहां लोग धर्म-पुण्य के लिये आलोटते हैं... तथा जल का प्रवाह स्थान कि- जो लोक में पूज्य माना गया है... अथवा तालाब के जल में प्रवेश करने का मार्ग... अथवा खेत में जल ले जानेवाली नीक आदि स्थानों में साधु मल-मूत्रादि का त्याग न करें...

तथा वह साधु या साध्वीजी म. नई मिट्टी की खदान में तथा गाय-आदि पशुओं के नये गोचर स्थान में या सामान्य से गोचर भूमि में उच्चारदि न करें...

तथा डाल-प्रधान शाकवाले खेत में या पत्तेवाली सब्जी के खेत में तथा मूल-प्रधान सब्जी के खेत आदि भूमि में साधु उच्चारदि न करें... तथा गेहूँ, चने आदि अनाज के खेतों में भी उच्चारदि न करें तथा पत्र, पुष्प, एवं फल आदिवाले खेत-भूमि में भी साधु उच्चारदि मल-मूत्र न करें...

अब कहां उच्चारदि (मल-मूत्र) करना चाहिये यह बात अब आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में सार्वजनिक उपयोगी एवं धर्म स्थानों पर मल-मूत्र के त्याग करने का निषेध किया गया है। साधु को शाली (चावल), गेहूँ आदि के खेत में, पशुशाला में, भोजनालय में आम्र आदि के बगीचों में, प्याऊ में, देव स्थानों पर, नदी पर, कुएँ आदि स्थानों पर मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए। व्यवहारिक दृष्टि से भी यह कार्य अच्छा नहीं लगता है और उनके रक्षक के मन में क्रोध के कारण अनिष्ट होने की ही संभावना रहती है। देवालय, नदी, सरोवर आदि स्थानों को कुछ लोग पूज्य मानते हैं, जहां केवल नदी के पानी को ही नहीं, किंतु उसके कीचड़ को भी पवित्र मानते हैं। इसलिए ऐसे स्थानों पर साधु को मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए।

कूड़े-ककट के ढेर, खड़े एवं फटी हुई जमीन पर भी न परठे। क्योंकि, वहां परठने से अनेक जीवों की हिंसा होने की संभावना है। इसके अतिरिक्त साधु को ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए, जहां लोगों को फांसी दी जाती हो या अन्य तरह से वध किया जाता हो। क्योंकि, उनके मन में घृणा पैदा होने से संघर्ष हो सकता है।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि साधु सभ्यता एवं स्वच्छता का पूरा ख्याल रखते थे। गांव एवं शहर की स्वच्छता नष्ट न हो तथा साधु के प्रति किसी के मनमें घृणा की भावना पैदा न हो इसका भी परठते समय ध्यान रखा जाता था। इससे यह सिद्ध होता है कि साधु अपने साधना के लिए किसी भी प्राणी का अहित नहीं करता। वह प्रत्येक प्राणी की रक्षा एवं समाधि करने का प्रयत्न करता है।

मल-मूत्र के त्याग के सम्बन्ध में कुछ और आवश्यक बातें बताते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ५०९ ॥

से भि० सयपाययं वा परपाययं वा गहाय से तमायाए एगंतमवयकमे अणावायंसि असंलोयंसि अप्पाणंसि जाव मयकडासंताणयंसि अहारामंसि वा उवस्सयंसि तओ संजयामेव उच्चारपासवणं वोसिरिज्जा, से तमायाए एगंतमवयकमे अणाबाहंसि जाव संताणयंसि अहारामंसि वा इमथंडिल्लंसि वा अण्णयरंसि वा तहं थडिल्लंसि अचित्तंसि तओ संजयामेव उच्चारपासवणं वोसिरिज्जा, एयं खलु तस्स० सया जइज्जासि तिबेमि ॥ ५०९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० स्वपात्रकं वा परपात्रकं वा गृहीत्वा, सः तमादाय एकान्तं अपक्रामेत् अनापाते असंलोके अल्पप्राणिनि यावत् मर्कटासन्तानके अधः आरामे वा उपाश्रये वा ततः संयतः एव उच्चारप्रश्रवणं व्युत्सृजेत्, सः तमादाय एकान्तमपक्रामेत् अनाबाधे यावत् असन्तानके अधः आरामे वा दग्धस्थण्डिले वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे स्थण्डिले अचित्ते, ततः संयतः एव उच्चार-प्रश्रवणं व्युत्सृजेत्, एतत् खलु तस्य० सदा यतेत इति ब्रवीमि ॥ ५०९ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी स्वपात्र अथवा परपात्र को लेकर बगीचे या उपाश्रय के एकान्त स्थान में जाए और जहां पर न कोई देखता हो और न कोई आता जाता हो तथा

जहां पर वृद्धिर्थादि जीव जन्तु एवं मकड़ी आदि के जाले भी न हों, ऐसी अचित्त भूमि पर बैठकर साधु उच्चार प्रश्रवण का परिष्ठापन करे, उसके पश्चात् वह उस पात्र को लेकर एकान्त स्थान में जाए जहां पर न कोई आता जाता हो और न कोई देखता हो, जहां पर किसी जीव की हिंसा न होती हो यावत् जल आदि न हो, उद्यान-बाग की अचित्त भूमि में अथवा अग्नि से दग्ध हुए स्थंडिल में, इसी प्रकार के अन्य अचित्त स्थंडिल में—जहां पर किसी भी जीव की विराधना न होती हो, साधु मल मूत्र का परित्याग करे। इस प्रकार साधु और साध्वी का समग्र आचार वर्णित हुआ है जो कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप अर्थों में और पांचों समितियों से युक्त है और साधु इन के पालन में सदैव प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. अपना या दूसरे साधु का समाधिस्थान स्वरूप पात्र लेकर ऐसी निर्जीव स्थंडिल भूमि में जावे कि- जहां कोई मनुष्य आवे नहि एवं देखे भी नही... ऐसी अन्नापात-असंलोक स्थंडिल भूमि में जाकर मल-मूत्र का विसर्जन याने त्याग करे... शेष सूत्र का अर्थ सुगम है... अतः पूर्ववत् जाने... इस प्रकार की आचरणा से ही साधु का सच्चा साधुपना होता है...

इति... ब्रवीमि... पूर्ववत्...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि साधु को एकान्त एवं निर्दोष और निर्वध भूमि पर मल मूत्र का त्याग करना चाहिए। जिस स्थान पर कोई व्यक्ति आता-जाता हो या देखता हो तो ऐसे स्थान पर मल-मूत्र नहीं करना चाहिए। क्योंकि, इससे साधु निस्संकोच भाव से मल-मूत्र का त्याग नहीं कर सकेगा, उसको इस क्रिया में कुछ रुकावट पड़ेगी, जिससे कई तरह के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। और देखने वाले व्यक्ति के मन में भी यह भाव उत्पन्न हो सकता है कि- यह साधु कितना असभ्य है कि लोगों के आवागमन के मार्ग में ही मल-मूत्र का त्याग करने बैठ गया है। अतः साधु को सब तरह की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर एकान्त स्थान में ही मल-मूत्र का त्याग करना चाहिए।

‘तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

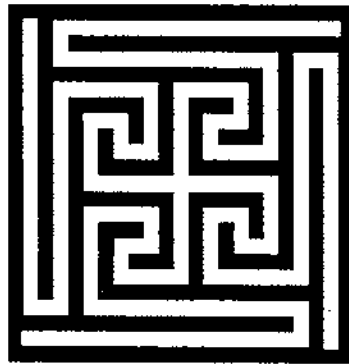
॥ द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयचूलिकायां तृतीयः सप्तैककः समाप्तः ॥

卐 卐 卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिन्धुचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिधरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिधरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययन से विश्व के सभी जीव पंचाचार की दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपद की पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ॐ राजेन्द्र सं. ९६. ॐ विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - २

अध्ययन - ४ सप्तैककः - ४

卐 सप्तैकक... शब्द... 卐

तीसरे सप्तैकक (अध्ययन) के बाद अब चौथे अध्ययन का प्रारंभ करते हैं... यहां परस्पर यह अभिसंबंध है कि- यहां पहले अध्ययन में स्थान, दूसरे अध्ययन में स्वाध्यायभूमि तथा तीसरे अध्ययन में उच्चारण की विधि कही... अब इस प्रकार की स्थिति में रहा हुआ साधु यदि अनुकूल या प्रतिकूल शब्द सुने तब वह साधु राग एवं द्वेष न करे... इस संबंध से आये हुए इस चौथे अध्ययन के नाम निक्षेप में "शब्द-सप्तैकक" ऐसा यह अध्ययन का नाम है... "शब्द" नाम के चार निक्षेप होते हैं... नाम, स्थापना द्रव्य एवं भाव... इनमें नाम एवं स्थापना निक्षेप सुगम है अतः द्रव्य-शब्द निक्षेप का स्वरूप स्वयं ही नियुक्तिकार महर्षिश्री भद्रबाहुस्वामीजी कहते हैं...

नोआगम से द्रव्य शब्द याने शब्द स्वरूप को पाये हुए भाषा-वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध कि- जो शब्द स्वरूप को पाये हुए है... तथा भाव-शब्द आगम से शब्द में उपयुक्त ऐसा साधु और नोआगम से अहिंसा आदि लक्षणवाले गुण... क्योंकि- वह साधु हिंसा- मृषावाद आदि की विरति स्वरूप गुणो से प्रशंसनीय होता है.. और कीर्ति भी फैलती है... जिस प्रकार चौतीस अतिशय से युक्त एवं चार मूल अतिशय स्वरूप संपदाओं से युक्त ऐसे अरिहंत परमात्मा इस विश्व में "अर्हन्" ऐसे शब्द से प्रख्यात हैं...

अब नियुक्ति अनुगम के बाद सूत्रानुगम में सूत्र का शुद्ध उच्चारण से कथन करना चाहिये और वह प्रथम सूत्र इस प्रकार है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ५०२ ॥

से भिक्खू वा० मुङ्गसद्दाणि वा नंदीसद्दाणि वा झल्लरीस० अण्णयराणि वा तह० विरूवरूवाइं सद्दाइं वितताइं कण्णसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ।

से भि० अहवेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ, तं०- वीणासद्दाणि वा विपंचीस० पिप्पीसगस० तूणयसद्दाणि वा पणय स० तुंबवीणियसद्दाणि वा ढंकुणसद्दाइं वा अण्णयराइं तह० विरूवरूवाइं सद्दाइं वितताइं कण्णसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ।

से भि० अहवेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ, तं० ताल-सद्दाणि वा कंसतालसद्दाणि वा

लतियस० गोधियस० किरिकिरियास० अण्णयरा० तह० विरुव० सदागि कण्ण०
गमणाए ।

से भि० अहवेग० तं०- संखसदाणि वा वेणुस० वंसस० खरमुहिस०
परिपिरियास० अण्णय० तह० विरुव० सदाइं डुसिराइं कण्ण० ॥ ५०२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० मृदङ्गशब्दान् वा नन्दीशब्दान् वा झल्लरीशब्दान् वा अन्यतरान्
वा तथाविधान् विरूपरूपान् शब्दान् विततान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत्
गमनाय ।

सः भिक्षुः वा० अथवा एकान् शब्दान् शृणोति, तद्यथा- वीणाशब्दान् वा
विपक्षीशब्दान् वा पिप्पीसकशब्दान् वा तूणकशब्दान् वा पणकशब्दान् वा
तुम्बवीणाशब्दान् वा ढङ्कुणशब्दान् वा अन्यतरान् तथाप्रकारान् विरूपरूपान् शब्दान्
विततान् कर्णश्रोतप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय ।

सः भिक्षुः वा० अथवा एकान् शब्दान् शृणोति, तद्यथा- तालशब्दान् वा
कंसतालशब्दान् वा लतिका (कंशिका) शब्दान् वा गोहिकशब्दान् वा किरिकिरिका-
शब्दान् वा अन्यतरान् तथाप्रकारान् विरूपरूपान् शब्दान् कर्ण० गमनाय ।

सः भिक्षुः वा० अथवा एकान् शब्दान् शृणोति, तद्यथा- शङ्खशब्दान् वा
वेणुशब्दान् वा वंश शब्दान् वा खरमुखीशब्दान् वा परिपिरिकाशब्दान् वा अन्यतरान्
तथाविधान् विरूपरूपान् शब्दान् शुषिरान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत्
गमनाय ॥ ५०२ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी मृदग के शब्द, नन्दी के शब्द और झल्लरी के शब्द, तथा
इसी प्रकार के अन्य वितत शब्दोंको सुनने के लिए किसी भी स्थान पर जाने का मन में संकल्प
भी न करे ।

इसी प्रकार वीणा के शब्द, विपञ्जी के शब्द, वल्लीसक्क के शब्द तूणक और ढोल
के शब्द, तुम्ब वीणा के शब्द, ढुंकण के शब्द इत्यादि शब्दों को एवं ताल शब्द, कंसताल
शब्द, कांसी का शब्द, गोधी का शब्द, किरिकिरीका शब्द तथा शंख शब्द, वेण शब्द,
खरमुखी शब्द और परिपिरिका के शब्द इत्यादि नाना प्रकार के शब्दों को सुनने के लिए
भी साधु न जावे यहां तात्पर्य यह है कि इन उपरोक्त शब्दों को सुनने की भावना से साधु

कभी भी एक स्थान से दूसरे स्थान को न जाए।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु कि- जिसका स्वरूप पूर्व में कहा गया है ऐसा वह साधु यदि वितत, तत, घन एवं शुषिर स्वरूप चार प्रकार के वाजिंत्रो के शब्द सुने तब उन शब्दों को सुनने की प्रतिज्ञा याने इच्छा न करें... अथवा उन शब्दों को सुनने के लिये वहां न जावें... उनमें वितत वाजिंत्र हैं मृदंग, नन्दी, झल्लरी आदि... तथा तत वाजिंत्र है वीणा विपंची वस्त्रीसक आदि... तंत्री... वाद्य... वीणा आदि के प्रभेद तंत्री के संख्या से जानें... तथा घन-वाजिंत्र-हाथ की ताली तथा कंसताल आदि प्रसिद्ध है... परंतु लित्तिका याने कंशिका, गोहिका याने भाण्ड कि- जो बगल में या हाथ में रखकर बजाये जानेवाला वाद्य-वाजिंत्र तथा किरिकिरिया याने वंशा आदि के कंबा से बनाया गया वाजिंत्र... तथा शुषिर वाद्य- इस प्रकार के हैं... शंख, वेणु-बंशरी इत्यादि परंतु खरमुखी याने तोहाडिका और पिरिपिरिया याने कोलियक पुट से बंधा हुआ वंश आदि की नलिका... यह इस चार सूत्रों का समुदित अर्थ है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में वाद्ययंत्रों से निकलने वाले मनोज्ञ एवं मधुर शब्दों को श्रवण करने का निषेध किया गया है। इसमें चार प्रकार के वाद्ययंत्रों का उल्लेख किया गया है—१. वितत, २. तत, ३. घन और ४. सुषिर। मृदंग, नन्दी, झल्लर आदि के शब्द 'वितत' कहलाते हैं, वीणा, विपंची आदि वाद्य यंत्रों के शब्दों को 'तत' संज्ञा दी गई है, हस्तताल, कंस ताल आदि शब्दों को 'घन' कहा जाता है और शंख, वेणु आदि के शब्द 'सुषिर' कहलाते हैं। इस प्रकार सभी तरह के वाद्ययंत्रों से प्रस्फुटित शब्दों को सुनने के लिए साधु प्रयत्न न करे। सूत्रकार ने यहां तक निषेध किया है कि साधु को इन शब्दों को सुनने के लिए मन में संकल्प भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये शब्द मोह एवं विकार भाव को जागृत करने वाले हैं। अतः साधु को इन से सदा बचकर रहना चाहिए।

शब्द के विषय में कुछ और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं।

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ५०३ ॥

से भि० अहावेग० तं० वप्पाणि वा फलिहाणि वा जाव सराणि वा सागराणि वा सरसरपंतियाणि वा अण्ण० तह० विरुव० सद्दाइ कण्ण० ।

से भि० अहावेग० तं० कच्छाणि वा नूमाणि वा गहणाणि वा वणाणि वा

वणदुग्गाणि वा पव्वयाणि वा पव्वयदुग्गाणि वा अण्णं । अहां तं गामाणि वा नगराणि वा निगमाणि वा रायहाणाणि वा आसमपट्टणसंनिवेशाणि वा अण्णं तहं नो अभिं

से भिं अहावेगं आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणखण्डाणि वा देवकुलाणि समाणि वा पवाणि वा अण्णयं तहां सदाइं नो अभिं ।

से भिं अहावेगं अट्टाणि वा अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अण्णं तहं सदाइं नो अभिं ।

से भिं अहावेगं तं जहा- तियाणि वा चउयकाणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अण्णं तहं सदाइं नो अभिं ।

से भिं अहावेगं तं जहा- महिसकरणट्टाणाणि वा वसभकं अस्सकं हत्थिकं जाव कविंजलकरणट्टां अण्णं तहं नो अभिं । से भिं अहावेगं तं महिसजुब्बाणि वा जाव कविंजलजुं अण्णं तहं नो अभिं ।

से भिं अहावेगं तं जुहियठाणाणि वा हयजूं गयजूं अण्णं तहं नो अभिं
॥ ५०३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः० अथ एककः० तद्यथा- वप्रान्. वा परिखाः वा यावत् ससांसि वा सागरान् वा सरः सरः- पङ्कतीः वा अन्यतरान् तथारूपान् विरूपरूपान् शब्दान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय ।

सः भिक्षुः वा० अथ एककः० तद्यथा कच्छानि वा नूमानि वा गहनानि वा वनानि वा वनदुर्गाणि वा पर्वतान् वा पर्वतदुर्गाणि वा अन्यतरां । अथ वा एककः० ग्रामान् वा नगराणि वा निगमान् वा राजधानीः वा आश्रमपट्टसन्निवेशान् वा अन्यतरान् तथाप्रकारान् वा शब्दान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय ।

सः भिक्षुः वा० अथ वा एककः० आरामान् वा उद्यानानि वा वनानि वा वनखण्डानि वा देवकुलानि वा सभाः वा प्रपाः वा अन्यतरान् तथाविधान् शब्दान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय ।

सः भिक्षुः वा० अथ वा एककः० तद्यथा-अट्टानि वा अट्टालकानि वा चरिकाणि वा द्वाराणि वा गोपुराणि वा अन्यं तथा० शब्दान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय ।

सः भिक्षुः वा० अथ वा एककः० तद्यथा-त्रिकाणि वा चतुष्काणि वा चर्चराणि वा चतुर्मुखानि वा अन्य० तथा० शब्दान्० न अभि० ।

सः भिक्षुः वा० अथ वा एककः० तद्यथा- महिषकरणस्थानानि वा वृषभकरणस्थानानि वा अश्वकरणस्थानानि वा हस्तिकरणस्थानानि वा यावत् कपिञ्जलकरणस्थानानि वा अन्य० तथा० न अभि० । सः भिक्षुः वा० अथ वा एककः० तद्यथा महिषयुद्धानि वा यावत् कपिञ्जलयुद्धानि वा अन्य० तथा० न अभि० ।

सः भिक्षुः वा० अथ वा एककः० तद्यथा- यूथस्थानानि वा हययूथस्थानानि वा गजयूथस्थानानि वा अन्य० तथा० न अभिसन्धारयेत् गमनाय ॥ ५०३ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी को कभी कई तरह के शब्दों सुनाइ दे तब उन्हे खेत के क्यारों में खाई यावत् सरोवर, समुद्र और सरोवर की पंक्तियां इत्यादि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए जाने का मन में संकल्प नहीं करना चाहिए। तथा साधु जल-बहुल प्रदेश, वनस्पति समूह, वृक्षों के सघन प्रदेश, वन, पर्वत और विषम पर्वत इत्यादि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए जाने का भी संकल्प न करे।

इसी भांति ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, आश्रम, पत्तन और सन्निवेश आदि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए जाने का भी मन में संकल्प न करे। तथा आराम, उद्यान, वन, वन-खण्ड, देवकुल, सभा और प्रपा (जल पिलाने का स्थान) आदि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने की प्रतिज्ञा से वहां जाने के लिए मनमें विचार न करे। एवं अट्टारी, प्रकार, प्रकार के ऊपर की फिरनी और नगर के मध्य का आठ हाथ प्रमाण राजमार्ग, द्वार तथा नगर में प्रवेश करने का बड़ा द्वार इत्यादि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए भी जाने का मन में भाव न लाए।

इसी तरह नगर में त्रिपथ, चतुष्पथ, बहुपथ और चतुर्मुख मार्ग, इत्यादि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए जाने का भी मन में विचार न करे। इसी भांति भैंसशाला, वृषभशाला, घुड़शाला हस्तीशाला और कपिञ्जल पक्षी के ठहरने के स्थान आदि पर होने वाले शब्दों को सुनने के लिए भी जाने का विचार न करे। तथा वर-वधू के मिलने का स्थान (दिवाह-वेदिका) घोड़ों के यूथ का स्थान, हाथी-यूथ का स्थान यावत् कपिञ्जल का स्थान इत्यादि स्थानों के शब्दों को सुनने के लिए भी जाने का विचार न करे।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. कभी एक समय कोई शब्दों को सुने- जैसे कि- वर याने

किल्ला या फूल छोड के क्यारे की पाली आदि स्वरुप वर्णन करनेवाले शब्द... अथवा वप्र आदि में हो रहे गीत-नृत्य आदि नाचगान को देखने-सुनने की इच्छा से वहां वप्र-किल्ला आदि में साधु न जावें... इत्यादि शेष सभी सूत्रों के भावार्थ में भी जावें...

तथा वह साधु या साध्वीजी म. जहां यूथ याने दर-वधू युगल क्रीडा करते हो ऐसे वेदिका आदि स्थान में न जावें... अर्थात् वहां हो रहे नाच-गान देखने-सुनने की इच्छा से वहां न जावें... इसी प्रकार घोडे के युगल, हाथी के युगल आदि के स्थान में देखने सुनने के लिये साधु वहां न जावें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि साधु को खेतों में, जंगल में, घरों में या विवाह आदि उत्सव के समय होने वाले गीतों को या पशुशालाओं एवं अन्य प्रसंगों पर होने वाले मधुर एवं मनोह्र गीतों को सुनने के लिए उन स्थानों पर जाने का संकल्प नहीं करना चाहिए। ये सब तरह के सांसारिक गीत मोह पैदा करने वाले हैं, इनके सुनने से मन में विकार भाव जागृत हो सकता है। अतः संयमनिष्ठ साधु-साध्वी को इनका श्रवण करने के लिए किसी भी स्थान पर जाने का संकल्प भी नहीं करना चाहिए।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि उस युग में विवाहोत्सव मनाने की परम्परा थी और दर-वधू के मिलन के समय राग-रंग को बढ़ाने वाले गीत भी गाए जाते थे।

प्रस्तुत सूत्र से उस युग की सभ्यता का स्पष्ट परिज्ञान होता है और विभिन्न उत्सवों एवं उन पर गीत आदि गाने की परम्परा का भी परिचय मिलता है। उस युग में भी जनता अपने मनोविनोद के लिए विशिष्ट अवसरों पर गीत आदि गाकर अपना मनोविनोद करती थी। अतः साधु को इन गीतों को सुनने के लिए जाना तो दूर रहा, परन्तु उनके सुनने की अभिलाषा भी नहीं करनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में कुछ और बातें बताते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं....

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ५०४ ॥

से भियख् वा० जाव सुणेइ, तं जहा-अक्खाइयठाणाणि वा माणुम्माणियद्वाणाणि वा महताऽऽहयनट्ट गीयवाइयतंतीतलतालतुडियपडुप्पवाइयद्वाणाणि वा अप्पण० तह० सदाइ नो अभिसं० ।

से भि० जाव सुणेइ, तं०- कलहाणि वा डिंवाणि वा डमराणि वा दोरज्जाणि

वा वेररज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा अण्ण० तह० सदाइं नो० ।

से भि० जाव सुणेइ, सुडिइयं दारियं परिभुतमडियं अलंकियं निव्युज्जमाणि पेहाए एगं वा पुरिसं वहाए नीणिज्जमाणं पेहाए अण्णयराणि वा तह० नो अभि० ।

से भि० अण्णयराइं विरुव० महासवाइं एवं जाणिज्जा, तं जहा- बहुसगडाणि वा बहुरहाणि वा बहुमिलयखूणि वा बहुपच्चंताणि वा अण्ण० तह० विरुव० महासवाइं कण्णसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ।

से भि० अण्णयराइं विरुव० महस्सवाइं एवं जाणिज्जा, तं जहा- इत्थीणि वा पुरिसाणि वा थेराणि वा इहराणि वा मज्झिमाणि वा आभरणविभूसियाणि वा गायंताणि वा वायंताणि वा नच्चंताणि वा हसंताणि वा रसंताणि वा मोहंताणि वा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिभुजंताणि वा परिभायंताणि वा विछडिइयमाणाणि वा विगोवयमाणाणि वा अण्णय० तह० विरुव० मह० कण्णसोय० ।

से भिक्खू० नो इहलोइएहिं सदेहिं नो परलोइएहिं सदेहिं नो सुएहिं सदेहि, नो असुएहिं स० नो दिट्ठेहिं स० नो अदिट्ठेहिं स० नो कंतेहिं सदेहिं सज्जिज्जा, नो गिडिइज्जा, नो मुज्झिज्जा, नो अज्झोववज्जिज्जा, एयं खलु० जाव जएज्जासि तिबेमि ॥ ५०४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः० यावत् शृणोति, तद्यथा- आख्यायिकास्थानानि वा मानोन्मानस्थानानि वा महता आहतनृत्यगीतवादित्रतन्त्रीतलतालश्रुटित- प्रत्युत्पन्नानि स्थानानि वा अन्य० तथा० शब्दान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय ।

सः भिक्षुः वा० यावत् शृणोति, तद्यथा- कलहानि वा डिम्बानि वा डमराणि वा द्विराज्यानि वा वैर-राज्यानि वा विरुद्धराज्यानि वा अन्य० तथा० शब्दान् न० ।

सः भिक्षुः० यावत् शृणोति- क्षुल्लिकां दारिकां परिभुयतमण्डितां अलङ्कृतां नीयमानां प्रेक्ष्य एकं वा पुरुषं वधाय नीयमानं प्रेक्ष्य अन्य० वा तथा० शब्दान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय ।

सः भिक्षुः वा० अन्यतरान् विरूपरूपान् महाश्रवान् एवं जानीयात्, तद्यथा- बहुशकटानि वा बहुरथानि वा बहुम्लेच्छानि वा बहुप्रात्यन्तिकानि वा अन्य० तथा० विरूपरूपान् महाश्रवान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय ।

सः भिक्षुः वा० अन्यतरान् विरूपरूपान् महोत्सवान् एवं जानीयात्, तद्यथा-
स्त्रीः वा पुरुषान् वा स्थविरान् वा बालान् वा मध्यमान् वा आभरणविभूषितान् वा गायतः
वा वादयतः वा नृत्यतः वा हसतः वा रममाणान् मुह्यतो वा विपुलं अशनं पानं स्वादिमं
स्वादिमं परिभुज्जानान् वा परिभाजयतः वा विक्षिपतः वा विगोपयतः वा अन्य० तथा०
विरूपरूपान् महोत्सवान् कर्णश्रवणप्रतिज्ञया न अभि०

सः भिक्षुः० न इहलौकिकैः शब्दैः, न परलौकिकैः शब्दैः, न श्रुतैः शब्दैः, न
अश्रुतैः शब्दैः, न दृष्टैः शब्दैः, न अदृष्टैः शब्दैः, न कान्तैः शब्दैः सज्येत न गृह्येत न
मुह्येत, न अध्युपपद्येत, एतत् खलु० यावत् यतेत इति ब्रवीमि ॥ ५०४ ॥

III सूत्रार्थ :

संयमशील साधु या साध्वी कथा करने के स्थानों, महोत्सव के स्थानों जहां पर बहुत
परिमाण में नृत्य, गीत, वादित्र, तंत्री, वीणा, तल-ताल, त्रुटित, ढोल इत्यादि वाद्य बजते हों
तो उन स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए जाने का मन में विचार नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार कलह के स्थान, अपने राज्य के विरोधी स्थान, पर राज्य के विरोधी
स्थान, दो राज्यों के परस्पर विरोध के स्थान, वैर के स्थान और वहां पर राजा के विरुद्ध
वार्तालाप होता हो इत्यादि स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने के लिए भी जाने का मन में
संकल्प न करे।

यदि किसी वस्त्राभूषणों से शृंगारित और परिवार से घिरी हुई छोटी बालिका को
अश्वदि पर बिठा कर ले जाया जा रहा हो तो उसे देखकर तथा किसी एक अपराधी पुरुष
को वध के लिए वध्यभूमि में ले जाते हुए देखकर साधु उन स्थानों में होने वाले शब्दों को
सुनने की भावना से उन स्थानों पर जाने का मन में विचार न करे।

जो महा आश्रव के स्थान हैं— जहां पर बहुत से शकट, बहुत से रथ, बहुत से म्लेच्छ,
बहुत से प्रान्तीय लोग एकत्रित हुए हों तो साधु साध्वी वहां पर उनके शब्दों को सुनने की
प्रतिज्ञा से जाने का मन में संकल्प भी न करे।

जिन स्थानों में महोत्सव हो रहे हों, स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध और युवा आभरणों से
विभूषित होकर गीत गाते हों, वाद्य बजाते हों, नाचते और हंसते हों, एवं आपस में खेलते और
सतिक्रीड़ा करते हों, तथा विपुल अशन, पान, स्वादिम और स्वादिम पदार्थों को खाते हों, परस्पर
बांटते हों, गिराते हों, तथा अपनी प्रसिद्धि करते हों तो ऐसे महोत्सवों के स्थानों पर होने वाले
शब्दों को सुनने के लिए साधु वहां पर जाने का कभी भी संकल्प न करे।

वह साधु या साध्वी स्वजाति के शब्दों और परजाति के शब्दों में आसक्त न बने, एवं श्रुत या अश्रुत तथा दृष्ट या अदृष्ट शब्दों और प्रिय शब्दों में आसक्त न बने। उनकी आकांक्षा न करे और उनमें मूर्छित भी न होवे। यही साधु और साध्वी का सम्पूर्ण आचार है और इसी के पालन में उसे सदा संलग्न रहना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु या साध्वीजी म. जब देखे कि- यह कथानक कहने का स्थान है, या मान एवं उन्मान याने प्रस्थक एवं नाराच आदि का स्थान है अथवा अश्व आदि के वेग की परीक्षा करनेका स्थान है, या उनके वर्णन-स्वरूप निवेदनका स्थान है... तथा बड़े आवाजके साथ या महात् आडंबर के साथ जहां नृत्य-गीत-वाजिंत्र-तंत्री-तल-ताल एवं त्रुटित आदि के साथ नाच-गान हो रहा हो ऐसे स्थान हो, तथा सभा या सभा के वर्णन हो रहे स्थान में... उनको देखने-सुनने के लिये साधु वहां न जावे...

तथा कलह-झगड़े जहां हो रहे हो ऐसे स्थान में भी साधु उनको देखने-सुनने के लिये न जावे... तथा वह साधु या साध्वीजी म. जहां किशोरी कन्या को अलंकारों से अलंकृत करके अश्व-घोड़े आदि के उपर बैठाकर परिवार के लोग गीत-नृत्य के साथ मार्ग में ले जा रहें हो, या किसी पुरुष को वध के स्थान में सुभट-सिपाही ले जा रहें हो तब उन्हें देखने-सुनने की इच्छा से साधु वहां न जावे...

तथा महान् (बड़े) आश्रव याने पाप-कर्मबंध के स्थान जैसे कि- बहुत सारे बैल-गाड़ी या रथ या मलेच्छ लोग या अधम-चांडाल कुल के लोग इकट्ठे हुए हो वहां देखने-सुनने के लिये साधु न जावे...

तथा महोत्सव हो रहा हो ऐसे स्थान में बहुत सारे स्त्री-पुरुष-वृद्ध एवं बालक तथा मध्यम उम्रवाले लोग अलंकारों से अलंकृत होकर नाच-गान कर रहे हो तब उन्हें देखने-सुनने की इच्छा से साधु वहां न जावे...

अब सभी सूत्रों के भावार्थ का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि- इस लोक में एवं परलोक में होनेवाले अपाय (दुःख) से डरनेवाले साधु एवं साध्वीजी म. मनुष्य आदि ने किये हुए एवं पशु-पक्षियों ने किये हुए शब्द-नाच-गान तथा साक्षात् सुने हुए या नहीं सुने हुए... तथा साक्षात् दिखे या न दिखे ऐसे नाच-गानके प्रति राग-अनुराग न करें... तथा उनमें आसक्त न होवे... मोह न पावे... या उसके प्रति अतिशय आसक्ति भाव न रखें... क्योंकि- ऐसा जीवन जीने से ही साधु का साधुपना संपूर्ण होता है... शेष शब्दों-वाक्यों के अर्थ पूर्ववत् जानना चाहिए।

यहां सभी जगह ज्ञानियों ने निम्न प्रकार के दोष देखे गये हैं जैसे कि- अजितेन्द्रियत्व, स्वाध्याय की हानी, तथा राग एवं द्वेष की संभावना... इसी प्रकार अन्य भी इस लोक के एवं परलोक के दुःख के कारणभूत होनेवाले दोषों का साधु स्वयं ही अपनी बुद्धि से चिंतन-विचारणा करें... इत्यादि...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु को जहां बहुत से लोग एकत्रित होकर गाते-बजाते हों, नृत्य करते हों, रतिक्रीड़ा करते हों, हंसी-मजाक करते हों, रथ एवं घोड़ों की दौड़ कराते हों, बालिका को श्रृङ्गारित करके अश्व पर उसकी सवारी निकालते हों, किसी अपराधी को फांसी देते समय गधे पर बिठाकर उसकी सवारी निकाल रहे हों और इन अवसरों पर वे शब्द कर रहे हों उन्हें सुनने के लिए साधु को उक्त स्थानों पर जाने का संकल्प नहीं करना चाहिए। और जहां पर अपने देश के राजा के विरोध में, या अन्य देश के राजा के विरोध में या दो देशों के राजाओं के पारस्परिक संघर्ष के सम्बन्ध में बातें होती हों, तो साधु को ऐसे स्थानों में जाकर उनके शब्द सुनने का भी संकल्प नहीं करना चाहिए। क्योंकि इन सब कार्यों से मनमें राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, चित्त अशांत रहता है और स्वाध्याय एवं ध्यान में विघ्न पड़ता है। अतः संयमनिष्ठ साधक को श्रोत्र इन्द्रिय को अपने दश में रखने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे इन सब असंयम के परिपोषक शब्दों को सुनने का त्याग कर, अपनी साधना में संलग्न रहना चाहिए।

इस अध्ययन में यह पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु को राग-द्वेष बढ़ाने वाले किसी भी शब्द को सुनने की अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए। साधु का जीवन अपनी साधना को मूर्त रूप देना है, साध्य को सिद्ध करना है। अतः उसे अपने लक्ष्य के सिवाय अन्य विषयों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। राग-द्वेष पैदा करने वाले प्रेम-स्नेह एवं विग्रह, कलह आदि के शब्दों की ओर उसे अपने मन को बिल्कुल नहीं लगाना चाहिए। यही उसकी साधुता है और यही उसका श्रेष्ठ आचार है।

॥ द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयचूलिकायां चतुर्थः सप्तैककः समाप्तः ॥

ॐ ॐ ॐ

: प्रथमः :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडल श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सान्निध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाठ-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्व के सभी जीव पंचाचार की दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपद की पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५५ राजेन्द्र सं. ९६. ५५ विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - २

अध्ययन - ५ सप्तैककः - ५

卐 रूप... 卐

अब पांचवी रूप नाम की सप्तैकक कहते हैं... चौथी सप्तैकक के बाद पांचवी सप्तैकक का प्रारंभ करते हैं... यहां परस्पर अभिसंबंध इस प्रकार है... चौथे अध्ययन में श्रवणेंद्रिय के विषय में राग एवं द्वेष न करने का विधान किया, अब इस पांचवे अध्ययन में चक्षुरिंद्रिय के विषय में राग एवं द्वेष न करने का विधान करते हैं... इस संबंध से आये हुए इस अध्ययन का नाम है... "रूप" अतः इस रूप पद के नाम-स्थापना द्रव्य एवं भाव निक्षेप होते हैं, उनमें नाम एवं स्थापना सुगम है... अब द्रव्य एवं भाव निक्षेप का स्वरूप नियुक्ति की गाथा से कहते हैं...

नो आगम से तद्व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप रूप परिमंडल आदि पांच संस्थान स्वरूप है... तथा भाव रूप निक्षेप के दो भेद है... १. वर्ण से २. स्वभाव से... उनमें वर्ण से भावरूप-संपूर्ण पांच वर्ण... तथा स्वभाव से भावरूप- आत्मा में रहे हुए क्रोधादि के कारण से भ्रूकटी, ललाट एवं आंखों के विकार के साथ निहुर कठोर वचन आदि का उच्चारण और इससे विपरीत प्रकार का रूप आत्मा की प्रसन्नता में रहता है... अन्यत्र भी कहा है कि- रुष्ट- क्रोधवाले मनुष्य की दृष्टि कठोर होती है, और प्रसन्न चित्तवाले की दृष्टि सफेद कमल की तरह उज्ज्वल होती है... तथा दुःखी मनुष्य की दृष्टि म्लान-ग्लानि से भरपूर होती है... और अन्य स्थान में जाने की इच्छावाले की दृष्टि उत्सुक याने उतावली होती है...

अब सूत्रानुगम में सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना चाहिये... और वह सूत्र इस प्रकार है..

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ५०५ ॥

से भि० अहावेगइयाइं रूवाइं पासइं, तं० गंधिमाणि वा वेदिमाणि वा पूरीमाणि वा संघाइमाणि वा कट्ठकम्माणि वा पोत्थकम्माणि वा चित्तकम्माणि वा णिकम्माणि वा दंतकम्माणि वा पत्तच्छिज्जकम्माणि वा विविहाणि वा वेदिमाइं अण्णयराइं तह० विरूवरूवाइं चक्खुदंसणपडियाए नो अभिसंधारिज्ज गमणाए, एवं नायत्वं जहा सइपडिमा सव्वा वाइत्तवज्जा रुवपडिमावि ॥ ५०५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा० अथ वा एककानि रूपाणि पश्यति, तद्यथा- ब्रधितानि वा वेष्टिमानि वा पूरिमाणि वा संघातिमानि वा काष्ठकर्माणि वा पुस्तककर्माणि वा चित्रकर्माणि वा मणिकर्माणि वा दन्तकर्माणि वा पत्रच्छेद्यकर्माणि वा विविधानि वा वेष्टिमानि अन्यतराणि वा तथा० विरूपरूपाणि चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञया न अभिसन्धारयेत् गमनाय, एवं ज्ञातव्यं यथाशब्दप्रतिमा सर्वा वादित्रवर्जा रूपप्रतिमा अपि ॥ ५०५ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु या साध्वी फूलों से निष्पन्न स्वस्तिकादि, वस्त्रों से निष्पन्न पुतलिकादि, पुरिम निष्पन्न पुरुषाकृति और संघात निष्पन्न चोलकादि, इसी प्रकार काष्ठ से निर्मित पदार्थ, पुस्तके, चित्र, मणियों से, हाथी दांत से, पत्रों से तथा बहुत से पदार्थों से निर्मित सुन्दर एवं कुरूप पदार्थों के विविध रूपों को देखने के लिए जाने का मन से संकल्प भी न करे। शेष वर्णन शब्द अध्ययन की तरह जानना चाहिए। केवल वाद्ययन्त्र को छोड़कर अन्य वर्णन शब्द प्रतिज्ञा के समान ही रूप-प्रतिमा में भी जानना चाहिए। ऐसा मैं कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

वह भाव-साधु या भाव साध्वीजी म. कभी पर्यटन याने आवागमन करते वरत जब विभिन्न प्रकार के कितनेक रूप देखे... जैसे कि- ब्रधित याने पुष्प आदि से बनाये हुए स्वस्तिक आदि तथा वेष्टिम याने वस्त्र आदि से बनाये हुए पुतले ढींगला-ढींगली आदि... पुरिम याने जो कुछ अंदर भर कर पुरुष आदि की आकृति बनाइ हो, तथा संघातिम याने चोलक आदि... काष्ठकर्म याने रथ आदि... पुस्तकर्म याने लेप्य आदि... चित्रकर्म याने चित्रकला... मणिकर्म याने विभिन्न मणि-माणिक्य आदि से बनाये हुए स्वस्तिक आदि... तथा दंतकर्म याने हाथी आदि के दांत से बनाये हुए पुतले-प्रतिमादि... पत्रच्छेद्यकर्म याने वृक्ष के पत्ते के उपर विभिन्न आकृति आदि... इत्यादि विविध प्रकार के रूप को देखने की इच्छा से साधु वहां न जावें... अर्थात् इन रूप-चित्रों को देखने लिये जाने का मन याने इच्छा भी न करें...

इसी प्रकार शब्द-सप्तैकक के सूत्र का भावार्थ चार प्रकार के वाजिंत्र से रहित शेष सभी सूत्रों का भावार्थ यहां रूप-प्रतिमा में भी समझे... किंतु शब्द की जगह रूप शब्द का प्रयोग करें... और यहां दोष भी पूर्ववत् जानना चाहिए।

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में रूप-सौन्दर्य को देखने का निषेध किया गया है। इस में बताया गया है कि चार कारणों से वस्तु या मनुष्य के सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है- १. फूलों को गूँथकर उनसे माला गुलदस्ता आदि बनाने से पुष्पों का सौन्दर्य एवं उन्हें धारण करने वाले व्यक्ति की सुन्दरता भी बढ़ जाती है। २. वस्त्र आदि से आवृत्त व्यक्ति भी सुन्दर प्रतीत होती है। विविध प्रकार की पोशाक भी सौन्दर्य को बढ़ाने का एक साधन है। ३. विविध साँचों में ढालने से आभूषणों का सौन्दर्य चमक उठता है और उन्हें पहनकर स्त्री-पुरुष भी विशेष सुन्दर प्रतीत होने लगते हैं। ४. वस्त्रों की सिलाई करने से उनकी सुन्दरता बढ़ जाती है और विविध फैशनों से सिलाई किए हुए वस्त्र मनुष्य की सुन्दरता को और अधिक चमका देते हैं। इससे यह स्पष्ट हो गया है कि विविध संस्कारों से पदार्थों के सौन्दर्य में अभिवृद्धि हो जाती है। साधारण सी लकड़ी एवं पत्थर पर चित्रकारी करने से वह असाधारण प्रतीत होने लगती है। उसे देखकर मनुष्य का मन मोहित हो उठता है। इसी तरह हाथी दांत, कागज, मणि आदि पर किया गया विविध कार्य एवं चित्रकला आदि के द्वारा अनेक वस्तुओं को देखने योग्य बना दिया जाता है और कलाकृतियां उस समय के लिए ही नहीं, बल्कि जब तक वे रहती हैं तब तक मनुष्य के मन को आकर्षित किए बिना नहीं रहती हैं। इससे उस युग की शिल्प की एक झांकी मिलती है, जो उस समय विकास के शिखर पर पहुंच चुकी थी उस समय मशीनों के अभाव में भी मानव वास्तु-कला एवं शिल्पकला में आज से अधिक उन्नति कर चुका था।

इन सब कलाओं एवं सुन्दर आकृतियों तथा दर्शनीय स्थानों को देखने के लिए जाने का निषेध करने का तात्पर्य यह है कि साधु का जीवन आत्म-साधना के लिए है, आत्मा को कर्म बन्धनों से मुक्त करने के लिए है। अतः यदि वह इन सुन्दर पदार्थों को देखने के लिए इधर उधर जाएगा या दृष्टि दौड़ाएगा तो उससे चक्षु इन्द्रिय का विषय होगा, मन में राग-द्वेष या मोह की उत्पत्ति होगी और स्वाध्याय एवं ध्यान की साधना में विघ्न पड़ेगा। अतः संयम निष्ठ साधु को सदा अध्यात्म चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए। उसे अपने मन एवं दृष्टि को इधर-उधर नहीं दौड़ाना चाहिए। चक्षु इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना ही संयम-साधना का मूल उद्देश्य है। अतः साधु को विविध वस्तुओं एवं विविध स्थान के सौन्दर्य को देखने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

॥ द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयचूलिकायां पञ्चमः सप्तैककः समाप्तः ॥

卐 卐 卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिन्धुचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री दिद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य तीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययन से विश्व के सभी जीव पंचाचार की दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपद की पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५५ राजेन्द्र सं. १६. ५५ विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - २

अध्ययन - ६ सप्तैककः - ६

卐 परक्रिया...卐

अब परक्रिया नामका छद्म सप्तैकक-अध्ययन कहते हैं... पांचवे अध्ययन के बाद इस छद्मे अध्ययन का परस्पर अभिसंबंध इस प्रकार है... पांचवे अध्ययन में राग एवं द्वेष की उत्पत्ति के निमित्तों का निषेध कहा गया है, अब यहां छद्मे अध्ययन में भी अन्य प्रकार से वही बात कहते हैं... अतः इस संबंध से आये हुए इस छद्मे अध्ययन का नाम "परक्रिया" ऐसा आदान पद है, उनमें "पर" शब्द का छह (६) निक्षेप आधी गाथा से कहते हैं...

नाम-पर, स्थापना-पर, द्रव्य-पर, क्षेत्र-पर, काल-पर, एवं भाव-पर... उनमें नाम एवं स्थापना सुगम है... अब द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव-परके प्रत्येक निक्षेप के ६-६ उत्तर भेद होते हैं... वह इस प्रकार- तत्-पर-१। अन्य-पर-२। आदेश-पर-३। क्रम-पर-४। बहु-पर-५। एवं प्रधान-पर-६। इनमें द्रव्यतत्पर याने तद्-रूपता से रहा हुआ जो पर याने अन्य वह तत्पर... जैसे कि- परमाणु का घर परमाणु है... १.

तथा अन्य पर याने अन्य रूप जो पर याने अन्य हो वह अन्यपर... जैसे कि- परमाणु से द्वयणुक त्रयणुक आदि भिन्न (अन्य) है... इसी प्रकार द्वयणुक से एकाणुक-त्रयणुकादि... २.

तथा आदेश पर याने जो आदेश-आज्ञा किया जाय वह आदेश.. अब जो कोई कर्मकर याने सेवक किसी भी क्रिया में नियुक्त किया जाय वह ऐसा जो पर है वह आदेश पर... ३.

तथा क्रमपर द्रव्यादि चार प्रकार से होते हैं... उनमें द्रव्य से क्रमपर याने एकप्रदेशी द्रव्य से द्विप्रदेशी द्रव्य... इसी प्रकार द्वयणुक से त्रयणुक... तथा क्षेत्र से क्रम पर याने एक प्रदेशावगाढ से द्विप्रदेशावगाढ इत्यादि... तथा काल से क्रम-पर याने एक समय स्थितिवाले से द्विसमयस्थितिवाला इत्यादि... तथा भाव से क्रम पर याने एकगुणकृष्ण से द्विगुणकृष्ण इत्यादि... ४.

तथा बहुपर याने बहुत्व से जो पर है वह बहुपर... अर्थात् जिससे बहु वह उससे बहुपर है... जैसे कि- जीव सभीसे थोड़े...

पुद्गल

अनंतगुण

समय

अनंतगुण

द्रव्य	विशेषाधिक
प्रदेश	अनंतगुण
पर्याय	अनंतगुण...

जीव सभी से थोड़े हैं... उनसे पुद्गल अनंतगुण अधिक है... इत्यादि... ५.

तथा प्रधान-पर याने जो प्रधानत्व से पर है... जैसे कि- द्विपद (दो पैरवालों) में तीर्थंकर प्रभु... चतुष्पद में सिंह आदि.. तथा अपद में अर्जुनसुवर्ण याने सफेद सोना तथा पनस आदि फल... ६. इसी प्रकार क्षेत्र-काल एवं भावपर भी जानीयेगा... तत्पर आदि छह प्रकार से क्षेत्रादि की प्रधानता से पूर्ववत् अपने आपकी बुद्धि से स्वयं जानीयेगा...

सामान्य से जंबूद्वीप क्षेत्र से पुष्करादि क्षेत्र पर है.. तथा कालपर याने प्रावृट् (वर्षा) काल से शरत्काल पर है... तथा भावपर याने औदयिक भाव से औपशमिकादि भाव पर है...

अब सूत्रानुगम में सूत्र का शुद्ध उच्चारण करें और वह सूत्र यह है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ५०६ ॥

परकिरियं अज्झत्थियं संसेसिअं नो तं सायए नो तं नियमे, सिय ासे परो पाए आमज्जिज्ज वा पमज्जिज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे । से सिया परो पायाइं संबाहिज्ज वा पलिमदिज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे ।

से सिया परो पायाइं फुसिज्ज वा रइज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे । से सिया परो पायाइं तिल्लेण वा घयेण वा वसाए वा मयिस्सज्ज वा अब्भिगिज्ज वा नो तं ।

से सिया परो पायाइं लुद्धेण वा कयकेण वा चुण्णेण वा दण्णेण वा उल्लोद्धिज्ज वा उव्वलिज्ज वा नो तं । से सिया परो पायाइं सीओदगवियडेण वा उच्छोलिज्ज वा पहोलिज्ज वा नो तं० ।

से सिया परो पायाइं अण्णयरेण विलेवणजाएण आलिपिज्ज वा विलिपिज्ज वा नो तं० । से सिया परो पायाइं अण्णयरेण धूवणजाएण धूविज्ज वा पधूविज्ज वा नो तं० । से सिया परो पायाओ आणुयं वा कंटयं वा नीहरिज्ज वा विसोहिज्ज वा नो तं० ।

से सिया परो पायाओ पूयं वा सोणियं वा नीहरिज्ज वा विसोहिज्ज वा नो तं० । से सिया परो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे । से सिया परो कायं लोट्टेण वा संबाहिज्ज वा पलिमदिज्ज वा नो तं० ।

से सिया परो कायं तिल्लेण वा घयेण वा वसाए वा मक्खिज्ज वा अम्भंगिज्ज वा नो तं० । से सिया परो कायं लुद्धेण वा उल्लोढिज्ज वा उव्वलिज्ज वा नो तं० । से सिया परो कायं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिज्ज वा पहोलिज्ज वा नो तं० । से सिया परो कायं अण्णयरेण विलेवणजाएण आलिपिज्ज वा नो तं० । से० कायं अण्णयरेण धूवणजाएण धूविज्ज वा पधूविज्ज वा नो तं० ।

से० कायंसि वणं आमज्जिज्ज वा नो तं० । से वणं संवाहिज्ज वा पलिमदिज्ज वा नो तं० ।

से वणं तिल्लेण वा घयेण वा वसाए वा मक्खिज्ज वा अम्भंगिज्ज वा नो तं० । से० वणं लुद्धेण वा उल्लोढिज्ज वा उव्वलेज्ज वा नो तं० ।

से सिया परो कायंसि वणं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिज्ज वा पहोलिज्ज वा नो तं० । से० सिया परो वणं वा गंडं वा अरइं वा पुलयं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा सत्थजाएणं अच्छिंदिज्ज वा विच्छिंदिज्ज वा नो तं० ।

से सिया परो अण्णं जाएण आच्छिंदिता वा विच्छिंदिता वा पूयं वा सोणियं वा नीहरिज्ज वा विसोहिज्ज वा नो तं० । से० कायंसि गंडं वा अरइं वा पुलइयं वा भगंदलं वा आमज्जिज्ज वा पमज्जिज्ज वा नो तं० ।

से० गंडं वा संवाहिज्जा वा पलिमदिज्ज वा नो तं० । से० कायं गंडं वा तिल्लेण वा मक्खिज्ज वा नो तं० । से गंडं वा लुद्धेण वा उल्लोढिज्ज वा उव्वलिज्ज वा नो तं० ।

से गंडं वा सीओदगं उच्छोलिज्ज वा पहोलिज्ज वा नो तं० । से० गंडं वा अण्णयरेण सत्थजाएणं आच्छिंदिज्ज वा वि० अण्णं सत्थं अच्छिंदिता वा पूयं वा सोणियं वा नीहरिज्ज वा विसोहिज्ज वा० नो तं सायए ।

से सिया परो कायंसि सेयं वा जल्लं वा नीहरिज्ज वा विसोहिज्ज वा० नो तं० । से सिया परो अछिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा नहमलं वा नीहरिज्ज वा विसोहिज्ज वा नो तं० ।

से सिया परो दीहाइं वालाइं दीहाइं वा रोमाइं दीहाइं वा भमुहाइं, दीहाइं वा कक्खरोमाइं, दीहाइं वा बत्थिरोमाइं कप्पिज्ज वा संठविज्ज वा नो तं० । से सिया परो सीसाओ तिक्खं वा जूयं वा नीहरिज्ज वा विसोहिज्ज वा नो तं० ।

से सिया परो अंकंसि वा पलियंकंसि वा तुयट्टावित्ता पायाइं आमज्जिज्ज वा पमज्जिज्ज वा । एवं हिदिठमो गमो पायाइ भावियव्वो ।

से सिया परो अंकंसि वा, तुयट्टावित्ता हारं वा अद्धहारं वा उररथं वा नेवेयं वा मउडं वा पालंबं वा सुवण्णसुत्तं वा आविहिज्ज वा पिणहिज्ज वा नो तं० ।

से० परो आरामंसि वा उज्जाणंसि वा नीहरित्ता वा पविसित्ता वा पायाइं आमज्जिज्ज वा पमज्जिज्ज वा नो तं साइए । एवं नेयव्वा अण्णमण्णकिरिया दि ॥ ५०६ ॥

II संस्कृत-छाया :

परक्रियां आध्यात्मिकीं सांश्लेषिकीं न तां स्वादयेत् न तां नियमयेत्, स्यात् तस्य परः पादौ आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा न तां आस्वादयेत् न तां नियमयेत् । तस्य स्यात् परः पादौ संवाहयेत् वा परिमर्दयेत् वा न तां आस्वादयेत् न तां नियमयेत् ।

तस्य स्यात् परः पादौ संस्पर्शयेत् वा रज्जयेत् वा न तां आस्वादयेत् न तां नियमयेत् । सः स्यात् परः पादौ तैलेन वा घृतेन वा वसया वा ब्रह्मयेत् वा अभ्यञ्जयेत् वा न तां० ।

तस्य स्यात् परः पादौ लोघ्णेन वा कल्केण वा चूर्णेन वा वर्णेन वा उल्लोलयेत् वा उद्वर्तयत् वा नो तां । तस्य स्यात् परः पादौ शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छोलयेत् वा प्रधावयेत् वा न तां० । तस्य स्यात् परः पादौ अन्यतरेण वा विलेपनजातेन आलिम्पयेत् वा विलिम्पयेत् वा नो ताम्० । सः स्यात् परः पादौ अन्यतरेण वा धूपजातेन धूपयेत् वा प्रधूपयेत् वा न तां० । तस्य स्यात् परः पादौ स्नाणुकं वा कण्टकं वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा न तां० । तस्य स्यात् परः पादौ पूयं वा शोणितं वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा न तां० । तस्य स्यात् परः कायं आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा, न तां स्वादयेत् न तां नियमयेत् । तस्य स्यात् परः कायं लोघ्णेन वा संवाहयेत् वा परिमर्दयेत् वा न तां० ।

तस्य स्यात् परः कायं तैलेन वा घृतेन वा वसया वा ब्रह्मयेत् वा अभ्यञ्जयेत् वा न तां० । सः स्यात् परः कायं लोघ्णेन वा, उल्लोलयेत् वा उद्वर्तयत् वा न तां० । तस्य स्यात् परः कायं शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छोलयेत् वा प्रधावयेत् वा न तां० । तस्य स्यात् परः कायं शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छोलयेत् वा विलेपनजातेन आलिम्पयेत् वा विलिम्पयेत् वा न तां० । सः स्यात् परः कायं अन्यतरेण धूपनजातेन धूपयेत् वा

प्रधूपयेत् वा न तां० ।

तस्य स्यात् परः काये व्रणं आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा न तां० । सः स्यात् परः काये व्रणं संवाहयेत् वा परिमर्दयेत् वा न तां० । तस्य स्यात् परः काये व्रणं तैलेन वा धृतेन वा वसया वा ऋक्षयेत् वा अभ्याञ्जयेत् वा न तां० । सः स्यात् परः काये व्रणं लोध्रेण वा उल्लोलयेत् वा उद्वर्तयेत् वा नो तां० ।

तस्य स्यात् परः काये व्रणं शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छोलयेत् वा प्रधावयेत् वा न तां० । तस्य स्यात् परः काये व्रणं वा गण्डं वा अरतिं वा पुलकं वा भगन्दरं वा अन्यतरेण वा शस्त्रजातेन आच्छिन्द्यात् वा विच्छिन्द्यात् वा न तां० ।

तस्य स्यात् परः अन्य० जातेन आच्छिन्द्य वा विच्छिन्द्य वा पूयं वा शोणितं वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा अरतिं वा पुलकितं वा भगन्दरं वा आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा न तां० ।

तस्य स्यात् परः काये गण्डं वा संवाहयेत् वा परिमर्दयेत् वा न तां० । तस्य स्यात् परः काये गण्डं वा४ तैलेन वा३ ऋक्षयेत् वा अभ्याञ्जयेत् वा न तां०२ । तस्य स्यात् परः काये गण्डं वा लोध्रेण वा उल्लोलयेत् वा उद्वर्तयेत् वा न तां० ।

तस्य स्यात् परः काये गण्डं वा शीतोदकविकटेन वा उष्णोदकविकटेन वा उच्छोलयेत् वा प्रधावयेत् वा न तां० । तस्य स्यात् परः काये गण्डं वा अन्यतरेण वा शस्त्रजातेन आच्छिन्दयेत् वा विच्छिन्दयेत् वा अन्य० शस्त्र० आच्छिन्द्य वा विच्छिन्द्य वा पूयं वा शोणितं वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा न तां स्वादयेत् ।

तस्य स्यात् परः काये स्वेदं वा जलं वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा न तां० । तस्य स्यात् परः काये अक्षि-मलं वा कर्णमलं वा दन्तमलं वा नखमलं वा निहरेत् वा न तां० ।

तस्य स्यात् परः काये दीर्घाः बालाः वा दीर्घानि रोमाणि वा दीर्घे भ्रुवौ वा दीर्घाणि कक्षा-रोमाणि वा दीर्घाणि बस्तिरोमाणि वा कृन्तेत् वा संस्थापयेत् वा न तां० । तस्य स्यात् परः काये शीर्षतः लिक्षां वा यूकां वा निहरेत् वा विशोधयेत् वा न तां स्वादयेत् वा न तां नियमयेत् वा ।

तस्य स्यात् परः अङ्के वा पल्यङ्के वा स्वापयित्वा पादौ आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् वा । एवं अधस्तनः गमः पादादौ भणितव्यः ।

तस्य स्यात् परः काये अङ्के वा त्वक्वर्तयित्वा (स्वापयित्वा) हारं वा अर्द्धहारं

वा उरस्थं वा श्रौवेयकं वा मुकुटं वा प्रालम्बनकं वा सुवर्णसूत्रं वा आबधनीयात् वा पिथापयेत् वा न तां० ।

तस्य स्यात् परः आरामे वा उद्याने निहत्य वा प्रविश्य वा पादौ आमृज्यात् वा प्रमृज्यात् न तां स्वादयेत् वा न तां नियमयेत् वा एवं नेतव्या अन्योऽन्यक्रिया अपि ॥ ५०६ ॥

III सूत्रार्थ :

यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर पर कर्मबन्धन स्वरूप क्रिया करे तो मुनि उसको मज से न चाहे और न वचन से तथा काया से उसे करावे । जैसे—कोई गृहस्थ मुनि के चरणों को साफ कर, प्रमार्जित करे, आर्मदन या संमर्दन करे— तैल से, घृत से या वसा (औषधिविशेष) से मालिश करे । एवं लोघ से, कर्क से, चूर्ण से या वर्ण से उद्वर्तन करे या निर्मल शीतल जल से, उष्ण जल से प्रक्षालन करे या इसी प्रकार विविध प्रकार के विलेपनों से आलेपन और विलेपन करे । धूप विशेष से धूपित और प्रधूपित करे, मुनि के पैर में लगे हुए कंटक आदि को निकाले और शल्य को शुद्ध करे तथा पैरों से पीप और रुधिर को निकाल कर शुद्ध करे तो मुनि गृहस्थ से उक्त क्रियाएं कदापि न चाहे एवं न कराए ।

इसी तरह यदि कोई गृहस्थ साधु के शरीर में उत्पन्न हुए व्रण-सामान्य फोडा, गंड, अर्श, पुलक और भगंदर आदि व्रणों को शस्त्रादि के द्वारा छेदन करके पूय और रुधिर को निकाले तथा उसको साफ करे एवं जितनी भी क्रियाएं चरणों के सम्बन्ध में कही गई हैं वे सब क्रियाएं व्रण आदि में करे, तथा साधु के शरीर पर से स्वेद और मल युक्त प्रस्वेद को दूर करे, एवं आंख, कान, दांत और नखों के मल को दूर करे तथा शिर के लम्बे केशों, और शरीर पर के दीर्घ रोमों को अथवा बस्ति (गुदा आदि गृह्य प्रदेश) गत दीर्घ रोमों को कतरे अथवा संवारे, तथा सिर में पड़ी हुई लीखों और जुंओं को निकाले । इसी प्रकार साधु को गोद में या पलंग पर बिठा कर या लिटाकर उसके चरणों को प्रमार्जन आदि करे, तथा गोद में या पलंग पर बिठा कर हार (१८ लडीका) अर्द्धहार (९ लडीका) छाती पर पहननेवाले आभूषण (गहने) गले में डालने के आभूषणों एवं मुकुट, माला और सुवर्ण के सूत्र आदि को पहनाये, तथा आराम और उद्यान में ले जाकर चरण प्रमार्जनादि पूर्वोक्त सभी क्रियाएं करे, तो मुनि उन सब क्रियाओं को न तो मज से चाहे और न वाणी अथवा शरीर द्वारा उन्हें करवाने का आदेश—प्रयत्न करे । तथा इसी प्रकार साधु भी परस्पर में पूर्वोक्त क्रियाओं का आचरण न करें ।

IV टीका-अनुवाद :

पर याने अपने आप के आत्मा से भिन्न ऐसे अन्य की क्रिया मन, वचन एवं काया के व्यापार स्वरूप जो क्रिया वह परक्रिया तथा आत्मा में होनेवाली जो क्रिया वह आध्यात्मिकी क्रिया तथा सांश्लेषिकी याने कर्म के संश्लेष उदय से होनेवाली क्रिया... ऐसी उन क्रियाओं को साधु आस्वादे नहीं अर्थात् चाहे नहीं... तथा मन से अभिलाषा भी न करे अर्थात् वाणी से वचन के द्वारा परक्रिया करावे भी नहि... तथा काया से भी परक्रिया साधु न करे, न करावे...

अब विशेष प्रकार से परक्रिया के विषय में कहते हैं... जैसे कि- शरीर की सेवा नहि करने वाले उस साधु के रज-धूलीवाले पैरों को कोई श्रद्धालु श्रावक-गृहस्थ धर्म-बुद्धि से कपडे के टुकडे के द्वारा साफ करे बार बार साफ करे तब उस परक्रिया का साधु आस्वाद-मजा न ले और उस परक्रिया करने के लिये अन्य को न कहे... इसी प्रकार पैरों की मालिस करनेवाले या पग-चंपी करनेवाले को या पैरों को सहलाने वाले को या तैल आदि से मर्दन करनेवाले को या लोध आदि से पैरों का उद्वर्तन करनेवाले को या ठंडे जल आदि से पैरों को धोनेवाले को या कोई भी सुगंधि द्रव्य से विलेपन करनेवाले को या विशिष्ट धूप से धूपित करनेवाले को या पैरमें से कांटे को बाहार निकालनेवाले को इसी प्रकार लोहि (खून) आदि निकालनेवाले को साधु मन से न चाहे वचन से ऐसा न करावे एवं काया से ऐसा न करे, न करावे।

इसी प्रकार शरीर के व्रण (घाव) आदि संबंधित सूत्र के भावार्थ को स्वयं ही जानें... तथा बगीचे में प्रवेश एवं बाहार निकलने के वख्त पैर प्रमार्जन के सूत्र का भावार्थ भी पूर्ववत् स्वयं ही जान लें... इसी प्रकार संक्षेप रूचिवाले सूत्रकार महाराज अतिदेश याने सूचन करते हैं कि- उत्तर समक में भी पूर्ववत् सूत्रार्थ तुल्य होने से स्वयं ही जानें... वह इस प्रकार- पूर्वोक्त रज-धूली प्रमार्जनादि परक्रिया प्रतिक्रिया न करने की प्रतिज्ञावाले साधु परस्पर याने एक साधु अन्य साधु की ऐसी परक्रिया न करें... इसी प्रकार अन्योऽन्यक्रिया-समैकक का भावार्थ स्वयं ही समझना चाहिए...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में परक्रिया के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया गया है। इस में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ साधु के पैर आदि का प्रमार्जन करके उसे गर्म या ठण्डे पानी से धोए और उस पर तैल, घृत आदि स्निग्ध पदार्थों की मालिश करे या उसके घाव आदि को साफ करे या बवासीर आदि की विशेष रूप से शल्य चिकित्सा आदि करे, या कोई गृहस्थ साधु को अपनी गोद में या पलंग पर बैठाकर मालिश कर उसे आभूषणों से सुसज्जित करे, या उसके सिर के बाल, रोम, नख एवं गुप्तांगों पर बड़े हुए बालों को देखकर उन्हें साफ करे, तो साधु उक्त क्रियाओ को न मन से चाहे और न वाणी एवं काया से उनके करने की

प्रेरणा दे। वह उक्त क्रियाओं के लिए स्पष्ट इन्कार कर दे।

यह सूत्र विशेष रूप से जिन कल्पी मुनि से संबद्ध है, जो रोग आदि के उत्पन्न होने पर भी औषध का सेवन नहीं करते। स्थविर कल्पी मुनि निरवध एवं निर्दोष औषध ले सकते हैं। परन्तु साधु को बिना किसी विशिष्ट कारण के गृहस्थ से तैल आदि का मर्दन नहीं करवाना चाहिए। और इसी दृष्टि से सूत्रकार ने गृहस्थ के द्वारा चरण स्पर्श आदि का निषेध किया है। यह निषेध भक्ति की दृष्टि से नहीं, बल्कि तैल आदि की मालिश करने की अपेक्षा से किया गया है। यदि कोई गृहस्थ श्रद्धा एवं भक्तित्वश साधु का चरण स्पर्श करे तो इसके लिए भगवान ने निषेध नहीं किया है। उपासकदशांग सूत्र में बताया गया है कि जब गौतम आनन्द श्रावक को दर्शन देने गए तो आनन्द ने उनके चरणों का स्पर्श किया था। इससे स्पष्ट होता है कि यदि कोई गृहस्थ वैयावृत्य करने या पैर आदि प्रक्षालन करने के लिए पैरों का स्पर्श करे तो साधु उसके लिए इन्कार करदे। यह वैयावृत्य करवाने का प्रकरण जिनकल्पी एवं स्थविर कल्पी सभी मुनियों से सम्बन्धित है अर्थात् किसी भी मुनि को गृहस्थ से पैर आदि की मालिश नहीं करवानी चाहिए और गृहस्थ से उनका प्रक्षालन भी नहीं करवाना चाहिए।

इसी तरह यदि कोई गृहस्थ साधु को अपनी गोद में या पलंग पर बैठाकर उसे आभूषण आदि से सजाए या उसके सिर के बाल, रोम, नख आदि को साफ करे तो साधु ऐसी क्रियाएं न करवाए। इस पाठ से यह स्पष्ट होता है कि यह जिनकल्पी मुनि के प्रकरण का है, और वह केवल मुखवस्त्रिका और रजोहरण लिए हुए है। क्योंकि इस पाठ में बताया गया है कि कोई गृहस्थ मुनि के सिर के, कुक्षि के तथा गुप्तांगों के बड़े हुए बाल देखकर उन्हें साफ करना चाहे तो साधु-ऐसा न करने दे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सर्वथा नग्न रहनेवाले जिनकल्पी मुनि भी मुखवस्त्रिका और रजोहरण रखते थे अतः यदि कोई गृहस्थ कुक्षि आदि के बाल साफ करे तो साधु उससे साफ न कराए।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु को गृहस्थ से पैर दबाने आदि की क्रियाएं नहीं करवानी चाहिए। क्योंकि यह कर्म बन्ध का कारण है, इसलिए साधु मन, वचन और शरीर से इनका आसेवन न करे। और बिना किसी विशेष कारण के परस्पर में भी उक्त क्रियाएं न करे। क्योंकि दूसरे साधु के शरीर आदि का स्पर्श करने से मन में विकार भाव जागृत हो सकता है और स्वाध्याय का महत्वपूर्ण समय यों ही नष्ट हो जाता है। अतः साधु को परस्पर में मालिश आदि करने में समय नहीं लगाना चाहिए। परन्तु विशेष परिस्थिति में साधु अपने साधर्मिक साधु की मालिश आदि कर सकता है, उसके घावों को भी साफ कर सकता है। अर्थात्, यह पाठ उत्सर्ग मार्ग से संबद्ध है और उत्सर्ग मार्ग में साधु को परस्पर उपरोक्त क्रियाएं नहीं करनी चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि श्री सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं....

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ५०७ ॥

से सिया परो सुद्धेणं वा असुद्धेणं वा वडबलेण वा तेइच्छं आउदटे, से० असुद्धेणं वडबलेणं तेइच्छं आउदटे ।

से सिया परो गिलाणस्स सचित्ताणि वा कंदाणि वा मूलाणि वा तयाणि वा हरियाणि वा खणित्तु कड्ढित्तु वा कड्ढावित्तु वा तेइच्छं आउदटाविज्ज नो तं सायप्, कडुवेयणा पाणभूय जीव सत्ता वेयणं वेइंति, एयं खलु० समिप सया जप सेयमिणं मणिज्जासि तिबेमि ॥ ५०७ ॥

II संस्कृत-छाया :

तस्य-स्यात् परः शुद्धेन अशुद्धेन वा वाग्बलेन वा चिकित्सां कर्तुं अभिलषेत्, तस्य स्यात् परः अशुद्धेन वाग्बलेन चिकित्सां कर्तुं अभिलषेत् ।

तस्य स्यात् परः ग्लानस्य चिकित्सायै सचित्तानि वा कन्दानि वा मूलानि वा त्वचः वा हरितानि वा खनित्वा कृष्ट्वा कर्षयित्वा वा चिकित्सां कर्तुं अभिलषेत्, न तां स्वादयेत् न तां नियमयेत् । कटुवेदनाः प्राणि-भूत-जीव-सत्त्वाः वेदनां वेदयन्ति, एतत् खलु० समितः सदा यतेत, श्रेयः इदं मन्येत इति ब्रवीमि ॥ ५०७ ॥

III सूत्रार्थ :

यदि कोई सदगृहस्थ शुद्ध अथवा अशुद्ध मंत्रबल से साधु की चिकित्सा करनी चाहे, इसी प्रकार किसी रोगी साधु को कन्द मूल आदि सचित वृक्ष, छाल और हरी वनस्पति का अवहनन करके चिकित्सा करनी चाहे तो साधु उसकी इस क्रिया को न तो मन से चाहे और न वाणी तथा शरीर से ऐसी सावध चिकित्सा कराए । किन्तु उस समय इस अनुप्रेक्षा से आत्मा को सान्त्वना देने का यत्न करे कि प्रत्येक प्राणी अपने पूर्व जन्म के लिए हुए अशुभ कर्मों के फलस्वरूप कटुकवेदना का उपभोग करते हैं । अतः मुझे भी स्वकृत अशुभकर्म के फलस्वरूप इस रोग जन्य वेदना को शान्ति पूर्वक सहन करना चाहिए । मेरे लिए यही कल्याणकारी है और इस प्रकार का चिन्तन करते हुए समभाव से वेदना को सहन करने में ही मुनिभाव का संरक्षण है । इस प्रकार मैं कहता हूँ ।

IV टीका-अनुवाद :

वह कोई श्रद्धालु गृहस्थ उस साधु की शुद्ध या अशुद्ध मंत्र तंत्रादि बल से रोग के शमन के लिये चिकित्सा करना चाहे... तथा वह गृहस्थ ग्लान (बिमार) साधु की चिकित्सा के लिये सचित कंद-मूल आदि स्वयं ही खोदकर या अन्य के द्वारा खुदवा कर चिकित्सा करना चाहे तब वह साधु उस परक्रिया का आस्वाद्य याने आनंद मन से भी व्यक्त न करे या उस परक्रिया के लिये अन्य को न कहे... क्योंकि- इस विश्व में पूर्वकृत कर्मों के फलों को याने सुख-दुःख को सभी संसारी जीव भुगतते हैं... क्योंकि- अन्य जीवों को शारीरिक एवं मानसिक वेदना-पीडा उत्पन्न करके कर्मविपाक से होनेवाली कटु वेदनावाले सभी संसारी प्राणी भूत जीव एवं सत्त्व हैं... अर्थात् किये हुए पापकर्मों की पीडा को सभी जीव भुगतते हैं... अन्यत्र भी कहा है कि- हे जीव ! यह कर्म के फल स्वरूप वेदना-पीडा पुनः भी सहन करना ही पडेगा, क्योंकि- किये हुए कर्मों का फल भुगते बिना छुटकारा नहीं है, अतः ऐसा जानकर जो जो कर्मफल स्वरूप दुःख पीडा आवें उन्हें समभाव से भुगत लें... क्योंकि- ऐसी समझ तुझे अन्य-भवों में कहां प्राप्त होगी ? सत् एवं असत् का विवेक अभी तुझे प्राप्त हुआ है अतः यहां मुनि जीवन में पूर्वकृत कर्मों के कटुफलों को समभाव से सहन करें...

शेष सभी सूत्रों का अर्थ सुगम है अतः स्वयं ही समझ लीजियेगा...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि कोई गृहस्थ शुद्ध या अशुद्ध मंत्र से या सचित वस्तुओं से चिकित्सा करे तो साधु उसकी अभिलाषा न रखे और न उसके लिए वाणी एवं शरीर से आज्ञा भी न दे । जिस मंत्र आदि की साधना या प्रयोग के लिए पशु-पक्षी की हिंसा आदि सावध क्रिया करनी पड़े उसे अशुद्ध मंत्र कहते हैं । और जिसकी साधना एवं प्रयोग के लिए सावध अनुष्ठान न करना पड़े उसे शुद्ध मंत्र कहते हैं परन्तु साधु उभय प्रकार की मंत्र चिकित्सा न करे और न अपने स्वास्थ्यलाभ के लिए सचित औषधियों का ही उपयोग करे । वह साधु प्रत्येक स्थिति में अपनी आत्मशक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करे । वेदनीय कर्म के उदय से उदित हुए रोगों को समभाव पूर्वक सहन करे । वह यह सोचे कि पूर्व में बन्धे हुए अशुभ कर्म के उदय से रोग ने मुझे आकर घेर लिया है । इस वेदना का कर्ता मैं ही हूँ । जैसे मैंने हंसते हुए इन कर्मों का बंध किया है उसी तरह हंसते हुए इनका वेदन करूंगा । परन्तु इनकी उपशान्ति के लिए किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं दूंगा और न तंत्र-मंत्र का सहार ही लूंगा ।

वृत्तिकार ने यही कहा है कि हे साधक, तुझे यह दुःख समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए ; क्योंकि बन्धे हुए कर्म समय पर अपना फल दिए बिना नष्ट नहीं होते हैं । और इन

सब कर्मों का कर्ता भी तू ही है। अतः उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले सुख-दुख को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। क्योंकि सदसद् का ऐसा विवेक तुझे अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होना है। इसलिए विवेक पूर्वक तुम्हें वेदना को समभाव से सहन करना चाहिए।

‘तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयचूलिकायां षष्ठः सप्तैककः समाप्तः ॥

卐卐卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिन्धुचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनस्नेहा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाठ-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वत्तरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययन से विश्व के सभी जीव पंचाचार की दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपद की पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८.卐 राजेन्द्र सं. ९६.卐 विक्रम सं. २०५८.

卐卐卐

आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - २

अध्ययन - ७ सप्तैककः - ७

ॐ अन्योन्यक्रिया ॐ

अब अन्योन्यक्रिया नाम का सातवा अध्ययन (सप्तैकक) कहते हैं... यहां छठे अध्ययन के बाद सातवे अध्ययन का यह अभिसंबंध है कि- छठे अध्ययन में सामान्य से परक्रिया का निषेध किया था, अब यहां सातवे अध्ययन में गच्छ से निकलकर जिनकल्प आदि स्वीकारनेवाले साधुओं के लिये अन्योन्यक्रिया का निषेध कहना है... अतः इस संबंध से आये हुए इस सातवे अध्ययन के नाम निक्षेप में "अन्योन्यक्रिया" यह नाम है... उनमें "अन्य" पद के निक्षेप के लिये नियुक्तिकार गाथा के उतरार्थ से कहते हैं...

नि. ३२८

अन्य पद के नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव यह छह (६) निक्षेप होते हैं... उनमें नाम एवं स्थापना सुगम है... अब द्रव्य-अन्य के तीन भेद हैं १. तदन्यत् २. अन्यान्यत् ३. आदेश्यान्यत् यह तीनों द्रव्य-पर की तरह जानें...

यहां स्थविरकल्पवाले साधु परक्रिया एवं अन्योन्यक्रिया में जयणा करें और गच्छनिर्गत जिनकल्पादि साधु को यह परक्रिया एवं अन्योन्यक्रिया त्याज्य कही है...

जो साधु यतमान याने स्थविरकल्पवाले हैं, वे यतना-जयणा से अन्योन्यक्रिया करें और जो निष्प्रतिकर्म-जिनकल्पादि साधु हैं वे अन्योन्यक्रिया का त्याग करते हैं...

अब सूत्रानुगम में सूत्र इस प्रकार है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ५०८ ॥

से भिक्खू वा, अण्णमण्ण किरियं अज्झत्थियं संसेइयं नो तं सायए, । से अण्णमण्णं पाए आमज्जिज्ज वा० नो तं० । सेसं तं चेव, एयं खलु० जइज्जासि तिबेमि ॥ ५०८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः भिक्षुः वा, अन्योन्यक्रियां आध्यात्मिकीं सांश्लेषिकीं न तां स्वादयेत् । सः

अन्योन्यं पादौ आमृज्यात् वा० न तां० शेषं तं चैव, एतत् खलु० यतेत इति ब्रवीमि

॥ ५०८ ॥

III सूत्रार्थ :

वह साधु या साध्वी परस्पर अपनी आत्मा के विषय में की हुई क्रिया जो कि कर्म बन्धन का कारण है, उसको न मन से चाहे, न वचन से कहे, और न काया से कराए। जैसे कि परस्पर चरणों का प्रमार्जन आदि करना। शेष वर्णन त्रयोदशवें अध्यायन छठे सप्तैकक के समान जानना चाहिए। यह साधु का संपूर्ण आचार है, उसे सदा सर्वदा संयम को परिपालन में प्रयत्नशील रहना चाहिए। इस प्रकार में कहता हूं।

IV टीका-अनुवाद :

अन्योन्य याने परस्पर की पैर आदि के प्रमार्जनादि क्रिया पूर्वोक्त सभी प्रकार की क्रिया तथा आध्यात्मिकी एवं सांश्लेषिकी आदि क्रिया साधु स्वयं न करे न करावे तथा मन से भी ऐसी क्रियाओं को न चाहे... इत्यादि बातें पूर्ववत् जानना चाहिए...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में पारस्परिक क्रिया का निषेध किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि एक साधु दूसरे साधु को यह न कहे कि तू मेरे पैर आदि की मालिश कर और मैं तेरे पैर की मालिश करूं। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि साधु किसी साधु की बीमारी आदि की अवस्था में गुरु आदि की आज्ञा से उसकी सेवा भी नहीं करे। यह निषेध केवल बिना कारण ऐसी क्रियाएं करने के लिए किया गया है। जिससे जीवन में आरामतलबी एवं प्रमाद न बढ़े और स्वाध्याय का समय केवल शरीर को सजाने एवं संवारने में ही पूरा न हो जाए। इससे स्पष्ट होता है कि विशेष कारण उपस्थित होने पर की जाने वाली सेवा-शुश्रूषा का निषेध नहीं किया गया है। क्योंकि आगम में वैयावृत्य करने से मिलने वाले फल का निर्देश करते हुए बताया है कि यदि वैयावृत्य करते हुए उत्कृष्ट भावना आ जाए तो आत्मा तीर्थंकर गोत्र कर्म का बन्ध करता है। इस प्रकार वैयावृत्य से महानिर्जरा का होना भी बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि राग-द्वेष से ऊपर उठकर बिना स्वार्थ से की जाने वाली सेवा-शुश्रूषा का सूत्रकार ने निषेध नहीं किया है।

‘तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझे।

॥ द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयचूलिकायां सप्तमः सप्तैककः समाप्तः ॥

ॐ ॐ ॐ

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययन से विश्व के सभी जीव पंचाचार की दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपद की प्राप्तता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५१ राजेन्द्र सं. ९६. ५१ विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - ३

卐 भावना... 卐

दूसरी चूलिका पूर्ण हुई अब तीसरी चूलिका का प्रारंभ करते हैं यहां परस्पर यह अभिसंबंध है कि- यहां इस आचारांग सूत्र में आरंभ से ही श्री वर्धमानस्वामीजी ने जो कुछ अर्थ कहा था वह प्रस्तुत किया... अब उपकारी ऐसे उन श्री वर्धमान स्वामीजी के संबंध में कुछ संक्षिप्त परिचय तथा पांच महाव्रत युक्त ऐसे साधु एवं साध्वीजी म. ही आहारादि पिंड एवं शय्या वस्त्र-पात्र-वसति आदि का ग्रहण करे... अन्य नहीं... अतः उन महाव्रतों के परिपालन के लिये भावना कहनी चाहिये... इस संबंध से यहां यह तीसरी चूलिका आई है...

इस भावना नाम की तीसरी चूलिका के चार अनुयोग द्वारा हैं उनमें उपक्रम के अंतर्गत यह अर्थाधिकार है कि- अप्रशस्त भावना के त्याग के साथ प्रशस्त भावना कहनी चाहिये... नाम-निष्पन्न निक्षेप में भावना यह नाम है... और इस भावना के नामादि चार निक्षेप होते हैं... उनमें नाम एवं स्थापना निक्षेप सुगम है अतः द्रव्य निक्षेप का स्वरूप कहते हैं...

नि. 330

नो आगम से तद्व्यरिक्त द्रव्य भावना याने गंधांग स्वरूप जाइके पुष्पों से तिलादि द्रव्यों मे की जानेवाली वासना वह भावना है, तथा जो शीत से भावित है वह शीतसहिष्णु और उष्ण से भावित है वह उष्णसहिष्णु... होता है... तथा आदि पद से-व्यायाम से अभ्यस्त देह है वह व्यायामसहिष्णु- इत्यादि अन्य द्रव्य से या द्रव्य की जो भावना वह द्रव्य भावना... तथा भाव विषयक जो भावना वह भाव-भावना... यह प्रशस्त एवं अप्रशस्त भेद से दो प्रकार की है... उनमें अप्रशस्त भाव-भावना इस प्रकार जानना चाहिए...

नि. 33१

जैसे कि- कोई मनुष्य प्राणि-वधादि कार्यों में जब सर्व प्रथम प्रवृत्त होता है तब साशंक होता है... और बाद में बार बार प्राणिवधादि करने पर वह निःशंक होकर पापाचरण करता है...

अन्यत्र भी कहा है कि- कोई भी मनुष्य सर्व प्रथम जीव हिंसा करता है तब उसे जीव के प्रति दया-करुणा होती है और वह खुद अपराध कर रहा है ऐसा महसूस करता है, और दुबारा जब जीवहिंसा करता है तब वह दया-करुणा भूल जाता है, और तीसरी बार वह निःशंक

होकर निर्दयता के साथ जीव हिंसा करता है और उसके बाद सतत जीवहिंसा के कार्य में लगा रहता है...

नि. 332

प्रशस्त भावना के अधिकार में दर्शन ज्ञान चरित्र तपश्चर्या एवं वैराग्य आदि भावों में होनेवाली प्रशस्त भावना का स्वरूप अब क्रमशः लक्षण के साथ कहते हैं...

नि. 333

दर्शन भावना इस प्रकार है... तीर्थंकर भगवंतो के प्रवचन स्वरूप द्वादशांगी-गणपिटक का, तथा प्रावचनी याने युगप्रधान ऐसे आचार्यादि का, तथा अतिशय-ऋद्धिवाले केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी अर्थात्ज्ञानी चौदपूर्वधर दशपूर्वधर आदि का, तथा आमर्षोषध्यादि ऋद्धि को प्राप्त करने वाले का जो सन्मुख गमन स्वरूप स्वागत करना, दर्शन करना, गुणों की प्रशंसा करना तथा सुगंधिचूर्ण आदि से पूजा करना एवं स्तोत्र के द्वारा स्तवना करना, इत्यादि स्वरूप प्रशस्त दर्शन भावना है... इस दर्शन भावना से आत्मा को निरंतर भावित करने से आत्मा में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एवं विशुद्धि होती है...

नि. 334-334

तथा तीर्थंकर परमात्माओं की जन्मभूमि में, एवं दीक्षा-भूमि, विहारभूमि, केवलज्ञान-भूमि तथा निर्वाण-भूमि में, अशाश्वत जिनालय तथा देवलोक के विमान-भवनों में मेरुपर्वत के उपर, बंदीशरद्वीप आदि में तथा भौम याने पाताल-लोक के भवनों में जो कोइ शाश्वत जिनालय हैं उन्हें में वंदन करता हूँ... इसी प्रकार अष्टापद तीर्थ, उज्जयंत याने गिरनार तीर्थ, तथा दशाण्णगिरि के ऊपर रहा हुआ गजाग्रपद तीर्थ, तक्षशिला में धर्मचक्र एवं अहिच्छत्रा में पार्शनाथ प्रभु का धरणेन्द्र ने किया हुआ महिमावाला स्थान, तथा जहां वज्रस्वामीजी ने पादपोषणमन अनशन किया था वह रथावर्त नाम का पर्वत, तथा जहां वर्धमान स्वामीजी कार्यात्सर्ग ध्यान में रहे थे वहां चमरेन्द्र के आगमनवाला स्थान... इत्यादि पवित्र तीर्थ-स्थानों में जाना, और वंदन, पूजन एवं गुण-स्तवना करनेवाले जीव में सम्यग् दर्शन की शुद्धि होती है...

नि. 335-335

प्रवचन याने द्वादशांगी के परमार्थ को जाननेवालों ने यह गुण निष्पन्न अर्थ निकाला है कि- बीजगणित आदि गणित के विषय में यह पारंगत है, तथा अष्टांग निमित्तशास्त्र में यह परगामी है, तथा दृष्टिवाद में कहे गये विभिन्न प्रकार के द्रव्यसंयोग या उनके हेतु (कारण) को जानते हैं... तथा देव भी चलायमान न कर सके ऐसी सम्यग्दर्शन = दृष्टिवाले तथा अविदित

याने सत्य (सच्चे) ज्ञानवाले कि- वे जो कहते हैं वैसा ही वह होता है... इत्यादि गुणवाले प्रावचनिक याने आचार्य आदि की प्रशंसा करनेवाले की दर्शन विशुद्धि होती है...

इसी प्रकार आचार्य आदि के अन्य गुणों की भी प्रशंसा करनेवाले तथा पूर्वकालीन महर्षियों के नाम का स्मरण करनेवाले तथा उन महर्षियों की सेवा-पूजा देवेन्द्र एवं नरेन्द्र आदिने की है ऐसा कहनेवाले तथा प्राचीनकाल के तीर्थों की पूजा करनेवाले इत्यादि उचित क्रियाओं को करनेवाले शुभ वासना से वासित होते हैं, अतः उनकी दर्शनविशुद्धि होती है... इस प्रकार प्रशस्त दर्शन-भावना जानें !

अब प्रशस्त ज्ञान-भावना का स्वरूप कहते हैं... ज्ञानकी जो भावना वह ज्ञानभावना... जैसे कि- जिनेश्वरों ने कही गयी यह द्वादशांगी स्वरूप प्रवचन-श्रुतज्ञान विश्व के सभी पदार्थों का जैसा है वैसा यथावस्ति स्वरूप को प्रगट करता है... इस प्रशस्त ज्ञान-भावना से मोक्ष का प्रधान-मुख्य अंग स्वरूप अधिगम सम्यग्दर्शन प्रगट होता है... क्योंकि- तत्त्वों के स्वरूप की श्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं... और जीव अजीव आदि नव पदार्थ ही तत्त्व है... अतः सम्यग्ज्ञान की कामनावाले पुण्यात्मा ही उन नव पदार्थ (तत्त्वों) को अच्छी तरह से जानने का प्रयत्न करते हैं...

नव तत्त्व का विज्ञान यहां जिन प्रवचन में उपलब्ध है... तथा परमार्थ स्वरूप मोक्ष नाम का कार्य भी जिन प्रवचन में उपलब्ध है... तथा क्रिया की सिद्धि में सम्यग्दर्शन ज्ञान एवं चारित्र्य ही मुख्य उपकारक है और सम्यग्दर्शनादि के अनुष्ठान को करनेवाला साधु ही कारक है और मोक्ष की प्राप्ति स्वरूप क्रियासिद्धि भी यहां जिनप्रवचन में है... वह इस प्रकार- जैसे कि- आत्मा के साथ कर्मों का बंधन और आत्मा से कर्मों की मुक्ति... यह बात केवल जिनप्रवचन में ही है, अन्य शाक्य आदि मतों में नहीं है... इत्यादि प्रकार की भावना-विचार करनेवाले को ज्ञान भावना होती है... तथा आठ प्रकार के कर्म-पुद्गलों से संसारी सभी जीवों के आत्म-प्रदेश बंधे हुए हैं, क्योंकि- कर्मबंध के कारण मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद कषाय और योग हैं अतः इन कारणों से कर्मों का बंध करके संसारी-जीव चारों गतिओं में जन्म पाकर साता-असाता आदि का अनुभव करता है... यह सभी बातें यहां जिनप्रवचन में ही कही गई है... अथवा अन्य भी जो कुछ अच्छी बात है, वह भी इस जिनप्रवचन में ही कही गई है... इत्यादि भावना को ज्ञानभावना कहते हैं... तथा विचित्र प्रकार का यह संसार-प्रपंच भी यहां जिनागम सूत्र में जिनेश्वरों ने कहा है...

तथा मेरा ज्ञान विशिष्ट प्रकार का हो ऐसी ज्ञानभावना करनी चाहिये... श्रुतज्ञान का अभ्यास करना चाहिये... और आदि-पद से एकाग्रता-प्रणिधान आदि गुण प्राप्त होते हैं... और ज्ञानभावना में यह भी चिंतन करना चाहिये कि- अज्ञानी जीव लाखों जन्मों में असह्य दुःख

भुगतने के बाद भी जो कर्मक्षय का लाभ नहीं प्राप्त करता, उन कर्मों का क्षय ज्ञानी पुरुष ज्ञानभावना से दो घडी (मुहूर्त) मात्र काल में करता है... तथा इन कारणों से भी ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये... जैसे कि- ज्ञानका संग्रह हो, कर्मों की निर्जरा हो, ज्ञान की परंपरा चलती रहे, और स्वाध्याय होता रहे... तथा ज्ञानभावना से ही मनुष्य सदा गुरुकुल-वास में निवास कर सकता है... अन्यत्र भी कहा है कि- जो धन्य पुरुष जीवन पर्यंत गुरुकुलवास में रहता है वह ज्ञान का पात्र होता है और सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्चारित्र में स्थिरता प्राप्त होती है... इत्यादि ज्ञानभावना है...

अब चारित्र-भावना का स्वरूप कहते हैं...

१. सुंदर ऐसा अहिंसा स्वरूप धर्म...
२. इस जिन-प्रवचन में जिस प्रकार का सत्य है वैसा सत्य और कहें नहीं है...
३. चोरी का त्याग यहां जिनप्रवचन में बहुत ही अच्छी प्रकार से हो सकता है...
४. नव-वाड स्वरूप ब्रह्मचर्य भी यहां ही है...
५. परिग्रह का त्याग भी श्रेष्ठ प्रकार से होता है... इसी प्रकार बारह भेदवाला अछा तप (तपश्चर्या) भी इस जिनप्रवचन में ही हो सकता है...

अब वैराग्य-भावना का स्वरूप कहते हैं...

१. सांसारिक सुखों के प्रति कंटाला-उद्वेग... इसी प्रकार कर्मों के बंध के कारण स्वरूप मद्य आदि प्रमादों का त्याग यह अप्रमादभावना है... तथा एकाग्रभावना इस प्रकार है... जैसे कि- ज्ञान एवं दर्शन से युक्त ऐसा यह मेरा आत्मा शाश्वत-नित्य है... जब कि- शेष सभी शरीर आदि पदार्थ आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं किंतु संयोग संबंध से आत्मा से जुड़े हुए हैं... इत्यादि जो भावनाएं हैं वे चारित्र-भावना कही गई है...

अब तपोभावना कहते हैं...

नि. ३४३

कौन सी विगड़ के त्याग से मेरा यह दिन तपश्चर्या वाला बना रहे ? अथवा कौन से तप को करने के लिये मैं समर्थ हूं ? तथा मेरा ऐसा वह कौन सा तप है और किन-किन द्रव्यादि में वह तपश्चर्या निर्दोष रूप से पूर्ण हो ? इत्यादि प्रकार से तपोभावना चिंतन करना चाहिये... जैसे कि-द्रव्य से- बाल-चने आदि द्रव्य...

क्षेत्र से- शीत-रुक्ष आदि क्षेत्र

काल से- शीत-उष्ण आदि काल

भाव से-में अभी ग्लान हूं अतः इस प्रकार का तप कर सकता हूं...

इत्यादि प्रकार से द्रव्यादि का चिंतन करके यथाशक्ति तप करना चाहिये... क्योंकि-
तत्त्वार्थाधिगम सूत्र का यह वचन है कि- यथाशक्ति त्याग-तपश्चर्या करनी चाहिये...

नि. ३४४

तथा अनशनादि तपश्चर्या में बल-वीर्य के अनुसार उत्साह करना चाहिये और ग्रहण
कीये गये तपोधर्म का निरतिचार पालन करना चाहिये...

कहा भी है कि- तीर्थकर-पुरुष भी गृहवास का त्याग करने के बाद अनगर होने
पर चार ज्ञानवाले होते हैं देवता भी उनका आदर-सत्कार पूजा करते हैं और निश्चित ही मुक्ति
पानेवाले हैं तो भी बलवीर्य के अनुसार सभी प्रकार के पुरुषार्थ के साथ तपश्चर्या में उद्यम करते
हैं... तो फिर अन्य शेष मनुष्यों के लिये तो कहना ही क्या ? अर्थात् अन्य शेष मनुष्यों को
तो कर्मों से मुक्ति पाने के लिये अवश्यमेव यथाशक्ति तपश्चर्या करनी ही चाहिये... इत्यादि प्रकार
से तपोभावना करनी चाहिये।

इसी प्रकार पांच इंद्रियां एवं मन के निग्रह स्वरूप संयम में तथा तपश्चर्या के निर्वाह
में समर्थ ऐसे वज्ररुषभनाराच आदि संघयण के विषय में भी भावना-चिंतन करना चाहिये...

अब वैराग्यभावना अनित्यत्वादि भावना स्वरूप है... वह इस प्रकार- १. अनित्यता,
२. अशरणता, ३. संसारभावना, ४. एकत्व, ५. अन्यत्व, ६. अशुचिभावना, ७. आश्रव, ८. संवर,
९. निर्जराभावना, १०. लोकस्वरूप, ११. धर्मस्वाख्यात एवं धर्मतत्त्वचिंतन तथा १२.
बोधिदुर्लभभावना...

इत्यादि भावनाएं अनेक प्रकारसे कही गई हैं किंतु यहां प्रस्तुत ग्रंथ में तो चारित्र्यभावना
का ही अधिकार है

अब नियुक्ति-अनुगम के बाद सूत्रानुगम में सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना चाहिये...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ५०९ ॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे यावि होत्था-तं
जहा- हत्थुत्तराहिं चुए, चइत्ता गम्भं वयकंते, हत्थुत्तराहिं गम्भाओ गम्भं साहरिए,

हत्थुत्तराहिं जाए, हत्थुत्तराहिं मुंडे भविता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, हत्थुत्तराहिं कसिणे पडिपुण्णे अव्वाघाए निरावरणे अणंते अणुत्तरे केवलवरणाणदंसणे समुप्पण्णे, साइणा भगवं परिणिव्वुए ॥ ५०९ ॥

II संस्कृत-छाया :

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणः भगवान् महावीरः पञ्च-हस्तोत्तरे चाऽपि अभवत्, तद्यथा- हस्तोत्तरे च्युतः, च्युत्वा गर्भे व्युत्क्रान्तः, हस्तोत्तरे गर्भात् गर्भ आहतः, हस्तोत्तरे जातः, हस्तोत्तरे मुण्डः भूत्वा अगारात् अनगारात् प्रव्रजितः, हस्तोत्तरे कृत्स्नं प्रतिपूर्णं अव्याघातं निरावरणं अनन्तं अनुत्तरं केवलवर ज्ञान-दर्शनं समुत्पन्नम्, स्वातौ च भगवान् परिनिर्वृतः ॥ ५०९ ॥

III सूत्रार्थ :

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के पांच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए। जैसे कि- भगवान् उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में देवलोक से च्यव कर गर्भ में उत्पन्न हुए, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही गर्भ से गर्भान्तर में संहरण किए गए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही भगवान् ने जन्म लिया। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही भगवान् मुंडित होकर सागर से अनगार-साधु बने और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही भगवान् ने अनन्त, प्रधान, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त किया और स्वाति नक्षत्र में भगवान् मोक्ष पधारे।

IV टीका-अनुवाद :

सूत्रार्थ पाठसिद्ध होने से टीका नहि है.....

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान् महावीर के पांच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए और एक स्वाति नक्षत्र में हुआ। भगवान् का गर्भ में आना, गर्भ का गर्भान्तर में संहरण, जन्म, दीक्षा एवं केवल ज्ञान की प्राप्ति ये पांचों कार्य उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुए और स्वाति नक्षत्र में निर्वाण पद प्राप्त किया। इससे ६ कल्याणक सिद्ध होते हैं, परन्तु वस्तुतः देखा जाए तो कल्याणक ५ ही हुए हैं। गर्भ संहरण को नक्षत्र साम्य की दृष्टि से साथ में गिन लिया गया है। परन्तु, इसे कल्याणक नहीं कह सकते। यह तो एक आश्चर्य जनक घटना है। यदि इसके उल्लेख मात्र से इसे कल्याणक माना जाए तो फिर भगवान् ऋषभदेव के भी ६ कल्याणक मानने पड़ेंगे। क्योंकि, आगम में लिखा है कि भगवान् के पांच कार्य उत्तराषाढा

नक्षत्र में और एक अभिजित नक्षत्र में हुआ। परन्तु इतना उल्लेख मिलने पर भी उनके ५ कल्याणक माने जाते हैं। क्योंकि ऐसे प्रसंग बात को कल्याणक नहीं माना जाता है। केवल नक्षत्र की समानता के कारण उसका साथ में उल्लेख कर दिया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'उस काल और समय में' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसमें 'काल' चौथे आरे का बोधक है और 'समय' जिस समय भगवान गर्भ आदि में आए उस समय का संसूचक है। काल से पूरे युग का और समय से वर्तमान काल का परिज्ञान होता है।

भग-संपन्न व्यक्ति को भगवान कहा गया है। भग शब्द के १४ अर्थ होते हैं—
१. अर्क, २. ज्ञान, ३. महात्मा, ४. यश, ५. वैराग्य, ६. मुक्ति, ७. रूप, ८. वीर्य (शक्ति),
९. प्रयत्न, १०. इच्छा, ११. श्री, १२. धर्म, १३. ऐश्वर्य और १४. योनि। इनमें प्रथम और अन्तिम (अर्क और योनि) दो अर्थों को छोड़कर शेष सभी अर्थ भगवान में संघटित होते हैं।

'हृत्थुत्तरे' शब्द का अर्थ है जिस नक्षत्र के आगे हस्त नक्षत्र है उसे 'हृत्थुत्तरे' नक्षत्र कहते हैं। गणना करने से उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र ही आता है।

इस विषय को विस्तार से स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं.....

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ५१० ॥

समणे भगवं महावीरे इमाइ ओसपिणीए सुसमसुसमाए समाए वीडकंताए,
सुसमाए समाए वीडकंताए, सुसमदुस्समाए समाए वीडकंताए, दसमसुसमाए समाए
बहु वीडकंताए पणहत्तरीए वासेहिं मासेहिं य अद्धनवमेहिं सेसेहिं जे से गिमहाणं चउत्थे
मासे अइमे पक्खे आसाढ सुद्धे तस्स णं आसाढ सुद्धस्स छट्ठीपक्खेणं हृत्थुत्तराहिं
वक्खत्तेणं जोगमुवागएणं महाविजयसिद्धत्थ पुप्फुत्तरवरपुंडरीय
दिशासोवत्थियवद्धमाणाओ महाविमाणाओ वीसं सागरोवमाइं आउयं पालइत्ता
आउयस्सएणं भवयस्सएणं सुए, चइत्ता इह खलु जंबुदीवे णं दीवे भारहे वासे
दाहिणइढभरहे दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेसंमि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोतस्स
देवावंदाए माहणीए जालंधरसगुत्ताए सीहृत्थभवभूएणं अप्पाणेणं कुत्तिंसि गम्भं वक्कंते।

समणे भगवं महावीरे तिण्णाणोवगए यावि हृत्था चइस्सामिति जाजइ चुएमिति
जाणइ चयमाणे ण जाणइ, सुहमे णं से काले पण्णत्ते।

तओ णं समणे भगवं महावीरे हियाणुकंपएणं देवेणं जीयमेयंति कहु जे से वासाणं

तच्चे मासे पंचमे पक्खे आसोयबहुले तस्स णं आसोयबहुलस्स तेरसीपक्खेण हत्थुत्तराहिं
 नक्खतेणं जोगमुवागएणं बासीहिं राइंदिएहिं वइक्कंतेहिं तेसीइमस्स राइंदियस्स
 परियाए वट्टमाणे दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेशो उत्तर खतिय कुंडपुरसंनिवेशंसि नायाणं
 खतियाणं सिद्धत्थस्स खतियस्स कासवगुत्तस्स तिसलाए खतियाणीए वासिद्धसगुत्ताए
 असुभाणं पुग्गलाणं अवहारं करिता सुभाणं पुग्गलाणं पक्खेवं करिता कुच्छिसि गढं
 साहरइ, जे वि य से तिसलाए खतियाणीए कुच्छिसि गढं तं पि य
 दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेशंसि उसभं कोडालं देवां जालंधरायणगुत्ताए कुच्छिसि
 गढं साहरइ ।

समणे भगवं महावीरे तिण्णाणोवगए यावि होत्था, साहरिज्जस्सामिति जाणइ,
 साहरिज्जमाणे न याणइ, साहरिएमिति जाणइ समाणाउसो !

तेणं कालेणं तेणं समएणं तिसलाए खतियाणीए अहऽण्णया कयाइ. नवण्हं
 समाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धमाण राइंदियाणं वीइक्कंताणं जे से गिग्हाणं पढमे मासे
 दुच्चे पक्खे चित्तसुद्धे तस्स णं चित्तसुद्धस्स तेरसीपक्खेणं हत्थुं जोगं समणं भगवं
 महावीरं अरोग्गा अरोग्गं पसूया ।

जण्णं राइं तिसलाखं समणं महावीरं अरोग्गा अरोग्गं पसूया, तण्णं राइं
 भवणवइवाणमंतरजोइसियदिमाणवासि देवेहिं देवीहि य उवयंतेहिं उप्पयंतेहिं य एणे महं
 दिव्हे देवुज्जोए देवसण्णिवाए देवकहक्कहए उप्पिजलभूए यावि हत्था ।

जण्णं रयणिं तिसलाखं समणं पसूया तण्णं रयणिं बहवे देवा य देवीओ
 य एणं महं अमयवासं च १. गंधवासं च २. चुण्णवासं च ३. पुप्पवासं च ४. हिरण्णवासं
 च ५. रयणवासं च ६. वासिसु, जण्णं रयणिं तिसलाखं समणं पसूया तण्णं रयणिं
 भवणवइवाणमंतरजोइसियदिमाणवासिणो देवा य देवीओ य समणस्स भगवओ
 महावीरस्स सूइक्कमाइं तित्थयराभिसेयं च करिसु ।

जओ णं पभिइ भगवं महावीरे तिसलाए खं कुच्छिसि गढं आगए तओ णं
 पभिइ तं कुलं विपुलेणं हिरण्णेणं सुवण्णेणं धणेणं धण्णेणं माणिककेणं मुत्तिएणं
 संखसिलप्पवालेणं आईव अईव परिवइइइ ।

तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अग्गापियरो एयमइं जाणित्ता
 निव्वत्तदसाहंसि तुयकंतंसि सुइभूयंसि विपुलं असण-पाण-खाइम-साइम उवक्खडावित्ति,
 उवक्खडावित्ता मित्तणाइसयणसंबंधिवग्गं उवणिमंतित्ति, मित्तं उवणिमंतित्ता बहवे
 समणमाहणकिवणवणीमगाहिं भिच्छुंडगपंडरगाईण विच्छइइंति दिग्गोवित्ति विस्साणित्ति

दायारेसु दाणं परिभाइति, विच्छडिडत्ता विग्गो० विस्साणित्ता दाया० परिभाइत्ता मित्तणाइ० भुंजाविति, मित्तणाइ० भुंजावित्ता मित्त० वग्गेण इयमेयारुवं नामधिज्जं कारविति ।

जओ णं पभिइ इमे कुमारे तिसला० खति० कुच्छिसि गब्भे आहए तओ णं पभिइ इमं कुलं विपुलेण हिरण्णेणं० संखसिलप्पवालेणं अतीव अतीव परिवइडइ, ता होउ णं कुमारे वद्धमाणे,

तओ णं समणे भगवं महावीरे पंचधाइपरिवुडे, तं जहा- स्त्रीरधाईए १. मज्जणधाईए २. मंडणधाईए ३. खेलावणधाईए, ४. अंकधाईए ५. अंकाओ अंकं साहरिज्जमाणे रम्भे मणिकुट्टिमतले गिरिकंदरसमुल्लीणे विव चंपयपायवे अहाणुपुव्वीए संवइठइ ।

तओ णं समणे भगवं महावीरे विण्णायपरिणयविणियत्तवालभावे अप्पुरस्सुयाइं उरालाइं माणुस्सगाइं पंचलक्खणाइं कामभोगाइं सहफरिसरसरुवगंधाइं परियारेमाणे एवं च णं विहरइ ॥ ५१० ॥

II संस्कृत-छाया :

श्रमणः भगवान् महावीरः अस्यां अवसर्पिण्यां सुषमसुषमायां समायां व्यतिक्रान्तायां, सुषमायां समायां व्यतिक्रान्तायां सुषमदुःषमायां समायां व्यतिक्रान्तायां दुःषमसुषमयां समायां बहुव्यतिक्रान्तायां पञ्चसप्तति-वर्षेषु मासेषु च अद्भनवमेषु शेषेषु यः असौ शीघ्रस्य चतुर्थः मासः अष्टमः पक्षः आषाढशुद्धः, तस्य आषाढ शुद्धस्य षष्ठी-पक्षेण (दिवसेण) हस्तोत्तराभिः नक्षत्रेण योगं उपागतेन महाविजय सिद्धार्थपुष्पोत्तरवरपुण्डरीक-दिक्-स्वस्तिक-वर्द्धमानात् महाविमानात् विंशतिसागरोपमाणि आयुष्कं पालयित्वा आयुःक्षयेण स्थितिक्षयेण भवक्षयेण च्युतः, च्युत्वा इह खलु जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे दक्षिणार्धभरते दक्षिणब्राह्मणकुण्डपुरसंनिवेशे ऋषभदत्तस्य ब्राह्मणस्य कोडालगोत्रस्य देवानन्दायाः ब्राह्मण्याः जालन्धरगोत्रायाः सिंहोद्भवभूतेन आत्मना कुक्षौ गर्भे व्युत्क्रान्तः ।

श्रमणः भगवान् महावीरः त्रिज्ञानोपगतः च अपि अभवत्, च्योष्ये इति जानाति, च्युतः अस्मि इति जानाति, च्यवमानः इति न जानाति, सूक्ष्म सः काल, प्रज्ञप्तः ।

ततः श्रमणः भगवान् महावीरः हितानुकम्पकेन देवेन जीतं एतत् इति कृत्वा यः सः वर्षाणां तृतीयः मासः, पञ्चमः पक्षः अधिन-कृष्णः, तस्य अधिनकृष्णस्य त्रयोदशी-पक्षेण हस्तोत्तराभिः नक्षत्रेण योगमुपागतेन द्वयथीति-रात्रिदिवसेषु व्यतिक्रान्तेषु त्रयथीतितमस्य रात्रिदिवसस्य पर्याये वर्तमाने सति दक्षिणब्राह्मणकुण्डपुरसंनिवेशात्

उत्तरक्षत्रियकुण्डपुरसंनिवेशे ज्ञातानां क्षत्रियाणां सिद्धार्थस्य क्षत्रियस्य काश्यपगोत्रस्य त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः वाशिष्ठगोत्रायाः अशुभानां पुद्गलानां अपहारं कृत्वा शुभानां पुद्गलानां प्रक्षेपं कृत्वा कुक्षौ गर्भः समाहरति, यः अपि च तस्याः त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः कुक्षौ गर्भः, तं अपि च दक्षिण ब्राह्मणकुण्डपुरसंनिवेशे ऋषभदत्तस्य कोडालगोत्रस्य देवानन्दायाः ब्राह्मण्याः जालन्धरगोत्रायाः कुक्षौ गर्भं समाहरति (मुञ्चति) ।

श्रमणः भगवान् महावीरः त्रिज्ञानोपगतः च अपि अभवत्, समाहरिष्ये इति जानाति, समाह्रियमाणः न जानाति, समाहृतः अस्मि इति च जानाति श्रमणायुष्मान् ।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः अथ अन्यदा कदाचित् नवसु मासेषु बहुप्रतिपूर्णेषु अर्धाष्टमरात्रिदिवसेषु व्यतिक्रान्तेषु सत्सु, यः सः ग्रीष्मस्य प्रथमः मासः, द्वितीयः पक्षः, चैत्रशुद्धः, तस्य चैत्रशुक्लस्य त्रयोदशी-पक्षेण हस्तोत्तराभिः नक्षत्रेण योगमुपागतेन श्रमणं भगवन्तं महावीरं आरोग्या (त्रिशला क्षत्रियाणी) अरोगं प्रसूता ।

यस्यां रात्रौ त्रिशला क्षत्रियाणी श्रमणं भगवन्तं महावीरं अरोगा (त्रिशला) अरोगं पुत्रं प्रसूता, तस्यां रात्रौ भवनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्क-(वैमानिक) विमानवासिदेवैः देवीभिश्च अवपतद्भिः देवसन्निपातः देवकहकहकः उत्पिञ्जलकभूतश्च अपि अभवत् ।

यस्यां रात्रौ (रजन्यां) त्रिशला क्षत्रियाणी श्रमणं भगवन्तं महावीरं प्रसूता, तस्यां रजन्यां बहवः देवाः च देव्यश्च एकं महत् अमृतवर्षं च गन्धवर्षं च, घूर्णवर्षं च, पुष्पवर्षं च, हिरण्यवर्षं च रत्नवर्षं च अवर्षयन् । यस्यां रजन्यां त्रिशला क्षत्रियाणी श्रमणं भगवन्तं महावीरं प्रसूता तस्यां रजन्यां भवनपति-वानव्यन्तर-ज्योतिष्क-विमानवासिनः देवाश्च देव्यश्च श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य सूतिकर्माणि तीर्थकराभिषेकं च अकार्षुः ।

यतः प्रभृति भगवान् महावीरः त्रिशलायाः क्षत्रियाण्याः कुक्षौ गर्भ-स्वरूपेण आगतः, ततः प्रभृति तत् कुलं विपुलेन हिरण्येन सुवर्णेन धनेन धान्येन माणिक्येन मौक्तिकेन शंखशिला-प्रवालेन अतीव अतीव परिवर्धते ।

ततः श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य अम्बा-पितरौ एतदर्थं ज्ञात्वा निवृत्तदशाहे व्युत्क्रान्ते शुचीभूते सति विपुलं अशन-पान-स्वादिम-स्वादिमं उपस्कारयन्ति, उपस्कार्य मित्रं ज्ञाति स्वजंन सम्बन्धिवर्गं उपनिमन्त्रयन्ति, मित्रज्ञातिस्वजनसम्बन्धिवर्गं उपनिमन्त्र्य बहून् श्रमण-ब्राह्मण-कृपण-वनीपकान् भिक्षोण्डुक-पण्डरकादीन् विच्छर्दयन्ति विगोपयन्ति विश्राणयन्ति, दातृषु दातृं परिभाजयन्ति, विच्छर्द्य विगोप्य विश्राण्य दातृषु परिभाज्य मित्रज्ञातिस्वजनसम्बन्धिवर्गं भोजयन्ति, मित्रज्ञाति० वर्गं

भोजयित्वा मित्रज्ञाति० वर्गेण इदमेतत्-रूपं नामधेयं कारयन्ति ।

यतः प्रभृति अयं कुमारः तिशलायाः क्षत्रियाण्याः कुक्षौ गर्भः आहतः, ततः प्रभृति इदं कुलं विपुलेन हिरण्येन सुवर्णेन धनेन धान्येन माणिक्येन मौयितकेन शङ्ख शिला-प्रवालेन अतीव अतीव परिवर्धते, तस्मात् भवतु कुमारः वर्धमानः ।

ततः श्रमणः भगवान् महावीरः पञ्चधात्रीपरिवृतः, तद्यथा-क्षीरधात्र्या १. मज्जनधात्र्या २. मण्डनधात्र्या ३. क्रीडनधात्र्या ४. अङ्कधात्र्या ५. अङ्कादङ्कं समाह्वियमाणः रम्ये मणिकुट्टिमतले गिरिकन्दरसंलीनः इव चम्पकपादपः यथानुपुव्या संवर्धते ।

ततः श्रमणः भगवान् महावीरः विज्ञातपरिणतः विनिवृत्तबाल्यभावः अल्पौत्सुक्यान् उदारान् मानुष्यान् पञ्चलक्षणान् कामभोगान् शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धान् परिचरन् एवं च विहरति ॥ ५१० ॥

III सूत्रार्थः :

श्रमण भगवान् महावीर इस अवसर्पिणी काल के सुषम-सुषम नामक आरक, सुषम आरक, सषम-दुषम आरक के व्यतीत होने पर और दुषम-सुषम आरक के बहु व्यतिक्रान्त होने पर, केवल ७५ वर्ष, साढ़े आठ मास शेष रहने पर ग्रीष्म ऋतु के चौथे मास, आठवें पक्ष आषाढ शुक्ला षष्ठी की रात्री को उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर, महाविजय सिद्धार्थ, पुष्पोत्तर वर पुण्डरीक, दिक्स्वस्तिक, वर्द्धमान नाम के महाविमान से वीस सागरोपम की आयु को पूरी करके देवायु, देवस्थिति और देव भव का क्षय करके, इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध भारत के दक्षिण ब्राह्मण कुण्ड पुर सन्निवेश में कुंडाल गोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की जलन्धरगोत्रीय देवानन्दा नाम की ब्राह्मणी की कुक्षि में सिंह की तरह गर्भ रूप में उत्पन्न हुए ।

श्रमण भगवान् महावीर तीन ज्ञान (मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधि ज्ञान) से युक्त थे वे यह जानते थे कि मैं स्वर्ग से च्यवकर मनुष्य लोक में जाऊंगा, मैं वहां से च्यव कर अब गर्भ में आ गया हूं। परन्तु वे च्यवन समय को नहीं जानते थे। क्योंकि वह समय अत्यन्त सूक्ष्म होता है।

देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आने के बाद श्रमण भगवान् महावीर के हित और अनुकंपा करने वाले देवने, यह जीत आचार है। ऐसा कहकर वर्षाकाल के तीसरे मास, पांचवें पक्ष अर्धात्—आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर ८२ रात्रिदिन के व्यतीत होने और ८३ वें दिन की रात को दक्षिण ब्राह्मण कुण्ड

पुर सन्निवेश से, उत्तर क्षत्रिय कुण्ड पुर सन्निवेश में ज्ञातवंशीय क्षत्रियों में प्रसिद्ध काश्यपगोत्री सिद्धार्थ राजा की वासिष्ठ गोत्र वाली पत्नी त्रिशला महाराणी के अशुभपुद्गलों को दूर करके उनके स्थान में शुभ पुद्गलों का प्रक्षेपण करके उसकी कुक्षि में गर्भ को रखा, और जो त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भ था उसको दक्षिण बाहण कुण्डपुर सन्निवेश में जाकर कोडालगोत्रीय ऋषभ दत्त ब्राह्मण की जालन्धर गोत्रवाली देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में स्थापित किया।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी गर्भवास में तीन ज्ञान, मति श्रुत अवधि-से युक्त थे। मैं इस स्थान से संहरण किया जाऊंगा, और मैं संहृत किया जा चुका हूँ। यह सब जानते थे। किंतु संहरण काल नहि जानते थे.....

उस काल और उस समय में त्रिशला क्षत्रियाणी ने जब नव मास साढ़े सात अहोरात्र के व्यतीत होने पर ब्रीष्म ऋतु के प्रथम मास के द्वितीय पक्ष में अर्थात् चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर श्रमण भगवान् महावीर को सुख पूर्वक जन्म दिया।

जिस रात्रि में रोग रहित त्रिशला क्षत्रियाणी ने रोग रहित श्रमण भगवान् महावीर को जन्म दिया उस रात्रि में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों और देवियों के स्वर्ग से आने और मेरुपर्वत पर जाने से एक महान तथा प्रधान-देवोद्योत और देव सन्निपात के कारण महान कोलाहल और मध्य एवं उर्ध्व लोक में उद्योत हो रहा था।

जिस रात्रि में त्रिशला क्षत्रियाणी ने श्रमण भगवान् महावीर को जन्म दिया, उसी रात्रि में बहुत से देव और देवियों ने अमृत, सुगन्धित पदार्थ, चूर्ण, चान्दी, स्वर्ण और रत्नों की बहुत भारी वर्षा की।

जिस रात्रि में त्रिशला क्षत्रियाणी ने श्रमण भगवान् महावीर को जन्म दिया, उसी रात्रि में भवनपति, वाणव्यन्तर ज्योतिषी और वैमानिक देव और देवियों ने श्रमण भगवान् महावीर का शुचि कर्म और तीर्थकराभिषेक किया।

जिस रात को श्रमण भगवान् महावीर त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में आए उसी समय से उस ज्ञातवंशीय क्षत्रिय कुल में हिरण्यचांदी, स्वर्ण, धन, धान्य, माणिक, मोती, शंखशिला और प्रवालादि की अभिवृद्धि होने लगी। श्रमण भगवान् महावीर के जन्म के ग्यारहवें दिन शुद्धि हो जाने पर उनके माता पिता ने विपुल अशन, पान, खादिम, और स्वादिम पदार्थ बनवाए और अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बन्धि वर्ग को निमंत्रित किया और बहुत से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, वनीपक तथा अन्य तापसादि भिक्षुओं को भोजनादि, पदार्थ दिए अपने

मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बन्धि वर्ग को प्रेमपूर्वक भोजन कराया। भोजन आदि कार्यों से निवृत्त होने के पश्चात् उनके सामने कुमार के नामकरण का प्रस्ताव रखते हुए सिद्धार्थ ने बताया कि यह बालक जिस दिन से त्रिशतादेवी की कुक्षि में गर्भ रूप से आया है तब से हमारे कुल में हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, माणिक, मोती, शंख, शिला और प्रवालादि पदार्थों की अत्याधिक वृद्धि हो रही है। अतः इस कुमार का गुण सम्पन्न 'वर्धमान' नाम रखते हैं।

जन्म के बाद भगवान महावीर का पांच धाय माताओं के द्वारा लालन-पालन होने लगा। दूध पिलाने वाली धाय माता, स्नान करानेवाली धाय माता, वस्त्रालंकार पहनाने वाली धाय माता, क्रीडा करानेवाली और गोद खिलाने वाली धाय माता, इन ५ धाय माताओं की गोद में तथा मणिमंडित रमणीय आंगन प्रदेश में खेलने लगे और पर्वत गुफा में स्थित चम्पक वृक्ष की तरह विघ्न बाधाओं से रहित होकर यथाक्रम बढ़ने लगे। उसके पश्चात् ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न भगवान महावीर बाल भाव को त्याग कर युवावस्था में प्रविष्ट हुए और मनुष्य सम्बन्धि उदार शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धादि से युक्त पांच प्रकार के काम भोगों का उदासीन भाव से उपभोग करते हुए विचरने लगे।

IV टीका-अनुवाद :

सूत्रार्थ पाठ सिद्ध होने से टीका नहि है.....

V सूत्रसार :

इस सूत्र में बताया गया है कि भगवान महावीर अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरक के ७५ वर्ष साढ़े आठ महीने शेष रहने पर ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में आए। यहां काल चक्र के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख किया गया है। यह हम देखते हैं कि काल (समय) सदा अपनी गति से चलता है। और समय के साथ इस क्षेत्र में (भरत क्षेत्र में) परिस्थितियों एवं प्रकृति में भी कुछ परिवर्तन आता है। कभी प्रकृति में विकास होता है, तो कभी हास होता है। जिस काल में प्रकृति उत्थान से हास की ओर गतिशील होती है उस काल को अवसर्पिणी काल कहते हैं और जिसमें प्रकृति हास से उन्नति की ओर बढ़ती है उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं। प्रत्येक काल चक्र में एक उत्सर्पिणी और एक अवसर्पिणी काल होता है और वे प्रत्येक ६-६ आरक में विभक्त हैं और १० कोटा-कोटी (१० करोड़ × एक करोड़) सागरोपम का होता है। इस तरह पूरा काल चक्र २० कोटा कोटी सागरोपम का होता है। भगवान महावीर अवसर्पिणी कालचक्र के चौथे आरे के—जो ४२ हजार वर्ष कम एक कोटा कोटी सागर का है, ७५ वर्ष ८ ॥ महीने शेष रहने पर प्राणत नामक १० वें स्वर्ग के—महाविजय, सिद्धार्थ वर पुण्डरीक, दिक्स्वस्तिक और वर्द्धमान नामक विमान से, अपने

आयुष्य को पूरा करके भारतवर्ष के दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर में ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न हुए।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान महावीर गर्भ में आए उस समय तीन ज्ञान से युक्त थे-१. मतिज्ञान, २. श्रुत ज्ञान और ३. अवधि ज्ञान। मति और श्रुत ज्ञान मन और इन्द्रियों की सहायता से पदार्थों का ज्ञान कराता है। परन्तु, अवधि ज्ञान में मन और इन्द्रियों के बिना सहयोग के ही आत्मा मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थों को जान और देख सकता है। भगवान महावीर को भी स्वर्ग में एवं जिस समय गर्भ में आए तब से लेकर गृहस्थ अवस्था में रहे तब तक तीन ज्ञान थे। वे स्वर्ग के आयुष्य को पूरा करके मनुष्य लोक में आने के समय को जानते थे और गर्भ में आने के बाद भी वे इस बात को जानते थे कि मैं स्वर्ग से यहां आ गया हूँ। परन्तु जिस समय वे स्वर्ग से च्युत हो रहे थे उस समय को नहीं जान रहे थे। क्योंकि यह काल बहुत ही सूक्ष्म होता है, ऋजु गति में एक समय लगता है और वक्रगति में आत्मा जघन्य दो और उत्कृष्ट ४ समय में अपने स्थान पर पहुंच जाता है और इतने सूक्ष्म समय में छबस्थ के ज्ञान का उपयोग नहीं लगता। अतः च्यवन के समय वे अपने ज्ञान का उपयोग नहीं लगा सकते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान गर्भ काल में तीन ज्ञान से युक्त थे।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर के गर्भ को स्थानान्तर में रखने का वर्णन किया गया है। ८२ दिन तक भगवान महावीर देवानन्दा के गर्भ में रहे थे। उसके बाद ब्राह्मण कुल को तीर्थकरों के जन्म योग्य न जानकर इन्द्र की आज्ञा से भगवान महावीर के एक हितचिन्तक देव ने उन्हें देवानन्दा के गर्भ से निकाल कर त्रिशला के गर्भ में रख दिया।

यह घटना आश्चर्यजनक अवश्य है, परन्तु असम्भव नहीं है। आज भी हम देखते हैं कि वैज्ञानिक आप्रेशन के द्वारा गर्भ का परिवर्तन करते हैं और इस क्रिया में गर्भ का नाश नहीं होता है। एक गर्भ स्थान से स्थानान्तरित किए जाने पर भी उसका विकास रुकता नहीं है। और भगवान महावीर के गर्भ का परिवर्तन करने का वर्णन आगमों में अनेक जगह मिलता है। भगवती सूत्र में देवानन्दा ब्राह्मणी के सम्बन्ध में गौतम के द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यह मेरी माता है। इसके अतिरिक्त कल्प सूत्र में गर्भ संहारण के संबन्ध में विस्तार से वर्णन किया गया है। और कल्प सूत्र में वर्णित वीर वाचना (महावीर के चरित्र) का आधार आचारांग का प्रस्तुत अध्ययन ही है। कल्प सूत्र के कई पाठ आचाराङ्ग के पाठ से अक्षरशः मिलते हैं। और विषय का साम्य तो प्रायः सर्वत्र मिलता ही है। इस से ऐसा प्रतीत होता है कि आचारांग के प्रस्तुत अध्ययन का कल्प सूत्र में कुछ विस्तार से वर्णन किया गया है। और समवायांग सूत्र में उत्तम पुरुषों का वर्णन प्रारम्भ करते

हुए कल्प सूत्र का उल्लेख किया गया है, इससे कल्पसूत्र की रचना का आधार आगम ही प्रतीत होते हैं। इस तरह हम कह सकते हैं कि आगमों में अनेक स्थलों पर गर्भ संहरण का उल्लेख प्राप्त होने के कारण इस घटना को घटित होने में सन्देह को अवकाश नहीं है...

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि भगवान महावीर गर्भावास में मतिश्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से युक्त थे। वे अपने अवधिज्ञान से यह जानते थे कि मेरे गर्भ का संहरण किया जाएगा और त्रिशला की कुक्षि में रखने के बाद भी जानते थे कि मुझे देवानन्दा की कुक्षि से यहां लाया गया है इस तरह वे अपने गर्भ संहरण के सम्बन्ध में हुई समस्त क्रियाओं को जानते थे। किंतु संहरण काल को नहि जानते थे ॥

इस प्रसंग पर यह प्रश्न हो सकता है कि गर्भ का संहरण करते समय गर्भ को कोई कष्ट तो नहीं होता ? आगम में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि इस क्रिया से गर्भ को कोई कष्ट नहीं हुआ। यह क्रिया देव द्वारा निष्पन्न हुई थी, इसलिए गर्भस्थ जीव को बिल्कुल त्रास नहीं पहुंचा। उसे सुख पूर्वक एक गर्भ से दूसरे गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया गया।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास और द्वितीय पक्ष अर्थात् चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में त्रिशला महाराणी ने बिना किसी प्रकार की पीड़ा के, सुख पूर्वक बाधा-पीड़ा से रहित पुत्र को जन्म दिया। भगवान के जन्म के समय माता एवं पुत्र को कोई कष्ट नहीं हुआ। दोनों स्वस्थ, नीरोग एवं प्रसन्न थे।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान के जन्म से भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक चारों जाति के देवों के मन में हर्ष एवं उल्लास छा गया और वे प्रसन्नता पूर्वक भगवान का जन्मोत्सव मनाने को आने लगे। उन देव देवियों के रत्न-जडित विमानों की ज्योति एवं मधुर ध्वनि से वह रात्रि ज्योतिर्मय हो गई और चारों ओर मधुर ध्वनि सुनाई देने लगी।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान महावीर के जन्म पर हर्ष विभोर होकर देवो ने अमृत, सुवासित पदार्थ, पुष्प, चांदी, स्वर्ण एवं रत्नों आदि की वर्षा की। उन्होंने उस क्षेत्र को सुवासित एवं रत्नमय बना दिया। महान् आत्माओं के प्रबल पुण्य से यह सब संभव हो सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान के जन्मोत्सव का उल्लेख किया गया है। भगवान का जन्म होने पर ५६ दिशा कुमारियों ने भगवान का शुचि कर्म किया और ६४ इन्द्रों ने भगवान को मेरु पर्वत के पाण्डुक वन में ले जाकर उनका जन्म अभिषेक किया। इसका विस्तृत वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में किया गया है और उसी के आधार पर कल्पसूत्र में भी उल्लेख किया

गया है। प्रस्तुत सूत्र में तो केवल प्रासंगिक संकेत रूप से उल्लेख किया गया है।

कुछ प्रतियों में "सूइकम्माइं" के स्थान पर "कोतुगभूति कम्माइं" पाठ उपलब्ध होता है। जिसका अर्थ है—देव-देवियों ने विभिन्न मांगलिक कार्य किए।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर के नामकरण का उल्लेख किया गया है। भगवान के जन्म के दस दिन के पश्चात् शुद्धि कर्म किया गया और अपने स्नेही-स्वजनों को बुलाकर उन्हें भोजन कराया और अनेक श्रमण-ब्राह्मणों एवं भिक्षुओं को भी यथेष्ट भोजन दिया गया। उसके बाद सिद्धार्थ राजा ने ज्ञातिजनों को यह बताया कि इस बालक के गर्भ में आते ही हमारे कुल में धन-धान्य आदि की वृद्धि होती रही है। अतः इसका नाम 'वर्द्धमान' रखते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में केवल गुण संपन्न नाम देने का उल्लेख किया गया है। परन्तु नामकरण की परम्परा का अनुयोगद्वार सूत्र में विस्तार से विवेचन किया गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि नाम संस्कार की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है।

भगवान महावीर के माता-पिता भगवान पार्श्वनाथ के श्रावक थे। फिर भी उन्होंने अन्य मत के श्रमण भिक्षुओं आदि को बुलाकर दान दिया। इससे स्पष्ट होता है कि आगम में गृहस्थ के लिए अनुकम्पा दान आदि निषेध नहीं किया गया है। गृहस्थ का द्वार बिना किसी भेद भाव के सब के लिए खुला रहता है। वह प्रत्येक प्राणी के प्रति दया एवं स्नेह भाव रखता है।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान सुख पूर्वक बढ़ने लगे। उनके लालन-पालन के लिए ५ धाय माताएं रखी हुई थीं। दूध पिलाने वाली, स्नान कराने वाली, वस्त्रालंकार पहनाने वाली, क्रीड़ा कराने वाली और गोद में खिलाने वाली, इन विभिन्न धाय माताओं की गोद में आमोद-प्रमोद से खेलते हुए भगवान ने बाल भाव का त्याग कर यौवन वय में कदम रखा। भगवान ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न थे। अतः प्राप्त भोगों में भी वे आसक्त नहीं हुए। वे शब्द, रस स्पर्श आदि भोगों का उदासीन भाव से उपभोग करते थे। इस कारण वे संविलष्ट कर्मों का बन्धन नहीं करते थे। क्योंकि भोगों के साथ जितनी अधिक आसक्ति होती है, कर्म बन्धन भी उतना ही प्रगाढ़ होता है। भगवान उदासीन भाव से रहते थे, अतः उन का कर्म बन्धन भी शिथिल ही होता था।

अब भगवान के गुण निष्पन्न नाम एवं उनके परिवार का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ५११ ॥

समणे भगवं महावीरे कासवगुते, तस्स णं इमे तिणिण नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा- अम्मापिउसंति वद्धमाणे १. सहसंमुइए समणे २. भीमं भयभैरवं उरालं अचलयं परीसहसहत्तिकट्ट देवेहिं से नामं कयं समणे भवगं महावीरे ३. ।

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पिया कासवगुतेणं, तस्स णं तिणिण नामं तं सिद्धत्थेइ वा, सिज्जंसेइ वा, जसंसेइ वा ।

समणस्स णं० अम्मा वासिद्धस्सगुत्ता, तीसे णं तिणिण नामं तं०-तिसलाइ वा विदेहदिण्णाइ वा, पियकारिणीइ वा ।

समणस्स णं भगं पित्तिअए सुपासे कासवगुतेणं, समणं जिट्ठे भाया न्दिवद्धणे कासवगुतेणं,

समणस्स णं जेड्ढा भइणी सुदंसणा कासवगुतेणं, समणस्स णं भगं भज्जा जसोया कोडिण्णागुतेणं ।

समणस्स णं धूया कासवगुतेणं, तीसे णं दो नामधिज्जा० अणुज्जाइ वा पियदंसणाइ वा ।

समणस्स णं भगं णत्तूई कोसियागुतेणं तीसे णं दो नामं सेसवईइ वा जसवईइ वा ॥ ५११ ॥

II संस्कृत-छाया :

श्रमणः भगवान् महावीरः काश्यपगोत्रः, तस्य इमानि त्रीणि नामधेयानि एवं आख्यायन्ते, तद्यथा-अम्बा-पितृसत्कं वर्द्धमानः १, सहसमुदितं श्रमणः २, भीमं भयभैरवं उदारं अचलं परीषहसहः इति कृत्वा देवैः तस्य नाम कृतं श्रमणः भगवान् महावीरः ३.

श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य पिता काश्यपगोत्रेण, तस्य त्रीणि नामधेयानि, तद्यथा सिद्धार्थः इति वा श्रेयांसः इति वा यशस्वी इति वा ।

श्रमणस्य० अम्बा वाशिष्ठगोत्रा, तस्याः त्रीणि नामधेयानि, तद्यथा-त्रिशला इति वा विदेहदिन्वा इति वा प्रियकारिणी इति वा ।

श्रमणस्य० पितृव्यः सुपार्थः, काश्यपगोत्रेण, श्रमणस्य० ज्येष्ठ-भ्राता नन्दिवर्धनः

काश्यपगोत्रेण, श्रमणस्य० ज्येष्ठा-भगिनी सुदर्शना काश्यपगोत्रेण, श्रमणस्य० दुहिता काश्यपगोत्रेण, तस्याः द्वे नामधेये, तद्यथा-अनोद्या इति वा प्रियदर्शना इति वा । श्रमणस्य० नमृकी (दोहित्री) कौशिकगोत्रेण, तस्याः द्वे नामधेये, तद्यथा शेषवती इति वा यशस्वती इति वा ॥ ५११ ॥

III सूत्रार्थ :

काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के इस प्रकार से तीन नाम कहे गये हैं—माता पिता का दिया हुआ वर्द्धमान, स्वाभाविक समभाव होने से श्रमण और अत्यन्त भयोत्पादक परीषहों के समय अचल रहने एवं उन्हें समभाव पूर्वक सहन करने से देवों के द्वारा प्रतिष्ठित महावीर । श्रमण भगवान् महावीर के काश्यपगोत्रीय पिता के सिद्धार्थ, श्रेयांस और यशस्वी ये तीन नाम थे । श्रमण भगवान् महावीर की वासिष्ठ गोत्र वाली माता के त्रिशला, विदेहदत्ता और प्रियकारिणी ये तीन नाम थे । श्रमण भगवान् महावीर के पितृव्य—पिता के भाई का नाम सुपाशर्व था, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के काश्यपगोत्री ज्येष्ठ भ्राता का नाम नन्दीवर्द्धन था । भगवान् की ज्येष्ठ भगिनी का नाम सुदर्शना था । भगवान् की भार्या (कि कौडिन्य गोत्रवाली थी) का नाम यशोदा था । भगवान् की पुत्री के अनोजा और प्रियदर्शना ये दो नाम कहे जाते हैं तथा श्रमण भगवान् महावीर की दोहित्री (कौशिक गोत्र था) शेषवती और यशवती ये दो नाम थे ।

IV टीका-अनुवाद :

सूत्रार्थ पाठसिद्ध होने से टीका नहीं है.....

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में भगवान् के नाम एवं परिवार का परिचय दिया गया है । भगवान् के वर्द्धमान, श्रमण और महावीर इन तीन नामों का उल्लेख किया गया है वर्द्धमान नाम माता-पिता द्वारा दिया गया था । और दीक्षा ग्रहण करने के बाद भगवान् की समभाव पूर्वक तपश्चर्या करने की प्रवृत्ति थी, उससे उन्हें श्रमण कहा गया और देवों द्वारा दिए गए घोर परीषहों में भी वे आत्म चिन्तन से विचलित नहीं हुए तथा उन्हें समभाव पूर्वक सहते रहे, इससे उन्हें महावीर कहा गया । आगमों एवं जन साधारण में उनका यही नाम अधिक प्रचलित रहा है । और आज भी वे महावीर के नाम से संसार में विख्यात हैं ।

भगवान् महावीर के पिता के तीन नाम थे—सिद्धार्थ, श्रेयांस और यशस्वी । उनकी माता के त्रिशला, विदेहदत्ता और प्रियकारिणी ये तीन नाम थे । उनके पिता के भाई का नाम सुपाशर्व था और उनके बड़े भाई का नाम नन्दीवर्द्धन था । उनके सुदर्शना नाम की एक ज्येष्ठ

बहन थी। उनकी पत्नी का नाम यशोदा था। उनकी पुत्री के अनोजा और प्रियदर्शना ये दो नाम थे, जिसका विवाह जमाली के साथ किया गया है। उनके एक दौहित्री भी थी, जिसके शेषवती और यशवती ये दो नाम थे। इस तरह से भगवान महावीर का विशाल परिवार था।

अब उनके माता-पिता के सम्बन्ध में कुछ बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ५१२ ॥

समणस्स णं, अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि हत्था, ते णं बहूँ वासाइं समणोवासगपरियाणं पालइत्ता छण्हं जीवन्निकायाणं सारयस्खणनिमित्तं आलोइत्ता निन्दिता गरिहित्ता पडिवकमिता अहारिहं उत्तरगुणपायच्छित्ताइं पडिवज्जित्ता कुससंधारणं दुरूहित्ता भत्तं पच्चयस्खायंति, भत्तं पच्चयस्खाइत्ता अपच्छिमाए मारणंतियाए संलेहणाए झुसियसरीरा कालमासे कालं किच्चा तं सरीरं विप्पजहित्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णा, तओ णं आउयस्खएणं भव० ठि० चुए, चइत्ता महाविदेहे वासे चरमेणं उस्सासेणं सिज्जिस्संति बुज्जिस्संति मुच्चिस्संति परिणिट्वाइस्संति सब्बदुयस्खाणमंतं करिस्संति ॥ ५१२ ॥

II संस्कृत-छाया :

श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अम्बापितरौ पार्श्वपत्ये श्रमणोपासकौ चाऽपि अभवेताम्, तौ च बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासकपर्यायं पालयित्वा षण्णां जीवन्निकायानां संरक्षणनिमित्तं आलोच्य, निन्दित्वा गर्हित्वा प्रतिक्रम्य यथाहं उत्तरगुणप्रायश्चित्तानि प्रतिपद्यं कुशसंस्तारकं दूरूह्य भयतं प्रत्याख्यातः, भयतं प्रत्याख्याय अपश्चिमया मारणान्तिकया संलेखनया क्षीणशरीरौ कालमासे कालं कृत्वा तत् शरीरं विप्रहाय अच्युते कल्पे देवतया उत्पन्नौ, ततश्च आयुःक्षयेण भवक्षयेण स्थितिक्षयेण च्युतः, च्यवित्वा महाविदेहे वर्षे चरमेण उच्छ्वासेन सेत्स्यतः भोत्स्यत, मोक्ष्यतः परिनिर्वास्यतः सर्वदुःखानां अन्तं करिष्यतः ॥ ५१२ ॥

III सूत्रार्थ :

श्रमण भगवान महावीर स्वामी के माता पिता भगवान पार्श्वनाथ के साधुओं के श्रमणोपासक-श्रावक थे। उन्होंने बहुत वर्षों तक श्रावक धर्म का पालन करके ६ (षट्) जीवन्निकाय की रक्षा के निमित्त आलोचना करके, आत्म-निन्दा और आत्मगर्हा करके पापों से प्रतिक्रमण कर के-पीछे हटकर के, मूल और उत्तर गुणों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त ग्रहण करके, कुशा के आसन पर बैठकर, भक्त प्रत्याख्यान नामक अनशन को स्वीकार किया।

और अन्तिम मरिणान्तिक शारीरिक संलेखना द्वारा शरीर को सूखाकर अपनी आयु पूरी करके उस औदारिक शरीर को छोड़ कर अच्यत नामक १२ वे देवलोक में देव स्वरूप से उत्पन्न हुए। तदनन्तर वहां से देव सम्बन्धि आयु, भव और स्थिति को क्षय करके वहां से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में चरम श्वासोच्छ्वास द्वारा सिद्ध-बुद्ध मुक्त एवं परिनिर्वृत होंगे और सर्वप्रकार के दुःखों का अन्त करेंगे।

IV टीका-अनुवाद :

सूत्रार्थ पाठसिद्ध होने से टीका नहि है.....

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि-भगवान महावीर के माता-पिता जैन श्रावक थे, वे भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के उपासक थे। इससे स्पष्ट होता है कि- भगवान महावीर के पूर्व भी जैन धर्म का अस्तित्व था। अतः भगवान महावीर जैनधर्मके संस्थापक नहीं, प्रत्युत जैन धर्म के पुनरुद्धारक थे, अनादि काल से प्रवहमान धार्मिक प्रवाह को प्रगति देने वाले थे। उनका कुल जैनधर्म से संस्कारित था। अतः भगवान के माता-पिता के लिए 'पार्श्वपत्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'अपत्य' शब्द शिष्य एवं सन्तान दोनों के लिए प्रयुक्त होता रहा है।

महाराज सिद्धार्थ एवं महाराणी त्रिशला श्रावक धर्म की आराधना करते हुए अन्तिम समय में विधि पूर्वक आलोचना एवं अनशन ग्रहण करके १२ वें स्वर्ग में गए और वहां से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष जाएंगे। इससे स्पष्ट है कि साधु एवं श्रावक दोनों मोक्ष मार्ग के पथिक हैं। चतुर्थ गुणस्थान का स्पर्श करने के बाद यह निश्चित हो जाता है कि वह आत्मा अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त करेगा। यह ठीक है कि सम्यक्त्व एवं श्रावकत्व की साधना से ऊपर उठकर ही आत्मा निर्वाण पद को पा सकती है। श्रावक की साधना में मुक्ति प्राप्त नहीं होती। क्योंकि, उक्त साधना में आत्मा पंचम गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ती और समस्त कर्म बन्धनों एवं कर्म-जन्य संयोगो से सर्वथा मुक्त होने के लिए १४वें गुणस्थान को स्पर्श करना आवश्यक है। और उस स्थान तक साधुत्व की साधना करके ही पहुंचा जा सकता है। अतः भगवान के माता-पिता यहां के आयुष्य को पूरा करके १२ वें स्वर्ग में गए, वहां से महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य भव करके दीक्षा ग्रहण करेंगे और श्रमणत्व की साधना करके समस्त कर्म बन्धनों को तोड़ कर सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त बनेंगे।

कल्पसूत्र की सुबोधिका वृत्ति में लिखा है कि आवश्यक नियुक्ति में बताया है कि भगवान के माता-पिता चौथे स्वर्ग में गए और आचारांग में १२ वां स्वर्ग बताया गया है। यदि

निर्युक्तिकार ने चौथे स्वर्ग का उल्लेख चतुर्थ जाति के (वैमानिक) देवों के रूप में किया है, तब तो आचारांग से विपरीत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि १२ वां स्वर्ग वैमानिक देवों में ही समाविष्ट हो जाता है आगम में स्पष्ट रूप से १२ वें स्वर्ग का उल्लेख किया गया है। अतः आगम का कथन ही प्रामाणिक माना जा सकता है।

अब भगवान के दीक्षा महोत्सव का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ५९३ ॥

तेषां कालेण, समणे भ० नाये नायपुत्ते नायकुलनिव्वत्ते विदेहे विदेहदिण्णे विदेहजच्चे विदेह सूमात्ते तीसं वासाइं विदेहंसिति कट्ट अगारमज्जे वसित्ता अम्मापिऊहिं कालगएहिं देवलोगमणुपत्तेहिं समत्तपइण्णे चिच्चा हिरण्णं चिच्चा सुवण्णं चिच्चा बलं चिच्चा वाहणं चिच्चा धणकणगरयणसंतसारसावइज्जं विच्छडित्ता विग्गोदित्ता विस्साणित्ता दायारेसु णं दाइत्ता परिभाइत्ता संवच्चरं दलइत्ता जे से हेमंताणं पढमे मासे पढमे पयखे मग्गसिरबहुने, तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपयखेणं हत्थुत्तरा जोग० अभिणियखमणाभिप्पाए यावि हत्था ॥ ५९३ ॥

II संस्कृत-छाया :

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणः भगवान् महावीरः ज्ञातः ज्ञातपुत्रः ज्ञातकुलनिवृत्तः विदेहः विदेहदत्तः विदेहजात्यः विदेहसुकुमालः त्रिंशत् वर्षाणि विदेहे इति कृत्वा अगारमध्ये उषित्वा अम्बा-पित्रोः कालगतयोः देवलोकमनुप्राप्तयोः सतोः समाप्तप्रतिज्ञाः त्यक्त्वा हिरण्यं त्यक्त्वा सुवर्णं त्यक्त्वा बलं त्यक्त्वा वाहनं त्यक्त्वा धन-कनक-रत्न-सत्सारस्वापतेयं विच्छर्द्य विगोप्य विश्राप्य दातृषु दानं दत्त्वा परिभाज्य संवत्सरं दत्त्वा च यः असौ हेमन्तस्य प्रथमः मासः प्रथमः पक्षः मृगशीर्षकृष्ण-बहुलः, तस्य च मृगशीर्षबहुलस्य दशमी-पक्षेण हस्तोत्तराभिः योगमुपागतेन अभिनिष्क्रमणाभिप्रायः च अभवत् ॥ ५९३ ॥

III सूत्रार्थ :

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान महावीर प्रसिद्ध ज्ञात पुत्र, ज्ञात कुल में चन्द्रमा के समान, वज्रकृष्णभनाराच संहनन के धारक, त्रिशला देवी के पुत्र, त्रिशला माता के अंगजात, घर में सुकुमाल अवस्था में रहने वाले तीस वर्ष तक घर में निवास करके माता पिता के देव लोक हो जाने पर अपनी ली हुई प्रतिज्ञा के पूर्ण हो जाने से हिरण्य, स्वर्ण, बल और वाहन, धन-धान्य, रत्न आदि प्राप्त वैभव को त्यागकर, याचकों को यथेष्ट दान देकर तथा

अपने सम्बन्धियों में यथायोग्य विभाग करके एक वर्ष पर्यन्त दान देकर हेमन्त ऋतु के प्रथम मास, प्रथम पक्ष अर्थात् मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर भगवान ने दीक्षा ग्रहण करने का अभिप्राय प्रकट किया।

IV टीका-अनुवाद :

सूत्रार्थ पाठसिद्ध होने से टीका नहि है.....

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में भगवान के दीक्षा संबंधी संकल्प का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि भगवान के माता पिता का स्वर्गवास हो जाने पर भगवान ने सम्पूर्ण वैभव का त्याग करके दीक्षित होने का विचार प्रकट किया। जिस समय भगवान गर्भ में आए थे, उस समय उन्होंने यह सोचकर अपने शरीर को स्थिर कर लिया कि मेरे हलन-चलन करने से माता को कष्ट न हो। परन्तु इस क्रिया का माता के मन पर विपरीत प्रभाव पड़ा। गर्भ का हलन-चलन बन्द हो जाने से उसे यह सन्देह होने लगा कि कहीं मेरा गर्भ नष्ट तो नहीं हो गया है। और परिणाम स्वरूप माता का दुःख और बढ़ गया और उसे दुःखित देखकर सारा परिवार शोक में डूब गया। अपने अवधि ज्ञान से माता की इस दुःखित अवस्था को देखकर भगवान ने हलन चलन शुरु कर दी और साथ में यह प्रतिज्ञा भी ली कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, तब तक मैं दीक्षा नहीं लूंगा। वे अपने लिए अपनी माता को जरा भी कष्ट देना नहीं चाहते थे। अब माता-पिता के स्वर्गवास होने पर उनकी प्रतिज्ञा पूरी हो गई, अतः वे अपने साधना पथ पर गतिशील होने के लिए तैयार हो गए।

कुछ प्रतियों में 'नाय कुल-निव्वते' के स्थान पर 'नायकुलचन्दे' पाठ भी उपलब्ध होता है। और प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'विदेहदिन्ने' आदि पदों का वृत्तिकार ने यह अर्थ किया है कि वज्र ऋषभ नाराच संहनन और समचौरस संस्थान से जिसका देह शोभायमान है उसे विदेह कहते हैं और भगवान की माता का नाम विदेहदत्ता था, अतः इस दृष्टि से भगवान को विदेह दिन्न भी कहते हैं। 'विच्छडिडता'-आदि पदों का कल्प सूत्र की वृत्ति में विस्तार से वर्णन किया गया है।

अब भगवान द्वारा दिए गए सांवत्सरिक दान का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं.....

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ १९४ ॥

संवच्छरेण होहिइ अभिणिवस्त्रमणं तु जिणवरिंदस्स । तो अत्थ संपयाणं पवत्तई

पुस्वसूराओ ॥ ५१४ ॥

II संस्कृत-छाया :

संवत्सरेण भविष्यति अभिनिष्क्रमणं तु जिनवरेन्द्रस्य तस्मात् अर्थसम्पदां प्रवर्तते
पूर्वे सूर्यात् ॥ ५१४ ॥

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ५१५ ॥

एषा हिरण्यकोडी अद्वैव अणूणां सयसहस्रा । सूर्योदयमाईयं दिज्जइ जा
पायरासुत्ति ॥ ५१५ ॥

II संस्कृत-छाया :

एका हिरण्यकोटी अद्वैव अन्यूनानि शतसहस्राणि । सूर्योदयादौ दीयते या
प्रातराश इति ॥ ५१५ ॥

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ ५१६ ॥

तिण्णोव य कोडिसया अट्टासीइं च हुंति कोडीओ । असिइं च सयसहस्रा एयं
संवच्छरे दिण्णं ॥ ५१६ ॥

II संस्कृत-छाया :

त्रीणि एव कोटि-शतानि अष्टाशीतिः च भवन्ति कोटयः । अशीतिं च
शतसहस्राणि एतत् संवत्सरे दत्तं ॥ ५१६ ॥

I सूत्र ॥ ९ ॥ ॥ ५१७ ॥

वेसमणकुंडधारी देवा लोगंतिया महिइइढया । बोहंति य तित्थयरं पण्णरससु
कम्मभूमीसु ॥ ५१७ ॥

II संस्कृत-छाया :

वैश्रमण-कुण्डधारिणः देवाः लोकान्तिकाः महर्द्धिकाः । बोधयन्ति च तीर्थकरं
पञ्चदशसु कर्मभूमीषु ॥ ५१७ ॥

I सूत्र ॥ १० ॥ ॥ ५१८ ॥

वंभंभि य कप्पंमि बोद्धत्वा कण्हराइणो मज्जे । लोगंतिया विमाणा अट्टसु वत्था
असंखिज्जा ॥ ५१८ ॥

II संस्कृत-छाया :

बाह्ये च कल्पे बोधव्याः कृष्णराज्याः मध्ये । लोकान्तिकाः विमानाः अष्टसु
विस्तारा असङ्ख्येयाः ॥ ५१८ ॥

I सूत्र ॥ ११ ॥ ॥ ५१९ ॥

एष देवनिकाया भगवं बोहिति जिनवरं वीरं । सर्वजगज्जीवहियं अरिहा ! तित्थं
पवत्तेहि ॥ ५१९ ॥

II संस्कृत-छाया :

एष देवनिकायाः भगवन्तं बोधयन्ति जिनवरं वीरम् । सर्वजगज्जीवहितं हे अर्हन्
! तीर्थं प्रवर्तय ॥ ५१९ ॥

III सूत्रार्थ :

श्री जिनेश्वर भगवान् दीक्षा लेने से एक वर्ष पहले सांवत्सरिक दान वर्षादान देना आरम्भ
कर देते हैं, और वे प्रतिदिन सूर्योदय से लेकर एक पहर दिन बढ़ने तक दान देते हैं।

एक करोड़ आठ लाख मुद्रा का दान सूर्योदय से लेकर एक पहर पर्यन्त दिया जाता
है।

कुण्डल के धारक वैश्रमण देव और महाऋद्धि वाले लोकांतिक देव १५ कर्म भूमि में
होने वाले तीर्थंकर भगवान् को प्रतिबोधित करते हैं।

ब्रह्मकल्प में कृष्णराजि के मध्य में आठ प्रकार के लौकान्तिक विमान असंख्यात
योजन के विस्तार वाले होते हैं.....

यह सब देवों का समूह जिनेश्वर भगवान् महावीर को बोध देने के लिए सविनय
निवेदन करते हैं कि हे अर्हन् देव ! आप जगत् वासी जीवों के हितकारी तीर्थ-धर्म रूप तीर्थ
की स्थापना करें।

IV टीका-अनुवाद :

सूत्रार्थ पाठसिद्ध होने से टीका नहि है....

V सूत्रसार :

पहली तीन गाथाओं में यह बताया गया है कि भगवान् एक वर्ष तक प्रतिदिन सूर्योदय

से लेकर एक पहर तक एक करोड़, आठ लाख स्वर्ण मुद्रा का दान करते हैं। उन्होंने एक वर्ष में ३८८ करोड़ ८० लाख स्वर्ण मुद्रा का दान दिया था।

इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल साधु को दिया जाने वाला आहार-पानी वस्त्र-पात्र आदि का दान ही महत्वपूर्ण नहीं, बल्कि अनुकम्पा दान भी अपना महत्व रखता है। भगवान द्वारा दिया गया दान इस बात को स्पष्ट करता है कि अनुकम्पादान भी पुण्य बन्ध एवं आत्म विकास का साधन है। इससे आत्मा की दया एवं अहिंसक भावना का विकास होता है और यह विकास आत्मा के लिए अहितकर नहीं हो सकता। आगमों में भी अनेक स्थलों पर अनुकम्पा दान का उल्लेख मिलता है। तुंगिया नगरी के श्रावकों की धर्म भावना एवं उदारता का उल्लेख करते हुए उनके लिए 'अभंगद्वारे' का विशेषण दिया गया है। अर्थात् उनके घर के दरवाजे अतिथियों के लिए सदा खुले रहते थे। इससे स्पष्ट होता है कि वे बिना किसी सांप्रदायिक एवं जातीय भेद भाव के अपने द्वार पर आने वाले प्रत्येक याचक को यथाशक्ति दान देते थे। अतः तीर्थकरों के द्वारा दिए जाने वाले दान को केवल प्रशंसा प्राप्त करने के लिए दिया जाने वाला दान कहना उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि, महापुरुष कभी भी प्रशंसा के भूखे नहीं होते। वे जो कुछ भी करते हैं, दया एवं त्याग भाव से प्रेरित होकर ही करते हैं। अतः भगवान के दान से उनकी उदारता, जगत्वत्सलता एवं अनुकम्पा दान के महत्व का उज्ज्वल आदर्श हमारे सामने उपस्थित होता है, जो प्रत्येक धर्म-निष्ठ सद्गृहस्थ के लिए अनुकरणीय है।

चौथी गाथा में दो बातों का उल्लेख किया गया है—१. भगवान एक वर्ष में जितना दान करते हैं, उस धन की व्यवस्था वैश्रमण देव करते हैं। उनके आदेश से उनकी आज्ञा में रहने वाले लोकपाल देव उनके कोष को भर देते हैं। यह परंपरा अनादि काल से चली आ रही है। प्रत्येक तीर्थकर के लिए ऐसा किया जाता है। २. प्रत्येक तीर्थकर भगवान के हृदय में जब दीक्षा लेने की भावना पैदा होती है, तब लौकान्तिक देव अपनी परंपरा के अनुसार आकर उन्हें धर्म तीर्थ की स्थापना करने के लिए प्रार्थना करते हैं।

कुछ प्रतियों में 'वैसमण कुण्डधारी' के स्थान पर 'वैसमण कुण्डलधरा' पाठ भी उपलब्ध होता है।

पांचवीं गाथा में लौकान्तिक देवों के निवास स्थान का उल्लेख किया गया है। अरुणोदधि समुद्र से उठकर तमस्काय ब्रह्म (५वें) देवलोक तक गई है और उस में नव तरह की कृष्ण राजिएं हैं वे ही नव लौकान्तिक देवों के विमान माने गए हैं। उन्हीं विमानों में लौकान्तिक देवों की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म देवलोक के समीप होने से उन्हें लौकान्तिक कहते हैं। कुछ आचार्यों का अभिमत है कि लोक संसार का अन्त करने वाले अर्थात् एक भव करके

मोक्ष जाने वाले होने के कारण इन्हें लौकान्तिक कहते हैं। ये नव प्रकार के होत हैं— १. सारश्वत, २. आदित्य, ३. वह्नि, ४. वरुण, ५. गर्दतोय, ६. त्रुटित, ७. अव्याबाध, ८. आगनेय और ९. अरिष्ट।

छठी गाथा में यह बताया गया है कि लौकान्तिक देव अपने आवश्यक आचार का पालन करने के लिए तीर्थकर भगवान को तीर्थ की स्थापना करने की प्रार्थना करते हैं। यह तो स्पष्ट है कि गृहस्थ अवस्था में भी भगवान तीन ज्ञान से युक्त होते हैं और अपने दीक्षा काल को भली-भांति जानते हैं। अतः उन्हें सावधान करने की आवश्यकता ही नहीं है। फिर भी जो लौकान्तिक देव उन्हें प्रार्थना करते हैं, वह केवल अपनी परम्परा-कल्प का पालन करने के लिए ही ऐसा करते हैं।

साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका चारों को तीर्थ कहा गया है और इस चतुर्विध संघ रूप तीर्थ की स्थापना करने के कारण ही भगवान को तीर्थकर कहते हैं।

इसके आगे का वर्णन सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ १२ ॥ ॥ ५२० ॥

तओ णं समणस्स भ० महा० अभिणिवस्समणाभिष्पायं जग्गित्ता भवणवइवाण० जोइ० विमाणवासिणो देवा य देवीओ य सएहिं सएहिं रूवेहिं सएहिं, नेवत्थेहिं, सएहिं, चिंधेहिं सव्वइडीए सव्वजुईए सव्वबलसमुदएण सयाइं सयाइं जाणविमाण्णइं दुरूहंति, सयाइं० दुरूहित्ता अहाबायराइं पुग्गलाइं परिसाडंति, परिसाडित्ता अहासुहमाइं परियाइंति, परियाइत्ता उड्ढं उप्पयंति, उड्ढं उप्पइत्ता ताए उयिकड्ढाए सिग्घाए चवलाए तुरियाए देवगईए, अहे णं ओवयमाणा, तिरिएणं असंखिज्जाइं दीवसमुद्दाइं वीडयकममाणा, जेणेव जंबुदीवे दीवे तेणेव उवागच्छंति, उवगच्छित्ता जेणेव उत्तरस्सत्तियकुं डपुरसंनिवेसे तेणेव उवागच्छंति, उत्तरस्सत्तियकुं डपुरसंनिवेसरस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए, तेणेव इति वेणेण ओवइया, तओ णं सयकेः देविदे देवराया सणियं, जाणविमाणं पड्ढवेति, सणियं, जाणविमाणं पड्ढवेत्ता, सणियं, जाणविमाणो पच्चोरुहइ, सणियं, एगंतमवयकमइ, एगंतमवयकमिता महया वेउत्विएणं समुग्घाएणं समोहणइ, समोहणित्ता एणं महं णाणामणि कणगरयणभत्तिचित्तं सुभं चारु कंतरुवं देवच्छंदयं विउव्वइ। तस्स णं देवच्छंदयस्स बहुमज्झदेसभाए एकं महं सपायपीढं णाणामणि कणगरयणभत्तिचित्तं सुभं चारु कंतरुवं सीहासणं विउव्वइ, विउव्वित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, समणं भगवं महावीरं तियस्सुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता समणं भगवं महावीरं गहाय जेणेव देवच्छंदए तेणेव उवागच्छइ, सणियं, पुरत्थाभिमुहं सीहासणे

निसीयावेड, सणियं, निसीयावित्ता सयपाग-सहरसपागेहिं तिल्लेहिं अढभंगेड,
 गंधकासाईएहिं उल्लोलेड, सुद्धोदएण मज्जावेड, जरस णं मुल्लं सयसहरसेणं
 तिपडोलतित्तिएणं साहिएणं सीतेण गोसीसरत्तचंदणेणं अणुत्तिपड, ईसिं
 निस्सासवायवोज्झं वरणयरपट्टणुग्गयं कुसलनरपसंसियं अस्सलालापेलवं
 छेयारियकणगखइयंतकम्मं हंसलवखणं पट्टजुयलं नियंसावेड, हारं अद्धहारं उरत्थं नेवत्थं
 एगावलिं पालंबसुत्तं पट्टमउडरयणमालाउ आविधावेड, आविधावित्ता
 गथिमवेडिमपूरिमसंघाड्ढेणं मत्तेणं कप्पयस्वमिव समलंकरेड, समलंकरित्ता दुच्चंपि
 महया वेउत्थियसमुग्घाएणं समोहणड, एणं महं चंदप्पहं सिदियं सहस्सवाहिणियं
 विउव्वति, तं जहा-ईहामिग-उसभ-तुरग-नर-मकर-विहग-वानर-कुंजर-रुर-सरभ-
 चमर-सद्दल-सीह-वणलयभत्तिचित्तलय-विज्जाहरमिहुणजुयलजंत-जोगजुत्तं
 अच्छीसहरसमालिणीयं सुनिरुदियं मिसिमिसिंतरुवगसहरसकलियं ईसिं भिसमाणं
 भिदिभसमाणं चयस्सुल्लोयणलेसं मुत्ताहलमुत्ताज्जालंतरोदियं
 तवणीयपवरलंबूसपलंबंतमुत्तदामं हारद्धहार-भूसणसमोणयं अहियपिच्छणिज्जं
 पउमलयभत्तिचित्तं असोगलयभत्तिचित्तं कुंदलयभत्तिचित्तं णाणालयभत्तिचित्तं विरइयं सुभं
 चारुकंतस्सवं नानामणिपंचवण्णघंटापडायपडिमंडियग्गसिहरं पासाईयं दरिसणिज्जं
 सुरूवं ॥ ५२० ॥

II संस्कृत-छाया :

ततश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अभिनिष्कमणाभिप्रायं ज्ञात्वा भवनपति-
 वानव्यन्तर-ज्योतिष्क-विमानवासिनः देवाश्च देव्यश्च स्वकैः स्वकैः रूपैः, स्वकैः स्वकैः
 नेपथ्यैः, स्वकैः स्वकैः चिह्नैः, सर्वद्वयार्थं सर्वद्युत्या सर्वबलसमुदयेन स्वकानि स्वकानि
 यान-विमानानि दूरुहन्ति, (आरोहन्ति) आरुह्य यथाबादराणि पुद्गलानि परिशाटयन्ति,
 परिशाट्य यथासूक्ष्माणि पुद्गलानि पर्याददते, पर्यादाय ऊर्ध्वं उत्पतन्ति, ऊर्ध्वं उत्पत्य
 तया उत्कृष्टया शीघ्रया चपलया त्वरितया देवगत्या अधश्च अवपतन्तः अवपतन्तः तिर्यग्-
 असङ्ख्यान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिक्रम्यमानाः व्यतिक्रम्यमानाः यत्रैव जम्बूद्वीपः द्वीपः तत्रैव
 उपागच्छन्ति, उपागम्य यत्रैव उत्तरक्षत्रिय कुण्डपुरसंनिवेशस्य उत्तर-पूर्वे दिग्भागे, तत्रैव
 झगिति देगेन अवपतिताः । ततश्च शक्रः देवेन्द्र देवराजा शैनः शनैः यानविमानं
 प्रस्थापयति, शनैः शनैः यानविमानं प्रस्थाप्य शनैः शनैः यानविमानात् प्रत्यावतरति
 (प्रत्यारोहति), शनैः शनैः एकान्तं अपकामति, एकान्तं अपकम्य महता वैक्रियेण =
 वैकुर्विकेन समुदधातेन समवहन्ति, एकं महत् नानामणिकनकरत्नभक्तिचित्रं शुभं
 कान्तरूपं देवच्छन्दकं विकुरुते, तस्य च देवच्छन्दकस्य बहुमध्यदेशभागे एकं महत्
 सपादपीठं नानामणिकनकरत्नभक्तिचित्रं शुभं चारु कान्तरूपं सिंहासनं विकुरुते,

विकुर्व्य = विकृत्य यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं त्रिः आदक्षिणां प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा च श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति च, वन्दित्वा नमस्कृत्य च श्रमणं भगवन्तं महावीरं गृहीत्वा यत्रैव देवच्छन्दकः तत्रैव उपागच्छति, शनैः शनैः पूर्वाभिमुखं सिंहासने निषादयति, शनैः शनैः निषाद्य च शतपाकसहस्रपाकैः तैलैः अभ्यङ्गयति, गन्धकाषायिकैः उल्लोलयति, उल्लोल्य च शुद्धोदकेन मज्जयति, मज्जयित्वा, यस्य च मूल्यं शतसहस्रेण त्रिपटोलतितितिकेन साधिकेन शीतेन गोशीर्ष-रवतचन्दनेन अनुलिम्पति, अनुलिम्य च ईषत् त्रिःश्रासवात् वाहं वरनगरपट्टणोदगतं कुशलनरप्रशंसितं अश्वलालापेलवं छेकाचार्यकनकस्वचितान्तःकर्म हंसलक्षणं पट्टयुगलं परिधापयति, परिधाप्य च हारं अर्द्धहारं उरस्थं नैपथ्यं एकावलीं प्रालम्बसूत्रं पट्टमुकुटरत्नमाला आबन्धापयति, आबन्धाप्य च ग्रन्थिम = वेष्टिम-पूरिम-सङ्घातेन माल्येन कल्पवृक्षं इव समलङ्करोति, समलङ्कृत्य च द्वितीयं अपि महता वैक्रिय समुद्घातेन समवहन्ति, समवहत्य च एकां महतीं चन्द्रप्रभां शिबिकां सहस्रवाहनिकां विकरुते, तद्यथा ईहामृग-वृषभ-तुरग-नर-मकर-विहग-वानर-कुञ्जर-रुरु-शरभ-चमर-शार्दूल-सिंह-वनलताभवितचित्रलता-विद्याधरभिक्षुनयुगल-यन्त्रयोगयुक्तां अर्चिःसहस्रमालिनीयां सुनिरुपणीयां मिसीमिसन्तरूपकसहस्रकलितां ईषदभिसमानां भिभिसमानां चक्षुर्लोचनलोकनीयां मुयताफल-मुयताजालान्तरोपितां तपनीयाप्रवर-लम्बसुकप्रलम्बमुयतादामां हाराऽर्द्धहारभूषण-समन्वितां (समवन्तां) अधिकदर्शनीयां पद्मलताभवितचित्रां अशोकलताभवितचित्रां कुन्दलताभवितचित्रां नाबालताभवितचित्रां विरचितां शुभां चारुकान्तरूपां नानामणिपद्मवर्ण-घण्टा-पताका-प्रतिमण्डिताग्रशिखरां प्रसादीयां दर्शनीयां सुरुपाम् ॥ ५२० ॥

III सूत्रार्थ :

तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के दीक्षा लेने के अभिप्राय को जानकर भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव और देवियां अपने अपने रूप, वेष और चिन्हों से युक्त होकर तथा अपनी २ सर्वप्रकार की क्रुद्धि, धृति और बल समुदाय से युक्त होकर अपने २ विमानों पर चढ़ते हैं और उनमें चढ़कर बादर पुद्गलों को छोड़कर सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण करके ऊंचे होकर उत्कृष्ट, शीघ्र, चपल, त्वरित और दिव्य प्रधान देवगति से नीचे उतरते हुए तिर्यक् लोक में स्थित असंख्यात द्वीप समुद्रों को उल्लंघन करते हुए जहां पर जम्बूद्वीप नामक द्वीप है वहां पर आते हैं। जम्बूद्वीप में भी उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश में आकर उसके ईशान कोण में जो स्थान है वहां पर बड़ी शीघ्रता से उतरते हैं।

तत् पश्चात् शक्र देवों का इन्द्र देवराज शनैः २ अपने विमान को स्थापित करता है, फिर शनैः २ विमान से नीचे उतरता है और एकान्त में जाकर वैक्रिय समुद्घात करता है।

उससे नाना प्रकार की मणियों तथा कनक, रत्नादि से जटित एक बहुत बड़े कान्त मनोहर रूप वाले देवछन्दक का निर्माण करता है। उस देवछन्दक के मध्य भाग में नानाविध मणि, कनक, रत्नादि से खचित, शुभ, चारु और कान्तरूप एक विस्तृत पादपीठ युक्त सिंहासन का निर्माण किया। उसके पश्चात् जहां पर श्रमण भगवान महावीर थे वहां वह आया और आकर भगवान को वन्दन-नमस्कार किया और श्रमण भगवान महावीर को लेकर देवछन्दक के पास आया और धीरे २ भगवान को उस देवछन्दक में स्थित सिंहासन पर बैठाया और उनका मुख पूर्व दिशा की ओर रखा। शतपाक और सहस्र पाक तैलों से उनके शरीर की मालिश की और सुगन्धित द्रव्य से शरीर का उद्वर्तन करके शुद्ध निर्मल जल से भगवान को स्नान कराया, उसके बाद एक लाख की कीमत वाले विशिष्ट गोशीर्ष चन्द्रनादि का उनके शरीर पर अनुलेपन किया, उसके बाद भगवान को नासिका की वायु से हिलने वाले, तथा विशिष्ट नगरों में निर्मित, प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा प्रशंसित और कुशल कारीगरों के द्वारा स्वर्णतार से विभूषित, हंस के समान श्वेत, वस्त्र युगल को पहनाया। फिर हार, अर्द्धहार पहनाए तथा एकावली हार, लटकती हुई मालायें, कटि सूत्र, मुकुट और रत्नों की मालायें पहनाईं। तदनन्तर बन्धिम, वेष्टिम, पुरिम और संघातिम इन चार प्रकार की पूष्प मालाओं से कल्पवृक्ष की भान्ति भगवान को अलंकृत किया।

इस प्रकार अलंकृत करने के पश्चात् इन्द्र ने पुनः वैक्रियसमुद्घात किया और उससे चन्द्रप्रभा नाम की एक विराट् सहस्र वाहिनी शिविका (पालकी) का निर्माण किया। यह शिविका ईहामृग, वृषभ, अश्व, मगरमच्छ, पक्षी, बन्दर, हाथी, रुरु, शरभ, चमरी, शार्दूल और सिंह आदि जीवों तथा वनलताओं एवं अनेक विद्याधरों के युगल, यंत्र योग आदि से चित्रित थी। सूर्य ज्योति के समान तेजवाली, तथा रमणीय जगमगाती हुई, हजारों चित्रों से युक्त और देदीप्यमान होने के कारण मनुष्य उसकी ओर देख नहीं सकता था, वह स्वर्णमय शिविका मोतियों के हारों से सुशोभित थी। उस पर मोतियों की सुन्दर मालायें झूल रही थी तथा पद्मलता, अशोकलता, कुन्दलता एवं नाना प्रकार के अन्य वन लताओं से चित्रित थी। पांच प्रकार के वर्णवाली मणियों, घंटियों और ध्वजा पताकाओं से उसका शिखर भाग सुशोभित हो रहा था इस प्रकार वह शिविका दर्शनीय और परम सुन्दर थी।

IV टीका-अनुवाद :

सूत्रार्थ पाठ सिद्ध होने से टीका नहि हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि भगवान के दीक्षामहोत्सव में सम्मिलित होने के लिए चारों जाति के देव क्षत्रिय कुंड ग्राम में एकत्रित होते हैं। यह स्पष्ट है कि देव अपने

मूल रूप में मर्त्यलोक में नहीं आते। वे उत्तर वैक्रिय करके मनुष्यलोक में आते हैं और उत्तर वैक्रिय में वे १६ प्रकार के विशिष्ट स्त्रियों के सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान की दीक्षा के पूर्व शक्रेन्द्र द्वारा की गई प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। शक्रेन्द्र ने उत्तर वैक्रिय करके एक देवछन्दक बनाया और उस पर सिंहासन बनाकर भगवान को बैठाया और शतपाक एवं सहस्रपाक (सौ एवं हजार विशिष्ट औषधियों एवं जड़ी-बूटियों से बनाया गया) तैल से भगवान के शरीर की मालिश की, सुगन्धित द्रव्यों से उबटन किया और उसके बाद स्वच्छ, निर्मल एवं सुवासित जल से भगवान को स्नान कराया। उसके पश्चात् भगवान को बहुमूल्य एवं श्रेष्ठ श्वेत वस्त्र युगल पहनाया। और विविध आभूषणों से विभूषित करके हजार व्यक्तियों द्वारा उठाई जाने वाली शक्रेन्द्र द्वारा बनाई गई विशाल शिविका (पालकी) पर भगवान को बैठाया। उस तरह शक्रेन्द्र ने अपनी भक्ति एवं श्रद्धा को अभिव्यक्त किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि महान पुरुषों की सेवा के लिए मनुष्य तो क्या ? देव भी सदा उपस्थित रहते हैं।

कुछ प्रतियों में 'मज्जावेइ' के पश्चात् 'गन्धकासाएहि गायाइ लूहेइ लूहिता' पाठ भी उपलब्ध होता है और यह शुद्ध एवं प्रामाणिक प्रतीत होता है। इसी तरह 'मुल्लं सयसहस्सेणं तिपडोल तित्तिणं' के स्थान पर 'पलययसहस्सेणं तिपलो लाभितणं' पाठ भी उपलब्ध होता है।

इस विषय में कुछ और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ ९३ ॥ ॥ ५२१ ॥

सीया उदणीया जिणवरस्स जरमरणविप्पमुक्कस्स ।

ओसत्तमल्लदामा जलथलयदिव्वकुसुमेहिं ॥ ५२१ ॥

II संस्कृत-छाया :

शिबिका उपनीता जिन्नवरस्य जन्मजरा-विप्रमुयतस्य ।

अवसक्तमाल्यदामा जलस्थलयदिव्यकुसेमैः ॥ ५२१ ॥

I सूत्र ॥ ९४ ॥ ॥ ५२२ ॥

सिह्याइ मज्झायारे दिव्वं वररयणरूवर्चिचइयं ।

सीहासणं महरिहं सपायपीढं जिणवरस्स ॥ ५२२ ॥

II संस्कृत-छाया :

शिविकायां मध्यभागे दिव्यं वररत्नरूपप्रतिबिम्बितम् ।
सिंहासनं महार्हं सपादपीठं जिनवरस्य ॥ ५२२ ॥

I सूत्र ॥ १५ ॥ ॥ ५२३ ॥

आलङ्कृतमालमउडो भासुरबुंदी वराभरणधारी ।
स्त्रोमिय वत्थनियत्थो जस्स य मुल्लं सयसहस्सं ॥ ५२३ ॥

II संस्कृत-छाया :

अलङ्कृतमालामुकुटः भासुरशरीरो वराभरणधारी ।
परिहितक्षौमिकवस्त्रः यस्य च मूल्यं शतसहस्रम् ॥ ५२३ ॥

I सूत्र ॥ १६ ॥ ॥ ५२४ ॥

छट्टेण उभत्तेणं अज्झवसाणेण सुन्दरेण जिणे ।
लेसाहिं विसुज्झंतो आराहइ उत्तमं सीयं ॥ ५२४ ॥

II संस्कृत-छाया :

षष्ठेन तु भयतेन अध्यवसानेन सुन्दरेण जिनः ।
लेश्याभिः विशुद्ध्यमानः आरोहति उत्तमां शिविलाम् ॥ ५२४ ॥

I सूत्र ॥ १७ ॥ ॥ ५२५ ॥

सीहासणे निविद्धो सयकीसाणा य दोहिं पासेहिं ।
वीयति चामराहिं मणिरयणविचित्तदंडाहिं ॥ ५२५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सिंहासने निविष्टः शकेशानौ च द्वाभ्यां पार्श्वभ्याम् ।
वीजयतः चामरैः मणिरत्नविचित्रदण्डैः ॥ ५२५ ॥

I सूत्र ॥ १८ ॥ ॥ ५२६ ॥

पुत्विं उक्खित्ता माणुसेहिं साहइ रोमकूयेहिं ।
पच्छा वहंति देवा सुरअसुरा गरुलनागिंदा ॥ ५२६ ॥

II संस्कृत-छाया :

पूर्व उत्किमा मानुषैः संहृष्ट रोमकूपैः ।
पथात् वहन्ति देवा सुरासुराः गरुडनागेन्द्राः ॥ ५२६ ॥

I सूत्र ॥ १९ ॥ ॥ ५२७ ॥

पुरओ सुरा वहन्ति असुरा पुण दाहिणंमि पासंमि ।
अवरा वहन्ति गरुला नागा पुण उत्तरे पासे ॥ ५२७ ॥

II संस्कृत-छाया :

पुरतः सुराः वहन्ति असुराः पुनः दक्षिणे पार्श्वे ।
अपरतः वहन्ति गरुडाः नागाः पुनः उत्तरे पार्श्वे ॥ ५२७ ॥

I सूत्र ॥ २० ॥ ॥ ५२८ ॥

वणखंडं व कुसुमियं पउमसरो वा जहा सरयकाले ।
सोहइ कुसुमभरेणं इय गयणयलं सुरगणेहिं ॥ ५२८ ॥

II संस्कृत-छाया :

वनखण्डं इव कुसुमितं पबसरः वा यथा शरत्काले शोभते कुसुमभरेण इति
गगनतलं सुरगणैः ॥ ५२८ ॥

I सूत्र ॥ २१ ॥ ॥ ५२९ ॥

सिद्धत्थवणं व जहा कणयारवणं व चंपयवणं वा ।
सोहइ कुसुमभरेणं इय गयणयलं सुरगणेहिं ॥ ५२९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सिद्धार्थवनं वा यथा कर्णिकारवनं वा चम्पकवनं वा ।
शोभते कुसुमभरेण इति गगनतलं सुरगणैः ॥ ५२९ ॥

I सूत्र ॥ २२ ॥ ॥ ५३० ॥

वरपडहभेरिझल्लरि संख सयसहस्सिण्हिं तूरेहिं ।
गयणयले धरणियले तूरनिनाओ परमरम्मो ॥ ५३० ॥

II संस्कृत-छाया :

वरपटह भेरि-झल्लरी शङ्खशतसहस्रैः तूर्यैः ।

गगनतले धरणीतले तूर्यनिनादः परमरम्यः ॥ ५३० ॥

I सूत्र ॥ २३ ॥ ॥ ५३९ ॥

तत-विततं घणज्झुषिरं आउज्जं चउव्विहं बहुविहीयं । वाइंति तत्थ देवा बहुहिं
आणट्टगसएहिं ॥ ५३९ ॥

II संस्कृत-छाया :

तत-विततं धन-झुषिरं आतोद्यं चतुर्विधं बहुविधं वा वादयन्ति तत्र देवाः बहुभिः
आनर्तकशतैः ॥ ५३९ ॥

III सूत्रार्थ :

जरा मरण से विप्रमुक्त जिनवर के लिए शिविका लाई गई, जो कि जल और स्थल पर पैदा होने वाले श्रेष्ठ फूलों और वैक्रिय लब्धि से निर्मित पुष्प मालाओं से अलंकृत थी ।

उस शिविका के मध्य में प्रधान रत्नों से अलंकृत यथा योग्य पाद पीठिकादि से युक्त, जिनेन्द्र देव के लिए सिंहासन का निर्माण किया गया था ।

जिनेन्द्र भगवान महावीर एक लाख रूपए की कीमत वाले क्षौम युगल (कार्पास) के वस्त्र को धारण किए हुए थे और आभूषणों, मालाओं तथा मुकुट से अलंकृत थे ।

उस समय प्रशस्त अध्यवसाय एवं लेश्याओं से युक्त भगवान षष्ठ भक्त (बेले) की तपश्चर्या ग्रहण करके उस शिविका-पालकी में बैठे ।

जब श्रमण भगवान महावीर शिविका पर आरुढ़ हुए तो शक्रेन्द्र और इशानेन्द्र शिविका के दोनों तरफ खड़े होकर मणियों से जटित डंडे वाली चामरों को भगवान के ऊपर झुलाने लगे ।

सब से पहले मनुष्यों ने हर्ष एवं उल्लास के साथ भगवान की शिविका उठाई । उसके पश्चात् देव, सुर, असुर, गरुड़ और नागेन्द्र आदि देवों ने उसे उठाया ।

शिविका को पूर्व दिशा से सुर-वैमानिक देव उठाते हैं, दक्षिण से असुर कुमार, पश्चिम से गरुड़ कुमार और उत्तर दिशा से नाग कुमार उठाते हैं ।

उस समय देवों के आगमन से आकाश मंडल वैसा ही सुशोभित हो रहा था जैसे खिले हुए पुष्पों से युक्त उद्यान या शरद ऋतु में कमलों से भरा हुआ पद्म सरोवर शोभित होता है।

जिस प्रकार से सरसों, कचनार तथा चम्पक वन फूलों से सुहावना प्रतीत होता है, उसी तरह उस समय आकाश मंडल देवों से सुशोभित हो रहा था।

उस समय पटह, भेरी, झांझ शंख आदि श्रेष्ठ वाद्यों से गुंजायमान आकाश एवं भूभाग बड़ा ही मनोहर एवं रमणीय प्रतीत हो रहा था।

उस समय देव तत, वितत, घन और झुषिर इत्यादि अनेक तरह के बाजे बजा रहे थे तथा विभिन्न प्रकार के नृत्य कर रहे थे एवं बमी सबख नाटक दिखा रहे थे।

IV टीका-अनुवाद :

सूत्रार्थ पाठ सिद्ध होने से टीका नहि है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत गाथाओं में यह अभिव्यक्त किया गया है कि भगवान देव निर्मित सहस्र वाहिका शिविका में बैठे और देवों एवं मनुष्यों ने उस शिविका को उठाया। शकेन्द्र और ईशानेन्द्र उस शिविका के दोनों ओर खड़े थे और भगवान के ऊपर रत्न एवं मणियों से विभूषित डंडों से युक्त चामर झुला रहे थे। उस समय देव एवं मनुष्य सभी के चहेतों पर उल्लास एवं हर्ष परिलक्षित हो रहा था और आज सब अपने आपको धन्य मान रहे थे।

जिस समय भगवान शिविका में बैठकर जा रहे थे, उस समय, देव, असुर, किन्नर, गन्धर्व आदि बड़े हर्ष के साथ बाजे बजा रहे थे और विभिन्न प्रकार के नृत्य कर रहे थे। सारा वातावरण हर्ष एवं उल्लास से भरा हुआ था।

इतने हर्ष एवं आनन्द के वातावरण में भी भगवान प्रशस्त अध्यवसायों के साथ शान्त बैठे हुए थे। उस समय भगवान ने षष्ठ भवत-बेले का तप स्वीकार कर रखा था।

अब भगवान की दीक्षा से संबंधित विषय का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ २४ ॥ ॥ ५३२ ॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं जे से हेमंताणं पढमे मासे पढमे पवखे मग्गसिरबहुले,
तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपवखेणं सुव्वएणं दिवसेणं विजएणं मुहत्तेणं हत्थुतरा-

नक्षत्रेण जोगोवगणं पाईणगामिणीए छायाए बिइयाए पोरिसीए छट्टेण भत्तेण अपाणएणं एगसाडगमायाए चंदप्पमाए सिबियाए सहस्सवाहिणियाए सदेवमणुयासुराए परिसाए समणिज्जमाणे उत्तरखत्तियकुण्डपुरसंनिवेशस्स मज्झंमज्झेणं णिगच्छइ, णिगच्छिता जेणेव णायखंडे उज्जाणे, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता ईसिं रयणिप्पमाणं अच्छोप्पेणं भूमिभाएणं सणियं सणियं चंदप्पभं सिबियं सहस्सवाहिणिं ठवेइ, ठवित्ता सणियं सणियं चंदप्पभाओ सीयाओ सहस्सवाहिणीओ पच्चोयरइ, पच्चोयरित्ता सणियं सणियं पुरत्थाभिमुहे सीहासणे निसीयइ आभरणालंकारं ओमुअइ, तओ णं वेसमणे देवे जाणुवायपडिओ भगवओ महावीरस्स हंसलखणणेणं पडेणं आभरणालंकारे पडिच्छइ ।

तओ णं समणे भगवं महावीरे दाहिणेणं दाहिणं वामेणं वामं पंचमुट्टियं लोयं करेइ, तओ णं सवके देविंदे देवराजा समणस्स भगवओ महावीरस्स जाणुवायपडिए वइरामएणं थालेण केसाइं पडिच्छइ, पडिच्छित्ता “अणुजाणेसि भंतेति” कट्टु खीरोयसायरं साहरइ । तओ ण समणे० जाव लोयं करित्ता सिद्धाणं नमुयकारं करेइ, करित्ता सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मंतिक्कट्टु सामाइयं चरितं पडिवज्जइ, पडिवज्जित्ता देवपरिसं च मणुयपरिसं च आलिकखचित्तभूयमिव ठवेइ ॥ ५३२ ॥

II संस्कृत-छाया :

तस्मिन् काले तस्मिन् समये यः असौ हेमन्तस्य प्रथमः मासः प्रथमः पक्षः मृगशीर्षबहुलः तस्य च मृगशीर्षबहुलस्य दशमी-पक्षे सुव्रते दिवसे विजये मुहूर्ते हस्तोत्तरा-नक्षत्रेण योगोपगतेन प्रचीनगामिन्यां छायायां द्वितीयायां पौरुष्यां षष्ठेन भयतेन अपानकेन एक श्राटकमादाय चन्द्रप्रभायां शिबिकायां सहस्रवाहिन्यां सदेवमनुजासुरया परिषदा समन्वीयमानः उत्तरक्षत्रियकुण्डपुरसंनिवेशस्य मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गत्य च यत्रैव ज्ञातखण्डं उद्यानं तत्रैव उपागच्छति, उपागत्य च ईषत् रत्निप्रमाण अस्पृशेन भूमिभागेन शनैः शनैः चन्द्रप्रभां शिबिकां सहस्रवाहिनीं स्थापयति, स्थापयित्वा च शनैः शनैः चन्द्रप्रभायाः शिबिकायाः सहस्रवाहिन्याः प्रत्यवरतरति, प्रत्यवतीर्य च शनैः शनैः पूर्वाभिमुखः सिंहासने निषीदति, आभरणाङ्कारं अवमुञ्चति, ततः वैश्रमणः देवः जानुपादपतितः भगवतः महावीरस्य हंसलक्षणेन पटेन आभरणाङ्कारान् प्रतीच्छति, ततश्च श्रमणः भगवान् महावीरः दक्षिणेन दक्षिणं वामेन वामं पञ्चमुष्टिकं लोचं करोति, ततश्च शक्रः देवेन्द्रः देवराजः श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य जानुपादपतितः वज्रमयेन स्थालेन केशान् प्रतीच्छति, ततः अनुजानीहि भदन्त ! इति कृत्वा क्षीरोदसागरे प्रक्षिपति ।

ततश्च श्रमणः भगवान् महावीरः लोचं कृत्वा सिद्धेभ्यः नमस्कारं करोति, कृत्वा सर्वं मया अकरणीयं पापकर्म इति कृत्वा सामायिकं चारित्रं प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य च

देवपरिषदं च मनुजपरिषदं च आलेख्यचित्रभूतं इव स्थापयति ॥ ५३२ ॥

III सूत्रार्थ :

उस काल और उस समय में जब हेमन्त ऋतु का प्रथम मास प्रथमपक्ष अर्थात् मार्गशीर्ष मास का कृष्ण पक्ष था, उसकी दशमी तिथि के सुव्रत दिवस विजय मुहूर्त में उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग आने पर पूर्वगामिनी छाया और द्वितीय प्रहर के बीतने पर निर्जल-बिना पानी के दो उपवासों के साथ एक मात्र देवदूष्य वस्त्र को लेकर चन्द्रप्रभा नामकी सहस्र वाहिनी शिविका में बैठे। उसमें बैठकर वे देव मनुष्य तथा असुर कुमारों की परिषद् के साथ उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश के मध्य २ में से होते हुए जहां ज्ञात खण्ड नामक उद्यान था वहां पर आते हैं। वहां आकर देव थोड़ी सी-हाथ प्रमाण ऊंची भूमि पर भगवान की शिविका को ठहरा देते हैं। तब भगवान उसमें से शनैः २ नीचे उतरते हैं और पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर बैठ जाते हैं। उसके पश्चात् भगवान अपने आभरणांकारों को उतारते हैं। तब वैश्रमण देव भवित पूर्वक भगवान के चरणों में बैठकर उनके आभरण और अलंकारों को हंस के समान श्वेत वस्त्र में ग्रहण करता है। तत् पश्चात् भगवान ने दाहिने हाथ से दक्षिण की ओर के केशों का और वाम कर से बायें पासे के केशों का पांच मुष्टिक लोच किया, तब देवराज शक्रेन्द्र श्रमण भगवान महावीर के चरणों में गिर कर घुटनों को नीचे टेक कर वज्र मय धाल में उन केशों को ग्रहण करता है और हे भगवन्- आपकी आज्ञा है, ऐसा कहकर उन केशों को क्षीरोद्धति-क्षीर समुद्र में प्रवाहित कर देता है। इसके पश्चात् भगवान सिद्धों को नमस्कार करके सर्वप्रकार के सावद्यकर्म का परित्याग करते हुए सामायिक चारित्र ग्रहण करते हैं। उस समय देव और मनुष्य दोनों दीवार पर लिखे हुए चित्र की भांति अवस्थित हो गए, अर्थात् चित्रवत् निश्चेष्ट हो गए।

IV टीका-अनुवाद :

सूत्रार्थ पाठसिद्ध होने से टीका नहि है....

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में भगवान की दीक्षा के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। जब भगवान की शिविका ज्ञात खण्ड बगीचे में पहुंची तो भगवान उससे नीचे उतर गए और एक वृक्ष के नीचे पूर्व दिशा की ओर मुंह करके सिंहासन पर बैठ गए और क्रमशः अपने सभी वस्त्राभूषणों को उतार कर वैश्रमण देव को देने लगे। सभी आभूषणों को उतारने के पश्चात् मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी को तृतीय प्रहर के समय विजय मुहूर्त में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ योग होने पर भगवान ने स्वयं पञ्च मुष्टि लुंचन करके सिद्ध भगवान को नमस्कार करते हुए

सामायिक चारित्र ग्रहण किया। समस्त सावध योगों का त्याग करके भगवान ने साधना के पथ पर कदम रखा। उस समय भगवान ने केवल देवदूष्य वस्त्र स्वीकार किया। भगवान के केशों को शक्रेन्द्र ने ग्रहण किया और उन्हें क्षीरोदधि समुद्र में विसर्जित कर दिया।

इस पाठ से यह स्पष्ट होता है कि उस युग में भी दिवस, मुहूर्त एवं वक्षत्र आदि देखने की परम्परा थी। और पंच मुष्टि लोच एवं अलंकारों आदि के उतारने का उल्लेख करके भगवान की सहिष्णुता, त्याग एवं तप भावना को दिखाया गया है।

कुछ प्रतियों में 'जन्नु वाय पडियाए' के स्थान पर 'भनुव्वाय पडियाए' पाठ उपलब्ध होता है।

भगवान की दीक्षा के समय वातावरण को शान्त बनाए रखने के लिए इन्द्र के द्वारा सभी वादित्रों को बन्द करने का आदेश देने का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ २५ ॥ ॥ ५३३ ॥

दिव्यो मणुस्सघोसो तुरियनिनाओ य सवकवयणेणं ।
स्त्रिप्पामेव नितुयको जाहे पडिवज्जइ चरित्तं ॥ ५३३ ॥

II संस्कृत-छाया :

दिव्यः मनुष्यघोषः तूर्यनिनादः च शकवचनेन ।
क्षिप्रमेव निर्लुप्तः यदा प्रतिपद्यते चारित्रम् ॥ ५३३ ॥

I सूत्र ॥ २६ ॥ ॥ ५३४ ॥

पडिवज्जित्तु चरित्तं अहोनिंसं सव्वपाणभूयहिंयं ।
साहट्ट लोमपुलया सव्वे देवा निशामिति ॥ ५३४ ॥

II संस्कृत-छाया :

प्रतिपद्य चारित्रं अहर्निशं सर्व-प्राणिभूतहितम् ।
संहृत्य लोमपुलकाः सर्वे देवाः निशामयन्ति ॥ ५३४ ॥

III सूत्रार्थ :

जिस समय भगवान सामायिक चारित्र ग्रहण करने लगे, उस समय शक्रेन्द्र की आज्ञा से सभी वादित्रों आदि से होने वाले शब्द बन्द कर दिए गए।

सामायिक चरित्र ग्रहण करके भगवान रात-दिन सब प्राणियों के हित में संलग्न हुए अर्थात् वे सभी प्राणियों की रक्षा करने लगे। सभी देवों ने हर्षित भाव से यह सुना कि भगवान ने संयम स्वीकार कर लिया है।

IV टीका-अनुवाद :

सूत्रार्थ पाठसिद्ध होने से टीका नहि है.....

V सूत्रसार :

प्रस्तुत उभय गाथाओं में यह अभिव्यक्त किया गया है कि जिस समय भगवान सामायिक चरित्र ग्रहण करने लगे उस समय शक्रेन्द्र ने सभी प्रकार के वादित्रों को बन्द करने का आदेश दिया और उसके आदेश से सभी देव एवं मानव शान्त चित्त से भगवान के चरित्र ग्रहण करने के उद्देश्य को सुनने लगे। इस में यह स्पष्ट बताया गया है कि चरित्र सर्व प्राणियों का हितकारक है, प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव को अभिव्यक्त करने तथा प्राणिमात्र की रक्षा करने के उद्देश्य से ही साधक साधना के या साधुत्व के पथ पर कदम रखता है।

समस्त सावध योगों का त्याग करके संयम स्वीकार करते ही भगवान को चतुर्थ मनः पर्यव ज्ञान हो गया, इस का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ २७ ॥ ॥ ५३५ ॥

तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स सामाइयं खओवसमियं चरित्तं पडिवण्णस्स मणपज्जवनाणे नामं नाणे समुप्पण्णे अड्ढाइज्जेहिं दीवेहिं दोहि य समुदेहिं सण्णीणं पंचिदियाणं पज्जत्ताणं वियत्तमाणसाणं मणोगयाइं भावाइं जाणइ। तओ णं समये भगवं महावीरे पट्ठइए समाणे मित्तनाइ-सयणसंबंधिवग्गं पडिविसज्जेइ, पडिविसज्जित्ता इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ, तं जहा-बारस वरिसाइं वोसड्ढकाए चियत्तदेहे जे केइ उवस्सग्गा समुप्पज्जंति, तं जहा-दिव्वा वा माणुस्सा वा तेरिच्छिया वा, ते सत्त्वे उवस्सग्गे समुप्पण्णे समाणे सम्मं सहिस्सामि खमिस्सामि अहिआसइस्सामि।

तओ णं समणे भगवं महावीरे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हित्ता वोसिड्ढत्तदेहे दिवसे मुहुत्तसेसे कुमारग्गामं समणुपत्ते।

तओ णं समणे भगवं महावीरे वोसिड्ढत्तदेहे अणुत्तरेणं आलएणं अणुत्तरेणं विहारेणं एवं संजमेणं पग्गहेणं संवरेणं तवेणं बंधेरेवासेणं खंतीए मुत्तीए समिईए गुत्तीए

तुडीए ठाणेणं भावेमाणे विहरइ, एवं वा विहरमाणस्स जे केइ उवस्सग्गा समुप्पज्जंति-
दिक्खा वा माणुस्सा वा तिरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पण्णे समाणे अणाउले
अव्वहिए अदीणमाणसे तिविह-मण-वयण-कायगुत्ते सम्मं सहइ खमइ तितियखइ
अहियासेइ ।

तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स एएणं विहारेणं विहरमाणस्स बारस
वासा वीडकंता तेरसमस्स य वासस्स परियाए वट्टमाणस्स जे से गिमहाणं दुत्त्वे मासे
घउत्थे पक्खे वइसाहसुद्धे, तस्स णं वेसाहसुद्धस्स दसमीपक्खेणं सुव्वएणं दिवसेणं
विजएणं मुहुत्तेणं हत्थुत्तराहिं णक्खत्तेणं जोगोवएणं पाईणगामिणीए छायाए वियत्ताए
पोरिसीए जंभियगामस्स नगरस्स बहिया नईए उज्जुवालियाए उत्तरकुले सामागस्स
गाहावइस्स कड्ढकरणंसि उइढं जाणू अहो सिरस्स झाणकोट्टोवगयस्स वेयावत्तस्स
चेइयस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे सालरुक्खस्स अदूरसामंते उयकुडुयस्स गोदोहियाए
आयावणाए आयावेमाणस्स छट्टेणं भत्तेणं अपाणएणं सुवकज्झाणंतरियाए वट्टमाणस्स
निव्वाणे कसिणे पडिपुण्णे अत्वाहए निरावरणे अणंते अणुत्तरे केवलवरणाणदंसणे
समुप्पण्णे ।

से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वण्णू सव्वभावदरिसी सदेवमणुयासुरस्स
लोगस्स पज्जाए जाणइ, तं जहा-आगइं गइं ठिइं चवणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडिसेवियं
आविकम्मं रहोकम्मं लवियं कहियं मणोमाणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं
जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ ।

जण्णं दिवसं समणस्स भगवओ महावीरस्स णिव्वाणे कसिणे जाव समुप्पण्णे
तण्णं दिवसं भवणवइवाणमंतर जोइसियविमाणवासिदेवेहि य देवीहि य उवयंतेहिं जाव
उप्पिजलगब्भूए यावि हत्था, तओ णं समणे भगवं महावीरे उप्पणवरणाणदंसणधरे
अप्पाणं च लोगं च अभिसमिवस्सपुव्वं देवाणं धम्ममाइयखइ, ततो पच्चा माणुस्साणं ।
तओ णं समणे भगवं महावीरे उप्पणवरणाणदंसणधरे गोयमाईणं समणाणं
पंचमहव्वयाइं सभावणाइं छज्जीवनिकाया आतियखति भासइ परूवेइ, तं जहा-
पुढवीकाए जाव तसकाए ॥ ५३५ ॥

II संस्कृत-छाया :

ततश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य सामायिकं क्षायोपशमिकं चारित्रं
प्रतिपद्यमानस्य मनःपर्यवज्ञानं नाम ज्ञानं समुत्पन्नम्, अर्धतृतीयेषु द्वीपेषु द्वयोः च
समुद्रयोः सञ्चिन्नां पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तानां व्ययत मनसां मनोगतान् भावान् जानाति ।
ततश्च श्रमणः भगवान् महावीरः प्रव्रजितः सन् मित्रं ज्ञातिस्वजनसम्बन्धिदवर्गं

प्रतिविसर्जयति, प्रतिविसर्ज्य इमं एतद्रूपं अभिग्रहं अभिगृह्णाति, तद्यथा-द्वादश वर्षाणि व्युत्सृष्टकायः त्यक्तदेहः ये केचित् उपसर्गाः समुत्पद्यन्ते, तद्यथा-दिव्याः वा मानुष्याः वा तैरिथिकाः वा, तान् सर्वान् उपसर्गान् समुत्पन्नान् सतः सम्यग् सहिष्ये क्षमिष्ये अध्यास्ये ततश्च श्रमणः भगवान् महावीरः इमं एतद्रूपं अभिग्रहं अभिगृह्णा व्युत्सृष्टत्ययतदेहः दिवसे मुहूर्त्तशेषे कुमारग्रामं समनुप्राप्तः । ततश्च श्रमणः भगवान् महावीरः व्युत्सृष्टत्ययतदेहः अनुत्तरेण आलयेन अनुत्तरेण विहारेण एवं संयमेन प्रग्रहेण संवरेण तपसा ब्रह्मचर्यावासेन क्षान्त्या मुक्त्या समित्या गुप्त्या तुष्ट्या स्थानेन क्रमेण सुचरितफलनिर्वाणमुकितमार्गेण आत्मानं भावयन् विहरति । एवं वा विहरतः ये केचित् उपसर्गाः समुत्पद्यन्ते, दिव्याः वा मानुष्याः वा तैरिथिकाः वा, तान् सर्वान् उपसर्गान् समुत्पन्नान् सतः अनाकुलः अव्यथितः अदीनमनाः त्रिविधमनो वचनकायगुप्तः सम्यक सहते क्षमते तितिक्षते अध्यास्ते ।

ततश्च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य एतेन विहारेण विहरतः द्वादश वर्षाः व्यतिक्रान्ताः त्रयोदशमस्य च वर्षस्य पर्याये वर्त्तमानस्य यः असौ ग्रीष्मस्य द्वितीयः मासः चतुर्थः पक्षः वैशाखशुक्लः, तस्य च वैशाखशुक्लस्य दशमी-पक्षे सुवते दिवसे विजये मुहूर्त्ते हस्तोत्तराभिः नक्षत्रेण योगोपगतेन प्राचीनगामिन्यां छायायां व्यक्तायां पौरुष्यां जृम्भिकग्रामस्य नगरस्य बहिस्तात् नद्याः ऋजुवालुकायाः उत्तरकुले श्यामकस्य गृहपतेः काष्ठकरणे ऊर्ध्वं जानु-अधः शिरसः ध्यानकोष्ठोपगतस्य व्यवृत्तस्य चैत्यस्य उत्तरपूर्वे दिग्भागे शालवृक्षस्य अदूरपार्श्वे उत्कुटुकस्य गोदोहिकया आतापनया आतापयतः षष्ठेन भयतेन अपानकेन शुक्लध्यानान्तरिकायां वर्त्तमानस्य निर्वाणे कृत्स्ने प्रतिपूर्णे अव्याहते निरावरणे अनन्ते अनुत्तरे केवलवरज्ञानदर्शने समुत्पन्ने ।

सः भगवान् अर्हन् जिनः केवली सर्वज्ञः सर्वभावदर्शी सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य पर्यायान् जानाति, तद्यथा-आगतिं गतिं स्थितिं च्यवनं उपपातं भुक्तं पीतं कृतं प्रतिसेवितं आविःकर्म रहःकर्म लपितं कथितं मनोमानसिकं सर्वलोके सर्वजीवानां सर्वभावान् जानन् पश्यन् च एवं विहरति । यस्मिन् दिवसे श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य निर्वाणे कृत्स्ने यावत् केवलवरज्ञानदर्शने समुत्पन्ने, तस्मिन् दिवसे भवनपति-वानध्यन्तर-ज्योतिष्क-विमानवासिदेवैः च देवीभिश्च उत्पतद्भिः यावत् आकाशः उत्पिञ्जलकभूतश्च अपि अभवत् ।

ततश्च श्रमणः भगवान् महावीरः उत्पन्नवरज्ञानदर्शनधरः आत्मानं च लोकं च अभिसमीक्ष्य पूर्वं देवानां धर्ममाख्याति, ततः पथात् मनुष्याणाम् ।

ततश्च श्रमणः भगवान् महावीरः उत्पन्नवरज्ञानदर्शनधरः गौतमादीनां श्रमणानां

पञ्च महाव्रतानि सभावानानि षड्जीवनिकायान् आख्याति भाषते प्ररूपयति, तद्यथा
पृथ्वीकायः यावत् त्रसकायः ॥ ५३५ ॥

III सूत्रार्थ :

क्षायोपशमिक सामायिक चारित्र ग्रहण करते ही श्रमण भगवान महावीर को मनः पर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ। जिसके द्वारा वे अढाई द्वीप, दो समुद्रों में स्थित संज्ञीपर्याप्त पञ्चेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को स्पष्ट जानने लगे।

श्रमण भगवान महावीर ने प्रव्रजित होने के पश्चात् अपने मित्र ज्ञाति और स्वजन सम्बन्धि वर्ग को विसर्जित किया और उन सभी के चले जाने के बाद भगवान ने इस प्रकार का अभिग्रह प्रतिज्ञा धारण किया कि मैं आज से लेकर बारह वर्ष तक अपने शरीर पर ममत्व नहीं रखूंगा और देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धि जो भी उपसर्ग उत्पन्न होंगे, उन सभी उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करूंगा, सदा क्षमा भाव रखूंगा, और स्थिरता पूर्वक उन कष्टों पर विजय प्राप्त करूंगा अर्थात् उनको सहन करने में किसी प्रकार से खिन्न एवं अपसन्न नहीं होऊंगा।

शरीर पर से ममत्व त्याग के अभिग्रह से युक्त श्रमण भगवान महावीर-जिस दिन दीक्षा ग्रहण की, उसी दिन शाम को एक मुहूर्त (४८ मिनट) दिन रहते कुमार ग्राम पहुंचे।

तदनन्तर शरीर के ममत्व और संस्कार का परित्याग करने वाले श्रमण भगवान महावीर अनुपम वसती के सेवन से, अनुपम विहार से, एवं अनुपम संयम, संवर, तप, ब्रह्मचर्य, क्षमा, निर्लोभता, समिति, गुप्ति, सन्तोष, कायोत्सर्गादि स्थान और अनुपम क्रियानुष्ठान से तथा सच्चरित के फलरूप निर्वाण और मुक्ति मार्ग-ज्ञान दर्शन-चारित्र के सेवन से युक्त होकर आत्मा को भावित करते हुए विचरते हैं।

इस प्रकार विचरते हुए श्रमण भगवान महावीर को देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धि जो कोई भी उपसर्ग प्राप्त हुए वे उन सब उपसर्गों को खेद रहित, बिना दीनता के समभावपूर्वक सहन करते रहे। और वे मन वचन तथा काया से गुप्त होकर उन उपसर्गों को भली भान्ति सहन करते और उपसर्ग दाताओं को क्षमा करते तथा सहिष्णुता और स्थिर भावों से उन पर विजय प्राप्त करते थे।

श्रमण भगवान् महावीर को इस प्रकार के विहार से विचरते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गए। तेरहवें वर्ष के मध्य में ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास और चौथे पक्ष में अर्थात् वैशाख शुक्ला दशमी के दिन सुव्रत नामक दिवस के विजय मुहूर्त में, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग आने पर दिन के पिछले पहर, जुम्भक नामक नगर के बाहर ऋजुवालिका

नदी के उत्तर तट पर, श्यामाक गृहपति के क्षेत्र में वैयावृत्य नामक यक्ष मन्दिर के ईशान कोण में शाल वृक्ष के कुछ दूरी पर ऊंचे घुटने और नीचा सिर कर के ध्यान रूप कोष्ट में प्रविष्ट हुए तथा उत्कटुक और गोदोहिक आसन से सूर्य की आतापना लेते हुए, निर्जल छट्ठ भक्त तप युक्त शुक्ल ध्यान करते हुए भगवान को निर्दोष, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, निर्व्याघात, निरावरण, अनंत, अनुत्तर, सर्वप्रधान केवल ज्ञान और केवल दर्शन उत्पन्न हुआ।

वे भगवान अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वभावदर्शी, देव, मनुष्य और असुरकुमार तथा लोक के सभी पर्यायों को जानते हैं, जैसे कि- जीवों की आगति, गति, स्थिति, च्यवन, उत्पाद तथा उनके द्वारा खाए-पीए पदार्थों एवं उनके द्वारा सेवित प्रकट एवं गुप्त सभी क्रियाओं को तथा अन्तर रहस्यों को एवं मानसिक चिन्तन को प्रत्यक्ष रूप से जानते हुए देखते हैं। वे सम्पूर्ण लोक में स्थित सर्व जीवों के सर्व भावों को तथा समस्त पुद्गलों-परमाणुओं को जानते देखते हुए विचरते हैं।

जिस दिन श्रमण भगवान महावीर स्वामी को केवल ज्ञान और केवल दर्शन उत्पन्न हुआ उसी दिन भवनपति, वाण व्यन्तर- ज्योतिषी और वैमानिक देवों के आने से आकाश आकीर्ण हो रहा था और वहां का सारा आकाश प्रदेश जगमगा रहा था।

तदनन्तर उत्पन्न प्रधान ज्ञान और दर्शन के धारक श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने केवल ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा तथा लोक को भली भांति देखकर पहले देवों को ओर पश्चात् मनुष्यों को धर्म का उपदेश दिया।

तत् पश्चात् केवल ज्ञान और दर्शन के धारक श्रमण भगवान महावीर ने गौतमादि श्रमणों को भावना सहित पांच महाव्रतों और पृथिवी आदि षट् जीव निकाय के स्वरूप का सामान्य प्रकार से तथा विशेष प्रकार से अर्द्धमागधी भाषा में प्रतिपादन किया।

IV टीका-अनुवाद :

सूत्रार्थ पाठसिद्ध होने से टीका नहीं है.....

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में मनः पर्याय ज्ञान का वर्णन किया गया है। इस ज्ञान से व्यक्ति ढाई द्वीप और दो समुद्रों में स्थित पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों को मनोगत भावों को जान सकता है जिस समय भगवान ने सामायिक चारित्र्य स्वीकार किया उसी समय उन्हें यह ज्ञान प्राप्त हो गया और वे मन वाले प्राणियों के मानसिक भावों को देखकर जानने लगे।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि मनःपर्याय ज्ञान क्षेत्र एवं विषय की दृष्टि से ससीम है

और इससे उन्हीं प्राणियों के मानसिक भावों को जाना जा सकता है, जिन के मन है। क्योंकि मन वाले प्राणी ही स्पष्ट रूप से मानसिक चिन्तन कर सकते हैं। अतः उनके चिन्तन से मनोवर्गणा के पुद्गलों के बनते हुए आकारों के द्वारा उनके बारे में चिन्तन कर सकते हैं। अतः उनके चिन्तन से मनोवर्गणा के पुद्गलों के बनते हुए आकारों के द्वारा उनके चिन्तन का, उनके मानसिक विचारों का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

इस में दूसरी बात यह बताई गई है कि सामायिक चारित्र की प्राप्ति क्षयोपशम भाव में हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि आध्यात्मिक साधना का ग्रहण क्षयोपशमिक भाव में ही किया जा सकता है, औदयिक भाव में नहीं। क्योंकि सम्यग्ज्ञान पूर्वक की गई आध्यात्मिक क्रियाएं ही सम्यग् होती हैं और सम्यग्ज्ञान क्षयोपशम भाव में ही प्राप्त होता है। अतः सामायिक चारित्र को क्षयोपशमिक भाव में माना गया है।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर की महान साधना एवं सहिष्णुता का उल्लेख किया गया है। भगवान ने दीक्षा ग्रहण करते ही अपने शरीर पर से सर्वथा आसक्ति हटा दी। उन्होंने यह प्रतिज्ञा ग्रहण की कि मैं १२ वर्ष तक अर्थात् सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होने तक देव-दानव, मानव और तिर्यञ्च-पशु पक्षी एवं क्षुद्र जन्तुओं द्वारा होने वाले किसी भी परीषह का, उपसर्ग का प्रतिकार नहीं करूंगा, आने वाले समस्त कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करूंगा, सब प्राणियों के प्रति क्षमा एवं मैत्री भाव रखूंगा। अपने को कष्ट देने वाले किसी भी प्राणी के अहित का संकल्प नहीं करूंगा। वस्तुतः यह भावना उनकी उत्कट साधना एवं महान् शक्ति की परिचायक है। इसी विशिष्ट शक्ति के कारण आप वर्द्धमान एवं श्रमणत्व से आगे बढ़कर महावीर बने। भगवान की महावीरता प्राणियों को दण्ड से दबाने में नहीं, प्रत्युत महान् कष्टों को समभाव पूर्वक सहने, दुःखों की संतप्त दोपहरी में भी शान्त एवं अटल भाव से आत्म चिन्तन में संलग्न रहने, आततायियों को भी मित्र समझकर उन्हें क्षमा करने तथा राग-द्वेष एवं कषाय रूप आध्यात्मिक शत्रुओं का नाश करने में थी।

इस प्रकार अनेक उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करते हुए भगवान महावीर विहार करते हैं, उनकी विहारचर्चा का उल्लेख सूत्रकार आगे के सूत्र से करते हैं।

इसमें यह बताया गया है कि भगवान ने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन पहला विहार कुमार ग्राम की ओर किया और सूर्यास्त से एक मुहूर्त (४८ मिनट) पहले कुमार ग्राम पहुंच गए।

विहार के समय भगवान की क्या वृत्ति थी, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार आगे कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर की महान् एवं विशुद्ध साधना का उल्लेख किया गया है। वे सदा निर्दोष, प्रासुक एवं एषणीय स्थानों में ठहरते थे और वे ईर्या के सभी दोषों से निवृत्त होकर सदा अप्रमत्त भाव से विहार करते थे और उत्कृष्ट तप, संयम, समिति-गुप्ति, क्षमा, स्वाध्याय-कायोत्सर्ग आदि से आत्मा को शुद्ध बनाते हुए विचर रहे थे। कहने का तात्पर्य यह कि भगवान् महावीर का प्रत्येक क्षण आत्मा को राग-द्वेष एवं कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त बनाने में लगता था।

भगवान् की सहिष्णुता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार आगे कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान् की सहिष्णुता, क्षमा एवं आध्यात्मिक साधना के विकास का वर्णन किया गया है। वे सदा समभाव पूर्वक विचरते थे। कभी भी कष्टों से विचलित नहीं हुए और न भयंकर वेदना देने वाले व्यक्ति के प्रति उन्होंने द्वेष भाव रखा वे क्षमा के अवतार प्रत्येक प्राणी को तन, मन और वचन से क्षमा ही करते रहे। वह अभय का देवता सब प्राणियों को अभय दान देता रहा। यही भगवान् महावीर की साधना थी कि दुःख देने वाले के प्रति द्वेष मत रखो, सब के प्रति मैत्री भाव रखो, सब को क्षमा दो और आने वाले प्रत्येक दुःख सुख को समभाव पूर्वक सहन करो।

इस महान् साधना एवं घोर तपश्चर्या के द्वारा राग-द्वेष एवं चार घातिक कर्मों का क्षय करके भगवान् ने केवल ज्ञान, केवल दर्शन को प्राप्त किया। इसका उल्लेख सूत्रकार आगे करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि साधना के बारह वर्ष कुछ महीने बीतने पर वैशाख शुक्ल १० को जृम्भक ग्राम के बाहर, ऋजुवालिका नदी के तट पर, श्यामाक गृहपति के क्षेत्र (खेत) में, जहां जीर्ण व्यन्तरायतन था, दिन के चतुर्थ पहर में, सुव्रत नामक दिन, विजय मुहूर्त एवं उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग होने पर उदकडुं और गोदुह आसन से शुक्ल ध्यान में संलग्न भगवान् ने राग-द्वेष एवं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इस चार घातिक कर्मों का सर्वथा क्षय करके केवल, ज्ञान, केवल दर्शन को प्राप्त किया।

प्रस्तुत प्रसंग में मुहूर्त आदि के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि उस समय लौकिक पंचांग की ज्योतिष गणना को स्वीकार किया जाता था। ग्राम, नदी आदि के नाम के साथ देश (प्रान्त) के नाम का उल्लेख कर दिया जाता तो वर्तमान में उस स्थान का पता लगाने में कठिनाई नहीं होती और इससे लोगों में स्थान सम्बन्धी भ्रान्तियां नहीं फैलतीं और ऐतिहासिकों में विभिन्न मतभेद पैदा नहीं होता। परन्तु इसमें देश का नामोल्लेख नहीं होने से यह पाठ विद्वानों के लिए चिन्तनीय एवं विचारणीय है।

केवल ज्ञान के सामर्थ्य का वर्णन सूत्रकार आगे करते हैं।

इसमें बताया गया है कि भगवान समस्त लोकालोक को तथा लोक में स्थित समस्त जीवों को, उनकी पर्यायों को, संसारी जीवों के प्रत्येक प्रकट एवं गुप्त कार्य तथा विचारों को तथा अनन्त-अनन्त परमाणुओं एवं उनसे निर्मित पुद्गलों एवं उनकी पर्यायों को जानते-देखते हैं। लोक के साथ-साथ अलोक में स्थित अनन्त आकाश प्रदेशों को भी वे जानते देखते हैं।

केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन संपन्न महावीर को अर्हन्त, जिन सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आदि कहते हैं। केवल ज्ञान का अर्थ है- वह ज्ञान जो पदार्थों की जानकारी के लिए पूर्ववर्ती मति, श्रुत, अवधि एवं मनः पर्याय चारों ज्ञानों में से किसी की अपेक्षा नहीं रखता है। वह केवल अर्थात् अकेला ही रहता है, और किसी अन्य ज्ञान की सहायता के बिना ही समस्त पदार्थों के समस्त भावों को जानता देखता है।

प्रस्तुत सूत्र में सर्वज्ञ और सर्वदर्शी शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ को पहले समय में ज्ञान होता है और दूसरे समय दर्शन होता है। जब कि छद्मस्थ को प्रथम समय में दर्शन और द्वितीय समय ज्ञान होता है। इस पर जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में विस्तार से विचार किया गया है और वृत्तिकार ने उस पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है।

भगवान को केवल ज्ञान होने के बाद देवों ने उसका महोत्सव मनाया, उसका उल्लेख सूत्रकार आगे करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि जब भगवान को केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्राप्त हुआ तो उनके द्वारा होने वाले अनन्त उपकार का स्मरण करके तथा उस महावीर प्रभु के चरणों में अपनी श्रद्धा अर्पण करने के लिए भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव वहां आए और उन्होंने कैवल्य महोत्सव मनाया।

अब भगवान द्वारा दी गई धर्मदिशाना (उपदेश) का वर्णन सूत्रकार आगे करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि भगवान ने अपनी सेवा में उपस्थित चारों जाति के देवों को धर्मोपदेश दिया। उसके बाद उन्होंने जनता (मनुष्यों) को धर्मोपदेश दिया। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि महापुरुष अपने पास आने वाले देव, मानव आदि प्रत्येक को धर्मोपदेश देकर सन्मार्ग बताते हैं, उन्हें समस्त बन्धनों से मुक्त होने की राह बताते हैं। दूसरी बात यह है कि तीर्थंकर पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही उपदेश देते हैं। वे जब संपूर्ण पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानते-देखने लगते हैं, तभी वे प्रवचन करते हैं। जिससे उनके प्रवचन में विरोध एवं विपरीतता को अवकाश नहीं रहता और उसमें यथार्थता होने के कारण जनता के हृदय पर भी उसका असर होता है।

स्थानांग सूत्र में बताया गया है कि भगवान के प्रथम प्रवचन में केवल देव ही उपस्थित थे, उस समय कोई मानव वहां उपस्थित नहीं था। और देव त्याग, व्रत, नियम आदि को स्वीकार नहीं कर सकते। इस कारण भगवान का प्रथम प्रवचन व्रत स्वीकार करने की (आचार की) अपेक्षा से असफल रहा था। इसलिए इस घटना को आगम में अन्य आश्चर्यकारी घटनाओं के साथ आश्चर्य जनक माना गया है।

अब मानव को दिए गए धर्मोपदेश के संबन्ध में सूत्रकार आगे कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान द्वारा दिए गए उपदेश का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि देवों को उपदेश देने के बाद भगवान ने गौतम आदि गणधरों, साधु-साधिव्यों एवं श्रावक श्राविकाओं के सामने ५ महाव्रत एवं उसकी २५ भावनाओं तथा षट्जीवनिकाय आदि का उपदेश दिया। इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान को सर्वज्ञता प्राप्त होने के बाद इन्द्रभूति गौतम आदि विद्वान उनके पास आए और विचार-चर्चा करने के बाद भगवान के शिष्य बन गए। अतः उन्हें एवं अन्य जिज्ञासु मनुष्यों को मोक्ष का यथार्थ मार्ग बताने के लिए संयम साधना के स्वरूप को बताना आवश्यक था। जम्बू द्वीप प्रजापति में भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में कहा गया है कि भगवान ऋषभदेव कहते हैं कि जैसे यह संयम साधना या मोक्ष मार्ग मेरे लिए हितप्रद, सुखप्रद, एवं सर्व दुखों का नाशक है, उसी तरह जगत के समस्त प्राणियों के लिए भी अनन्त सुख-शान्ति का द्वार खोलने वाला है। अतः सभी तीर्थंकर जगत के सभी प्राणियों की रक्षा रूप दया के लिए उपदेश देते हैं। उनका यही उद्देश्य रहता है सभी प्राणी साधना के यथार्थ स्वरूप को समझकर उस पर चलने का प्रयत्न करे।

इसी दृष्टि से भगवान महावीर गौतम आदि सभी साधु साधिव्यों एवं अन्य मनुष्यों के सामने उपदेश देते हैं और साधना के प्रशस्त पथ का-जिस पर चलकर आत्मा अनन्त शान्ति को पा सके, प्रसार एवं प्रचार करने के लिए चतुर्विध संघ स्वरूप तीर्थ—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका की स्थापना करते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर सर्वज्ञ बनने के बाद तीर्थ की स्थापना करते हैं, इसे संघ भी कहते हैं। जिसके द्वारा विश्व में धर्म का, अहिंसा का शान्ति का प्रचार किया जा सके।

इस तरह साधना के मार्ग का यथार्थ रूप बताते हुए भगवान महावीर प्रथम महाव्रत के सम्बन्ध में सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ २८ ॥ ॥ ५३६ ॥

पढमं भंते ! महव्वयं पच्चवस्सामि, सव्वं पाणाइवायं, से सुहमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणाइवायं करिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा

कायसा, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवन्ति ।

तत्थिमा पढमा भावणा-ईरियासमिए से णिग्गंथे नो अणईरियासमिएत्ति, केवली बूया० अणईरियासमिए से णिग्गंथे पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणिज्ज वा वत्तिज्ज वा परियादिज्ज वा लेसिज्ज वा उद्विज्ज वा, ईरियासमिए से णिग्गंथे, नो ईरियासमिएत्ति पढमा भावणा ।

अहावरा दुच्चा भावणा-मणं परियावइ से णिग्गंथे, जे य मणे पावए सावज्जे सकिरिए अण्हयकरे छेयकरे भेयकरे अहिगरणिए पाउसिए पारियाविए पाणाइवाइए भूओवघाइए, तहप्पगारं मणं नो पधारिज्जा गमणाए, मणं परिजाणइ से णिग्गंथे, जे य मणे अपावएत्ति दुच्चा भावणा ।

अहावरा तच्चा भावणा-वइं परिजाणइ से णिग्गंथे, जा य वई पाविया सावज्जा सकिरिया जाव भूओवघाइया तहप्पगारं वइं नो उच्चारिज्जा, जे वइं परिजाणइ से णिग्गंथे, जाव वई अपावियत्ति तच्चा भावणा ।

अहावरा चउत्था भावणा-आयाणभंडमत्त-नियस्सेवणासमिए से णिग्गंथे, नो अणायाणभंड- मत्तनियस्सेवणासमिए, केवली बूया०- आयाणभंड-मत्तनियस्सेवणा- असमिए से णिग्गंथे पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणिज्जा वा जाव उद्विज्ज वा, तम्हा आयाणभंडमत्तनियस्सेवणासमिए से णिग्गंथे, नो आयाणभंडमत्तनियस्सेवणा- असमिएत्ति चउत्था भावणा ।

अहावरा पंचमा भावणा-आलोइयपाणभोयण-भोई से णिग्गंथे, नो अणालोइयपाणभोयणभोई, केवली बूया० अणालोयपाणभोयणभोई से णिग्गंथे पाणाणि वा, अभिहणिज्ज वा जाव उद्विज्ज वा, तम्हा आलोइयपाणभोयणभोई से णिग्गंथे, नो अणालोइय-पाणभोयणभोइत्ति पंचमा भावणा ।

एयावता महव्वए सम्मं काएणं फासिए पालिए तीरिए किट्टिए अवट्टिए आणाए आराहिए यावि भवइ, पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं ॥ ५३६ ॥

II संस्कृत-छाया :

प्रथमं भदन्त ! महाव्रतं प्रत्याख्यामि, सर्वं प्राणातिपातं, तत् च सूक्ष्मं वा बादरं वा त्रसं वा स्थावरं वा, नैव स्वयं प्राणातिपातं करोमि, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन, (तं) तस्य हे भदन्त ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं च

प्युत्सृजामि ।

तस्य इमाः पञ्च-भावनाः भवन्ति, तत्र इयं प्रथमा भावना-ईर्यासमितः सः निर्ग्रन्थः, न अनीर्यासमितः इति, केवली ब्रूयात्० आदानमेतत्- अनीर्यासमितः सः निर्ग्रन्थः प्राणिनः भूतानि जीवान् सत्त्वान् अभिहन्यात् वा वर्तयेत् वा परितापयेत् वा श्लेषयेत् वा अपद्रावयेत् वा, ईर्यासमितः सः निर्ग्रन्थः, न अनीर्यासमितः इति प्रथमा भावना ।

अथाऽपरा द्वितीया भावना-मनः परिजानाति सः निर्ग्रन्थः । यत् च मनः पापकं सावद्यं सक्रियं आश्रवकरं छेदकरं भेदकरं अधिकरणकं प्राद्वेषिकं पारितापिकं प्राणातिपातिकं भूतोपघातिकं च तथाप्रकारं मनः न प्रधारयेत् गमनाय । यः मनः परिजानाति सः निर्ग्रन्थः । यत् च मनः अपापकं इति द्वितीया भावना ।

अथाऽपरा तृतीया भावना-वाचं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः, या च वाक् पापिका सावद्या सक्रिया यावत् भूतोपघातिका, तथाप्रकारं वाचं न उच्चारयेत्, यः वाचं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः, या च वाक् अपापिका इति तृतीया भावना ।

अथाऽपरा चतुर्थी भावना-आदानभाण्डमात्र-निक्षेपणा-समितः सः निर्ग्रन्थः, न अनादानभाण्ड-मात्रनिक्षेपणासमितः, केवली ब्रूयात् आदानमेतत्-आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणाऽसमितः सः निर्ग्रन्थः प्राणिनः भूतानि जीवान् सत्त्वान् अभिहन्याद् वा यावत् अपद्रावयेत् वा, तस्मात् आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणा-समितः सः निर्ग्रन्थः, न अनादानभाण्डमात्रनिक्षेपणाऽसमितः इति चतुर्थी भावना ।

अथाऽपरा पञ्चमी भावना-आलोकितपान-भोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः, न अनालोकितपान-भोजनभोजी, केवली ब्रूयात् आदानमेतत्, अनालोकितपानभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः, प्राणिनः अभिहन्याद् वा यावत् अपद्रावयेत् वा, तस्मात् आलोकितपानभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः, न अनालोकितपानभोजनभोजी इति पञ्चमी भावना ।

एतावता महाव्रतं सम्यक् कायेन स्पर्शितं पालितं तीर्णं कीर्तितं अवस्थितं आज्ञया आराधितं च अपि भवति, प्रथमं भदन्त ! महाव्रतं प्राणातिपातात् विरमणम् ॥ ५३६ ॥

III सूत्रार्थ :

हे भगवन् मैं प्रथम महाव्रत में प्राणातिपात से सर्वथा निवृत्त होता, हूं, मैं सूक्ष्म, बाहर, त्रस-स्थावर समस्त जीवों का न तो स्वयं प्राणातिपास-हनन करुंगा, न दूसरों से कराऊंगा,

और न उनका हनन करने वालों की अनुमोदना करूंगा। हे भगवन् ! मैं यावज्जीव अर्थात् जीवनपर्यन्त के लिए तीन करण और तीन योग से- मनसे वचन से और काया से इस पाप से प्रतिक्रमण करता हूँ, पीछे हटता हूँ, आत्म साक्षी से इस पाप की निन्दा करता हूँ और गुरु साक्षी से गर्हणा करता हूँ। तथा अपनी आत्मा को हिंसा के पाप से पृथक् करता हूँ।

प्रथम महाव्रत की ५ भावनाएं होती हैं उनमें से पहली भावना यह है—निर्ग्रन्थ ईर्या समिति से युक्त होता है, न कि उससे रहित। भगवान कहते हैं कि ईर्या समिति का अभाव कर्म आने का द्वार है। क्योंकि इससे रहित निर्ग्रन्थ प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व की हिंसा करता है उन्हें एक स्थान से स्थानान्तरित करता है, परिताप देता है, भूमि से संश्लिष्ट करता है और जीवन से रहित करता है। इसलिए निर्ग्रन्थ को ईर्या समिति युक्त होकर संयम का आराधन करना चाहिए, यह प्रथम भावना है।

अब दूसरी भावना को कहते हैं- जो मन को पापों से हटाता है वह निर्ग्रन्थ है। साधु ऐसे मन (विचारों) को धारण न करे कि- जो पापकारी, सावधकारी, क्रिया युक्त, आश्रव करने वाला, छेदन तथा भेदन करने वाला, कलहकारी, द्वेषकारी, परितापकारी, प्राणों का अतिपात करने वाला और जीवों का उपघातक है। जो अपने मनको पाप से हटाता है वह निर्ग्रन्थ है, यह दूसरी भावना है।

अब तीसरी भावना का स्वरूप कहते हैं- जो साधक सदोष वाणी-वचन का त्यागी है, वह निर्ग्रन्थ है। जो वचन पापमय, सावध और सक्रिय यावत् भूतों-जीवों का उपघातक, विनाशक हो, साधु उस वचन का उच्चारण न करे। जो वाणी के दोषों को जानकर उन्हें छोड़ता है और पाप रहित निर्दोष वचन का उच्चारण करता है उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं। यह तीसरी भावना है।

अब चतुर्थ भावना को कहते हैं- जो आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति से युक्त होता है वह निर्ग्रन्थ है। अतः साधु आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति से रहित न हो, क्योंकि केवली भगवान कहते हैं कि जो इससे रहित होता है, वह निर्ग्रन्थ प्राणी भूत, जीव, और सत्त्वों का हिंसक होता है यावत् उनको प्राणों से रहित करने वाला होता है। अतः जो साधु इस समिति से युक्त है वह निर्ग्रन्थ है। यह चौथी भावना है।

अब पांचवी भावना को कहते हैं-जो साधु विवेक पूर्वक आलोकित आहार-पानी करता है वह निर्ग्रन्थ है और जो साधु अनालोकित आहार पानी करता है, वह निर्ग्रन्थ प्राणि आदि जीवों की हिंसा करता है, उन्हें प्राणों से पृथक् करता है। इसलिए देखे गये आहार पानी करने वाला ही निर्ग्रन्थ होता है यह पांचवी भावना है।

साधक द्वारा स्वीकृत प्राणातिपात (हिंसा) के त्याग रूप प्रथम महाव्रत को इस प्रकार काया से स्पर्शित करके उसका पालन किया जाता है, इस प्रकार प्रथम महाव्रत में साधु प्राणातिपात से निवृत्त होता है।

IV टीका-अनुवाद :

वह काल और वह समय याने दुःषमसुषम नाम का अवसर्पिणी काल का चौथा आरा... इस चौथे आरे के प्रान्त भाग के विशिष्ट काल-समय में भगवान् महावीर प्रभु हुए थे... इत्यादि...

श्री वर्धमान (महावीर) स्वामीजी का च्यवन-कल्याणक याने प्राणत-देवलोक से अवतरण... याने देवानंद की कुक्षी में आगमन... उसके बाद शक्रेन्द्र के आदेश से देवानंद की कुक्षी में से त्रिशलाजी की कुक्षी में संहरण...

हस्तोतरा याने उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में चन्द्रमा का शुभ योग हुआ था उस समय भगवान् महावीर प्रभुजी का देवलोक से च्यवन, देवानंदा की कुक्षी में से त्रिशलाजी की कुक्षी में संक्रमण, तथा जन्म, दीक्षा एवं केवलज्ञान कल्याणक हुआ था...

तीन ज्ञानवाले महावीर प्रभुजी का जीव च्यवन होगा यह बात जानते हैं और च्यवन हुआ यह बात भी जानते थे किंतु च्यवनकाल नहीं जानते थे, क्योंकि- च्यवनकाल बहुत ही सूक्ष्म काल है... इत्यादि... यावत् आरोग्यवाली त्रिशलादेवी ने आरोग्यवाले महावीर-पुत्र को जन्म दिया... इत्यादि... तथा जन्माभिषेक... बाल्यकाल... यौवनकाल... दीक्षाकाल और केवलज्ञान की प्राप्ति इत्यादि सूत्र से कही गई है... शेष सूत्र के पद सुगम है...

अब प्राम-केवलज्ञानवाले श्री महावीर प्रभुजी, इंद्रभूति गौतम आदि शिष्यों को प्राणातिपातविरमणादि पांच महाव्रत एवं प्रत्येक महाव्रतों की पांच पांच भावनाएं जो कही थी, उनकी अब क्रमशः व्याख्या करते हैं...

अब प्रथम महाव्रत की पांच भावनाएं इस प्रकार हैं...

ईर्यासमितिवाला साधु याने गमनागमन चलने के वरुत्त साधु साढे तीन हाथ (युग) प्रमाण भूमि को देखते हुए ईर्यासमिति में उपयोगवाला होकर चले... किंतु ईर्यासमिति के सिवा न चले, क्योंकि- केवलज्ञानी प्रभु कहते हैं कि- ईर्यासमिति के उपयोग बिना चलने से वह साधु प्राणी, जीव, भूत और सत्त्वों को पैरों-पाउ से अभिहत करता है, दूसरी और गिराता है, पीडा उत्पन्न करता है यावत् जीवित का विनाश करता है, अतः साधु ईर्यासमितिवाला होकर ही चले...

२. दूसरी भावना इस प्रकार है कि- साधु मन से दुर्ध्यानवाला न हो, क्योंकि- जो मन पापवाला हो, सावध क्रियावाला हो, कर्मों का आश्रव करनेवाला हो, या छेदन-भेदनादि अधिकरणवाला हो, या कलह करनेवाला हो, या बहुत सारे दोषों से दूषित होने से प्राणी भूत जीव और सत्त्वों को पीडा उत्पन्न करता है अतः साधु मन से समाधिवाला होना चाहिये...
३. अब तीसरी भावना इस प्रकार है कि- साधु दुष्ट-वाणीवाला न हो... क्योंकि- दुष्टवाणी जीवों को अपकार करनेवाली होती है... अतः साधु वाणी-वचन में भाषासमितिवाला होना चाहिये...
४. अब चौथी भावना... साधु वस्त्र एवं पात्र आदि उपकरणों को लेने और रखने में आदान-निक्षेप समितिवाला होना चाहिये...
५. अब पांचवी भावना... साधु आहारादि जो कुछ संयम यात्रा के लिये ग्रहण करे वह आहारादि चक्षु से दिखाई दे उसी प्रकार के होने चाहिये... यदि ऐसा उपयोग न रखा तो साधु को अनेक दोष लगने की संभावना है...

इस प्रकार पांच भावनाओं के द्वारा पहले महाव्रत को साधु स्पर्श करे, पाले, आचरण करे एवं कीर्तन = प्रशंसा करे, और प्रभु की आज्ञा से प्रथम महाव्रत में स्थिर होकर आराधे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में प्रथम महाव्रत का वर्णन किया गया है। इस महाव्रत को स्वीकार करते समय साधक गुरु के सामने हिंसा से सर्वथा निवृत्त होने की प्रतिज्ञा करता है। वह जीवन पर्यन्त के लिए सूक्ष्म या बादर (स्थूल), त्रस या स्थावर किसी भी प्राणी की मन, वचन और काया से किसी भी तरह की हिंसा नहीं करता, न अन्य प्राणी से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वाले प्राणी का अनुमोदन-समर्थन भी न करे.....

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'प्राणातिपात' का अर्थ है, प्राणों का नाश करना। क्योंकि, प्रत्येक प्राणी में स्थित आत्मा का अस्तित्व सदा काल बना रहता है। अतः प्राणी की हिंसा का अर्थ है, उसके दश द्रव्य प्राणों का नाश करना। और इन दश द्रव्य प्राणों की अपेक्षा से ही संसारी जीव को प्राणी कहा जाता है। क्योंकि, वे संसारी जीव पांच इंद्रिय तीन बल एवं उच्छ्वास तथा आयुष्य आदि दश प्राणों को धारण किए हुए है।

महाव्रतों का निर्दोष परिपालन करने के लिए उनकी भावनाओं की विभावना करना आवश्यक है। इसलिए प्रथम महाव्रतों की भावनाओं का उल्लेख सूत्रकार आगे कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में पहले महाव्रत की पांच भावना का उल्लेख किया गया है। भावना साधक की साधना को शुद्ध रखने के लिए होती है। प्रथम महाव्रत की प्रथम भावना ईर्यासमिति से संबन्ध है। इस में बताया गया है कि साधु को विवेक एवं यत्न पूर्वक चलना चाहिए। यदि यह विवेक पूर्वक ईर्या समिति का पालन करते हुए चलता है, तो पाप कर्म का बन्ध नहीं करता है। और ईर्यासमिति के अभाव में यदि अविवेक से गति करता है तो पाप कर्म का बन्ध करता है। अतः साधक को ईर्या समिति के परिपालन में सदा सावधान रहना चाहिए। इससे वह प्रथम महाव्रत का सम्यक्तया परिपालन कर सकता है। ईर्या समिति गति से संबन्ध है। अतः चलने-फिरने में विवेक एवं यत्न रखना साधु के लिए आवश्यक है।

अब सूत्रकार द्वितीय भावना के संबन्ध में कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में मन शुद्धि का वर्णन किया गया है। पहले महाव्रत को निर्दोष एवं शुद्ध बनाए रखने के लिए मन को शुद्ध रखना आवश्यक है। मन के बुरे संकल्प विकल्पों से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है और उसके कारण साधक की प्रवृत्ति में अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। क्योंकि कर्म बन्ध का मुख्य आधार मन (परिणाम) है क्रिया से कर्मण वर्णना के पुद्गल आते हैं, परन्तु उनका बन्ध परिणामों की शुद्धता एवं अशुद्धता या तीव्रता एवं मन्दता पर आधारित है। अन्य दार्शनिकों एवं विचारकों ने भी मन को बन्धन एवं मुक्ति का कारण माना है। बुरे मन से आत्मा पाप कर्मों का संग्रह करके संसार में परिभ्रमण करता है और शुभ संकल्प एवं मानसिक शुभ चिन्तन से अशुभ कर्म बन्धनों को तोड़ कर आत्मा मुक्ति की ओर बढ़ती है। अतः साधक को सदा मानसिक संकल्प एवं चिन्तन को शुद्ध बनाए रखना चाहिए। क्योंकि, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्ति को विशुद्ध बनाए रखने के लिए मन के चिन्तन को विशेष शुद्ध बनाए रखना आवश्यक है। मानसिक चिन्तन जितना अधिक शुद्ध होगा, प्रवृत्ति उतनी ही अधिक निर्दोष होगी।

अतः मानसिक चिन्तन की शुद्धता के बाद वचन शुद्धि का उल्लेख सूत्रकार तीसरी भावना में करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में वाणी की निर्दोषता का वर्णन किया गया है। इसमें स्पष्ट कर दिया गया है कि सावध, सद्दोष एवं पापकारी भाषा का प्रयोग करने वाला व्यक्ति निर्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि सद्दोष एवं पापयुक्त भाषा से जीव हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। अतः साधु को अपने वचन का प्रयोग करते समय भाषा की निर्दोषता पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। उसे कर्कश, कठोर, व्यक्ति-व्यक्ति में छेद-भेद एवं फूट डालने वाले, हास्यकारी, निश्चयकारी, अन्य प्राणियों के मन में कष्ट, वेदना एवं पीड़ा देने वाली, सावध एवं पापमय भाषा का, कभी भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। प्रथम महाव्रत की शुद्धि के लिए भाषा की शुद्धता एवं निर्दोषता

का परिपालन करना आवश्यक है।

अब चौथी भावना का विश्लेषण सूत्रकार आगे करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में शारीरिक क्रिया की शुद्धि का उल्लेख किया गया है। साधु को मन, वचन की शुद्धि के साथ शारीरिक प्रवृत्ति को भी सदा शुद्ध रखना चाहिए। उसे अपनी साधना में आवश्यक भंडोपकरण आदि ग्रहण करना पड़े या कहीं रखने एवं उठाने की आवश्यकता पड़े तो उसे यह कार्य विवेक एवं यत्न पूर्वक करना चाहिए। अयतना से कार्य करने वाला साधु प्रथम महाव्रत को शुद्ध नहीं रख सकता और वह पाप कर्म बन्ध करता है। क्योंकि अविवेक से जीवों की हिंसा का होना संभव है और जीव हिंसा पाप बन्धन का कारण है तथा इससे प्रथम महाव्रत का भी खण्डन होता है। अतः साधु को प्रत्येक उपकरण विवेक से उठाना एवं रखना चाहिए।

अब पांचवीं भावना का उल्लेख सूत्रकार आगे करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु को बिना देखे खाने-पीने के पदार्थों का उपयोग नहीं करना चाहिए। आहार को जाने के पूर्व मुनि को अपने पात्र भी भलीभांति देख लेने चाहिए और उसके बाद प्रत्येक खाद्य एवं पेय पदार्थ सम्यक्तया देख कर ही ग्रहण करना चाहिए और उन्हें देख कर ही खाना पीना चाहिए। बिना देखे पदार्थ लेने एवं खाने से जीवों की हिंसा होने एवं रोग आदि उत्पन्न होने की संभावना होती है। अतः साधु को इस में पूरा विवेक रखना चाहिए। ये पांचों भावनाएं प्रथम महाव्रत को शुद्ध एवं निर्दोष रखने के लिये आवश्यक हैं। इनके सम्यक् आराधन से साधक अपनी साधना में तेजस्विता ला सकता है।

अब प्रथम महाव्रत का उपसंहार सूत्रकार आगे के सूत्र से करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में यह अभिव्यक्त किया गया है कि प्रत्येक महाव्रत का महत्व उसके परिपालन करने में है। प्रथम महाव्रत का सम्यक्तया आचरण करने से ही आत्मा का विकास हो सकता है। जब तक महाव्रत जीवन में साकार रूप ग्रहण नहीं करता तब तक साधक की साधना में तेजस्विता नहीं आ सकती। इसलिए साधक को चाहिए कि वह आगम में दिए गये आदेश के अनुसार प्रथम महाव्रत को आचरण में उतारकर जीवन पर्यन्त उसका परिपालन करे, उसका सम्यक्तया आराधन करे।

अब द्वितीय महाव्रत का उल्लेख सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं-

I सूत्र ॥ २९ ॥ ॥ ५३७ ॥

अहावरं दुच्चं महव्वयं पच्चक्खामि, सव्वं मुसावायं वड्ढोसं, से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नैव सयं मुसं भासिज्जा, नैवण्णेणं मुसं भासाविज्जा, अण्णं पि मुसं भासंतं न समणुमण्णिज्जा, तिविहं तिविहेणं मवसा वयसा कायसा, तस्स भंते ! पडियकमामि जाव दोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवन्ति ।

तत्थिमा पढमा भावणा-अणुवीडभासी से णिग्गंधे, नो अणुवीडभासी, केवली ब्या०-अणुवीडभासी से णिग्गंधे समावड्ज्जा मोसं वयणाए, अणुवीडभासी से णिग्गंधे, नो अणुवीडभासिति पढमा भावणा ।

अहावरा दुच्चा भावणा-कोहं परियाणइ से णिग्गंधे नो कोहणे सिया, केवली ब्या० कोहपत्ते कोहत्तं समावड्ज्जा मोसं वयणाए, कोहं परियाणइ से णिग्गंधे, न य कोहणे सियत्ति दुच्चा भावणा ।

अहावरा तच्चा भावणा-लोभं परियाणइ से णिग्गंधे, नो य लोभणे सिया, केवली ब्या० लोभपत्ते लोभी समावड्ज्जा मोसं वयणाए, लोभं परियाणइ से णिग्गंधे, नो य लोभणए सियत्ति तच्चा भावणा ।

अहावरा चउत्था भावणा-भयं परियाणइ से णिग्गंधे, नो भयभीरुए सिया, केवली ब्या० भयपत्ते भीरु समावड्ज्जा मोसं वयणाए, भयं परियाणइ से णिग्गंधे, नो भयभीरुए सिया, इइ चउत्था भावणा ।

अहावरा पंचमा भावणा-हासं परियाणइ से णिग्गंधे, नो य हासणए सिया; केवली ब्या० हासपत्ते हासी समावड्ज्जा मोसं वयणाए, हासे परियाणइ से णिग्गंधे, नो हासणए सियत्ति पंचमी भावणा ।

एतावता दोच्चे महव्वए सम्मं काएण फासिए जाव आणाए आराहिए यावि भवइ, दुच्चे भंते ! महव्वए ! ॥ ५३७ ॥

II संस्कृत-छाया :

अथाऽपरं द्वितीयं महाव्रतं प्रत्याख्यामि, सर्वं मृषावादां वाग्दोषं, सः क्रोधात् वा लोभाद् वा भयात् वा हास्यात् वा, नैव स्वयं मृषां भाषेत, नैव अन्येन मृषां भाषयेत्, अन्यमपि मृषां भाषमाणं न समनुमन्येत, त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन, तस्य हे भदन्त ! प्रतिक्रामामि यावत् व्युत्सृजामि, तस्य इमाः पञ्च भावनाः भवन्ति ।

तत्र इयं प्रथमा भावना-अनुविचिन्त्यभाषी सः निर्ग्रन्थः, न अननुविचिन्त्यभाषी, केवली ब्रूयात्-अननुविचिन्त्यभाषी सः निर्ग्रन्थः समापद्येत मृषा-वचनं, अनुविचिन्त्यभाषी सः निर्ग्रन्थः, न अननुविचिन्त्यभाषी इति प्रथमा भावना ।

अथाऽपरा द्वितीया भावना-क्रोधं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः, न क्रोधनः स्यात्, केवली ब्रूयात्-क्रोधप्राप्तः क्रोधत्वं समापद्येत मृषावचनम्, क्रोधं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः, न च क्रोधनः स्यात् इति द्वितीया भावना ।

अथाऽपरा तृतीया भावना-लोभं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः, न च लोभनः स्यात्, केवली ब्रूयात्-लोभप्राप्तः लोभी समापद्येत मृषावचनम्, लोभं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः, न च लोभनः स्यात् इति तृतीया भावना ।

अथाऽपरा चतुर्थी भावना-भयं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः, न च भयभीरुकः स्यात्, केवली ब्रूयात्-भयप्राप्तः भीरुः समापद्येत मृषावचनम्, भयं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः, न भयभीरुकः स्यात्, इति चतुर्थी भावना ।

अथाऽपरा अश्वमी भावना-हास्यं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः, न च हसन्नकः स्यात्, केवली ब्रूयात्-हास्यप्राप्तः हासी समापद्येत मृषावचनम्, हास्यं परिजानाति सः निर्ग्रन्थः, न हसन्नकः स्यात् इति पञ्चमी भावना ।

एतावता द्वितीयं महाव्रतं सम्यक् कायेन स्पर्शितं यावत् आज्ञया आराधितं च अपि भवति, द्वितीयं हे भदन्त ! महाव्रतम् ॥ ५३७ ॥

III सूत्रार्थ :

इस द्वितीय महाव्रत में साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि- हे भगवन् ! मैं आज से मृषावाद और सद्दोष वचन का सर्वथा परित्याग करता हूँ। अतः साधु क्रोध से, लोभ से, भय से, और हास्य से न स्वयं झूठ बोलता है न अन्य व्यक्ति को असत्य बोलने की प्रेरणा देता है और न मृषा भाषण करने वालों का अनुमोदन करता है इस तरह साधक तीन करण एवं तीन योग से मृषावाद का त्याग करके यह प्रतिज्ञा करता है कि हे भगवन् ! "मैं मृषावाद से पीछे हटता हूँ, आत्म साक्षी से उसकी निन्दा करता हूँ और गुरु साक्षी से उसकी गर्हणा करता हूँ और अपनी आत्मा को मृषावाद से सर्वथा पृथक् करता हूँ।"

इस द्वितीय महाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं---

उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना यह है जो विचार पूर्वक भाषण करता है वह निर्ग्रन्थ है, बिना विचारे भाषण करने वाला निर्ग्रन्थ नहीं है। केवली भगवान कहते हैं कि बिना

विचारे बोलने वाले निर्ग्रन्थ को मृषा भाषण की संप्राप्ति होती है अर्थात् मिथ्या भाषण का दोष लगता है अतः विचार पूर्वक बोलने वाला साधक ही निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है।

द्वितीय महाव्रत की दूसरी भावना यह है कि जो साधक क्रोध के कटु फल को जानकर उसका परित्याग करता है, वह निर्ग्रन्थ है। केवली भगवान का कहना है कि क्रोध एवं आवेश के वश व्यक्ति असत्य वचन का प्रयोग कर देता है। अतः क्रोध से निवृत्त साधक ही निर्ग्रन्थ होता है।

तीसरी भावना यह है कि लोभ का परित्याग करने वाला साधक निर्ग्रन्थ होता है। लोभ के वश होकर भी व्यक्ति झूठ बोल देता है, अतः साधक को लोभ नहीं करना चाहिए।

चौथी भावना यह है कि भय का सर्वथा परित्याग करने वाला व्यक्ति निर्ग्रन्थ कहलाता है। भय से मुक्त व्यक्ति अपने बचाव के लिए झूठ बोल देता है। अतः मुनि को सदा पूर्णतः भय से रहित रहना चाहिए।

इस प्रकार दूसरे महाव्रत को सम्यक् प्रकार से काया से स्पर्शितकर यावत् आज्ञा पूर्वक आराधित करने से हे भदन्त ! यह दूसरा महाव्रत होता है। अर्थात् उक्त महाव्रत की सम्यक्तया अराधना होती है।

IV टीका-अनुवाद :

अब दूसरे महाव्रत की पांच भावना कहते हैं...

१. साधु सोच-विचारकर ही बोले, बिना सोचे विचारे बोलने से अनेक दोष लगते हैं... प्रथम भावना...
२. दूसरी भावना- साधु क्रोध का हंमेशा त्याग करे, क्योंकि- क्रोधी मनुष्य झूठ भी बोले...
३. तीसरी भावना - साधु लोभ न करे, क्योंकि- लोभ भी मृषावाद का कारण होता है...
४. चौथी भावना- साधु भय का भी त्याग करे... क्योंकि- भय से भी झूठ बोला जाता है...
५. पांचवी भावना- साधु हास्य का भी त्याग करे...

इस प्रकार पांच भावनाओं से ही दूसरे महाव्रत की अच्छी तरह से आज्ञानुसार आराधना हो सकती है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में दूसरे महाव्रत का वर्णन किया गया है। असत्य आत्मा के लिए पतन का कारण है। उससे आत्मा में अनेक दोष आते हैं और पाप कर्म का बन्ध होता है। इसलिए साधक असत्य वचन का सर्वथा त्याग करता है और उसके साथ उसके कारणों का भी त्याग करता है। इसमें बताया गया है कि व्यक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ के वश होकर झूठ बोलता है। अतः साधक को इन कषायों का त्याग कर देना चाहिए। और यदि कर्मोदय से कभी कषाय का उदय हो रहा हो तो मौन ग्रहण करके पहले कषाय को उपशान्त करना चाहिए, उसके बाद भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि जो साधक असत्य भाषा का सर्वथा त्याग नहीं करता, वह निर्गन्ध नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः असत्य से पूर्णतः निवृत्त साधक ही निर्गन्ध कहा जा सकता है।

उक्त महाव्रत की भावनाओंका उल्लेख सूत्रकार आगे करते हैं।

प्रथम महाव्रत की तरह द्वितीय महाव्रत की भी ५ भावनाएं हैं— १. विवेक विचार से बोलना, २. क्रोध के वश, ३. लोभ के वश, ४. भय के वश और ५. हास्य के वश असत्य नहीं बोलना चाहिए। भाषा बोलने के पूर्व विवेक रखना प्रत्येक व्यक्ति के लिए हितकर है। परन्तु असत्य का सर्वथा त्याग करने वाले साधक के लिए यह अनिवार्य है कि वह विवेक पूर्वक एवं भाषा की सदोषता तथा निर्दोषता का विचार करके बोले। वह सदा इस बात का ख्याल रखे कि किसी भी तरह असत्य एवं सदोष भाषा का प्रयोग न होने पाए।

यह भी स्पष्ट है कि क्रोध और लोभ के वश भी व्यक्ति झूठ बोल सकता है। उस समय उसे बोलने का विवेक नहीं रहता है। इसी तरह भय भी मनुष्य के विवेक को विलुप्त कर देता है। भय से छुटकारा पाने के लिए भी असत्य का सहारा ले लेता है। अतः साधु को इन सब दोषों से मुक्त रहना चाहिए। उसे क्रोध, लोभ एवं भय आदि विकारों से उन्मुक्त होकर विचरना चाहिए।

हम देखते हैं कि हंसी-मजाक के वश भी लोग झूठ बोलते हैं। अतः साधक को हास्य से भी दूर रहना चाहिए। हंसी-मजाक से एक तो जीवन की गम्भीरता नष्ट होती है। दूसरे में वह लोगों की दृष्टि में छिछला सा व्यक्ति प्रतीत होता है। स्वाध्याय एवं ध्यान का समय भी व्यर्थ ही नष्ट होता है और साथ में असत्य का भी प्रयोग हो जाता है। इसलिए साधक को हंसी मजाक का परित्याग करके सदा आत्म साधना में संलग्न रहना चाहिए।

अब द्वितीय महाव्रत का उपसंहार सूत्रकार आगे कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में यही बताया गया है कि द्वितीय महाव्रत का महत्व उसके आराधन में है। आगम में दिए गए आदेश के अनुसार मन-वचन-काया से उसका आचरण करना ही दूसरे महाव्रत का परिपालन करना है। अतः वचन के बताए गए समस्त दोषों का परित्याग करके दूसरे महाव्रत का पालन करने वाला साधक ही वास्तव में निर्ग्रन्थ एवं आराधक कहलाता है।

अब सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी तीसरे महाव्रत के संबंध में आगे का सूत्र कहते हैं....

I सूत्र ॥ ३० ॥ ॥ ५३८ ॥

अहावरं तच्च भंते ! महत्त्वयं पच्यस्वामि सत्त्वं अदिष्णादाणं, से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिष्णं गिण्हज्जा, नेवण्णोहिं अदिष्णं गिण्हाविज्जा अदिष्णं अण्णंपि गिण्हंतं न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए जाव वोसिरामि । तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवति ।

तत्थिमा पढमा भावणा-अणुवीइ मिउग्गहं जाई से णिग्गंथे, नो अणणुवीइ मिउग्गहं जाइ से णिग्गंथे, केवली ब्या०- अणणुवीइ मिउग्गहं जाई से णिग्गंथे अदिष्णं गिण्हज्जा, अणुवीइ मिउग्गहं जाई से णिग्गंथे, नो अणणुवीइ मिउग्गहं जाइति पढमा भावणा ।

अहावरा दुच्चा भावणा-अणुण्णविय पाण-भोयणभोई से णिग्गंथे, नो अणणुण्णविय पाणभोयणभोई, केवली ब्या०- अणणुण्णवियपाणभोयणभोई से णिग्गंथे अदिष्णं भुंजिज्जा, तमहा अणुण्णवियपाणभोयणभोई से णिग्गंथे, नो अणणुण्णविय पाणभोयणभोईति दुच्चा भावणा ।

अहावरा तच्चा भावणा-णिग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि एतावताव उग्गहणसीलए सिया, केवली ब्या०- णिग्गंथेणं उग्गहंसि अणुग्गहियंसि एतावता अणुग्गहणसीले अदिष्णं ओगिण्हज्जा, णिग्गंथेणं उग्गहं उग्गहियंसि एतावताव उग्गहण सीलएति तच्चा भावणा ।

अहावरा चउत्था भावणा-णिग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि अभियस्खणं अभियस्खणं उग्गहणसीलए सिया, केवली ब्या०- णिग्गंथेण उग्गहंसि उग्ग० अभियस्खणं, अणुग्गहणसीले अदिष्णं गिण्हज्जा, णिग्गंथे उग्गहंसि उग्गहियंसि एतावताव उग्गहणसीइएति चउत्था भावणा ।

अहावरा पंचमा भावणा-अणुवीड मिउग्गहजाई से णिग्गंथे साहम्मिएसु, नो अणुणुवीड मिउग्गहजाई, केवली ब्या०- अणुणुवीड मिउग्गहजाई से णिग्गंथे साहम्मिएसु अदिण्णं ओगिण्हिज्जा, अणुवीड मिउग्गहजाई से णिग्गंथे साहम्मिएसु, नो अणुणुवीड मिउग्गहजाई, इइ पंचमी भावणा ।

एतावया तच्चे महव्वए सम्मं जाव आणाए आराहए यावि भवइ, तच्चं भंते ! महव्वयं ॥ ५३८ ॥

II संस्कृत-छाया :

अथाऽपरं तृतीयं भदन्त ! महाव्रतं प्रत्याख्यामि, सर्वं अदत्तादानम्, तत् ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा, अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद् वा अचित्तवद् वा, नैव स्वयं अदत्तं गृह्णीयाम् नैव अन्यैः अदत्तं ग्राहयेत्, अदत्तं अन्यं अपि गृह्णन्तं न समनुजानीयात्, यावज्जीवं यावत् व्युत्सृजामि । तस्य इमाः पञ्च भावनाः भवन्ति ।

तत्र इयं प्रथमा भावना-अनुविचिन्त्य मितावग्रहयाची सः निर्ग्रन्थः, न अननुविचिन्त्य मितावग्रहयाची सः निर्ग्रन्थः, केवली ब्रूयात्०- अननुविचिन्त्य मितावग्रहयाची निर्ग्रन्थः अदत्तं गृह्णीयात्, अनुविचिन्त्य मितावग्रहयाची सः निर्ग्रन्थः, न अननुविचिन्त्य मितावग्रहयाची इति प्रथमा भावना ।

अथाऽपरा द्वितीया भावना-अनुज्ञाप्य पानभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः, न अननुज्ञाप्य पानभोजनभोजी, केवली ब्रूयात्०- अननुज्ञाप्य पानभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः अदत्तं भुञ्जीत, तस्मात् अनुज्ञाप्य पानभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः, न अननुज्ञाप्य पानभोजनभोजी इति द्वितीया भावना ।

अथाऽपरा तृतीया भावना-निर्ग्रन्थेन अवग्रहे अवगृहीते एतावता अवग्रहणशीलः स्यात्, केवली ब्रूयात्०- निर्ग्रन्थेन अवग्रहे अवगृहीते एतावता अवग्रहणशीलः अदत्तं अवगृह्णीयात्, निर्ग्रन्थेन अवग्रहं अवगृहीते एतावता अवग्रहणशीलः इति तृतीया भावना ।

अथाऽपरा चतुर्थी भावना-निर्ग्रन्थेन अवग्रहे अवगृहीते अभीक्ष्णं अभीक्ष्णं अवग्रहणशीलः स्यात्, केवली ब्रूयात्०- निर्ग्रन्थेन अवग्रहे अवगृहीते अभीक्ष्णं अभीक्ष्णं अनवग्रहणशीलः अदत्तं गृह्णीयात्, निर्ग्रन्थः अवग्रहे अवगृहीते अभीक्ष्णं अभीक्ष्णं अवग्रहशीलः इति चतुर्थी भावना ।

अथाऽपरा पञ्चमी भावना-अनुविचिन्त्य मितावग्रहयाची सः निर्ग्रन्थः, साधर्मिकेषु, न अननुविचिन्त्य मितावग्रहयाची, केवली ब्रूयात्०- अननुविचिन्त्य मितावग्रहयाची सः

निर्ग्रन्थः साधर्मिकेषु अदत्तं अवगृहीयात्, अनुविचिन्त्य मितावग्रहयाची सः निर्ग्रन्थः साधर्मिकेषु, न अननुविचिन्त्य मितावग्रहयाची इति पञ्चमी भावना ।

एतावता तृतीयं महाव्रतं सम्यक्० यावत् आज्ञया आराधितं च अपि भवति, तृतीयं भदन्त ! महाव्रतम् ॥ ५३८ ॥

III सूत्रार्थ :

हे भगवन् ! मैं तृतीय महाव्रत के विषय में सर्वप्रकार से अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। वह अदत्तादान चोरी से ग्रहण किया जाने वाला पदार्थ चाहे ग्राम में, नगर में अरण्य-अटवी में हो, स्वल्प हो, बहुत हो, स्थूल हो, अणु हो या एवं सचित अथवा अचित हो उसे न तो स्वयं ग्रहण करूंगा, न दूसरों से ग्रहण कराऊंगा और न ग्रहण करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन करूंगा, मैं जीवन पर्यन्त के लिए इस महाव्रत को तीन करण और तीन योग से ग्रहण करता हूँ। और इस अदत्तादान (चौर्य कर्म) के पाप से मैं अपनी आत्मा को सर्वथा पृथक् करता हूँ।

इस तीसरे महाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं—

उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना यह है—जो विचार कर मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला है, वह निर्ग्रन्थ है, न कि बिना विचार किए मितावग्रह की याचना करने वाला। केवली भगवान कहते हैं कि बिना विचार किये अवग्रह की याचना करने वाला निर्ग्रन्थ अदत्त को ग्रहण करता है। इसलिए निर्ग्रन्थ को विचार पूर्वक ही अवग्रह की याचना करनी चाहिए।

अब दूसरी भावना को कहते हैं—गुरुजनों की आज्ञा लेकर आहार पानी करने वाला निर्ग्रन्थ होता है, न कि बिना आज्ञा के आहार-पानी करने वाला। केवली भगवान कहते हैं कि जो निर्ग्रन्थ गुरु आदि की आज्ञा प्राप्त किये बिना आहार-पानी आदि करता है वह अदत्तादान का भोगने वाला होता है। इसलिए आज्ञा पूर्वक, आहार-पानी करने वाला ही निर्ग्रन्थ होता है।

अब तृतीय भावना का स्वरूप कहते हैं—निर्ग्रन्थ-साधु क्षेत्र और काल के प्रमाण पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला होता है। केवली भगवान कहते हैं कि जो साधु मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करने वाला नहीं होता वह अदत्तादान को सेवन करने वाला होता है, अतः प्रमाण पूर्वक अवग्रह का ग्रहण करना यह तीसरी भावना है।

अब चौथी भावना को कहते हैं—निर्ग्रन्थ अवग्रह को बार बार ग्रहण करने वाला हो।

केवली भंगवान कहते हैं कि निर्ग्रन्थ बार २ अवग्रह के ग्रहण करने वाला हो यदि वह ऐसा न होगा तो उसको अदत्तादान का दोष लगेगा। अतः जो बार २ मर्यादा पूर्वक अवग्रह को याचना करने वाला होता है, वही इस व्रत की आराधना करने वाला होता है।

पांचवीं भावना यह है कि जो साधक साधर्मिकों से भी विचार पूर्वक मर्यादा पूर्वक अवग्रह की याचना करता है वह निर्ग्रन्थ है, न कि बिना विचारे आज्ञा लेने वाला। केवली भंगवान कहते हैं कि साधर्मियों से भी विचार कर मर्यादा पूर्वक आज्ञा लेने वाला निर्ग्रन्थ ही तृतीय महाव्रत की आराधना कर सकता है। यदि वह उनसे विचार पूर्वक ही अवग्रह की आज्ञा नहीं लेता है तो उसे अदत्तादान का दोष लगता है। इसलिए मुनि को सदा विचार पूर्वक ही आज्ञा लेनी चाहिए।

इस प्रकार साधु सम्यग् रूप से तीसरे महाव्रत का आराधन किया करे। शिष्य यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं जीवन पर्यन्त के लिए अदत्तादान से निवृत्त होता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

तीसरे महाव्रत की प्रथम भावना इस प्रकार है...

१. सोच-विचारकर अवग्रह की याचना करें...
२. आचार्य आदि की अनुज्ञा लेकर भोजनादि करें...
३. अवग्रह को ग्रहण करते समय साधु परिमित याने जरूरत जितना ही अवग्रह ग्रहण करें...
४. बार बार अवग्रह का परिमाण करें.
५. साधर्मिक से भी परिमित अवग्रह सोच-विचारकर ही ग्रहण करें... इस प्रकार प्रभु की आज्ञा अनुसार तीसरे महाव्रत की आराधना की जाती है... ॥ ५३८ ॥

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में स्तेय (चौर्य कर्म) के त्याग का उल्लेख किया गया है। चोरी आत्मा को पतन की ओर ले जाती है। इस कार्य को करने वाला व्यक्ति साधना में संलग्न होकर आत्म शान्ति को नहीं प्राप्त कर सकता। क्योंकि इससे मन सदा अनेक संकल्प विकल्पों में उलझा रहता है। अतः साधक को कभी भी अदत्त ग्रहण नहीं करना चाहिए चाहे वह पदार्थ साधारण हो या मूल्यवान हो, छोटा हो बड़ा हो कैसा भी क्यों न हो, साधु को आज्ञा के बिना कोई भी पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए। वह न स्वयं चोरी करे, न दूसरे व्यक्ति को चोरी

करने के लिए कहे और न चोरी करने वाले का समर्थन करे। इस तरह वह सर्वथा इस पाप से निवृत्त होकर संयम में संलग्न रहे।

इस महाव्रत की भावनाओं का उल्लेख सूत्रकार आगे करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में तृतीय महाव्रत की ५ भावनाओं का उल्लेख किया गया है। पहले और दूसरे महाव्रत की तरह तीसरे महाव्रत की भी पांच भावनाएं होती हैं— १. साधु किसी भी आवश्यक एवं कल्पनीय वस्तु को बिना आज्ञा ग्रहण न करे। २. प्रत्येक वस्तु को ग्रहण करने जाने के पूर्व गुरु की आज्ञा ग्रहण करना, ३. क्षेत्र और काल की मर्यादा को ध्यान में रखकर वसति-अवग्रह ग्रहण करने जाना, ४. बार बार अवग्रह की आज्ञा ग्रहण करना और ५. साधर्मिक साधु की कोई वस्तु या अवग्रह-वसति ग्रहण करनी हो तो उसकी (साधर्मिक की) आज्ञा लेना। इस तरह साधु को बिना आज्ञा के कोई भी पदार्थ एवं अवग्रह-वसति नहीं ग्रहण करना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि साधु अपनी आवश्यकता के अनुसार कल्पनीय वस्तु की याचना कर सकता है। परन्तु, इसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने गुरु या साथ के बड़े साधु की आज्ञा लेकर ही उस वस्तु को ग्रहण करने के लिए जाए। इसी तरह वस्तु ग्रहण करने जाते समय क्षेत्र एवं काल का भी अवश्य ध्यान रखे। आहार, पानी, वस्त्र-पात्र आदि को ग्रहण करने के लिए अर्ध योजन से ऊपर न जाए। इस तरह जिस समय घरों में आहार पानी का समय न हो, उस समय आहार पानी के लिए नहीं जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त साधु को जितनी बार वस्तु को ग्रहण करने के लिए जाना हो उतनी ही बार गुरु की आज्ञा लेकर जाना चाहिए और किसी अपने साथी मुनि की वस्तु ग्रहण करनी हो तो उसके लिए उसकी आज्ञा ग्रहण करनी चाहिए। इस तरह जो विवेक पूर्वक वस्तु को ग्रहण करता है, वह विब्रन्ध कहलाता है। इसके विपरीत आचरण को अदत्तादान कहा गया है। अतः मुनि को सदा विवेक पूर्वक सोच विचार कर ही वस्तु ग्रहण करनी चाहिए। बिना आज्ञा के उसे कभी भी कोई पदार्थ एवं अवग्रह-वसति ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अब तृतीय महाव्रत का उपसंहार सूत्रकार आगे कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में यही बताया गया है कि इस तरह विवेक पूर्वक आचरण करके ही साधक तीसरे महाव्रत का परिपालन कर सकता है।

अब चतुर्थ महाव्रत का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ ३९ ॥ ॥ ५३९ ॥

अहावरं चउत्थं महव्वयं पच्चयस्सामि, सव्वं मेहुणं, से दिव्वं वा माणुस्सं वा तिरियस्सजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं गच्छेज्जा० तं चेवं अदिण्णादाणवत्त्वया भाणियव्वा जाव वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवन्ति ।

तत्थिमा पढमा भावणा-नो णिग्गंथे अभियस्सणं अभियस्सणं इत्थीणं कहं कहित्तए सिया, केवली ब्या०- णिग्गंथे णं अभियस्सणं, इत्थीणं कहं कहेमाणे संति भेया संति विभंगा संति केवली-पणत्ताओ धम्माओ भंसिज्जा, नो णिग्गंथे णं अभियस्सणं, इत्थीणं कहं कहित्तए सियत्ति पढमा भावणा ।

अहावरा दुच्चा भावणा-नो णिग्गंथे इत्थीणं मणोहराइं मणोहराइं इंदियाइं आलोइत्तए णिज्जाइत्तए सिया, केवली ब्या०- णिग्गंथे णं इत्थीणं मणोहराइं, इंदियाइं आलोएमाणं णिज्जाएमाणे संति भेया संति विभंगा जाव धम्माओ भंसिज्जा, नो णिग्गंथे णं इत्थीणं मणोहराइं, इंदियाइं आलोइत्तए णिज्जाइत्तए सियत्ति दुच्चा भावणा ।

अहावरा तच्चा भावणा-नो णिग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सुमरित्तए सिया, केवली ब्या०- णिग्गंथे णं इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरमाणे संति भेया जाव भंसिज्जा, नो णिग्गंथे णं इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरित्तए सियत्ति तच्चा भावणा ।

अहावरा चउत्था भावणा-नाइमत्तपाणभोयण-भोई से णिग्गंथे, न पणीयरसभोई से णिग्गंथे, केवली ब्या०- अइमत्तपाणभोयणभोई से णिग्गंथे, पणीयरसभोयणभोई से णिग्गंथे संति भेया जाव भंसिज्जा, नाइमत्तपाणभोयणभोई से णिग्गंथे, नो पणीयरसभोयणभोइत्ति चउत्था भावणा ।

अहावरा पंचमा भावणा- नो णिग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सिया, केवली ब्या०- णिग्गंथेणं इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवेमाणे संति भेया जाव भंसिज्जा, नो णिग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सियत्ति पंचमा भावणा ।

एत्तावया चउत्थे महव्वए सम्मं काएण फासेइ जाव आराहिए यावि भवइ, चउत्थं भंते ! महव्वयं ॥ ५३९ ॥

II संस्कृत-छाया :

अथाऽपरं चतुर्थं महाव्रतं प्रत्याख्यामि, सर्वं मैथुनम्, तत् दिव्यं वा मानुष्यं वा

तिर्यग्योनिकं वा, नैव स्वयं मैथुनं गच्छेत्, तत् च एवं अदत्तादानववतव्यता भणितव्या यात् व्युत्सृजामि । तस्य इमाः पञ्च भावनाः भवन्ति ।

तत्र इयं प्रथमा भावना न निर्ग्रन्थः अभीक्षणं अभीक्षणं स्त्रीषु कथां कथयिता स्यात्, केवली ब्रूयात्०- निर्ग्रन्थः अभीक्षणं अभीक्षणं स्त्रीषु कथां कथयन् शान्तिभेदाः शान्तिविभङ्गाः शान्तिकेवलिप्रज्ञप्तात् धर्मात् भ्रश्येत्, न निर्ग्रन्थः अभीक्षणं अभीक्षणं स्त्रीषु कथां कथयिता स्यात् इति प्रथमा भावना ।

अथाऽपरा द्वितीया भावना-न निर्ग्रन्थः स्त्रीणां मनोहराणि मनोहराणि इन्द्रियाणि आलोकयिता निर्ध्याता स्यात्, केवली ब्रूयात्०- निर्ग्रन्थः स्त्रीणां मनोहराणि, इन्द्रियाणि आलोकयन् निर्ध्यायन् शान्तिभेदाः शान्तिविभङ्गाः यावत् धर्मात् भ्रश्येत्, न निर्ग्रन्थः स्त्रीणां मनोहराणि, इन्द्रियाणि आलोकयिता निर्ध्याता स्यात् इति द्वितीया भावना ।

अथाऽपरा तृतीया भावना- न निर्ग्रन्थः स्त्रीषु पूर्वस्तानि पूर्वकीडितानि स्मरन् स्यात्, केवली ब्रूयात्०- निर्ग्रन्थः स्त्रीषु पूर्वस्तानि पूर्वकीडितानि स्मरन् शान्तिभेदाः यावत् भ्रश्येत्, न निर्ग्रन्थः स्त्रीषु पूर्वस्तानि पूर्वकीडितानि स्मरन् स्यात् इति तृतीया भावना ।

अथाऽपरा चतुर्थी भावना- न अतिमात्र- पानभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः, न प्रणीतरसभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः स्यात्, केवली ब्रूयात्०- अतिमात्रपानभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः, प्रणीतरस- भोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः, शान्तिभेदाः यावत् भ्रश्येत्, न अतिमात्रपानभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः, न प्रणीतरसभोजनभोजी सः निर्ग्रन्थः स्यात् इति चतुर्थी भावना ।

अथाऽपरा पञ्चमी भावना-न निर्ग्रन्थः स्त्रीपशुपण्डकसंसयतानि शयनासनानि सेवमानः स्यात्, केवली ब्रूयात्०- निर्ग्रन्थः स्त्रीपशुपण्डक- संसयतानि शयनासनानि सेवमानः शान्तिभेदाः यावत् भ्रश्येत्, सः निर्ग्रन्थः न स्त्रीपशुपण्डक- संसयतानि शयनासनानि सेवमानः स्यात् इति पञ्चमी भावना ।

एतावता चतुर्थं महाव्रतं सम्यक् कायेन स्पर्शितं यावत् आराधितं च अपि भवति, चतुर्थं भदन्त ! महाव्रतम् ॥ ५३९ ॥

III सूत्रार्थ :

अब चतुर्थ महाव्रत के विषय में कहते हैं—हे मगवन् । मैं देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी सर्वप्रकार के मैथुन का तीन करण और तीन योग से प्रत्याख्यान करता हूँ, शेष

वर्णन अदत्तादान के समान जानना चाहिए। साथक गुरु के सामने यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं मैथुन से अपनी आत्मा को सर्वथा पृथक् करता हूँ,

चतुर्थ महाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं-

उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना इस प्रकार है—निर्ग्रन्थ साधु बार-बार स्त्रियों को काम जनक कथा न कहे। केवली भगवान कहते हैं कि बार-बार स्त्रियों को कथा कहने वाला साधु शान्ति रूप चारित्र और ब्रह्मचर्य का भंग करने वाला होता है तथा शान्ति रूप केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः साधु को स्त्रियों के साथ बार २ कथा नहीं करनी चाहिए यह प्रथम भावना है।

अब चतुर्थ महाव्रत की दूसरी भावना कहते हैं—निर्ग्रन्थ साधु काम-राग से स्त्रियों की मनोहर-तथा मनोरम इन्द्रियों को सामान्य अथवा विशेष रूप से न देखे। केवली भगवान कहते हैं— जो निर्ग्रन्थ—साधु स्त्रियों की मनोहर-मनको लुभाने वाली इन्द्रियों को आसक्ति पूर्वक देखता है वह चारित्र और ब्रह्मचर्य का भंग करता हुआ सर्वज्ञ प्रणीत धर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ-साधु को स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियों को काम दृष्टि से कदापि नहीं देखना चाहिए। यह दूसरी भावना का स्वरूप है।

अब तीसरी भावना का स्वरूप कहते हैं—निर्ग्रन्थ-साधु स्त्रियों के साथ गृहस्थावस्था में पूर्वकाल में की गई पूर्व रति और क्रीडा-काम क्रीडा का स्मरण न करे। केवली भगवान कहते हैं कि— जो निर्ग्रन्थ साधु स्त्रियों के साथ की गई पूर्वकालीन रति और क्रीडा आदि का स्मरण करता है वह शान्तिरूप चारित्र का भेद करता हुआ यावत् सर्वज्ञ प्रणीत धर्म से भी भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए संयमशील मुनि को पूर्वकाल में गृहस्थावस्था में की हुई रति और क्रीडा आदि का स्मरण नहीं करना चाहिए। यह तीसरी भावना का स्वरूप है।

अब चतुर्थ भावना का स्वरूप वर्णन करते हैं—वह निर्ग्रन्थ साधु प्रमाण से अधिक आहार-पानी तथा प्रणीत रस प्रकार भोजन न करे। क्योंकि केवली भगवान कहते हैं कि इस प्रकार के आहार-पानी एवं प्रणीत-रस प्रकार भोजन से निर्ग्रन्थ साधु चारित्र का विघातक होता है और धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ को अति मात्रा में आहार पानी और सरस आहार नहीं करना चाहिए।

पांचवीं भावना का स्वरूप इस प्रकार है—निर्ग्रन्थ-साधु स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से युक्त शय्या-वसति और आसन आदि का सेवन न करे, केवली भगवान कहते हैं कि ऐसा करने से वह ब्रह्मचर्य का विघातक होता है और केवली भाषित धर्म से पतित हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ-साधु स्त्री, पशु पंडक आदि से संसक्त-शयनासनादि का सेवन न करे। यह

पांचवीं भावना कही गई है।

इस तरह सम्यक्तया काया से स्पर्श करने से सर्वथा मैथुन से निवृत्ति रूप चतुर्थ महाव्रत का आराधन एवं पालन होता है।

IV टीका-अनुवाद :

चौथे महाव्रत की पांच भावना इस प्रकार है...

१. स्त्री संबंधित कथा साधु न कहे...
२. स्त्रियों के मनोहर इंद्रिय याने अंगोपांगों को साधु कामराग की दृष्टि से न देखे...
३. पूर्व काल में स्त्रियों के साथ की हुई कामक्रीडाओं का स्मरण साधु न करें...
४. साधु प्रमाण से अधिक एवं सरस-प्रणीत भोजन न करें...
५. स्त्री पशु एवं नपुंसको से रहित वसति = उपाश्रय में ही साधु निवास करे... इत्यादि...

॥ ५३९ ॥

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है। भोग की प्रवृत्ति से मोह कर्म को उत्तेजना मिलती है। इससे आत्मा कर्मबन्ध से आबद्ध होता है और संसार में परिभ्रमण करता है। अतः साधु को अब्रह्मचर्य अर्थात् विषय-भोग से सर्वथा निवृत्त होना चाहिए। मैथुन कर्म का सर्वथा परित्याग करने वाला व्यक्ति ही निर्बन्ध कहला सकता है। क्योंकि इसका त्याग करके वह मोह कर्म की गांठ से छूटने का, मुक्त होने का प्रयत्न करता है। इसलिए साधक न तो स्वयं विषय-भोग का सेवन करे, न दूसरे व्यक्ति को विषय-भोग की ओर प्रवृत्त करे और उस ओर प्रवृत्त व्यक्ति का समर्थन भी न करे। इस तरह साधु प्रतिज्ञा करता है कि- हे भगवन् ! मैं गुरु एवं आत्मा साक्षी से मैथुन का त्याग-प्रत्याख्यान करता हूँ एवं पूर्वकाल में किये हुए मैथुन की निन्दा एवं गर्हणा करता हूँ।

अब चौथे महाव्रत की भावनाओं का उल्लेख सूत्रकार आगे करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में चतुर्थ महाव्रत की ५ भावनाओं का उल्लेख किया गया है- १. स्त्रियों की काम विषयक कथा नहीं करना, २. विकार दृष्टि से स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों का अवलोकन नहीं करना, ३. पूर्व में भोगे हुए विषय-भोगों का स्मरण नहीं करना, ४. प्रमाण से अधिक तथा सरस आहार का आसेवन नहीं करना और ५. स्त्री, पशु एवं नपुंसक से युक्त स्थान में नहीं रहना।

स्त्रियों की काम विषयक कथा करने से मन में विकार भाव की जागृति होना संभव है और उससे उसका मन एवं विचार संयम-साधना से विपरीत मार्ग की ओर भटक सकता है। और परिणाम स्वरूप वह साधक कभी भी चारित्र से गिर सकता है। इसलिए साधक को कभी काम विकार से संबन्ध स्त्रियों की कथा नहीं करनी चाहिए।

स्त्रियों के रूप एवं शृंगार का अवलोकन करने की भावना से उनके अंगों को नहीं देखना चाहिए। क्योंकि, मन में रही हुई आसक्ति से काम-वासना के उदित होने को खतरा बना रहता है। अतः साधक को कभी भी अपनी दृष्टि को विकृत नहीं होने देना चाहिए और उसे आसक्त भाव से किसी स्त्री के अंग-प्रत्यंगों का अवलोकन नहीं करना चाहिए।

साधु को पूर्व में भोगे गए भोगों का भी चिन्तन-स्मरण नहीं करना चाहिए। क्योंकि, इससे मन की परिणति में विकृति आती है और उससे उपशान्त विकारों को जागृत होने का अवसर भी मिल सकता है। इसी तरह साधक को शृङ्गार रस से युक्त या वासना को उदीप्त करने वाले उपन्यास, नाटक आदि का भी अध्ययन, श्रवण एवं मनन नहीं करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए साधु को सदा प्रमाण से अधिक एवं सरस तथा प्रकाम भोजन भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रतिदिन अधिक आहार करने से तथा प्रकाम आहार करने से शरीर में आलस्य की वृद्धि होगी, आराम करने की भावना जागृत होगी, स्वाध्याय एवं ध्यान से मन हटेगा। इससे उसकी भावना में विकृति भी आ जाएगी। अतः इन दोषों से बचने के लिए साधु को सदा सरस आहार नहीं करना चाहिए तथा प्रमाण से भी अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। सादे एवं प्रमाण युक्त भोजन से वह ब्रह्मचर्य का भी ठीक २ परिपालन कर सकेगा और साथ में प्रायः बिमारियों से भी बचा रहेगा और आलस्य भी कम आएगा जिससे वह निर्बाध रूप से स्वाध्याय एवं ध्यान आदि साधना में संलग्न रह सकेगा।

यह उत्सर्ग सूत्र है और ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ही सरस आहार का निषेध किया गया है। अपवाद मार्ग में अर्थात् साधना के मार्ग में कभी आवश्यकता होने पर साधु गुर्वाज्ञा से प्रमाणोपेत सरस आहार स्वीकार भी कर सकता है। जैसे-अरिष्ट नेमिनाथ के ६ शिष्यों ने महाराणी देवकी के घर से सिंह केसरी मोदक ग्रहण किए थे। काली आदि महाराणियों ने अपने तप की प्रथम परिपाटी में पारणे में प्रमाणोपेत विगय (दूध, दही आदि) ग्रहण की थी। भगवान महावीर ने एक महीने की तपस्या के पारणे के दिन परमान्न-क्षीर का आहार ग्रहण किया था। और आशातना के विषय का वर्णन करते हुए आगम में बताया गया है कि यदि शिष्य गुरु के साथ आहार करने बैठे तो वह सरस आहार को शीघ्रता से न खाए। और छेद सूत्रों में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यदि साधु शरीर को पुष्ट करने की दृष्टि से घी, दूध आदि विगय का सेवन करता है तो उसे प्रायश्चित आता है। इससे स्पष्ट होता है कि

अपवाद मार्ग में साधु सरस आहार ग्रहण कर सकता है। परन्तु उत्सर्ग मार्ग में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उसे सरस आहार नहीं करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए साधु को स्त्री, पशु एवं नपुंसक से रहित मकान में ठहरना चाहिए। क्योंकि स्त्री आदि का अधिक संसर्ग रहने से मन में विकारों की जागृति होना संभव है। इससे उसकी साधना का मार्ग अवरुद्ध हो जाएगा। अतः साधु को इनसे रहित स्थान में ही ठहरना चाहिए।

इस तरह चौथे महाव्रत के सम्बन्ध में दिए गए आदेशों का आचरण करना तथा उनका सम्यक्तया परिपालन करना ही चौथे महाव्रत की आराधना करना है और इस तरह उसका परिपालन करने वाला निर्बन्ध-साधु ही आत्मा का विकास कर सकता है।

अब पांचवें महाव्रत का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं.....

I सूत्र ॥ ३२ ॥ ॥ ५४० ॥

अहावरं पंचमं भते ! महस्वयं सव्यं परिग्गहं पचवस्वामि, से अप्पं वा बहं वा अप्पुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं गिण्हिज्जा, नेवणोहिं परिग्गहं गिण्हविज्जा, अप्पणं पि परिग्गहं गिण्हंतं न समणुज्जाणिज्जा, जाव वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवन्ति ।

तत्थिमा पढमा भावणा- सोयओऽणं जीवे मणुण्णाऽमणुण्णाइं सदाइं सुणेइ, मणुण्णामणुण्णेहिं सदेहिं नो सज्जिज्जा नो रज्जिज्जा नो गिण्हिज्जा नो मुण्हिज्जा नो अउझोववज्जिज्जा नो विणिघायमावज्जेज्जा, केवली ब्या- णिग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं सदेहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया संतिविभंगा संति केवलीपणत्ताओ धम्माओ मंसिज्जा, न सयका न सोउं सदा सोतविसयमागया । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भियस्सू परिवज्जए ॥ सोयओ जीवे मणुण्णामणुण्णाइं सदाइं सुणेइ इइ पढमा भावणा ।

अहावरा दुच्चा भावणा-चयस्सूओ जीवे मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासइ, मणुण्णामणुण्णेहिं रूवेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया जाव मंसिज्जा, न सयका रुवमदुद्धं चयस्सुविसयमागयं । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भियस्सू परिवज्जए ॥ चयस्सूओ जीवे मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासइ इइ दुच्चा भावणा ।

अहावरा तच्चा भावणा-घाणओ जीवे मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घायइ,

मणुण्णामणुण्णेहिं गंधेहिं नो सज्जिज्जा, नो रज्जिज्जा, जाव नो विणिघायमावज्जिज्जा, केवली बूया०- मणुण्णामणुण्णेहिं गंधेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा, न सक्का गंधमग्घाउं नासाविसयमागयं । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ घाणओ जीवे मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घायइत्ति तच्चा भावणा ।

अहावरा चउत्था भावणा-जिब्भाओ जीवे मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्साएइ, मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं नो सज्जिज्जा जाव नो विणिघायमावज्जिज्जा, केवली बूया०- णिग्गंधेणं मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा, न सक्का रसमस्साउं जीहाविसयमागयं । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ जीहाओ जीवे मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्साएइत्ति चउत्था भावणा ।

अहावरा पंचमा भावणा-फासओ जीवे मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसेवेइ, मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं नो सज्जिज्जा जाव नो विणिघायमावज्जिज्जा, केवली बूया०- णिग्गंधे णं मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया संतिविभंगा संतिके वलीपणत्ताओ धम्माओ भंसिज्जा, न सक्का फासमवेएउं फासविसयमागयं । रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥ फासओ जीवे मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसंवेएत्ति इइ पंचमा भावणा ।

एतावता पंचमे महव्वए सम्मं अवड्डिए आणाए आराहिए यावि भवइ, पंचमं भंते ! महव्वयं । इच्चेएहिं पंचमहव्वएहिं पणवीसाहि य भावणाहिं संपण्णे अणगारे अहासुयं अहाकप्पं अहामग्गं सम्मं काएण फासित्ता पालित्ता तीरित्ता किट्टित्ता आणाए आराहिता यावि भवइ ॥ ५४० ॥

II संस्कृत-छाया :

अथापरं पञ्चमं भदन्त ! महाव्रतं सर्वं परिग्रहं प्रत्याख्यामि, तत् अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तमद् वा अचित्तमद् वा, नैव स्वयं परिग्रहं गृह्णीयात्, नैवाऽन्यैः परिग्रहं ग्राहयेत्, अन्यमपि परिग्रहं गृह्णन्तं न समनुजानीयात् यावत् व्युत्सृजामि । तस्य इमाः पञ्च भावनाः भवन्ति ।

तत्र इयं प्रथमा भावना-श्रोत्रतः जीवः मनोज्ञाऽमनोज्ञान् शब्दान् शृणोति, मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्देषु न सज्येत न रज्येत न गृध्येत न अध्येपपद्येत, न विनिघातमापद्येत, केवली बूयात्०- निर्ग्रन्धः मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्देषु सज्यमानः रज्यमानः गृह्यमानः मुह्यमानः अध्येपपद्यमानः यावत् विनिघातमापद्यमानः शान्तिभेदाः शान्तिविभङ्गाः

शान्तिकेवलिप्रज्ञप्तात् धर्मात् भ्रश्येत् । न शययाः न श्रोतुं शब्दाः श्रोत्रविषयमागताः । रागद्वेषाः तु ये तत्र, तान् भिक्षुः परिवर्जयेत् ॥ श्रोत्रतः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् शब्दान् शृणोति इति प्रथमा भावना ।

अथाऽपरा द्वितीया भावना-चक्षुषः जीवः मनोज्ञामनोज्ञानि रूपाणि पश्यति, मनोज्ञामनोज्ञेषु रूपेषु सज्यमानः यावत् विनिघातमापद्यमानः शान्तिभेदाः यावत् भ्रश्येत् । न शययं रूपमद्रष्टुं चक्षुर्विषयमागतम् । रागद्वेषाः तु ये तत्र, तान् भिक्षुः परिवर्जयेत् ॥ चक्षुषः जीवः मनोज्ञामनोज्ञानि रूपाणि पश्यति इति द्वितीया भावना ।

अथाऽपरा तृतीया भावना-घ्राणतः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् गन्धान् आजिघ्रति, मनोज्ञामनोज्ञेषु गन्धेषु न सज्येत न रज्येत यावत् न विनिघातमापद्येत, केवली ब्रूयात्-मनोज्ञामनोज्ञेषु गन्धेषु सज्यमानः यावत् विनिघातमापद्यमानः शान्तिभेदाः यावत् भ्रश्येत् । न शययं गन्धमाघ्रातुं घ्राणविषयमागतम् । रागद्वेषाः तु ये तत्र, तान् भिक्षुः परिवर्जयेत् ॥ घ्राणतः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् गन्धान् आजिघ्रति इति तृतीया भावना ।

अथाऽपरा चतुर्थी भावना-जिह्वातः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् रसान् आस्वादयति, मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेषु न सज्येत यावत् न विनिघातमापद्येत, केवली ब्रूयात्-मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेषु सज्यमानः यावत् विनिघातमापद्यमानः शान्तिभेदाः यावत् भ्रश्येत् । न शययं रसमास्वादयितुं जिह्वाविषयमागतम् । रागद्वेषाः तु ये तत्र, तान् भिक्षुः परिवर्जयेत् ॥ जिह्वातः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् रसान् आस्वादयति इति चतुर्थी भावना ।

अथाऽपरा पञ्चमी भावना-स्पर्शतः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् स्पर्शान् प्रतिसेवते, मनोज्ञामनोज्ञेषु स्पर्शेषु न सज्येत यावत् न विनिघातमापद्येत, केवली ब्रूयात्-निर्गन्धः मनोज्ञामनोज्ञेषु स्पर्शेषु सज्यमानः यावत् विनिघातमापद्यमानः शान्तिभेदाः शान्तिविभङ्गाः शान्तिकेवलिप्रज्ञप्तात् धर्मात् प्रश्येत् । न शययः स्पर्शः अवेदितुं स्पर्शविषयमागतः । रागद्वेषाः तु ये तत्र तान् भिक्षुः परिवर्जयेत् ॥ स्पर्शतः जीवः मनोज्ञामनोज्ञान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति, इति पञ्चमी भावना ।

एतावता पञ्चमे महाव्रते सम्यग् अवस्थितः आज्ञया आराधितं च अपि भवति । पञ्चमं भदन्त ! महाव्रतम् । इति एतैः पञ्चमहाव्रतैः पञ्चविंशत्या च भावनाभिः सम्पन्नः अनगारः यथाश्रुतं यथाकरुणं यथामार्गं सम्यक् कारयेन स्पृष्ट्वा पालयित्वा तीर्त्वा कीर्त्तयित्वा आज्ञया आराधिताः च अपि भवन्ति ॥ ५४० ॥

III सूत्रार्थ :

हे भगवन् ! पांचवें महाव्रत के विषय में सर्व प्रकार के परिग्रह का परित्याग करता

हूँ। मैं अल्प, बहुत, सूक्ष्म, स्थूल तथा सचित्त और अचित्त किसी भी प्रकार के परिग्रह को न स्वयं ग्रहण करूँगा, न दूसरों से ग्रहण कराऊँगा और न ग्रहण करने वालों का अनुमोदन करूँगा। मैं अपनी आत्मा को परिग्रह से सर्वथा पृथक् करता हूँ।

इस पंचम महाव्रत की ये पांच भावनाएँ हैं—

उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना यह है— श्रोत्र से यह जीव प्रिय तथा अप्रिय शब्दों को सुनता है, परन्तु वह प्रिय तथा अप्रिय शब्दों में आसक्त न हो, राग भाव न करे, गृह्य न हो, मूर्छित न हो, तथा अत्यन्त आसक्त एवं राग द्वेष न करे, केवली भगवान् कहते हैं कि साधु मनोज्ञा मनोज्ञ शब्दों में आसक्त होता हुआ, राग करता हुआ यावत् विद्वेष करता हुआ शान्ति भेद एवं शान्ति विभंग करता है और केवली भाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है तथा श्रोत्र विषय में आए हुए शब्द ऐसे नहीं जो सुने न जावें किन्तु उनके सुनने पर जो राग द्वेष की उत्पत्ति होती है, उसका भिक्षु परित्याग कर दे। अतः जीव के श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में आए हुए प्रिय और अप्रिय शब्दों में साधु राग द्वेष न करे। यह प्रथम भावना कही गई है।

चक्षु के द्वारा यह जीव प्रिय तथा अप्रिय रूपों को देखता है, प्रिय सुन्दर रूपों में आसक्त होता हुआ यावत् द्वेष करता हुआ शान्ति भेद यावत् धर्म से पतित हो जाता है। तथा चक्षु के विषय में आया हुआ रूप अदृष्ट नहीं रह सकता अर्थात् वह अवश्य दिखाई देगा, परन्तु उसको देखने से उत्पन्न होने वाले राग, द्वेष का भिक्षु परित्याग कर दे। इस तरह चक्षु के द्वारा देखे जाने वाले प्रिय और अप्रिय रूपों पर साधु-श्रमणों को राग-द्वेष नहीं करना चाहिए, यह द्वितीय भावना है।

तीसरी भावना यह है—नासिका के द्वारा जीव प्रिय तथा अप्रिय गंधों को सूँघता है, परन्तु प्रिय तथा अप्रिय गंधों को सूँघता हुआ उनमें राग-द्वेष न करे, क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं कि प्रिय तथा अप्रिय गंधों में राग द्वेष करता हुआ साधु शान्ति का भेदन करता हुआ धर्म से भ्रष्ट होजाता है। तथा ऐसा भी नहीं होता कि नासिका के सन्निधान में आए हुए गंध के परमाणु पुद्गल सूँघे न जा सकें। परन्तु इसका तात्पर्य इतना ही है कि साधु उनमें राग द्वेष न करे।

चतुर्थ भावना इस प्रकार वर्णन की गई है—जीव जिह्वा से प्रिय तथा अप्रिय रसों का आस्वाद ज्ञान होता है किन्तु उनमें राग-द्वेष न करे। केवली भगवान् कहते हैं प्रिय तथा अप्रिय रसों में आसक्त एवं राग-द्वेष करने वाला निर्बन्ध शान्ति भेद और धर्म से पतित हो जाता है। तथा जिह्वा को प्राप्त हुआ रस अनास्वादित नहीं रह सकता किन्तु उसमें जो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है उसका भिक्षु परित्याग कर दे। और जिह्वा से आस्वादित होने वाले प्रिय तथा अप्रिय रसों में राग-द्वेष से रहित होना यह चतुर्थ भावना है।

अब पांचवीं भावना को कहते हैं- यह जीव स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा प्रिय और अप्रिय स्पर्शों का अनुभव ज्ञान-संवेदन करता है, किन्तु प्रिय स्पर्श में राग और अप्रिय स्पर्श में द्वेष न करे। केवली भगवान कहते हैं कि साधु प्रिय स्पर्श में राग और अप्रिय में द्वेष करता हुआ शान्ति भेद, शान्ति विभंग करता हुआ शान्तिरूप केवली भाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। स्पर्शेन्द्रिय के सन्निधान में आए हुए स्पर्श के पुद्गल बिना स्पर्शित हुए-बिना अनुभव किए नहीं रह सकते, किन्तु वहां पर जो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है साधु उसको सर्वथा छोड़ दे। स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा जीव प्रिय तथा अप्रिय स्पर्शों का अनुभव करता है, परंतु उनमें राग और द्वेष का न करना यह पांचवीं भावना कही गई है।

इस प्रकार यह पांचवां महाव्रत सम्यक् प्रकार से काया द्वारा स्पर्श किया हुआ, पालन किया हुआ, तीर पहुंचाया हुआ, कीर्तन किया हुआ अवस्थित रखा हुआ और आंशु पूर्वक आराधन किया हुआ होता है। इस पांचवें महाव्रत में सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग किया जाता है।

IV टीका-अनुवाद :

पांचवे महाव्रत की भावनाएं इस प्रकार हैं...

१. श्रोत्र याने कान के विषय में आये हुए अच्छे या बुरे शब्दों को सुनकर साधु उसमें गृन्धि याने राग और द्वेष न करे...
२. इसी प्रकार चक्षु के विषय में आये हुए रूप को देखकर साधु राग एवं द्वेष न करे...
३. नासिका के विषय में आये हुए गंध के प्रति भी साधु राग एवं द्वेष न करे...
४. जीभ के विषय में भी साधु राग-द्वेष न करे...
५. स्पर्श के विषय में भी साधु राग-द्वेष न करे...

शेष सूत्र के सभी पद सुगम है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधक को परिग्रह से निवृत्त होने का आदेश दिया गया है। परिग्रह से आत्मा में अशान्ति बढ़ती है। क्योंकि, रात दिन परिग्रह को बढ़ाने एवं सुरक्षा करने की चिन्ता बनी रहती है। जिससे साधक निश्चिन्त मन से स्वाध्याय आदि की साधना भी नहीं कर सकता है। इसलिए भगवान ने साधक को परिग्रह से सर्वथा मुक्त रहने का आदेश दिया है। साधु को थोड़ा या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल किसी भी तरह का परिग्रह नहीं रखना चाहिए।

इसके साथ आगम में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधु साधना में सहायक उपकरणों को स्वीकार कर सकता है। वस्त्र का परित्याग करने वाले जिन कल्पी मुनि भी कम से कम मुखवस्त्रिका, और रजोवहरण ये दो उपकरण अवश्य रखते हैं। वर्तमान में दिगम्बर मुनि भी मोर पिच्छी और कमण्डल तो रखते ही हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि संयम में सहायक होने वाले पदार्थों को रखना या ग्रहण करना परिग्रह नहीं है। परन्तु उन पर ममता, मूर्छा एवं आसक्ति रखना परिग्रह है। आगम में स्पष्ट कहा गया है कि संयम एवं आध्यात्मिक साधना में तेजस्विता लाने वाले उपकरण (वस्त्र-पात्र आदि) परिग्रह नहीं है। किन्तु उन पर मूर्छा एवं आसक्ति करना परिग्रह है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी वस्त्र रखने को परिग्रह नहीं कहा है। उन्होंने भी आगम में अभिव्यक्त मूर्छा, या ममत्व को ही परिग्रह माना है। वस्त्र एवं पात्र ही क्यों, यदि अपने शरीर पर भी ममत्व है, तो वह भी परिग्रह का कारण बन जायगा। अतः साधक को मूर्छा ममता एवं आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संयमोपकरणों से संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

अब पंचम महाव्रत की भावनाओं का उल्लेख करते हुए सूत्रकार आगे कहते हैं।

इस सूत्र में पांचवें महाव्रत की पांच भावनाएं बताई गई है— १. प्रिय और अप्रिय शब्द, २. रूप, ३. गन्ध, ४. रस और ५. स्पर्श पर राग द्वेष न करे। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साधक कान, आंख, नाक आदि बन्द करके चले। उसे अपनी इन्द्रियों को बन्द करने की आवश्यकता नहीं है। शब्द कान में पड़ते रहें, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु, उन प्रिय या अप्रिय शब्दों के ऊपर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। मधुर एवं कर्ण प्रिय गीतों को सुनने या इसी तरह दूसरे व्यक्ति की निन्दा-चुगली सुनने के लिए उस ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। इससे स्वाध्याय का अमूल्य समय नष्ट होता है एवं मन में रागद्वेष की भावना भी उत्पन्न हो सकती है। अतः साधक को किसी भी तरह के शब्दों पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

इसी तरह अपनी आंखों के सामने आने वाले सुन्दर एवं कुत्सित रूप पर भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। उसे सुन्दर, सुहावने दृश्यों एवं लावण्यमयी स्त्रियों आदि के रूप को देखकर उस पर मुग्ध एवं आसक्त नहीं होना चाहिए और न घृणित दृश्यों को देखकर नाक-भौं सिकोड़ना चाहिए। साधक को सदा राग-द्वेष से ऊपर उठकर तटस्थ रहना चाहिए।

इसी तरह वायु के साथ पदार्थों में से आने वाली सुगन्ध एवं दुर्गन्ध के समय भी साधु को मध्यस्थ भाव रखना चाहिए। सुवासित पदार्थों में राग भाव नहीं रखना चाहिए और न दुर्गन्धमय पदार्थों पर द्वेष भाव। साधक को सदा राग-द्वेष से ऊपर उठकर संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

इसी प्रकार साधक को रसों में आसक्त नहीं होना चाहिए। स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट जैसा भी निर्दोष आहार प्राप्त हो उसे समभाव पूर्वक वापरना चाहिए। साधु को सुस्वादु एवं रस युक्त आहार पर राग भाव नहीं रखना चाहिए और न नीरस आहार पर द्वेष। साधक को कभी भी स्वाद के वशीभूत नहीं होना चाहिए।

साधक को अनेक तरह के प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्श होते रहते हैं। परन्तु उसे किसी भी स्पर्श पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। न मनोऽज्ञ स्पर्श पर राग भाव रखना चाहिए और न अमनोऽज्ञ स्पर्श पर द्वेष भाव। यही साधक की साधना का वास्तविक स्वरूप है।

इस तरह साधक जब इन आदेशों को आचरण में उतारता है, उन्हें जीवन में साकार रूप देता है, तभी अपरिग्रह महाव्रत की आराधना कर पाता है।

इस प्रकार इस अध्ययन में वर्णित ५ महाव्रत एवं २५ भावनाओं का सम्यक्तया परिपालन करने वाला साधक ही आराधक होता है और वह क्रमशः आत्मा का विकास करता हुआ कर्म बन्धनों से मुक्त होता हुआ, एक दिन अपने साध्य को पूर्णतया सिद्ध कर लेता है।

प्रस्तुत भावना अध्ययन में भगवान महावीर के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। भगवान महावीर के जीवन एवं साधना से संबन्ध होने के कारण प्रस्तुत अध्ययन में भावनाओं का उल्लेख किया गया है। ऐसे प्रश्न व्याकरण सूत्र के पांचवें संवर द्वार में भावनाओं का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। यहां केवल दिग्दर्शन कराया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन भगवान महावीर के जीवन एवं साधना से संबंधित होने के कारण प्रत्येक साधक के लिए मननीय एवं चिन्तनीय है। इससे साधक की साधना में तेजस्विता आणी और उसे अपने पथ पर बढ़ने में बल मिलेगा। अतः प्रत्येक साधक को इसका गहराई से अध्ययन करके भगवान महावीर की साधना को जीवन में साकार रूप देने का प्रयत्न करना चाहिए। संक्षेप में महाव्रतों एवं उनकी भावनाओं का महत्व संयम जीवन में आचरण करने से है। उनका सम्यक्तया आचरण करके ही साधक सर्व प्रकार के कर्मबन्धनों से मुक्त-उन्मुक्त हो सकता है।

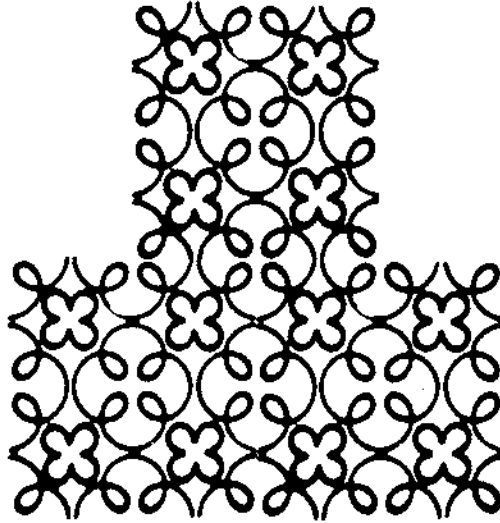
॥ द्वितीयश्रुतस्कन्धे भावना-नाम-तृतीया चूलिका समाप्तः ॥

卐 卐 卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिन्धुचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयापतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाठ-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययन से विश्व के सभी जीव पंचाचार की दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपद की पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ॐ राजेन्द्र सं. १६. ॐ विक्रम सं. २०५८.



आचाराङ्गसूत्रे श्रुतस्कन्ध-२ चूलिका - ४

卐 विमुक्ति 卐

भावना अध्ययन स्वरूप तीसरी चूलिका कही, अब चौथी चूलिका विमुक्ति-अध्ययन कहते हैं... यहां परस्पर इस प्रकार संबंध है कि- तीसरी चूलिका में महाव्रतों की पष्ठीस भावनाएं कही हैं, अब इस चौथी चूलिका में भी अनित्य भावना कहते हैं... इस संबंध से आइ हुई इस चौथी चूलिका = विमुक्ति-अध्ययन के चार अनुयोग द्वारा होते हैं... उनमें उपक्रम के अंतर्गत अर्थाधिकार कहते हैं...

इस अध्ययन में १. अनित्यत्व अधिकार, २. पर्वत अधिकार, ३. रूप्य अधिकार, ४. भुजगत्वक् अधिकार, ५. समुद्र अधिकार यह पांच अधिकार हैं, उनका स्वरूप सूत्र से ही कहेंगे... नामनिष्पन्न निक्षेप में "विमुक्ति" नाम के नाम आदि निक्षेप उत्तराध्ययन में रहे हुए विमोक्ष अध्ययन की तरह जानना चाहिए...

वि. ३४६

जो मोक्ष है वह हि विमुक्ति है.. अतः विमुक्ति नाम का मोक्ष की तरह निक्षेप होते हैं... यहां ग्रंथ में भाव-विमुक्ति का अधिकार है और वह भाव विमुक्ति देश एवं सर्व के भेद से दो प्रकार से है... उनमें देश से विमुक्ति साधु से लेकर भवस्थ केवलज्ञानी पर्यंत के जीव... और सर्व विमुक्ति = सिद्धात्माओं के जीव... क्योंकि- सिद्धात्माओं के आठों कर्मों का दिनाश हो गया है...

अब सूत्रानुगम में संहिता की पद्धति से सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना चाहिये...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ५४१ ॥

अणिच्चमावासमुर्विति जंतुणो

अलोपए सुच्चमिणं अणुत्तरं ।

विउसिरे विण्णु अगारबंधणं

अभीरू आरंभ-परिग्गहं चए ॥ ५४१ ॥

II संस्कृत-छाया :

अनित्यमावासमुपयान्ति जन्तवः,

प्रलोकयेत् सत्यमिदं अनुत्तरम् ।

व्युत्सृजेत् विद्वाः अगारबन्धनं,

अभीरुः आरम्भपीरग्रहं त्यजेत् ॥ ५४१ ॥

III सूत्रार्थ :

सर्व श्रेष्ठ जिन प्रवचन में यह कहा गया है कि आत्मा, मनुष्य आदि जिन योनियों में जन्म लेते हैं, वे स्थान अनित्य है। ऐसा सुनकर एवं उस पर हार्दिक चिन्तन करके समस्त भयों से निर्भय बना हुआ विद्वान् पारिवारिक स्नेह बन्धन का, समस्त सावध कर्म एवं परिग्रह का त्याग कर दे।

IV टीका-अनुवाद :

जीव जहां रहता है वह आवास... आवास याने मनुष्यादि जन्म अथवा शरीर... अब यह मनुष्यादि जन्म या शरीर अनित्य ही है... क्योंकि- मनुष्य आदि चारों गतिओं में जीव कर्मानुसार जहां कहीं उत्पन्न होता है वहां उसकी स्थिति अनित्य ही होती है कारण कि- आयुष्य की सीमा निश्चित ही है... यह बात जिनेश्वरों के सिद्धांत-जिनागम सूत्रों में जिस प्रकार कही गई है, उस प्रकार गंभीरता से देखें... कि- जीवन अनित्य किस प्रकार से है... इत्यादि... अतः जिनागम को सुनकर प्राज्ञ पुरुष पुत्र-स्त्री परिवार धन-धान्यादि स्वरूप गृहस्थावास का त्याग करे... और इहलोक परलोकादि सातों प्रकार के भयों से मुक्त होकर तथा बाइस परिसह एवं देवादि से होने वाले उपसर्गों से घबरसये बिना संयम मार्ग में स्थिर होकर आरंभ याने पापाचरण तथा बाह्य एवं अभ्यंतर परिग्रह का त्याग करें... यह अनित्य-अधिकार हुआ...

अब आगे के सूत्र से पर्यंत-अधिकार का स्वरूप कहेंगे.....

V सूत्रसार :

प्रस्तुत गाथा में अनित्यता के स्वरूप का वर्णन किया गया है। भगवान् ने अपने प्रवचन में यह स्पष्ट कर दिया है कि संसार में जीवों के उत्पन्न होने की जितनी भी योनिया हैं, वे अनित्य हैं। क्योंकि अपने कृत कर्म के अनुसार जीव उन योनियों में जन्म ग्रहण करता है और अपने उस भव के आयु कर्म के समाप्त होते ही उस योनि के प्राप्त शरीर को छोड़ देता है। इस तरह समस्त योनिया कर्म जन्य हैं, इस कारण वे अनित्य हैं। जब तक जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है, तब तक वह अपने कृत कर्म के अनुसार एक योनि से दूसरी योनि में परिभ्रमण करता रहता है। इससे योनि की अनित्यता स्पष्ट हो जाती है। परन्तु इससे जीव के अस्तित्व का नाश नहीं होता इसलिए जीव का सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि संसार अनित्य है, संसार में स्थित जीव एक योनि से दूसरी योनि में भटकता रहता है। इससे हम निःसंदेह कह सकते हैं कि संसार असत् नहीं, किन्तु अनित्य

एवं परिवर्तन शील है। परन्तु इसके साथ यह भी स्पष्ट है कि परिभ्रमण के कारण जीव के आत्म प्रदेशों में किसी तरह का अन्तर नहीं आता है। परन्तु शरीर आदि की पर्याय एवं ज्ञान-दर्शन की पर्याय परिवर्तित होती है, अतः इन परिवर्तनों के कारण आत्म द्रव्य स्वरूप से नहीं बदलता, अर्थात् जीव के असंख्यात प्रदेशों में किसी भी तरह की व्युत्पादिकता नहीं आती है।

इस तरह संसार की अनित्यता के स्वरूप को सुन कर और उस पर गहराई से चिन्तन मनन करके विद्वान् एवं निर्भय मनुष्य संसार से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है। फिर वह पारिवारिक स्नेह बन्धन में बंधा नहीं रहता है। वह मृत्यु के समय जबरदस्ती टूटने वाले स्नेह बन्धन को मरण के पहले ही स्वेच्छा से तोड़ देता है। वह अनासक्त भाव से पारिवारिक ममता का एवं सावध कर्मों का तथा समस्त परिग्रह का त्याग करके साधना के मार्ग पर कदम रख देता है।

इस गाथा में आत्मा की द्रव्य रूप से नित्यता एवं योनि आदि पर्यायों या संसार की अनित्यता, अस्थिरता एवं परिवर्तनशीलता को स्पष्ट रूप से दिखाया गया है। और साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है। कि विद्वान् एवं निर्भय मनुष्य ही इसके यथार्थ स्वरूप को समझकर सांसारिक संबंधों एवं साधनों का परित्याग कर सकता है।

अब पर्वत अधिकार का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ५४२ ॥

तहागयं भिक्खुमणंतसंजयं
अणोलिसं विण्णु चरंतमेसणं ।
तुदन्ति वायादि अभिद्वं नरा
सरेहिं संगामग यं व कुञ्जरं ॥ ५४२ ॥

II संस्कृत-छाया :

तथागतं भिक्षुमनन्तसंयतं
अनीदशं विज्ञं चरन्तमेषणाम् ।
तुदन्ति वाग्भिः अभिद्ववन्ति नराः
शरैः सङ्ग्रामगतं इव कुञ्जरम् ॥ ५४२ ॥

III सूत्रार्थ :

अनित्यादि भावनाओं से भावित, अनन्त जीवों की रक्षा करने वाले अनुपमसंयमी और

जिनागामनुसार शुद्ध आहार की, वेषणा करने वाले भिक्षु को देखकर कतिपय अनार्य व्यक्ति साधु पर असभ्य वचनों एवं पत्थर आदि का इस तरह प्रहार करते हैं, जैसे संग्राम में अग्रेसर रहे हुए हाथी पर बाणों की वर्षा करते हैं।

IV टीका-अनुवाद :

अनित्य भावना से गृहस्थावास का त्याग करनेवाले एवं साधारण वनस्पति स्वरूप निर्गोद के अनंत जीवों की विराधना से विरत ऐसे संयत साधु, कि- जिन्होंने जिनागम के सार का श्रवण करके असाधारण विद्वता याने गीतार्थता प्राप्त की है ऐसे वे मुनिवर एषणासमिति के बयालीस (४२) दोषों का त्याग करते हैं... किंतु ऐसे मुनिवरों को, अपने पापकर्मों से आर्तध्यानवाले मिथ्यादृष्टि लोग असभ्य प्रलाप याने अनुचित बातों से दुःखी करते हैं... और पत्थर, लकड़ी आदि के प्रहारों से उपद्रव करते हैं... जिस प्रकार रणभूमि के अग्रिम भाग में रहे हुए हाथी के ऊपर दुश्मन सेना बाणों की वर्षा करती है...

इस पर्वताधिकार में और भी बात कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधु की सहिष्णुता एवं समभाव वृत्ति का उल्लेख किया गया है। इसमें बताया गया है जैसे युद्ध के समय रणभूमि में अग्रभाग में रहे हुए हाथी पर शस्त्रों एवं बाणों का प्रहार करते हैं और वह हाथी उन प्रहारों को सहता हुआ उन पर विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार यदि कोई असभ्य, अशिष्ट या अनार्य पुरुष किसी साधु के साथ अशिष्टता का व्यवहार करे, उसे अभद्र गालिया दे या उस पर पत्थर आदि फेंके तो साधु समभाव पूर्वक उस वेदना को सहता हुआ राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करे। उस समय साधु उत्तेजित न हो और न आवेश में आकर उनके साथ वैसा ही व्यवहार करे और न उन्हें श्राप-अभिशाप दे। क्योंकि, इससे उसकी आत्मा में राग-द्वेष की प्रवृत्ति बढ़ेगी और परस्पर वैर भाव में अभिवृद्धि होगी और कर्म बन्ध होगा। अतः साधु अपनी प्रवृत्ति को राग-द्वेष की ओर न बढ़ने दे। उस समय वह क्षमा एवं शान्ति के द्वारा राग-द्वेष एवं कषायों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करे। आर्तध्यायी वे दृष्ट एवं असभ्य व्यक्ति साधु के साथ दुर्व्यवहार कर रहे हैं और इस दुर्व्यवहार के द्वारा वे मनुष्य कर्मबन्ध करके संसार परिभ्रमण बढ़ा रहे हैं। साधु राग-द्वेष के इस भयंकर परिणाम को जानकर आत्मा के इन अंतरंग शत्रुओं को दबाने का, नष्ट करने का प्रयत्न करे। इसका तात्पर्य यह है कि साधु को हर हालत में, प्रत्येक परिस्थिति में अपनी अहिंसा वृत्ति का परित्याग नहीं करना चाहिए किन्तु सदा समभाव एवं निर्भयता पूर्वक प्रत्येक प्राणी को क्षमा करते हुए राग-द्वेष पर विजय पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

साधु को और भी ऐसे हि परिषदों के उत्पन्न होने पर भी पर्वत की तरह अचल, अटल एवं निष्कंप रहना चाहिए, इसका उल्लेख सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं-

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ५४३ ॥

तहप्पगारेहिं जणेहिं हीलिए

ससद्दफासा फरुसा उडीरिया ।

तितित्तिक्खए नाणी अदुड्ढवेयसा

गिरिव्व वाएण न संपवेयए ॥ ५४३ ॥

II संस्कृत-छाया :

तथा प्रकारैः जनैः हीलितः

सशब्द-स्पर्शान् परुषान् उदीरितान् ।

तितिक्षते ज्ञानी अदुष्टचेतसा

गिरिः इव वातेन न संप्रवेपते ॥ ५४३ ॥

III सूत्रार्थ :

असंस्कृत एवं असभ्य पुरुषों द्वारा आक्रोशादि शब्दों से या शीतादि स्पर्शों से पीडित या व्यथित किया हुआ ज्ञानयुक्त मुनि उन परीषहोपसर्गों को शान्ति पूर्वक सहन करे। जिस प्रकार वायु के प्रबल वेग से भी पर्वत कम्पायमान नहीं होता, ठीक उसी प्रकार संयम शील मुनि भी इन परीषहों से कम्पित-विचलित न हो अर्थात् अपने संयम व्रत में दृढ़ रहे।

IV टीका-अनुवाद :

अनार्य जैसे मिथ्यादृष्टि लोगों ने मुनिवरों को जो कठोर अपमान जनक शब्दों तथा शीत-गर्मी आदि दुःखों देने के लिये किये गये कठोर स्पर्शों को मुनिवर समभाव से सहन करें... यहां ज्ञानी गीतार्थ मुनिराज ऐसा चिंतन करे कि- यह सब कुछ पूर्व किये हुए कर्मों का ही फल है... इत्यादि सोचकर मुनिराज अपने चित्त को कलुषित नहीं होने दें... जिस प्रकार प्रचंड पवन से मेरु पर्वत कंपित नहीं होता, उसी प्रकार मुनिराज भी परीषह एवं उपसर्गों के समय में समाधि भाव से चलित नहीं होते...

अब पांच श्लोक से रूप्य दृष्टांत-अधिकार कहतें हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत गाथा में पूर्व गाथा की बात दोहराई गई है। इसमें यह बताया गया है कि जैसे प्रचण्ड वायु के वेग से भी पर्वत कंपायमान नहीं होता, उसी तरह ज्ञान संपन्न मुनि असभ्य एवं असंस्कृत व्यक्तियों द्वारा दिए गए परीषहों—कष्टों से कम्पित नहीं होता, अपनी समभाव की साधना से विचलित नहीं होता। वह कष्टों के भयंकर तूफानों में भी अचल, अटल एवं स्थिर भाव से अपनी आत्म साधना में संलग्न रहता है। वह उन परीषहों को अपने पूर्व कृत कर्म का फल जानकर समभाव पूर्वक उन्हें सहन करता है और उन कर्मों को या कर्म बन्ध के कारण राग-द्वेष और कषायों को क्षय करने का प्रयत्न करता है।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'नाणी अदुट्ठचेयसा' पद का अर्थ यह है कि ज्ञानी उन कष्टों को पूर्व कृत कर्म का फल समझकर उसे समभाव पूर्वक सहन करता है। वृत्तिकार ने भी इसी बात को स्वीकार किया है।

साधु की सब प्राणियों के प्रति रही हुई समभाव की भावना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ५४४ ॥

उवेहमाणे कुसलेहिं संवसे,

• अकंतदुःखी तस-थावरा दुही।

अलूषए सव्वसहे महामुणी

अहा हि से सुस्समणे समाहिए ॥ ५४४ ॥

II संस्कृत-छाया :

उपेक्षमाणः कुशलैः संवसेत्,

अकान्तदुःखिनः तस स्थावराद् दुःखिनः ।

अलूषयन् सर्वसहः महामुनिः

तथा हि असौ सुश्रमणः समाख्यातः ॥ ५४४ ॥

III सूत्रार्थ :

परीषहोपसर्गों को सहन करता हुआ अथवा मध्यस्थ भाव का अवलम्बन करता हुआ वह मुनि गीतार्थ मुनियों के साथ रहे सब प्राणियों को दुःख अप्रिय लगता है ऐसा जानकर त्रस और स्थविर जीवों को दुःखी देख कर उन्हें किसी प्रकार का परिताप न देता हुआ पृथ्वी की भांति सर्व प्रकार के परीषहोपसर्गों को सहन करने वाला महामुनि-लोकवर्ति पदार्थों के

स्वरूप का ज्ञाता होता है। अतः उसे सुश्रमण-श्रेष्ठश्रमण कहा गया है।

IV टीका-अनुवाद :

परीषह एवं उपसर्गों को समभाव से सहन करनेवाले तथा इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थों में उपेक्षाभाव रखनेवाले अर्थात् मध्यस्थ भाववाले श्रमण गीतार्थों के साथ रहें... क्योंकि- इस विश्व में त्रस एवं स्थावर सभी जीव दुःख याने असाता को नहीं चाहते, अतः उन जीवों को दुःख-कष्ट-परिताप नहीं देनेवाला श्रमण आश्रव दारों को स्थगित (बंध) करके पृथ्वी की तरह जो परीषह एवं उपसर्गों का कष्ट आवे उन्हें सहन करते हैं... यह महामुनि तीनों जगत के स्वभाव को यथार्थ प्रकार से जानता है अतः वह महामुनि सुश्रमण स्वरूप से प्रसिद्धि पाते ही हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि मुनि संसार के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता एवं दृष्टा है। अतः वह कष्टों एवं परीषहों से विचलित नहीं होता है। क्योंकि- वह यह भी जानता है कि प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय लगता है, दुःख अप्रिय लगता है और संसार में स्थित एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि प्राणी दुःखों से संतप्त हैं, इसलिए वह किसी भी प्राणी को संकलेश एवं परिताप नहीं देता। वह अन्य प्राणियों से मिलने वाले दुःखों को समभाव पूर्वक सहन करता है, परन्तु अपनी तरफ से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। वह अन्य प्राणियों से मिलने वाले दुःखों को समभाव पूर्वक सहन करता है, परन्तु अपनी तरफ से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। यह उसको साधुता का उज्ज्वल आदर्श है। और इस विशिष्ट साधना के द्वारा वह अपनी आत्मा का विकास करता हुआ अन्य प्राणियों को कर्म बन्धन से मुक्त करने में सहायक बनता है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को सदा मध्यस्थभाव रखना चाहिए। दुष्ट एवं असभ्य व्यक्तियों पर भी क्रोध नहीं करना चाहिए और उसे सदा गीतार्थ एवं विशिष्ट ज्ञानियों के साथ रहना चाहिए। क्योंकि, अज्ञ के संसर्ग से समय एवं शक्ति का दुरुपयोग होने की सम्भावना बनी रहती है। अतः साधक को ज्ञानी पुरुषों के सहवास में रहना चाहिए, उनके साथ रहकर वह अपनी साधना को आगे बढ़ा सकता है। इससे उसके ज्ञान में भी विकास होगा और ज्ञानवान एवं चिन्तनशील साधक लोक के यथार्थ स्वरूप को जानकर कर्म बन्धन से मुक्त हो सकता है। अतः साधक को गीतार्थ मुनियों के साथ में रहकर अपनी साधना को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ५४५ ॥

विऊ नए धम्मपयं अणुतरं,
विणीयतण्हस्स मुणिस्स ज्ञायओ ।
समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा
तवो य पण्णा य जसो य वड्ढइ ॥ ५४५ ॥

II संस्कृत-छाया :

विद्वान् नतः धर्मपदं अनुतरं
विनीततृष्णस्य मुनेः ध्यायतः ।
समाहितस्य अग्निशिखावत् तेजसा
तपश्च प्रज्ञा च यश्च वर्धते ॥ ५४५ ॥

III सूत्रार्थ :

क्षमा मार्दवादि दश प्रकार के श्रेष्ठ यति-श्रमण धर्म में प्रवृत्ति करने वाला विनयवान एवं ज्ञान संपन्न मुनि-जो तृष्णा रहित होकर धर्म ध्यान में संलग्न है और चारित्र को परिपालन करने में सावधान है, उसके तप, प्रज्ञा और यश अग्नि शिखा के तेज की भांति वृद्धि को प्राप्त होते हैं ।

IV टीका-अनुवाद :

क्षेत्र-काल आदि को जाननेवाले विद्वान् एवं नम्र ऐसा वह मुनि अनुतर याने श्रेष्ठ ऐसे क्षमादि धर्मपदों की उपासना से तृष्णा से रहित होता हुआ समाधि के साथ धर्मध्यान लीन होता है, और जलते हुए अग्नि की शिखा = ज्वाला की तरह वह मुनि तपश्चर्या प्रज्ञा, यशः एवं देहकांति = तेज से वृद्धि पाता है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत गाथा में संयम से होने वाले लाभ का उल्लेख किया गया है । क्षमा, मार्दव आदि दश धर्मों से युक्त एवं तृष्णा से रहित होकर धर्म ध्यान में संलग्न विनय संपन्न मुनि की तपश्चर्या, प्रज्ञा एवं यश-प्रसिद्धि आदि में अभिवृद्धि होती है । वह निर्धूम अग्नि शिखा की तरह तेजस्वी एवं प्रकाश-युक्त बन जाता है । उसकी साधना में तेजस्विता आ जाती है । इससे स्पष्ट होता है कि क्षमा, मार्दव आदि से आत्मा के ऊपर लगा हुआ कर्म मैल दूर होता है और परिणाम स्वरूप उसकी उज्ज्वलता, ज्योतिर्मयता और तेजस्विता प्रकट हो जाती है ।

इस विषय में कुछ और बातों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ५४६ ॥

दिसो दिसंऽनंतजिणेण ताइणा

महव्वया स्सेमपया पवेइया ।

महागुरू णिस्सयरा उईरिया

तमेव तेउत्ति दिसं पगासगा ॥ ५४६ ॥

II संस्कृत-छाया :

दिशोदिशं अनन्तजिनेन ताइना

महाव्रतानि क्षेमपदानि प्रवेदितानि ।

महागुरुणि निस्वकराणि उदीरितानि

तमः इव तेजः इतित्रिदिशं प्रकाशकानि ॥ ५४६ ॥

III सूत्रार्थ :

षट्काय के रक्षक, अनन्त ज्ञान वाले जिनेन्द्र भगवान ने एकैन्द्रियादि भाव दिशाओं में रहने वाले जीवों के हित के लिए तथा उन्हें अनादि काल से आबन्ध कर्म बन्धन से छुड़ाने वाले महाव्रत प्रकट किए हैं। जिस प्रकार तेज तीनों दिशाओं के अन्धकार को नष्ट कर प्रकाश करता है, उसी प्रकार महाव्रत रूप तेज से अन्धकार रूप कर्म समूह नष्ट हो जाता है और ज्ञानवान् आत्मा तीनों लोक में प्रकाश करने वाला बन जाता है।

IV टीका-अनुवाद :

दिशा याने एकैन्द्रियादि अह्वारह (१८) भावदिशाओं में जीवों की सुरक्षा के लिये अनन्त जिनेश्वर परमात्माओं ने कल्याणकर महाव्रतों का कथन किया है... यह महाव्रत आत्मा में अनादिकाल से संचित हुए कर्मों को दूर करने में समर्थ हैं... जिस प्रकार तेज याने प्रकाश अन्धकार को दूर करके ऊपर नीचे एवं तिर्यक् ऐसी तीनों दिशाओं में प्रकाश करता है, ठीक वैसे ही यह महाव्रत कर्म-अन्धकार को दूर करके तीनों दिशाओं को प्रकाशित करता है...

अब मूल गुण के बाद उत्तरगुण कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत गाथा में महाव्रतों के महत्व का उल्लेख किया गया है। इसमें बताया गया है

कि एकेन्द्रियादि आदि भाव दिशाओं में स्थित जगत के जीवों के हित के लिए भगवान ने महाव्रतों का उपदेश दिया है। जिसका आचरण करके आत्मा अनादि काल से लगे हुए कर्म बन्धनों को तोड़कर पूर्णतया मुक्त हो सकता है। क्योंकि भगवान का प्रवचन प्रकाशमय है, ज्योतिर्मय है। इससे समस्त अज्ञान अन्धकार नष्ट हो जाता है, जिस अज्ञान अन्धकार में आत्मा अनादि काल से भटकता रहा है, उससे छूटने का मार्ग मिल जाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वज्ञों का उपदेश प्राणी जगत के हितार्थ होता है। इसमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि संसार में आत्मा एवं कर्म संबन्ध भी अनादि है। परन्तु, यह अनादिता एक कर्म या एक गति की अपेक्षा नहीं बल्कि कर्म प्रवाह की अपेक्षा से है। बन्धने वाला प्रत्येक कर्म अपनी स्थिति के अनुसार फल देकर आत्मा से पृथक् हो जाता है, परन्तु साथ में अन्य कर्म बन्धते रहते हैं। इस तरह आत्मा पहले के बांधे हुए कर्मों को यथा समय भोग कर क्षय करता है और फिर नए कर्मों का बन्ध करता रहता है। इस प्रकार कर्मों का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है। इस बात को इससे स्पष्ट कर दिया गया है कि महाव्रतों का आचरण करके साधु उस प्रवाह को सर्वथा नष्ट कर सकता है। यदि एक ही कर्म अनादि काल से चला आता हो तो उसे नष्ट करना असंभव था। परन्तु एक कर्म अनादि नहीं है। व्यक्ति की दृष्टि से वह सादि है, अर्थात् अमुक समय में बन्धा है और अपने उदय काल पर फल देकर क्षय हो जाता है। इस तरह कर्म व्यक्ति की दृष्टि से सादि है, परन्तु समष्टी-प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। क्योंकि संसार में स्थित जीव एक के बाद दूसरी, तीसरी—कर्म प्रकृतियों का बन्ध करता रहता है। इस कारण कर्मों को नष्ट भी किया जा सकता है और उसे नष्ट करने का साधन है—महाव्रत। क्योंकि, राग-द्वेष, कषाय एवं हिंसा आदि प्रवृत्तियों से कर्म का बन्ध होता है और महाव्रत इन प्रवृत्तियों के-आश्रव के द्वार को रोकने एवं पूर्व बन्धे कर्मों को क्षय करने का महान् साधन है। इस तरह संवर के द्वारा आत्मा जब अभिनव कर्म प्रवाह के स्रोत का आना बन्द कर देता है और पुरातन कर्म को तप, स्वाध्याय एवं ध्यान आदि साधना से सर्वथा क्षय कर देता है, तब वह कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त उन्मुक्त हो जाता है।

अतः, महाव्रत की साधना आत्मा को कर्म बन्धन से मुक्त करती है और इसका उपदेश सर्वज्ञ पुरुष देते हैं। क्योंकि वे राग-द्वेष से मुक्त हैं और अपने निरावरण ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को सम्यक्तया देखते जानते हैं। अतः उनका उपदेश तेज-अग्नि की तरह प्रकाशमान है और प्रत्येक आत्मा को प्रकाशमान बनने की प्रेरणा देता है।

महाव्रतों को शुद्ध रखने के लिए उत्तर गुणों में सावधानी रखने का आदेश देते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ५४७ ॥

सिएहिं भियख् असिए परिव्वए
 असज्जमित्थीसु चइज्ज पूयणं ।
 अनिस्सओ लोगमिणं तहा परं
 न मिज्जइ कामगुणेहिं पंडिए ॥ ५४७ ॥

II संस्कृत-छाया :

सितैः भिक्षुः असितः परिव्रजेत्
 असज्जन् स्त्रीषु त्यजेत् पूजनम् ।
 अनिश्रितः इहलोके तथा परे
 न मीयेत् कामगुणैः पण्डितः ॥ ५४७ ॥

III सूत्रार्थ :

साधु कर्मपाश में बन्धे हुए गृहस्थों या अन्य तीर्थियों के सम्पर्क से रहित होकर तथा स्त्रियों के संसर्ग का भी त्याग करके विचरे और वह, पूजा सत्कार आदि की अभिलाषा न करे, और इह लोक तथा परलोक के सुख की कामना भी न रखे। वह मनोज्ञ शब्दादि के विषय में भी प्रतिबन्ध न होवे। इस तरह उनके कटुविपाक को जानने के कारण वह मुनि, पंडित कहलाता है।

IV टीका-अनुवाद :

घर की मायाजाल से बन्धे या राग-द्वेषादि से बन्धे ऐसे गृहस्थ तथा अन्य मतवाले कुतीर्थियों के साथ जो अबन्ध है ऐसा मुनि-साधु संयमाचरणशील होता है, तथा जो साधु स्त्रीजनों के साथ संग याने परिचय न रखे वह पूजा के पात्र होता है, तथा साधु सत्कार-सन्मान के अभिलाषी न हो... तथा इस जन्म में या परलोक (स्वर्गादि) में जो साधु संबन्ध याने अनुरागी नहीं है ऐसे विद्वान् साधु-मुनिराज मनोज्ञ (अच्छे) कामगुण स्वरूप शब्दादि विषयों में लीन आसक्त नहीं होते हैं... किंतु उन शब्दादि विषयों के कटुक विपाक को देखनेवाले होते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि साधु को राग-द्वेष से युक्त एवं कर्म पाश में आबन्ध गृहस्थ एवं अन्य तीर्थियों का संसर्ग नहीं करना चाहिए और उसे स्त्रियों के संसर्ग का भी त्याग कर देना चाहिए। उसे पूजा-प्रतिष्ठा एवं ऐहिक या पारलौकिक सुखों की अभिलाषा भी नहीं रखनी चाहिए। परन्तु इन सब से मुक्त-उन्मुक्त होकर संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

क्योंकि गृहस्थ एवं अन्य मत के भिक्षुओं के सम्पर्क से उसके मन में राग-द्वेष की भावना जागृत हो सकती है और आध्यात्मिक साधना पर संशय हो सकता है। दूसरे में उसका स्वाध्याय एवं चिन्तन करने का अमूल्य समय (जिसके द्वारा वह आत्मा के ऊपर पड़े हुए कर्म आवरण को अनावृत्त करता हुआ आध्यात्मिक साधना के पथ पर आगे बढ़ता है) व्यर्थ की बातों में नष्ट होगा। और कभी साधु की उत्कृष्ट साधना को देखकर अन्यमत के भिक्षु के मन में ईर्ष्या की भावना जाग उठी तो वह साधु को शारीरिक कष्ट भी पहुंचा सकता है। इस तरह उनका संसर्ग आत्म साधना में बाधक होने के कारण त्याज्य बताया गया है।

इसी तरह स्त्रियों के संसर्ग से भी विषय वासना उदीप्त हो सकती है और मान-पूजा प्रतिष्ठा की भावना एवं ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों की अभिलाषा भी पतन का कारण है। क्योंकि इसके वशीभूत आत्मा अनेक तरह के अच्छे बुरे कर्म करता है। इसलिए साधक को इन सब के कटु परिणामों को जानकर इनसे मुक्त रहना चाहिए। जो साधक इनके विषाक्त एवं दुःख परिणामों को सम्यक्तया समझकर इनसे सर्वथा पृथक् रहता है, वही श्रमण वास्तव में पंडित है, ज्ञानी है और वही साधक कर्म बन्धन से मुक्त हो सकता है।

एक अन्य उदाहरण के द्वारा इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं....

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ ५४८ ॥

तथा विमुक्तस्स परिण्णचारिणो

धिईमओ दुयस्सस्समस्स भियस्सुणो ।

विसुज्झइ जं सि मलं पुरे कडं,

समीरियं रूपमलं व जोइणा ॥ ५४८ ॥

II संस्कृत-छाया :

तथा विमुक्तस्य परिण्णचारिणः

धृतिमतः दुःस्वप्नस्य भिक्षोः ।

विशुद्ध्यति यत् तस्य मलं पुराकृतं

समीरितं रूप्यमलं इव ज्योतिषा ॥ ५४८ ॥

III सूत्रार्थ :

जिस तरह अग्नि चाँदी के मेल को जलाकर उसे शुद्ध बना देती है, उसी प्रकार सभी संसर्गों से रहित ज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाला, धैर्यवान एवं सहिष्णु साधक अपनी साधना

से आत्मा पर लगे हुए कर्ममल को दूर करके आत्मा को निरावरण बना लेता है।

IV टीका-अनुवाद :

वह साधु मूलगुण पांच महाव्रत एवं उत्तर गुण समिति-गुणि को धारण करनेवाला होने से निःसंग है, तथा अच्छे बुरे का विवेक करनेवाला वह साधु परिज्ञाचारी है अर्थात् ज्ञान पूर्वक ही क्रियानुष्ठान करनेवाला है... तथा जिस मुनिराज को संयमाचरण में धृति याने समाधि है ऐसा वह साधु उद्धीरणा से उदय में आये हुए असाता कर्मों को समभाव से सहन करता है... जिस प्रकार रोगवाला मनुष्य उस रोग को दूर करने के लिये वैद्य एवं औषधादि को द्रुढता है, उसी प्रकार मुमुक्षु साधु पूर्वजन्म में बांधे हुए कर्मों को समभाव से सहन करके विशुद्ध होता है... जैसे कि- अग्नि के द्वारा सोने-चांदी का मल दूर होता है...

अब भुजंगत्वक् का अधिकार कहते हैं... भुजंग त्वक् याने सापकी कांचली...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में कर्ममल को हटाने के साधनों का उल्लेख किया गया है। कर्मबन्ध का कारण राग-द्वेष है। अतः इसका परिज्ञान रखने वाला साधक ही सम्यक् साधना के द्वारा उसे हटा सकता है। जैसे चांदी पर लगे हुए मैल को अग्नि द्वारा नष्ट किया जा सकता है। उसी प्रकार कर्म के मैल को ज्ञान पूर्वक क्रिया करके ही हटाया जा सकता है। उसके लिए साधक को धैर्य के साथ सहिष्णुता रखना भी आवश्यक है। क्योंकि अधीरता, आतुरता, अरिश्चरता एवं असहिष्णुता अथवा परीषह एवं दुःखों के समय हाय-त्राय एवं विविध संकल्प-विकल्प आदि की प्रवृत्ति कर्म बन्ध का कारण है। इससे आत्मा कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकती है। उसके लिए संयम-साधना आवश्यक है। और साधक को साधना के समय आने वाले कष्टों को भी धैर्य एवं समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। क्योंकि इससे कर्मों की निर्जरा होती है। जैसे चान्दी आग में तप कर शुद्ध होती है, उसी तरह तप एवं परीषहों की आग में तपकर साधक की आत्मा भी शुद्ध बन जाती है।

इससे यह स्पष्ट हो गया है कि ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया ही आत्म विकास में सहायक होती है और साधना के साथ धैर्य एवं सहिष्णुता का होना भी आवश्यक है।

अब सर्पत्वग् का उदाहरण देते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ ९ ॥ ॥ ५४९ ॥

से ह परिण्णा-समयमि वट्टइ
 निरासंसे उवरय मेहुणा घरे ।
 भुयंगमे जुण्णतयं जहा चए
 विमुच्चइ से दुहसिज्ज माहणे ॥ ५४९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः खलु परिज्ञासमये वर्तते
 निराशंसः उपरतः मैथुनात् चरेत् ।
 भुजङ्गमः जीर्णत्वक् (कञ्चुकं) यथा त्यजेत्,
 विमुञ्चति सः दुःखशच्चातः ब्राह्मणः ॥ ५४९ ॥

III सूत्रार्थ :

जिस प्रकार सर्प अपनी जीर्ण त्वचा-कांचली को त्याग कर उससे पृथक् हो जाता है, उसी तरह महाव्रतों से युक्त, शास्त्रोक्त क्रियाओं का परिपालक, मैथुन से सर्वथा निवृत्त एवं इह लोक-परलोक के सुख की अभिलाषा से रहित मुनि नरकादि दुःख रूप शय्या से अर्थात् कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है ।

IV टीका-अनुवाद :

मूल एवं उत्तर गुणों को धारण करनेवाला वह मुनि-साधु पिंडैषणा अध्ययन में कहे गये संयमानुष्ठान में उपयुक्त होकर जिनागमों के सूत्र एवं अर्थ को जानता है तथा आश्रव द्वारों का त्याग करके संवर मार्ग में आगे ही आगे बढ़ता रहता है... वह साधु इसलोक के एवं परलोक के भौतिक फलों की आशंसा नहीं रखता... तथा मैथुनभाव याने कामक्रीडा का त्यागी तथा उपलक्षण से अन्य महाव्रत परिग्रहादि का भी त्यागी, ऐसा वह साधु नरकादि गति स्वरूप दुःखशय्या से मुक्त होता है... जिस प्रकार सर्प अपनी पुरानी त्वक् याने चमड़ी (कांचली) का त्याग करने निर्मल होता है... इसी प्रकार मुनि भी नरकादि भावों से मुक्त होता है...

अब समुद्राधिकार का स्वरूप कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत गाथा में सर्प का उदाहरण देकर बताया गया है कि जिस प्रकार सर्प अपनी त्वचा-कांचली का त्याग करने के बाद शीघ्रगामी एवं हल्का हो जाता है । उसी तरह साधक

भी सावद्य कार्यो, विषय-विकारो एवं भौतिक सुखो की अभिलाषा का त्याग करके निर्मल, पवित्र एवं शीघ्र गति से मोक्ष की ओर बढ़ने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। क्योंकि सावद्य कार्य एवं विषय विकार आदि कर्म बन्ध के कारण हैं। इससे आत्मा कर्मो से बोझिल बनती है और फल स्वरूप उसकी ऊपर उठने की गति अवरुद्ध हो जाती है। अतः इस गाथा में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साधक को आगम में बताए गए महाव्रतों एवं अन्य क्रियाओं का पालन करना चाहिए। इससे आत्मा पर पड़ा हुआ कर्मों का बोझिल आवरण दूर हो जाता है। जिससे आत्मा में अपने आपको सर्वथा अनावृत्त करने की महान् शक्ति प्रकट हो जाती है।

अब समुद्र का उदाहरण देते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं-

I सूत्र ॥ १० ॥ ॥ ५५० ॥

जमाह ओहं सलिलं अपारयं

महासमुद्रं व भुयाहि दुत्तरं ।

अहे य णं परिजाणाहि पंडिए

से ह मुणी अंतकडेति वुच्यइ ॥ ५५० ॥

II संस्कृत-छाया :

यं आहः ओघं सलिलं अपारयं

महासमुद्रं इव भुजाभ्यां दुस्तरम् ।

अथ च एतं परिजानीहि पण्डितः

सः खलु मुनिः अन्यकृत् ऊच्यते ॥ ५५० ॥

III सूत्रार्थ :

महासमुद्र की भांति संसार रुपी समुद्र को पार करना दुष्कर है, हे शिष्य ! तू इस संसार के स्वरूप का ज्ञ-परिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका त्याग कर दे। इस प्रकार त्याग करने वाला पण्डित मुनि कर्मों का अन्त करने वाला कहलाता है।

IV टीका-अनुवाद :

तीर्थंकर एवं गणधरादिने संसार समुद्र को दो भुजा से तैरना दुष्कर कहा है, क्योंकि- इसी संसार स्वरूप समुद्र में आश्रव तुल्य जल के अनेक प्रवाह संसार-समुद्र में आ रहे हैं... और मिथ्यात्व आदि स्वरूप जल अपार है, इस कारण से संसार-समुद्र को दुस्तर कहा है... अतः इस संसार-समुद्र को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा से आश्रव तारों का

निग्रह करनेवाला सद् एवं असद् का विवेकी विद्वान् मुनि ही संसार-समुद्र को तैरकर मोक्षनगर में पहुंचता है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में समुद्र का उदाहरण देकर संसार के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। समुद्र में अपरिमित जल है, अनेक नदियां आकर मिलती है। इसलिए उसे भुजाओं से तैर कर पार करना कठिन है। उसी तरह यह संसार भी समुद्र के तुल्य कहा गया है.....

I सूत्र ॥ १९ ॥ ॥ ५५९ ॥

जहा हि बद्धं इह माणवेहिं

जहा य तेसिं तु विमुयस्य आहिण् ।

अहा तथा बन्ध-विमुयस्य जे विऊ

से ह मुणी अंतकडेति वुच्चइ ॥ ५५९ ॥

II संस्कृत-छाया :

यथा हि बद्धं इह मानवैः

यथा च तेषां तु विमोक्षः आख्यातः ।

यथा तथा बन्ध-विमोक्षयोः यः वेत्ता

सः खलु मुनिः अन्तकृदिति उच्यते ॥ ५५९ ॥

III सूत्रार्थ :

जिस प्रकार मनुष्य यहां कर्म बांधते हैं और जिस प्रकार उन कर्मों का विनाश होता है इत्यादि बातें सूत्र में कही गई हैं अतः जो मुनि यथार्थ रूप से कर्मों के बंध एवं मोक्ष का स्वरूप जानता है वह हि मुनि-श्रमण संसार का अंतकृत् कहा गया है....

IV टीका-अनुवाद :

जिस प्रकार इस संसार में मिथ्यात्व आदि हेतुओं से प्रकृति-स्थित आदि स्वरूप बांधे हुए कर्मों से मनुष्य संसार में भटकता है... इत्यादि तथा जिस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं मोक्ष को अच्छी तरह से जानने वाला ही मुनि कर्मों का विनाश करता है...

I सूत्र ॥ १२ ॥ ॥ ५५२ ॥

इमंमि लोए परए य दोसु वि
 न विज्जइ बंधन जस्स किंचिवि ।
 से ह निरालंबणमप्पइड्डिए
 कलंकलीभावपहं विमुच्चइ ॥ ५५२ ॥

II संस्कृत-छाया :

अस्मिन् लोके परत्र च द्वयोरपि
 न विद्यते बन्धनं यस्य किञ्चिदपि ।
 सः खलु निरालम्बनमप्रतिष्ठितः
 कलङ्कलीभावपथात् विमुच्यते ॥ ५५२ ॥

III सूत्रार्थ :

जिस साधु को इस लोक में एवं परलोक के विषय में बंधन नहि है अर्थात् दोनों लोक के बंधनों से जो साधु मुक्त है वह हि मुनि-श्रमण विषय-कषाय स्वरूप संसार से मुक्त होकर मोक्षपद प्राप्त करता है.....

IV टीका-अनुवाद :

जिस साधुको इस लोक में एवं परलोक में कोई भी बंधन-प्रतिबंध नहीं है, वह साधु इस जन्म एवं जन्मांतर की आशासे रहित होकर कही भी प्रतिबन्ध नहीं होता अर्थात् अशरीरी ऐसे वे साधु महात्मा कलंकलीभाव स्वरूप संसार की परिभ्रमणा से मुक्त होकर सिद्ध शिला के ऊपर सिद्ध स्वरूपी होकर विराजमान होता है... इति पंचम गणधर श्री सुधर्मस्वामीजी अपने शिष्य जंबूस्वामीजी को कहते हैं कि- चौबीसवे तीर्थंकर श्री वर्धमानस्वामीजी के मुखारविंद से जो मैंने सुना है वह मैं तुम्हे कहता हूं...



उपसंहार

आचारांगसूत्रके चार अनुयोग द्वारके अंतर्गत उपक्रम निक्षेप एवं अनुगम स्वरूप तीन द्वार पूर्ण हुआ... अब चौथे द्वार के प्रसंगमें नय का स्वरूप कहते हैं...

नयके मुख्य दो भेद है... १. ज्ञान नय एवं २. क्रियानय... यहां ज्ञाननय का स्वरूप इस प्रकार है... जैसे कि- ज्ञान हि इस जन्म एवं जन्मांतरमें प्राप्तव्य परमार्थको प्राप्त करनेमें समर्थ है... अन्यत्र भी कहा है कि- ग्रहण योग्य संस्कारका आदर करता है एवं त्याग योग्य आश्रवोंका त्याग करता है अतः ज्ञान हि प्रधान है... अतः ज्ञान के लिये हि उद्यम करना चाहिये..

अब क्रियानय का स्वरूप कहते हैं... क्रिया हि सफल है, अकेला ज्ञान पुरुषको फल नहि देता... जैसे कि- स्त्री एवं भक्ष्य आहारादिके भोग-फलको जाननेवाला पुरुष क्रियाके बिना मात्र ज्ञानसे सुख प्राप्त नहि करता... अन्यत्र भी कहा है कि- शास्त्रोंको पढनेके बाद भी मनुष्य यदि क्रियाका आदर नहि करता तब वह विद्वान नहि कहा जाता किंतु मूर्ख हि कहा गया है... जैसे कि- रोगवाला मनुष्य औषधके ज्ञान मात्रसे हि आरोग्य नहि करता किंतु औषधका सेवन करने पर हि आरोग्यको पाता है... इसीलिये कहा है कि- ग्राह्य एवं ग्राहकको जाननेके बाद क्रियाका भी अभ्यास करना चाहिये... इस प्रकार यह क्रियानय है... इस प्रकार ज्ञान एवं क्रियाका अभिसंधान याने समन्वय करके हि परमार्थ स्वरूप यह सूत्र कहा है कि- "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" अर्थात् ज्ञान एवं क्रियाके समन्वयसे हि जीव का मोक्ष होता है...

आगम सूत्रमें भी कहा है कि- सभी नयोंका विभिन्न प्रकार का विवेचन सुनकर जो साधु चरण-करण अनुष्ठानमें स्थिर हुआ है वह हि साधु सर्वनयोंसे विशुद्ध माना गया है...

चरण याने क्रिया तथा गुण याने ज्ञान अर्थात् क्रिया एवं ज्ञानवाला साधु हि मोक्षपदको पानेके लिये समर्थ होता है... यह यहां सारांश है...

अब शीलांकाचार्यजी कहते हैं कि- आचारांगसूत्र की व्याख्या स्वरूप यह संस्कृत टीका बनानेमें मैंने जो कुछ मोक्षमार्गके हेतुभूत पुण्य प्राप्त किया हो, तो अब इस पुण्यकर्मसे यह संपूर्ण लोक याने जगत्के सभी जीव अशुभ कर्मोंका विनाश करके मोक्षमार्गमें तत्पर बने ऐसी मैं शुभ मंगल कामना करता हूँ...

अब ग्रंथके अंतमें नियुक्तिकी तीन गाथा का अर्थ इस प्रकार है...

ज्ञान एवं क्रियासे संपन्न ऐसे इस आचारांग सूत्रकी चौथी चूलिकाकी यह नियुक्ति यहां पूर्ण हुई... अब पांचवी चूलिका निशीष सूत्रकी नियुक्ति कहूंगा...

निर्युक्ति ३४८

आचारांग सूत्र में प्रथम श्रुतस्कंधके नव अध्ययनमें अनुक्रमसे सात छह चार चार पांच आठ आठ एवं चार उद्देशक हैं...

अध्ययन - १	उद्देशक - ७
अध्ययन - २	उद्देशक - ६
अध्ययन - ३	उद्देशक - ४
अध्ययन - ४	उद्देशक - ४
अध्ययन - ५	उद्देशक - ५
अध्ययन - ६	उद्देशक - ८
अध्ययन - ७	उद्देशक - -
अध्ययन - ८	उद्देशक - ८
अध्ययन - ९	उद्देशक - ४
प्रथम श्रुतस्कंधमें कुल -	४६ उद्देशक

निर्युक्ति ३४९

आचारांग सूत्रके दुसरे श्रुतस्कंधमें सोलह अध्ययन हैं...

अध्ययन - १	उद्देशक - ११
अध्ययन - २	उद्देशक - ३
अध्ययन - ३	उद्देशक - ३
अध्ययन - ४	उद्देशक - २
अध्ययन - ५	उद्देशक - २
अध्ययन - ६	उद्देशक - २
अध्ययन - ७	उद्देशक - २

यह पहली सात अध्ययनकी समकिका हुई,

दुसरे सात अध्ययनकी दुसरी समकिका में सातों अध्ययनके उद्देशक नहि है... अतः ८ से १४ अध्ययन हुए तथा (१५) पंद्रहवे अध्ययन स्वरूप तीसरी चूलिका एवं (१६) सोलहवे अध्ययन स्वरूप चौथी चूलिका है... इन चूलिकाओंमें भी उद्देशक नहि है...

अध्ययन - ८-१४	द्वितीय चूलिका सप्तसप्तैकिका
अध्ययन - १५	तृतीय चूलिका भावना अध्ययन
अध्ययन - १६	चतुर्थ चूलिका विमुक्ति अध्ययन

राजेन्द्र सुबोधनी “आहोरी” हिन्दी-टीकायाः लेखन-कर्ता ज्योतिषाचार्य
श्री जयप्रभविजयजित् “श्रमण”

: प्रशस्ति :

सुधर्मस्वामिनः पट्टे सप्तषष्टितमे शुभे । सुधर्मस्वामी
श्रीमद् विजयराजेन्द्र - सूरीश्वरः समभवत् ॥ १ ॥ राजेन्द्रसूरि
विद्वद्वर्योऽस्ति तच्छिष्यः श्रीयतीन्द्रसूरीश्वरः । “श्रमण”
“श्रमण” इत्युपनाम्नाऽस्ति तच्छिष्यश्च जयप्रभः ॥ २ ॥ जयप्रभः
“दादावाडी”ति सुस्थाने जावरा-नगरेऽन्यदा । दादावाडी
स्फुरितं चेतसि श्रेयस्करं आगमचिन्तनम् ॥ ३ ॥ जावरा. म.प्र.
“हिन्दी”ति राष्ट्रभाषायां सटीकश्चेत् जिनागमः । राष्ट्रभाषा
लभ्यते क्रियते वा चेत् तदा स्यादुपकारकः ॥ ४ ॥ “हिन्दी”
साम्प्रतकालीनाः जीवाः दुःषमारानुभावतः ।
मन्दमेधाविनः सन्ति तथाऽपि मुक्तिकाङ्क्षिणः ॥ ५ ॥
अतस्तदुपकाराय देवगुरुप्रसादतः ।मोहनखेडा-तीर्थ
मोहनखेटके तीर्थे विजया-दशमी-दिने ॥ ६ ॥ आसो सुद-१०
स्त्रिं रस-बाण-शून्य-नेत्रतमेऽब्दके । दि.सं. २०५६
प्रारब्धोऽयमनुवादः स्वपरहितकाम्यया ॥ ७ ॥ युग्मम्
अविघ्ने च तत्रैव गुरुसप्तमी-पर्वणि । पोष सुद-७
सप्तविंशतिमासाऽन्ते परिपूर्णाऽभवत् शुभः ॥ ८ ॥ वि.सं. २०५८
आहोर-ग्राम-वास्तव्यैः श्राद्धैः श्रद्धालुभिः जनैः ।
सम्मील्य दत्तद्रव्येण ग्रन्थः प्रकाश्यते महान् ॥ ९ ॥
त्स “आहोरी”ति सञ्ज्ञा टीकायाः दीयते मुदा । “आहोरी”
श्रूयतां पठ्यतां भव्यैः गम्यतां मुक्ति-धाम च ॥ १० ॥
सम्पादितश्च ग्रन्थोऽयं “हरिया” गोत्रजन्मना । “हरिया”
विदुष्या साधनादेव्या प्रदत्तसहयोगतः ॥ ११ ॥ रमेशचन्द्र
सात्मजेन निमेषेण ऋषभेणाऽभयेन च ।
विज्ञ-रमेशचन्द्रेण लीलाधरात्मजेन भोः ! ॥ १२ ॥ युग्मम्

ग्रन्थप्रकाशने चाऽत्र	वक्तावरमलात्मजः		“मुथा”
आहोर-ग्राम-वास्तव्यः	“मुथा” श्री शान्तिलालजित्	॥ १३ ॥	शांतिलालजी
मन्त्री च योऽस्ति	भूपेन्द्र-सूरि साहित्य-मण्डले		
आर्थिकव्यवस्थां तेन	कृता सद्गुरुसेविना	॥ १४ ॥	युग्मम्
ग्रन्थमुद्रणकार्यं च	“दीप-ओफ्सेट” स्वामिना		
नीलेश-सहयोगेन	हितेशेन कृतं मुदा	॥ १५ ॥	पाटण
अक्षराणां विनिवेशः	देवनागरी-लिपिषु		३. गुजरात
“मून-कम्प्यूटर”	स्वामि-मनोजेन कृतः हृदा	॥ १६ ॥	युग्मम्
आचाराङ्गाऽभिधे	ग्रन्थे भावानुवादकर्मणि		आचारांगसूत्र
चेत् क्षतिः स्यात् तदा भोः !	भोः ! शुद्धीकुर्वन्तु सज्जनाः	॥ १७ ॥	
“आहोरी” नाम-टीकायाः	लेखनकार्यकुर्वता		
अर्जितं चेत् मया पुण्यं	सुखीस्युः तेन जन्तवः	॥ १८ ॥	
ग्रन्थेऽत्र यैः सहयोगः	प्रदत्तोऽस्ति सुसज्जनैः		
तान् तान् कृतज्ञभावेन	स्मराम्यहं जयप्रभः	॥ १९ ॥	

: अन्तिम-मङ्गल :

ज्जु वर्यमानाद्याः अर्हन्तः परमेश्वराः ।
जयन्तु गुरु-राजेन्द्र-सूरीश्वराः गुरुवराः ॥ २० ॥
जयन्तु गुरुदेवाः हे ! श्रीयतीन्द्रसूरीश्वराः ! ।
जयन्तु साधवः ! साध्व्यः ! श्रावकाः ! श्राविकाश्च भोः ! ॥२१ ॥
सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत् ॥ २२ ॥

: प्रथमः :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिन्धुचल तीर्थ तुल्य शंभुजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के

शिष्यरत्न, दिव्यकृपाकृष्टिपात्र, मालवस्तन, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययन से विश्व के सभी जीव पंचाचार की दिव्य सुवास को प्राप्त करके परमपद की पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५५ राजेन्द्र सं. १६. ५५ विक्रम सं. २०५८.

॥ प्रथमं अङ्गसूत्रं आचाराङ्गं परिसमाप्तम् ॥



श्री आचाराङ्गे द्वितीय-श्रुतस्कन्धस्य निर्युक्तिः

नि.२८८ (चूलिका-१ अध्ययन-१ पिण्डैषणा)
द्व्योगाहण आपस काल कमगणणसंचए भावे ।
अग्नं भावे उ पहाणबहुय उवगारओ तिविहं ॥

नि.२८९
उवयारेण उ पगयं आयारस्सेव उवरिमाइं तु ।
रुक्खस्स य पव्वयस्स य जह अग्गाइं तहेयाइं ॥

नि.२९०
धेरेहिऽणुग्गहद्दा सीसहिअं होउ पागडत्थं च ।
आयाराओ अत्थो आयारंगेसु पविभत्तो ॥

नि.२९१
बिडअस्स य पंचमए अड्डमगस्स बिडयंमि उदेसे ।
भणिओ पिंडो सिज्जा दत्थं पाउग्गहो चेव ॥

नि.२९२
पंचमगस्स चउत्थे इरिया वणिणज्जईं समासेणं ।
छट्ठस्स य पंचमए भासज्जायं वियाणाहि ।

नि.२९३
सत्तिवकगाणि सत्तदि निज्जूढाइं महापरिन्नाओ ।
सत्थपरिन्ना भावण निज्जूढा उ धुय विमुत्ती ॥

नि.२९४
आयारपकप्पो पुण पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ ।
आयारनामधिज्जा वीसइमा पाहुडच्छेया ॥

नि.२९५
अव्वोगडो उ भणिओ सत्थपरिन्नाय दंडनिकस्सेवो ।
सो पुण विभज्जमाणो तहा तहा होइ नायव्वो ॥

नि.२९६
एगदिहो पुण सो संजमुत्ति अज्झत्थबाहिरो यदुहा ।
मणवयणकाय तिविहो चउव्विहो चाउजामो उ ॥

नि.२९७

पंच य महव्वयाइं तु पंचहा राइभोअणे छडा ।
सीलंगसहस्साणि य आयारस्सप्पविभागा ॥

नि.२९८

आइक्खिउं विभइउं विन्नाउं चेव सुहतरं होइ ।
एएण कारणेणं महव्वया पंच पन्नता ॥

नि.२९९

तेसिं च रक्खगडा य भावणा पंच पंच इविकक्के ।
ता सत्थपरिन्नाए एसो अब्भितरो होइ ॥

नि.३००

जायोग्गहपडिमाओ पढमा सत्तिकका बिइअचूला ।
भावण विमुत्ति आयारपक्कप्पा तिन्नि इअ पंच ॥

नि.३०१ (चूलिका-१ अध्ययन-२ शय्यैषणा)
दव्वे खित्ते काले भावे सिज्जा य जा तहिं पणयं ।
केरिसिया सिज्जा खलु संजयजोगत्ति नायव्या ॥

नि.३०२

तिविहा य दव्वसिज्जा सचित्ताऽचित्त मीसगा चेव ।
खित्तंमि जंमि खित्ते काले जा जंमि कालंमि ॥

नि.३०३

उक्कलकलिंग गोअम वग्गुमई चेव होइ नायव्या ।
एयं तु उदाहरणं नायव्यं दव्वसिज्जाए ॥

नि.३०४

दुविहा य भावसिज्जा कायगए छत्विहे य भावंमि ।
भावे जो जत्थ जया सुहदुहगह्माइसिज्जासु ॥

नि.३०५

सव्वेवि य सिज्जविसोहिकारणा तहवि अत्थि उ विसेसो ।
उद्देसे वुच्छामि समासओ किंचि ॥

नि.३०६

उगमदोसा पढमिल्लयंमि संपत्तपञ्चवाया य १ ।
बीयंमि सोअवाई बहुविहसिज्जाविवेगो २ य ॥

नि.३०७

तइए जयंतछलणा सज्जायस्सऽणुवरोहि जइयत्वं ।
समविसमाईएसु य समणेणं निज्जरट्टाए ३ ॥

नि.३०८ (चूलिका-१ अध्ययन-३ ईया)

नामं १ ठवणाइरिया २ दव्वे २ खित्ते ४ य काल ५ भावे ६ य ।
एसो खलु इरियाए निक्खेवो छव्विहो होइ ॥

नि.३०९

दव्वइरियाओ तिविहा सचित्ताचित्तमीसगा चेव ।
खित्तंमि जंमि खित्ते काले कालो जहिं होइ ॥

नि.३१०

भावइरियाओ दुविहा चरणरिया चेव संजमरिया य ।
समणस्स कहं गमणं निदोसं होइ परिसुद्धं ॥

नि.३११

भावइरियाओ दुविहा चरणरिया चेव संजमरिया य ।
समणस्स कहं गमणं निदोसं होइ परिसुद्धं ॥

नि.३१२

चउकारणपरिसुद्धं अहवावि (हु) होज्ज कारणज्जाए ।
आलंबणजयणाए काले मग्गे य जइयत्वं ॥

नि.३१३

सव्वेवि ईरियविसोहिकारणा तहवि अत्थि उ विसेसो ।
उदेसे उदेसे वुच्चामि जहकमं किंचि ॥

नि.३१४

पढमे उवागमण निग्गमो य अद्धाण नावजयणा य ।
बिइए आरूढ छलणं जंघासंतार पुच्छा य ॥

नि. ३१५

तइयमि अदायणया अप्पडिबंधो य होइ उवहिमि ।
वज्जेयव्वं च सया संसारियरायगिहगमणं ॥

नि. ३१६ (चूलिका-१ अध्ययन-४ भाषा-जातम्)

जह वक्कं तह भासा जाए छक्कं च होइ नायव्वं ।
उप्पत्तीए १ तह पज्जवं २ तरे ३ जायगहणे ४ य ॥

नि. ३१७

सव्वेऽवि य वयणविसोहिकारा तहवि अत्थि उ विसेसो ।
वयणविभत्ती पढमे उप्पत्ती वज्जणा बीए ॥

नि. ३१८ (चूलिका-१ अध्ययन-५/६ वस्त्र/पात्र)

पढमे गहणं बीए धरणं पगयं तु दव्ववत्थेणं ।
एमेव होइ पायं भावे पायं तु गुणधारी ॥

नि. ३१९ (चूलिका-१ अध्ययन-७ अवग्रह-प्रतिमा)

दव्वे खित्ते काले भावेऽवि य उग्गहो चउद्धा उ ।
देविंद १ रायउग्गह २ गिहवड ३ सागारिय ४ साहम्मी ॥

नि. ३२०

दव्वुग्गहो उ तिविहो सचित्ताचित्तमीसओ चेद ।
खित्तुग्गहोऽवि तिविहो दुविहो कालुग्गहो होइ ॥

नि. ३२१

मइउग्गहो य गहणुग्गहो य भावुग्गहो दुहा होइ ।
इंदिय नोइंदिय अत्थवज्जणे उग्गहो दसहा ॥

नि. ३२२

गहणुग्गहम्मि अपरिग्गहस्स समणस्स गहणपरिणामो ।
कहपाडिहारियाऽपाडिहारिए होइ ? जइयव्वं ।

नि. ३२३ (चूलिका-२ अध्ययन-१/२ स्थाव/निषीधिका)

सत्तिकगाणि इक्कस्सरगाणि पुव्व भणियं तहिं ठाणं ।
उद्धाणे पगयं निसीहियाए तहिं छक्कं ॥

नि.३२४ (चूलिका-२ अध्ययन-३ उच्चार-प्रसवण)

उच्चवइ सरीराओ उच्चारो पसवइति पासवणं ।
तं कह आयरमाणस्स होइ सोही न अइयारो ॥

नि.३२५

मुनिना छकायदयावरेण सुत्तभणियंमि ओगासे ।
उच्चारविउस्सग्गो कायव्वो अप्पमत्तेणं ॥

नि.३२६ (चूलिका-२ अध्ययन-४ शब्द)

दव्वं संठाणार्इ भावो वन्नकसिणं स भावो य ।
दव्वं सदपरिणयं भावो उ गुणा य कित्ती य ॥

नि.३२७ (चूलिका-२ अध्ययन-५ रूप)

दव्वं संठाणार्इ भावो वन्न कसिणं सभावो य ।
दव्वं रूवपरिणयं भावो उ गुणा य कित्ती य ॥

नि.३२८ (चूलिका-२ अध्ययन-६/७ परक्रिया/अन्योऽन्यक्रिया)

(गाथार्द्धम्) छकं परइकिक्कं त९ दन्न २ माएस ३ कम्म ४ बह ५ पहाणे ६ ।
अन्ने छकं गाथद्धं तं पुण तदन्नमाएसओ चेव ॥

नि.३२९

जयमाणस्स परो जं करेइ जयणाए तत्थ अहिगारो ।
निप्पडिकम्मस्स उ अन्नमन्नकरणं अजुत्तं तु ॥

नि.३३० (चूलिका-३ भावना)

दव्वं गंधंगतिलाइएसु सीउण्हविसहणार्इसु ।
भावंमि होइ दुविहा पसत्थ तह अप्पसत्था य ॥

नि.३३१

पाणिवहमुसावाए अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव ।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति अपसत्था ॥

नि.३३२

दंसणनाणचरित्ते तववेरग्गे य होइ उ पसत्था ।
जा य जहा ता य तहा लयस्सण वुच्चं सलवस्सणओ ॥

नि. 333

तित्थगराण भगवओ पवयणपावयणिअइसइइढीणं ।
अभिगमणनमणदरिसणकित्तणसंपूअणा धुणणा ॥

नि. 33४

जम्माभिसेयनियस्समणचरणनाणुप्पया न निव्वाणे ।
दियलोअभवणमंदरनंदीसरभोमनगरेसुं ॥

नि. 33५

अट्टावयमुज्जिंते गयग्गपयए य धम्मचक्के य ।
पासरहावत्तनगं चमरूप्पायं च वंदामि ॥

नि. 33६

गणियं निमित्त जुत्ती संदिट्ठी अवितहं इमं नाणं ।
इय एगंतमुवगया गुणपच्चइया इमे अत्था ॥

नि. 33७

गुणमाहप्पं इसिनामकित्तणं सुरनरिंदपूया य ।
पोराणचेइयाणि य इय एसा दंसणे होइ ॥

नि. 33८

तत्तं जीवाजीवा नायव्वा जाणणा इहं दिट्ठा ।
इह कज्जकरणकारगसिद्धी इह बंधमुखओ य ॥

नि. 33९

बद्धो य बंधहेऊ बंधणबंधप्फलं सुकहियं तु ।
संसारपवंचोऽवि य इहयं कहिओ जिनवरेहिं ॥

नि. 3४०

नाणं भविस्सई एवमाइया वायणाइयाओ य ।
सज्झाए आउत्तो गुरूकुलवासो य इय नाणे ॥

नि. 3४१

साहुमहिंसाधम्मो सव्वमदत्तविरई य बंधं च ।
साहु परिग्गहविरई साहु तवो बारसंगो य ॥

नि.३४२

वेरगमपमाओ एगता (गगे) भावणा य परिसंगं ।
इय चरणमणुगयाओ भणिया इतो तवो दुच्छं ॥

नि.३४३

किह मे हविज्जऽवंडो दिवसो ? किं वा प्हू तवं काउं ।
को इह दव्वे जोगो खिते काले समयभावे ॥

नि.३४४

उच्छाहपालणाए इति तवे संजमे य संघयणे ।
वेरगगेऽनिधाई होइ घरिते इहं पगयं ॥

नि.३४५ (धूलिका-४ विमुक्ति)

अनिच्चे पव्वए रूप्पे भुयगस्स तहा महासमुद्दे य ।
एए खलु अहिगारा अज्झयणांमि विमुत्तीए ॥

नि.३४६

जो चेव होइ मुक्खो सा उ विमुत्ति पगयं तु भावेणं ।
देसविमुक्का साहू सव्वविमुक्का भवे सिद्धा ॥

नि.३४७

आयारस्स भगवओ चउत्थचूलाइ एस विज्जुत्ती ।
पंचमचूलनिसीहं तस्स य उवरिं भणीहामि ॥

नि.३४८

सत्तहिं छहिं चउचउहि य पंचहि अड्डचउहि नायव्वा ।
उदेसएहिं पढमे सुयखंधे नव य अज्झयणा ॥

नि.३४९

इक्कारस तिति दोदो दोदो उदेसएहिं नायव्वा ।
सत्त य अड्ड य नवमा इक्कसरा हंति अज्झयणा ॥

इतिश्रीआचारङ्गनिर्युक्तिः

नि. ३५० (अध्ययन-७ महापरिज्ञा)

पाहणणे महसदो परिमाणे चेव होइ नायव्वो ।
पाहणणे परिमाणे य छव्विहो होइ त्रियखेवो ॥

नि. ३५१

दव्वे खेत्ते काले भावंमि य होंति या पहाणा उ ।
तेसि महासदो खलु पाहणणेणं तु निप्फन्वो ॥

नि. ३५२

दव्वे खेत्ते काले भावंमि य जे भवे महंता उ ।
तेसु महासदो खलु पमाणओ होंति निप्फन्वो ॥

नि. ३५३

दव्वे खेत्ते काले भावपरिण्णा य होइ बोद्धव्वा ।
जाण्णओ पच्चवखणओ य दुविहा पुणेकेका ॥

नि. ३५४

भावपरिण्णा दुविहा मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
मूलगुणे पंचविहा दुविहा पुण उत्तरगुणेषु ॥

नि. ३५५

पाहणणेण उ पगयं परिण्णाए य तह य दुविहाए ।
परिण्णाणेषु पहाणे महापरिण्णा तओ होइ ॥

नि. ३५६

देवीणं मणुईणं तिरियखजोणीगयाण इत्थीणं ।
तिविहेण परिच्चाओ महापरिण्णाए निज्जुत्ती ॥

अविवृता नियुवितरेषा महापरिज्ञायाः, अविवृता इत्यत्रोपन्यस्ताः ।

॥ प्रथमं अङ्गसूत्रं आचाराङ्गं परिसमाप्तम् ॥



४५ आगम मूल तथा विवरण के श्लोक प्रमाणदर्शक कोष्टक

मुनिश्री दीपरत्नसागरजी म. द्वारा संकलित सटीक "आगमसुताणि" से साभार उद्धृत...

क्रमांक	आगमसूत्रनाम	मूल श्लोक प्रमाण	वृत्ति-कर्ता	वृत्ति श्लोकप्रमाण
१	आचारंग	२५५४	शीलाङ्गाचार्य	१२०००
२	सूत्रकृतांग	२१००	शीलाङ्गाचार्य	१२८५०
३	स्थानांग	३७००	अभयदेवसूरि	१४२५०
४	समवायांग	१६६७	अभयदेवसूरि	३५७५
५	भगवती	१५७५१	अभयदेवसूरि	१८६१६
६	ज्ञाताधर्मकथा	५४५०	अभयदेवसूरि	३८००
७	उपासकदशा	८१२	अभयदेवसूरि	८००
८	अन्तकृदशा	१००	अभयदेवसूरि	४००
९	अनुत्तरोपपातिकदशा	१९२	अभयदेवसूरि	१००
१०	प्रश्नव्याकरण	१३००	अभयदेवसूरि	५६३०
११	विपाकश्रुत	१२५०	अभयदेवसूरि	१००
१२	औपपातिक	११६७	-----	३१२५
१३	राजप्रश्नीय	२१२०	मलयगिरि	३७००
१४	जीवाजीवाभिगम	४७००	मलयगिरि	१४०००
१५	प्रज्ञापना	७७८७	मलयगिरि	१६०००
१६	सूर्यप्रज्ञप्ति	२२९६	मलयगिरि	१०००
१७	चन्द्रप्रज्ञप्ति	२३००	मलयगिरि	११००
१८	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	४४५४	शान्तिचन्द्र उपाध्याय	१८०००
१९	निरयावलिका	११००	चन्द्रसूरि	६००
२३	(पञ्च उपाङ्ग)	-	-	-
२४	चतुःशरण	८०	विजयविमलयगणि	(?) २००
२५	आतुर प्रत्याख्यान	१००	गुणरत्नसूरि (अवचूरि)	(?) १५०
२६	महाप्रत्याख्यान	१७६	आनन्दसागरसूरि (संस्कृतछाया)	१७६
२७	भक्तपरिज्ञा	२१५	आनन्दसागरसूरि (संस्कृतछाया)	२१५

क्रमांक	आगमसूत्रनाम	मूल श्लोक प्रमाण	वृत्ति-कर्ता	वृत्ति श्लोकप्रमाण
२८	तन्दुल वैचारिक	५००	विजयविमलगणि	(?) ५००
२९	संस्तारक	१५५	गुणरत्न सूरि (अवचूरि)	११०
३०	गच्छाचार	१७५	विजयविमलगणि	१५६०
३१	गणिदिद्या	१०५	आनन्दसागरसूरि (संस्कृतछाया)	१०५
३२	देवेन्द्रस्तव	३७५	आनन्दसागरसूरि (संस्कृतछाया)	३७५
३३	मरणसमाधि	८३७	आनन्दसागरसूरि (संस्कृतछाया)	८३७
३४	निशीथ	८२१	जिनदासगणि (चूर्णि) सङ्गदासगणि (भाष्य)	२८००० ७५००
३५	बृहत्कल्प	४७३	मलयगिरि+क्षेमकीर्ति सङ्गदासगणि (भाष्य)	४२६०० ७६००
३६	व्यवहार	३७३	मलयगिरि सङ्गदासगणि (भाष्य)	३४००० ६४००
३७	दशाश्रुतस्कन्ध	८९६	- ? - (चूर्णि)	२२२५
३८	जीतकल्प	१३०	सिद्धसेनगणि (चूर्णि)	१०००
३९	महानिशीथ	४५४८	-	-
४०	आवश्यक	१३०	हरिभद्रसूरि	२२०००
४१	ओघनियुक्ति पिण्डनियुक्ति	वि. १३५५ वि. ८३५	द्रोणाचार्य मलयगिरि	(?) ७५०० ७०००
४२	दशवैकालिक	८३५	हरिभद्रसूरि	७०००
४३	उत्तराध्ययन	२०००	शांतिसूरि	१६०००
४४	नन्दी	७००	मलयगिरि	७७३२
४५	अनुयोगद्वार	२०००	मलधारी हेमचन्द्रसूरि	५९००

कुवासनापाशविनाशनाय, नमोऽस्तु तस्मै तव (जिन) शासनाय ।

॥ जैनं जयति शासनम् ॥



वर्तमान काले ४५ आगम में उपलब्ध नियुक्ति:

क्रमांक	नियुक्ति	श्लोक प्रमाण	नियुक्ति	श्लोक प्रमाण
१	आचारांग	४५०	आवश्यक	२५००
२	सूत्रकृतांग	२६५	ओघनियुक्ति	१३५५
३	बृहत्कल्पसूत्र	---	पिण्डनियुक्ति	८३५
४	व्यवहारसूत्र	---	दशवैकालिक	५००
५	दशाश्रुतस्कन्ध	१८०	उत्तराध्ययन	७००

वर्तमान काले ४५ आगम में उपलब्ध भाष्य

क्रमांक	भाष्य	श्लोक प्रमाण	क्रमांक	भाष्य	गाथाप्रमाण
१	निशीथ	७५००	६	आवश्यक	४८३
२	बृहत्कल्प	७६००	७	ओघनियुक्ति	३२२
३	व्यवहार	६४००	८	पिण्डनियुक्ति	४६
४	पञ्चकल्प	३१८५	९	दशवैकालिक	६३
५	जीतकल्प	३१२५	१०	उत्तराध्ययन	---

वर्तमान काले ४५ आगम में उपलब्ध चूर्णि:

क्रमांक	चूर्णि	श्लोक प्रमाण	क्रमांक	चूर्णि	श्लोक प्रमाण
१	आचारांग	८३००	९	दशाश्रुतस्कन्ध	२२२५
२	सूत्रकृतांग	९९००	१०	पञ्चकल्प	३२७५
३	भगवती	३११४	११	जीतकल्प	१०००
४	जीवाभिगम	१५००	१२	आवश्यक	१८५००
५	जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति	१८७९	१३	दशवैकालिक	७०००
६	निशीथ	२८०००	१४	उत्तराध्ययन	५८५०
७	बृहत्कल्प	१६०००	१५	नन्दीसूत्र	१५००
८	व्यवहार	१२००	१६	अनुयोगद्वार	२२६५

श्री आचाराङ्ग सूत्रम् श्री राजेन्द्र सुबोधनी "आहोरी" हिन्दी टीका



द्वितीय वाचना :- उडीसा, श्रमण भगवान् महावीर निर्वाण के ३०० वर्ष पश्चात्



तृतीय वाचना :- मथुरा, श्रमण भगवान् महावीर निर्वाण के ८२७ वर्ष पश्चात्



प्रथम वाचना :- पाटलीपुत्र, श्रमण भगवान् महावीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात्



चतुर्थ वाचना :- वल्लभीपुर में तृतीय वाचना के समकालीन



पंचम वाचना :- वल्लभीपुर में भगवान् महावीर के निर्वाण के ९८० वर्ष बाद

:- प्रकाशक :-

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका, श्रीभूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति
मंत्री शान्तिलाल वक्तावरमलजी मुथा
मु. पो. आहोर, वाया जवाईबाँध, जालोर (राज.)